भारत में लोकतंत्र

समस्याएँ और चुनौतियाँ

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

भारत में लोकतंत्र
समस्याएँ और चुनौतियाँ

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

लेखक
ए.एस. नारंग

संपादक
नलिनी पंत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
जून 2003
आषाढ़ 1925

PD 35T RNB

ISBN : 81-7450-209-2

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस निकट : धनकल बस स्टॉप पनिहटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन : आर.एन. भारद्वाज
उत्पादन : अतुल सक्सेना
आवरण : बिज्ञान सूतार

रु. 50.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा अजय ऑफसैट प्रिंटर्स, ए-55, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फ़ेज I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

राजनीति विज्ञान को उच्चतर माध्यमिक स्तर पर एक ऐच्छिक विषय के रूप में प्रारंभ किया जाता है। विद्यालयी शिक्षा के माध्यमिक स्तर पर सामाजिक विज्ञान के एक अंग के रूप में नागरिक शास्त्र को राजनीति विज्ञान की दुरुहता से बचा कर सामान्य ढंग से पढ़ाया जाता है। वस्तुत: विद्यालयी शिक्षा के प्रथम दस वर्षों में शिक्षार्थी नागरिक और राजनीतिक संस्थाओं की कार्य शैली तथा विश्व और भारत के सम्मुख समकालीन समस्याओं का अध्ययन करते हैं। सामान्य शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप, इन वर्षों में मुख्य जोर विभिन्न नागरिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं की समझ विकसित करने पर होता है, जो समेकित सामाजिक विज्ञान पाठ्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसे माध्यमिक स्तर पर लागू किया जा चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक *भारत में लोकतंत्र : समस्याएँ और चुनौतियाँ* एक नवीन पुस्तक है जो *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा — 2000* के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा विकसित राजनीति विज्ञान के नए पाठ्यक्रम पर आधारित है। नए पाठ्यक्रम की दृष्टि के अनुरूप प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य शिक्षार्थियों में भारतीय लोकतंत्र की कार्य पद्धति की जानकारी और समझ को विकसित करना है। पाठ्यक्रम की विषय सामग्री का उद्देश्य भी शिक्षार्थियों में लोकतांत्रिक संस्कृति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के मूल्यों को स्थापित करना है।

विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा — 2000 में उल्लिखित कुछ केंद्रीय विषयों को इस पुस्तक के संबंधित विभिन्न अध्यायों में समुचित ढंग से सम्मिलित किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अंत में अभ्यास प्रश्नों के अतिरिक्त पुस्तक में कठिन शब्दों और अवधारणाओं को स्पष्ट करने हेतु पारिभाषिक शब्दावली भी सम्मिलित की गई है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक के लेखक के प्रति आभार व्यक्त करती है। परिषद्, समीक्षा मंडल के सभी विषय-विशेषज्ञों एवं पुस्तक के संपादक के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करती है जिनके सुझावों और टिप्पणियों ने इस पुस्तक को प्रस्तुत आकार देने में सहायता प्रदान की है।

पुस्तक के प्रत्येक पक्ष पर सुधि पाठकों की टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत है।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
मार्च 2003

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं,रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके।

पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

ए.एस. नारंग
प्रोफ़ेसर, राजनीति विज्ञान
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

नलिनी पंत
अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर, राजनीति विज्ञान
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

एस.एन. झा
अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर, राजनीति विज्ञान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डी.ए. माने
प्रोफ़ेसर, राजनीति विज्ञान
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर

गोपा कुमार
प्रोफ़ेसर, राजनीति विज्ञान
केरल विश्वविद्यालय
तिरुअनंतपुरम्, केरल

आर.के. आनंद
निदेशक, पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वी.पी. पाण्डेय
रीडर, राजनीति विज्ञान
पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सतीश चन्द्र झा
रीडर, राजनीति विज्ञान
ए.आर.एस.डी. कॉलेज
धौला कुआँ, नई दिल्ली

पूनम प्रसाद
रीडर, राजनीति विज्ञान
दयाल सिंह (सांध्य) कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उमा आनन्द (**अनुवादिका**)
रीडर, राजनीति विज्ञान
भारती महिला कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

एस.सी. अरोरा
अवकाश प्राप्त रीडर, राजनीति विज्ञान
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

पी.के. मिश्रा
रीडर, राजनीति विज्ञान
क्षेत्रीय शैक्षिक संस्थान, भुवनेश्वर

पी.एस. खरे
अवकाश प्राप्त प्राचार्य
अग्रसेन इंटर कॉलेज, इलाहाबाद

एस.एम. शर्मा
अवकाश प्राप्त प्राचार्य
एस.आर.एस.डी.सी. वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
लाजपत नगर, नई दिल्ली

आर.एस. पसरीचा
अवकाश प्राप्त उप-प्राचार्य
एम.बी.डी.ए.वी. वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
यूसुफ सराय, नई दिल्ली

अरूण प्रभा जैन
उप-प्राचार्य
ऋषभ अकादमी, मेरठ कैंट

मदन साहनी
पी.जी.टी., राजनीति विज्ञान
राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
आर.के.पुरम, नई दिल्ली

आशा कामथ
वरिष्ठ अध्यापक, राजनीति विज्ञान
डी.एम. स्कूल
क्षेत्रीय शैक्षिक संस्थान, मैसूर

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय

सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

थैमिचोन वोलेना, *लेक्चरर*
सुप्ता दास, *सेलेक्शन ग्रेड लेक्चरर*
संजय दुबे, *रीडर* (**समन्वयक**)

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

विषय-सूची

भारत में लोकतंत्र : एक परिचय

15 अगस्त 1947 को भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक राज का अंत हो गया और स्वतंत्रता के उपरांत एक प्राचीन संस्कृति वाले देश, भारत, में एक नए युग का प्रारंभ हुआ। यह सत्य है कि भारत के लंबे इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण दिवस था। भारतवासियों के लिए मात्र स्वतंत्रता प्राप्ति ही अपने आप में अंत नहीं था क्योंकि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए ही नहीं लड़े थे बल्कि उनका उद्देश्य समाज में एक नई व्यवस्था की स्थापना करना था। आर्थिक व सामाजिक असमानताओं को घटाने, जनसाधारण की गरीबी, बेरोज़गारी और अल्परोज़गार के उन्मूलन, मानव गरिमा की पुनर्स्थापना, नागरिक अधिकारों की गारंटी, सांप्रदायिक सौहार्द की पुनर्स्थापना तथा सभी को न्याय दिलाने के संबंध में स्वतंत्र भारत के नेताओं का एक स्पष्ट दृष्टिकोण था। इन अपेक्षाओं को संविधान में सम्मिलित कर, 26 जनवरी 1950 को इसे अंगीकार किया गया। यह दृष्टिकोण मुख्यतया प्रस्तावना, मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक तत्वों के भागों में परिलक्षित होता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संविधान निर्माताओं की लोकतंत्र में भरपूर आस्था थी।

हमने पहले भी अध्ययन किया है कि संविधान निर्माताओं ने इस उदारवादी संरचना के भीतर प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र का प्रावधान किया है। उदारवादी लोकतंत्र की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

- सरकार का निर्माण जन-निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा होता है और वे लोगों के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
- राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए एक से अधिक दलों के मध्य प्रतिस्पद्र्धा होती है।
- सत्ता के लिए प्रतिस्पद्र्धा खुले तौर पर होती है, गुप्त नहीं। यह खुले चुनावों द्वारा संपन्न होती है।
- चुनाव सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर समय-समय पर होते हैं।
- दबाव समूहों व अन्य संगठित और असंगठित समूहों को राजनीतिक व्यवस्था में काम करने की स्वतंत्रता होती है। वे सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं।
- नागरिक स्वतंत्रताओ में भाषण की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता आदि की गारंटी होती है।
- शक्तियों के पृथक्करण तथा एक दूसरे पर अंकुश लगाने की व्यवस्था होती है, जैसे कार्यपालिका पर विधायिका का नियंत्रण।

उपरोक्त विशेषताएँ मुख्यतया सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप के विभिन्न पक्षों की ओर इंगित करती हैं। आधुनिक युग के अधिकांश राजनीतिक चिंतक इस तथ्य पर एकमत हैं कि लोकतंत्र, सरकार का एक रूप मात्र ही नहीं है, अपितु व्यापक और नैतिक तौर पर यह एक जीवन पद्धति है, समाज की

एक व्यवस्था है, सामाजिक और आर्थिक संबंधों का तरीका है, और अंतत: एक आस्था पर आधारित प्रणाली है। ऐसी राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक प्रणाली, नागरिकों की गरिमा और समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित होती है जिसमें सरकार लोगों के प्रति उत्तरदायी होती है। इन आदर्शों, सिद्धांतों और प्रतिमानों को व्यावहारिक बनाने के लिए कुछ निश्चित शर्तों की आवश्यकता होती है जिन्हें हम लोकतंत्र की आवश्यक शर्तें कह सकते हैं। इन पूर्व-आवश्यकताओं के तीन पहलू होते हैं — सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। इन सामाजिक शर्तों में प्रतिष्ठा पर आधारित सामाजिक समानता, विधि के समक्ष समानता तथा अवसरों की समानता, शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित नागरिक, भेदभाव का अभाव एवं सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक प्रक्रियाओं में सहभागिता के समान अवसर सम्मिलित हैं। आर्थिक परिस्थितियों से अभिप्राय व्यापक तौर पर विद्यमान असमानताओं का लोप, गरिमामय जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति, संसाधनों का न्यायसंगत वितरण, लाभकारी रोज़गार के समान अवसर, समान कार्य के लिए समान वेतन, और शोषण के विरूद्ध संरक्षण है। राजनीतिक परिस्थितियों में विधि का शासन, नागरिकों में समानता तथा राजनीतिक मामलों में सहभागिता के समान अवसर, प्रत्याभूत और संरक्षित अधिकार, जिन में विशेष रूप से विचार, निष्ठा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सम्मिलित है। इसमें नागरिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता की स्वतंत्रता, लोगों की अपनी अथवा अपने प्रतिनिधियों की सरकार, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव तथा असहमति और विरोध के प्रति आदर की भावना भी सम्मिलित होते हैं।

अनेक राजनीतिक चिंतकों तथा पर्यवेक्षकों का मानना है कि सामाजिक व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति किए बिना लोकतंत्र की राजनीतिक शर्तों को प्राप्त करना संभव नहीं है। इसलिए, उनका सुझाव है कि लोकतांत्रिक शासन की स्थापना से पूर्व सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र का न्यूनतम विकास जरूरी है। कुछ अन्य विचारकों का मत है कि सामाजिक-आर्थिक विकास की प्राप्ति के लिए लोकतंत्र स्वयं एक सशक्त माध्यम है। भारतीय संविधान निर्माता इस दृष्टिकोण के प्रति पूर्णत: प्रतिबद्ध हैं। वास्तव में, लोकतंत्र में उनकी इतनी गहरी आस्था थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद उन्होंने सार्वभौम वयस्क मताधिकार अर्थात् प्रत्येक वयस्क नागरिक को बिना भेदभाव के मतदान का अधिकार प्रदान किया।

ब्रिटेन और अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी यह अधिकार सभी नागरिकों को विभिन्न चरणों में प्रदान किया गया। तत्कालीन परिस्थितियों में भारत में लोकतंत्र का प्रारंभ निश्चय ही एक क्रांतिकारी कदम था। संसदीय लोकतंत्र तथा सार्वभौम वयस्क मताधिकार ने भारतीय जनसाधारण को नई पहचान दी तथा नई अपेक्षाओं का संचार किया।

नए संविधान के अंतर्गत 1952 का प्रथम आम चुनाव करोड़ों निरक्षर लोगों के देश के लिए एक महान् उपलब्धि थी। उसके बाद विश्वभर के विद्वानों और पर्यवेक्षकों की अभिरुचि एक ऐसे देश के प्रति उत्पन्न हुई, जो विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है और जहाँ वयस्क मताधिकार, मौलिक अधिकारों की गारंटी और स्वतंत्र न्याय व्यवस्था के आधार पर लोकतंत्र सफल, सुचारु एवं लोकप्रिय ढंग से कार्य कर रहा है। गरीबी और व्यापक निरक्षरता के बावजूद बाद में हुए चुनावों ने संविधान निर्माताओं के विश्वास को सही सिद्ध किया। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक चुनाव के बाद भारत में लोकतंत्र का आधार व्यापक हुआ है। यह इस संदर्भ में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता कि जिन अधिकांश देशों ने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त कर

लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ अपनाईं, वे या तो सैन्य तानाशाही अथवा एक दलीय प्रणाली के शिकार हो गए। भारत में लोकतंत्र न केवल सफल रहा है अपितु उसने काफी सीमा तक राजनीतिक स्थिरता की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी भारत ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। 50 वर्ष पूर्व भारत में जीवन की औसत आयु दर मात्र 27 वर्ष थी जो आज बढ़कर 63 वर्ष हो गई है। स्वतंत्रता के समय साक्षरता आज की तुलना में काफी कम थी। सातवें दशक के पूर्वार्द्ध के बाद हम न केवल खाद्य-उत्पादन की दृष्टि से आत्म-निर्भर हो गए हैं अपितु आवश्यकता से अधिक उत्पादन भी करने लगे हैं। दुग्ध-उत्पादन में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता के समय देश में मात्र 1,362 मेगा वाट बिजली का उत्पादन होता था जो आज बढ़कर 10,000 मेगा वाट से अधिक हो गया है। औद्योगिक उत्पादन का भी व्यापक विस्तार हुआ है।

औद्योगिक, आर्थिक और तकनीकी क्षेत्रों में भी विशेषज्ञों के मतानुसार आशातीत प्रगति होने की संभावना है। यह अपेक्षा की जाती है कि सन् 2020 तक भारत प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विश्व के पहले देशों में से एक होगा। अनुमान है कि भारत विश्व में 'सॉफ्टवेयर' विकसित करने वाला देश बन जाएगा। अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप शिक्षा, मौसम विज्ञान, आपदा प्रबंधन आदि क्षेत्रों में भी इसकी प्रगति चरम सीमा तक पहुँच जाएगी।

भारतीय लोकतंत्र में कई कमियाँ हैं। अभी तक भारत में राष्ट्रीय एकता भी स्थायी नहीं हो पाई है तथा राजनीतिक प्रणाली समस्त समूहों, श्रेणियों एवं वर्गों की अपेक्षाओं को पूरा करने में असफल रही है। भारतीय जनसाधारण का एक बहुत बड़ा भाग अत्यंत निर्धनता, निरक्षरता तथा बेरोज़गारी का शिकार है। 60 प्रतिशत से भी अधिक लोग आधारभूत स्वच्छता एवं सफाई की सुविधाओं से भी वंचित हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली चरमरा रही है। स्वतंत्रता के पश्चात् जनसंख्या में तीन गुना से भी अधिक वृद्धि हुई है। नि:संदेह, कुल राष्ट्रीय उत्पादन में चार गुना वृद्धि हुई है तथा पिछले दशक के दौरान प्रति व्यक्ति आय भी दो गुना बढ़ी है, लेकिन जनसंख्या में वृद्धि तथा कुछ ही हाथों में लाभ के संकेंद्रण के कारण यह वृद्धि पर्याप्त नहीं है। परिणामस्वरूप, 5 वर्ष से कम आयु वाले लगभग 50 प्रतिशत बच्चे कुपोषण तथा अस्वस्थ वातावरण के शिकार हैं।

भारत के आर्थिक विकास के संदर्भ में एक वास्तविकता यह भी है कि वह संस्थात्मक परिवर्तनों से जुड़ नहीं पाया। यदि ऐसा हो पाता तो उसे समतावादी दिशा प्राप्त होती और भारत में व्याप्त निर्धनता का उन्मूलन हो गया होता। यही नहीं, नागरिकों को एक वांछनीय जीवन जीने के उपयुक्त तथा न्यूनतम अवसर भी प्राप्त हो जाते। क्या यह एक विडंबना नहीं कि सबसे धनी 20 प्रतिशत लोगों ने पूरे लाभांश के 50 प्रतिशत पर एकाधिकार स्थापित कर लिया है जबकि सबसे गरीब 20 प्रतिशत लोगों को मात्र 8 प्रतिशत लाभ ही पाप्त हो सका है? संभवत: सरकारी आँकड़ों के अनुसार लगभग 35 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे हैं। संयुक्त राष्ट्र मानव विकास की रिपोर्ट 2002 के अनुसार विश्व के 173 देशों में भारत 128वें स्थान पर है। सरकार के सभी स्तरों पर कुल मिला कर महिला प्रतिनिधित्व 6 प्रतिशत से भी कम है। सार्वजनिक जीवन में बहुत से लोगों ने सत्ता प्राप्ति और धन अर्जित करना ही मुख्य धंधा बना लिया है। परिणामस्वरूप जिन आदर्शों और आशाओं को लेकर देशवासी स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े थे, वे अभी भी साकार नहीं हो पाई हैं।

इस प्रकार भारत में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। वस्तुत: राजनीतिक स्वतंत्रता, संसदीय सरकार की स्थापना और सार्वभौम वयस्क मताधिकार

की उपलब्धि के कारण जनसाधारण की अपनी एक पहचान बनी है तथा उनमें शोषण और भेदभाव के विरूद्ध चेतना भी जागृत हुई है। हालाँकि लोगों के वोट चाहने वाले राजनेताओं ने जनसाधारण की इस भावना का भरपूर लाभ तो उठाया है, लेकिन कमजोर वर्ग के लोगों को सहभागिता प्रदान करने तथा देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति की दिशा में कोई ठोस कदम उठाने का प्रयास नहीं किया है जिसके परिणामस्वरूप लोग व्यवस्था से दूरी महसूस करने लगे हैं तथा चुनाव प्रणाली में उनकी निष्ठा कम होती जा रही है। चुनावों के खेल में महत्त्वाकांक्षी लोगों ने जन साधारण की जातीय, सांप्रदायिक, भाषायी तथा क्षेत्रीय निष्ठा के आधार पर गणना करना आरंभ कर दिया है। इस प्रकार, चुनाव किसी सकारात्मक परिवर्तन का यंत्र बनने की बजाय, अपने में अंतिम अभीष्ट, यथास्थिति बनाए रखने एवं स्वयं को आगे बढ़ाने का साधन बन कर ही रह गए हैं। इस से एक अन्य गंभीर ख़तरा उभरा है, वह है : **अपराध का राजनीतिकरण तथा राजनीति का अपराधीकरण।**

आज भारतीय समाज का जो दृश्य उभर रहा है, वह हमारे संविधान के उच्च आदर्शों जैसे — स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, सामाजिक न्याय, पंथनिर्पेक्षता, और विशेषतया कानून के शासन से बहुत दूर है। राष्ट्रीय एकता के स्थान पर विभाजनकारी शक्तियाँ, पृथकतावादी तत्त्व और समूह स्पष्ट रूप से उभर रहे हैं। यही नहीं, सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद और जातिवाद की शक्तियाँ ऐसी नकारात्मक शक्ति के रूप से उभर रही हैं जो भारत में एकता और अखंडता के प्रयास को निरंतर कमज़ोर कर रही हैं।

स्वतंत्रता के विगत 55 वर्षों में भारत ने लोकतंत्र की प्रक्रिया की सफलताओं और असफलताओं को देखा है। हमारे देश ने कई क्षेत्रों में सफलताएँ अर्जित की हैं। भारत में एक टिकाऊ संविधान, एक व्यावहारिक राजनीतिक प्रणाली, कार्यात्मक संघीय व्यवस्था और सशक्त लोकतांत्रिक परंपरा विकसित हुई है। देश काफी सीमा तक आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो चुका है। जीवन की गुणवत्ता में सुधार हुआ है। भारत ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी अनुसंधान में पर्याप्त विकास किया है। विभिन्न जातियों और मानव जातीय भाषायी समूह अपनी पहचान खोए बिना एकता के सूत्र में बधें हुए हैं। मोटे तौर पर, एक वृहद् बहु-धार्मिक, बहु-जातीय, बहु-सांस्कृतिक देश भारत एकजुट रहा है।

उपरोक्त सफलताओं के बावजूद विगत कई वर्षों से देश की उपलब्धियों को नकारात्मक रूझानों की गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में गतिहीनता और गिरावट आई है, आर्थिक विकास भी असंतोषजनक है। भारत विकसित देशों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। जातीय, सांप्रदायिक और भाषायी तनावों में इतनी तीव्रगति से वृद्धि हुई है कि देश की अखंडता ख़तरे में पड़ गई है। समाज युवा पीढ़ी की ओर आशा की दृष्टि से देख रहा है। उन्हें समझना होगा कि लोकतंत्र को अवरूद्ध नहीं किया जा सकता। इसे निरंतर परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वस्तुस्थिति के अनुरूप ढलना एवं विकसित होना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि व्यवस्था की कार्यप्रणाली को समझा जाए। वह किस प्रकार कार्य कर रही है ? उसमें कौन से नकारात्मक रूझान उभरे हैं? क्या समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं? उनसे हमने क्या पाठ सीखा है और अब उसमें क्या कुछ करने की आवश्यकता है? इस पाठ्यक्रम और पुस्तक का उद्देश्य आपको इन सब बातों से अवगत् कराना है ताकि आप एक गौरवशाली नागरिक के रूप में इस व्यवस्था में अपनी सहभागिता निभा सकें और इसके सुधार में अपना योगदान सुनिश्चित कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि युवा पीढ़ी के प्रयास के परिणामस्वरूप यह देश एक महान राष्ट्र के रूप में उभरेगा।

इकाई I

भारत में चुनाव

अध्याय 1

वयस्क मताधिकार तथा चुनावी सहभागिता

वर्तमान विश्व के अन्य लोकतंत्रों के समान भारत भी एक प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र है। इसका तात्पर्य शासन की ऐसी प्रणाली से है जिसमें राजनीतिक निर्णय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता है। प्रतिनिधियों को चुनने की सामान्य प्रक्रिया चुनाव अथवा मतदान है। राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए चुनाव भले ही यथेष्ट शर्त न हों परंतु नि:सन्देह वे आवश्यक शर्त अवश्य हैं। वास्तव में, कुछ विचारकों का मानना है कि चुनाव ही लोकतंत्र का मूल आधार है। स्वतंत्र व स्वच्छ चुनाव ही शासक को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं तथा आवश्यक हो तो उन्हीं के द्वारा वे बदले भी जाते हैं। लोगों को अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधियों को चुनने का अवसर तो चुनाव प्रदान करते ही हैं, इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लोगों को राजनीतिक शिक्षा, राष्ट्रीय समस्याओं की जानकारी तथा नीतियों के विभिन्न पक्षों का भी पता लगता है। अत: इसमें कोई संदेह नहीं कि चुनाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग हैं जिसके माध्यम से लोग अपनी राजनीतिक पसंद दर्शाते हैं और नागरिक के रूप में अधिकार प्रयोग करते हैं, अपने मतदान के अधिकार द्वारा व्यक्त करते है। अत: चुनावों को सार्थक एवं प्रतिनिध्यात्मक बनाने के लिए मताधिकार की व्यवस्था की जाती है।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार

यद्यपि चुनावों का महत्त्व तथा सार्थकता विश्व स्तर पर स्वीकृत है तथापि इस विषय पर विवाद है कि मतदान का अधिकार किसे प्राप्त हो? इस मताधिकार के अधिकार से जुड़ी शर्तें समय-समय पर और विभिन्न देशों में बदलती रही हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में यह अधिकार सर्वप्रथम धनाढ्यों को प्रदान किया गया। 19वीं शताब्दी में इसका विस्तार किया गया। 1918 तक यह अधिकार सभी पुरुषों तथा कुछ महिलाओं तक सीमित रहा। सभी महिलाओं को यह अधिकार 1928 में ही प्राप्त हुआ। अब लगभग सभी लोकतांत्रिक देशों में यह अधिकार वयस्क नागरिकों को संपत्ति, शिक्षा, प्रजाति, धर्म, लिंग और अन्य किसी भेदभाव के बिना प्राप्त है जो सार्वभौम वयस्क मताधिकार के नाम से विख्यात है। कौन से अधिकारी अथवा पद निर्वाचन के सिद्धांत पर आधारित हों, यह प्रत्येक देश की संवैधानिक व सरकारी प्रणाली पर निर्भर करता है। कुछ देशों में अधिकांश पदों पर नियुक्तियाँ (न्यायपालिका समेत) चुनाव के आधार पर होती हैं तो कुछ में ये मुख्यतया विधायी निकायों तक ही सीमित हैं। लेकिन सामान्यतया लोकतंत्र के सिद्धांतों में यह स्वीकार किया जाता है कि कानून

निर्माण व कर लगाने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों की नियुक्ति चुनाव द्वारा ही हो। लोकतंत्रों में चुनावों का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि चुनाव नियमित अवधि पर करवाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, चुनावों द्वारा प्रतिनिधियों को निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है तथा अवधि समाप्ति के पश्चात् दोबारा नया जनादेश प्राप्त करना आवश्यक है। चुनाव करवाने के लिए प्रत्येक देश द्वारा निर्धारित विभिन्न अंग, नियम तथा उपनियम होते हैं। इन्हीं तरीकों तथा नियमों के समूह को *निर्वाचन प्रणाली* कहा जाता है। कुछ प्रचलित निर्वाचन प्रणालियों की विवेचना हम इस अध्याय के अगले भाग में करेंगे। आप को यह ध्यान में रखना चाहिए कि निर्वाचन प्रणाली मुख्यतया वह तरीका है जो निर्वाचकों द्वारा डाले गए मतों को निर्वाचित निकायों में स्थानों के रूप में परिणत करता है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक निर्वाचन प्रणाली का दूसरी निर्वाचन प्रणाली से अंतर करने वाला मुख्य कारक यह है कि स्थान आबंटन का कौन सा ढंग अपनाया गया है। मोटे तौर पर यह तीन तरीकों से किया जा सकता है: सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले को स्थान दिया जा सकता है। (चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों में जिसे सर्वाधिक मत मिले हों) अथवा बहुमत (50 प्रतिशत से अधिक) प्राप्त करने वाले प्रत्याशियों को अथवा राजनीतिक दलों को प्राप्त मत प्रतिशत के अनुपात में स्थान आबंटित किए जा सकते हैं। इस प्रकार ये तीन प्रणालियाँ है : *बहुलवादी प्रणाली*, *बहुमत प्रणाली* और *अनुपातिक प्रणाली*। भारत में विभिन्न पदों और निकायों के चुनाव के लिए ये तीनों पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं।

लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं के चुनावों में बहुलवादी प्रणाली अपनाई गई है। राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन में बहुमत प्रणाली का प्रचलन है तथा राज्य सभा व राज्य विधान परिषदों के चुनावों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अपनाई जाती है। इनसे संबंधित प्रक्रियाओं पर हम अगले अध्याय में विवेचना करेंगे। इस अध्याय में हम लोकतंत्र की कार्य शैली के संदर्भ में भारत में चुनावी राजनीति का अवलोकन करेंगे।

भारत में वयस्क मताधिकार

भारत में संसदीय लोकतंत्र है। यहाँ निश्चित अवधि पर होने वाले चुनावों के द्वारा अंततः शासन को लोक सहभागिता के कारण वैधता प्राप्त होती है। भारत में लोकतंत्र को निरंतरता प्रदान करने में नागरिकों का मताधिकार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भारत में नागरिकों को यह अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त है। संविधान के अनुच्छेद संख्या 326 में यह प्रावधान किया गया है कि लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, अर्थात् 18 वर्ष का (1989 से पहले यह आयु सीमा 21 वर्ष निर्धारित थी) भारत का नागरिक मताधिकार का प्रयोग करेगा जो संबद्ध विधायिका द्वारा निर्मित नियमानुसार निर्धारित तिथियों को होगा और जिसमें संविधान द्वारा घोषित अयोग्य व्यक्ति हिस्सा नहीं लेगा।

अतः स्पष्ट है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को जाति, पंथ, धर्म, लिंग, जन्म स्थान, सामाजिक अथवा आर्थिक स्थिति के भेदभाव बिना समान मतदान का अधिकार प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक मतदाता के मत का मूल्य समान होगा। संविधान में कुछ निश्चित परिस्थितियों का उल्लेख है जिनके अंतर्गत कोई नागरिक इस अधिकार से वंचित हो सकता है। विकृत मस्तिष्क वाले अथवा चुनाव संबंधी अपराध में दंडित नागरिक इस श्रेणी में आते हैं।

भारत में जनसाधारण को प्राप्त यह राजनीतिक शक्ति (मतदान का अधिकार) निःसंदेह सामाजिक न्याय प्राप्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सार्वभौम वयस्क मताधिकार

विकसित पश्चिमी देशों में भी धीरे-धीरे विकसित हुआ जबकि भारत में इसे प्रारंभ से ही लागू कर दिया गया था। भारत में मतदान के अधिकार को केवल संसदीय लोकतंत्र के कार्यसंचालन हेतु ही आवश्यक नहीं माना गया अपितु जन सहभागिता के माध्यम से सामाजिक-आर्थिक न्याय प्राप्त करने में उत्तरदायी व जवाबदेह सरकार, तथा लोगों की सहभागिता बढ़ाने के यंत्र के रूप में भी आवश्यक है। राजनीतिक प्रक्रिया में इसे अपरिहार्य रूप में देखा जाता है। यह बात याद रखने योग्य है कि लोक सभा व विधान सभा के चुनावों के अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं जैसे — नगरपालिकाओं, निगमों व पंचायती राज की संस्थाओं आदि के भी चुनाव होते हैं जो लोगों को विभिन्न स्तरों पर अपना नियंत्रण रखने तथा चुनाव करने का अवसर प्रदान करते हैं। राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति के भी चुनाव होते हैं लेकिन इन चुनावों में लोग प्रत्यक्षत: नहीं परंतु अप्रत्यक्षत: अपने प्रतिनिधियों, के जैसे — संसद व विधान सभाओं के माध्यम से, चुनाव में भाग लेते हैं। वस्तुत: भारत में चुनाव राजनीतिक प्रक्रियाओं के केंद्रीय बिंदु बन गए हैं। चुनाव पूरे जोश के साथ लड़े जाते हैं तथा उनमें मतदाताओं की महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी भी होती है। संविधान लागू होने के विगत 52 वर्षों के दौरान लोक सभा के 13 आम चुनाव एवं विधान सभाओं के कई चुनाव संपन्न हुए हैं। केंद्र और राज्यों, दोनों में सरकार के लोकतांत्रिक परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि चुनावी प्रक्रिया में कई बार चुनावों के दौरान असमान्यताएँ व अनाचार भी देखने को मिलते हैं तथापि न्यूनाधिक चुनाव सरकारों के शांतिपूर्ण परिवर्तन और लोगों की इच्छाओं और विरोध को अभिव्यक्त करने का साधन बने हैं।

राजनीतिक सहभागिता

भारत में वयस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव 1951-52 में हुआ। लोक सभा व सभी विधान सभाओं के चुनाव साथ-साथ हुए। 1957 के दूसरे आम चुनाव भी साथ-साथ हुए। 1962 के तीसरे आम चुनाव भी केरल व उड़ीसा को छोड़कर, साथ-साथ ही संपन्न हुए। इसी तरह, 1967 में हुए चौथे आम चुनाव, नागालैंड और पांडिचेरी को छोड़कर साथ-साथ ही हुए। परंतु 1967 के बाद, विधान सभाओं के चुनाव लोक सभा के चुनावों के साथ नहीं हो सके। लोक सभा के पाँचवे आम चुनाव 1971 में हुए और उसके बाद आम चुनाव 1977, 1980, 1984, 1989, 1991, 1996, 1998 व 1999 के दौरान संपन्न हुए। इस तरह अब तक लोक सभा 13 एवं विभिन्न राज्य विधान सभाओं के अनेक आम चुनाव हो चुके हैं।

चुनाव सहभागिता को देखते हुए मतदान प्रतिशत में वृद्धि के रूझान देखे गए हैं यद्यपि जहाँ-तहाँ उतार-चढ़ाव भी रहे हैं (देखें तालिका 1.1)। अध्ययन दर्शाते हैं कि शहरी व ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में मतदान प्रतिशत में बढ़ोत्तरी हुई है। इसी तरह प्रत्येक चुनाव में महिला सहभागिता में वृद्धि देखी गई है, किंतु कुछ ग्रामीण निर्वाचन क्षेत्रों में महिला सहभागिता में काफी कमी भी रही है।

यह स्पष्टतया दर्शाता है कि मतदान का अधिकार तथा स्वतंत्र चुनाव प्रणाली के चलते भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले लाखों लोग राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेकर अपने लिए सुअवसर एवं सत्ता में भागीदारी की खोज करते हैं तथा उससे लाभान्वित होते हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि मतदान की प्रक्रिया राजनीतिक चेतना अथवा सहभागिता का प्रमाण नहीं है। कई बार तो देखा जाता है कि जाति, धर्म अथवा सामुदायिक भावनाओं के दबाव में आकर मतदाताओं से मतदान करवाया जाता है अथवा आर्थिक और सामजिक दृष्टि से शक्तिशाली लोग प्रलोभनों के माध्यम से या उन्हें डरा धमका कर उनसे जबरन मतदान करवाते हैं। इस तरह के अनभिज्ञ और अनिच्छुक लोगों द्वारा किया

जाने वाला मतदान राजनीतिक दृष्टि से जागरूक मतदाताओं द्वारा किए गए मतदान से गुणात्मक स्तर पर भिन्न होता है। भारत में विभिन्न चुनावों तथा मतदानों के रूझानों के परिणाम यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय मतदाता का आचरण किसी एक कारण से निर्धारित नहीं होता। इनमें सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक कारण सम्मिलित होते हैं। आइए, यह देखें कि ये विभिन्न कारक किस प्रकार मतदाता की सहभागिता व आचरण को निर्धारित करते हैं।

तालिका 1.1: आम चुनावों पर एक दृष्टि

वर्ष	*निर्वाचन हेतु सीटें*	*उम्मीदवार*	*मतदाता*	*मतदान प्रतिशत*	*मतदान केंद्र*
1952	489	1,864	173,213,635	61.2	196,084
1957	494	1,591	193,652,069	62.2	220,478
1962	494	1,985	216,372,215	55.0	238,244
1957	520	2,369	249,003,334	61.3	267,555
1971	518	2,784	274,094,493	55.3	342,944
1977	542	2,439	321,174,327	60.5	358,208
1980	542	4,620	355,590,700	56.9	358,208
1984	542	5,481	399,816,294	64.0	434,442
1989	543	6,160	498,906,429	62.0	505,751
1991	543	8,690	514,126,390*	61.0	594,797*
1996	543	13,952	592,572,288	57.9	767,462
1998	543	4,750	605,881,103	62.0	773,494
1999	543	4,648	619,559,944	59.9	774,607

* जम्मू और कश्मीर को छोड़कर

स्रोत : पी.आई.बी., सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय और चुनाव आयोग।

चुनावी सहभागिता एवं व्यवहार के निर्धारक तत्व

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, चुनाव लोगों को राजनीतिक प्रकिया को प्रभावित करने के अवसर एवं प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता किनके हाथों में होगी — यह तय करने का अवसर प्रदान करता है। चुनाव जनहित की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी है। मतदान तथा किसी उम्मीदवार के पक्ष में मत डालने का कारण मतदाता के निजी कारणों एव अवधारणाओं तथा पूरे समूह का एक अंग होने से निर्धारित होता है। साथ ही मतदान व्यवहार अल्पकालिक और दीर्घकालिक प्रभावों से निर्मित होता है।

अल्पकालिक प्रभाव

अल्पकालिक प्रभाव किसी चुनाव विशेष तक ही सीमित रहते हैं, इसलिए सामान्यत: चुनाव रूझानों को निर्धारित नहीं करते। चुनाव के समय आर्थिक अवस्था एक महत्त्वपूर्ण अल्पकालिक कारक है। इसमें बेराजगारी की स्थिति, मुद्रा स्थिति, आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि आदि सम्मिलित होते हैं। भारत में ऐसे उदाहरण हैं जब चुनाव अभियान में प्याज जैसी चीज़ों की बढ़ती कीमतें अथवा मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने में सरकारी असफलता प्रमुख मुद्दे रहे हैं। जीवन की स्थानीय स्थिति जैसे जल व विद्युत आपूर्ति की स्थिति, सड़कों की अवस्था एवं कानून व व्यवस्था की स्थिति ने भी सामान्य अथवा विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान व्यवहार को प्रभावित किया है। मतदान में एक अन्य अल्पकालिक प्रभाव दलीय नेताओं के व्यक्तित्व और जनता में उनकी चुनाव साख है। 1971 में श्रीमती इंदिरा गांधी के चमत्कारिक व्यक्तित्त्व व लोकप्रियता ने उनकी पार्टी को काफी मत दिलवाए। 1984 में राजीव गांधी की युवा व ईमानदार छवि ने मतदाताओं के विभिन्न वर्गों को काफी हद तक प्रभावित किया जिसके कारण कांग्रेस को आम चुनाव के दौरान अभूतपूर्व सफलता मिली। फिर 1989 में वी. पी सिंह की बढ़ती लोकप्रियता ने काफी मतदाताओं को प्रभावित किया जिसके कारण उन्हें और उनके सहयोगियों को भारी मत प्राप्त हुए। इसी तरह 1999 के चुनाव में अटल बिहारी वाजपेयी के चमत्कारिक व्यक्तित्व ने उन्हें व उनके गठबंधन को यथेष्ट मत दिलवाने में सहायक हुआ। अत: यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नेताओं की छवि एवं लोकप्रियता अपने आप में चुनाव आचरण को प्रभावित करने वाले कारकों में से केवल एक है लेकिन इसका प्रभाव अधिक समय तक नहीं टिक सकता।

चुनाव से पहले हुई कुछ विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी चुनाव परिणाम को प्रभावित करती हैं। 1971 में बांग्लादेश को लेकर भारत-पाक युद्ध में भारत की विजय के फलस्वरूप 1972 में हुई राज्य विधान सभाओं के चुनावों में कांग्रेस (आई.) को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। परंतु 1977 में आपातकालीन घोषणा के फलस्वरूप लोक सभा व विधान सभा, दोनों चुनावों में उसे मतों का भारी नुकसान उठाना पड़ा। 1984 में पंजाब तथा भारत के कुछ अन्य भागों में युद्धसंलग्नता तथा बाद में प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी की हत्या से कांग्रेस को सहानुभूति मत काफी सीमा तक प्राप्त हुए। भ्रष्टाचार प्रकरणों के भंडाफोड़ के कारण 1989 में उसे भारी असफलता का सामना भी करना पड़ा। राम जन्मभूमि से संबंधित घटनाओं के कारण 1996 में भारतीय जनता पार्टी (भा.ज.पा.) को काफी लाभ मिला तथा यह पहली बार लोक सभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर आई। पुन: परमाणु परीक्षण एवं कारगिल युद्ध ने 1999 के 13वीं लोक सभा के चुनावों में कतिपय वर्गों को निश्चय ही प्रभावित किया जिससे भा.ज.पा. और उसके सहयोगी दलों को मत बटोरने का एक अच्छा अवसर मिला।

एक अन्य अल्पकालिक प्रभाव, जो गत वर्षों में विशेष महत्त्वपूर्ण बन गया है, वह है — मीडिया का प्रभाव। चुनावी प्रभाव का एक दूसरा अल्पकालिक कारक हाल के वर्षों में संचार-साधनों की भूमिका है। मुद्दों का प्रदर्शन, नेताओं की अच्छी अथवा बुरी छवि को उभारना तथा मत एवं रूझान जानने के प्रतिमान मतदाताओं के चुनाव आचरण को प्रभावित करते हैं। लेकिन जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि ये कारक चुनाव आचरण को अल्पकालिक तौर पर ही प्रभावित करते हैं। नि:संदेह यह सही है कि चुनाव आचरण में थोड़ा सा परिवर्तन भी मतदान परिणामों को महत्त्वपूर्ण ढंग से बदल देता है। फिर भी, मतदाताओं पर प्रमुख प्रभाव सामाजिक, आर्थिक तथा वैचारिक कारणों का होता है और ये प्रभाव दीर्घकालिक होते हैं।

दीर्घकालिक प्रभाव

सामाजिक

मतदान आचरण को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों में आयु, लिंग, शिक्षा, निवास, (ग्रामीण अथवा शहरी), जाति, समुदाय, धर्म आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। विभिन्न चुनावी अध्ययनों ने इन आधारों पर मतदान तथा मतदाताओं के व्यवहार में अंतर दर्शाया है। उदाहरण के लिए देखा गया है कि युवा मतदाताओं की सहभागिता प्राय: कम होती है। 30 से 50 वर्ष की आयु वाले मतदाताओं का मत प्रतिशत सर्वाधिक होता है तथा 50 वर्ष से ऊपर वाले मतदाताओं की स्थिति बीच की होती हैं। इसी तरह भारत में पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं में कम राजनीतिक प्रभावोत्पादकता, कम राजनीतिक इच्छा तथा अनभिज्ञता की मात्रा अधिक पाई जाती है। विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाएँ या तो मतदान करती ही नहीं और करती भी है तो परिवार के पुरूषों के निर्देशानुसार। साधारणतया विवेकपूर्ण निर्णय में उच्च स्तरीय शिक्षा एक आलोचनात्मक मानक मानी जाती है, परंतु, बहुत से अध्ययन सहभागिता की दृष्टि से पुष्टि करते हैं कि शिक्षित मतदाताओं की तुलना में अशिक्षित मतदाताओं का प्रतिशत अधिक होता है। नि:संदेह, यह सही है कि उम्मीदवार के निर्वाचन के संबंध में दोनों अलग-अलग रूप में कार्य करते हैं।

निवास स्थान के संदर्भ में, पहले यह देखा जाता रहा है कि भारत के शहरी निर्वाचन क्षेत्र चुनावी दृष्टि से अधिक राजनीतिकृत थे लेकिन अब ग्रामीण मतदाताओं ने चुनावों में उल्लेखनीय ढंग से भाग लेना प्रारंभ कर दिया है और चुनावों में निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं। विभिन्न राज्यों और अलग-अलग चुनावों में काफी विभिन्नताएँ हैं। मत आचरण मुद्दों व जाति निष्ठा की कसौटी पर दोनों (शहरी एवं ग्रामीण) का अलग-अलग होता है। ग्रामीण मतदाता जाति समीकरणों से अधिक प्रभावित होते हैं जबकि शहरी क्षेत्रों में मुद्दों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

जाति

भारत में चुनावी आचरण को प्रभावित करने में जाति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कारक बन चुका है। लोग, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में जाति निष्ठाओं से अधिक प्रेरित होते हैं। उम्मीदवार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, जाति व उप-जातीय आधार पर अपील करते हैं। पहले, उच्च जातियाँ अपना समर्थन आधार बढ़ाते थे। पिछले दो दशकों से अनुसूचित व अन्य पिछड़ी जातियाँ जाति के आधार पर महत्त्वपूर्ण ढंग से एकजुट हो रही हैं। ऐसे भी मौके रहे हैं जब उच्च जातियाँ बल प्रयोग करके निम्न जातियों को अपनी इच्छानुसार मतदान करने के लिए विवश करती रही हैं। हाल के वर्षों में निम्न जातियाँ विशेष रूप से सक्रिय हो गई हैं तथा जाति के आधार पर मत बटोरने के लिए अपनी जातियों को संगठित कर रही हैं। इस संदर्भ में, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रमुख राजनीतिक दलों व

संगठनों के नेता दलित मतों को अपनी हार-जीत का महत्त्वपूर्ण कारक मानने लगे हैं। कुछ पर्यवेक्षक भारतीय चुनावों में जाति प्रयोग को एक अत्यधिक सकारात्मक पहलू मानते हैं। उनका मानना है कि इससे उच्च जातियों से सत्ता मध्यजातियों को हस्तांतरित होती है जो निम्न जातियों के सशक्तीकरण में मदद करती है। दूसरा मत यह है कि चुनावी राजनीति में वयस्क मताधिकार तथा पंचायती राज संस्थाओं ने शासक वर्गों की स्थिति मज़बूत करने तथा उसे वैधता प्रदान करने में मदद की है। राजनीति में जातिवाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय चुनावी आचरण में, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में, जाति जागरुकता का सशक्त उपकरण, संचार का माध्यम, प्रतिनिधित्व और नेतृत्व का साधन बन गई है।

धर्म

जाति के समान ही धर्म एक अन्य कारक है जिसका प्रयोग मतदाताओं को संगठित करने के लिए किया जाता है। भारत जैसे देश में, जहाँ लोगों के दिमाग में धर्म की जड़ें अंदर तक घुसी हुई हैं, नेताओं के लिए धर्म के नाम पर वोट माँगना लाभप्रद सिद्ध होता है। वे लोगों की धार्मिक भावनाओं का भरपूर लाभ सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप में उठाते हैं। भारत के विभाजन के प्रारंभिक वर्षों में कुछ दलों ने अल्पसंख्यकों की परिस्थितियों की आशंकाओं का लाभ उठाया। अतः अल्पसंख्यकों ने अपनी धार्मिक पहचान व सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए दलों का चयन किया। ये ही परिस्थितियाँ आगे चलकर सांप्रदायिक वोट-बैंक के रूप में परिणत हुईं। विगत कुछ वर्षों से कुछ दल धर्म, परंपरा, इतिहास आदि के नाम पर मत आचरण को प्रभावित करने का प्रयास कर रहे हैं।

आर्थिक कारक

आर्थिक कारकों के परिप्रेक्ष्य में यह अपेक्षा की जाती है कि उच्च, मध्यम तथा निम्न आय वाले समूहों के मतदान में भिन्नता होगी। उच्च तथा मध्य आय समूह की दिलचस्पी समाज की समस्याओं में होती है, राजनीतिक दृष्टि से वे अधिक जागरूक होते हैं तथा अपने दीर्घकालिक हितों के लिए सरकारी नीतियों के प्रभाव के प्रति सचेत रहते है। दूसरी ओर, गरीब परिवारों के लोगों की चिंता उनकी व्यक्तिगत आर्थिक समस्याएँ होती हैं। उनकी प्रमुख चिंता नौकरी खोज़ने, उसे बनाए रखने अथवा दो समय के भोजन की है। अतः वे अपनी तात्कालिक और जीवन संबंधी समस्याओं के दबाव में आकर मतदान करते हैं। वे अपने नियोक्ताओं अथवा मालिकों के निर्देशानुसार मतदान करने को बाध्य किए जा सकते हैं अथवा अपना वोट बेच भी सकते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि गरीबी रेखा से नीचे अथवा उससे थोड़े ऊपर के मतदाताओं की संख्या सबसे अधिक है। गरीब, अनपढ़, जातीय, धार्मिक अंधविश्वासों से ग्रस्त तथा उपयुक्त सूचनाओं के अभाव में ये लोग चुनाव केंद्रों की ओर हाँके जाते हैं। कई अध्ययनों ने उजागर किया है कि गाँवों के गरीब, मालिकों के निर्देशानुसार मतदान करते हैं; चाहे वे मज़दूर हो अथवा बँटाईदार, दलित हों अथवा थोड़ी उच्च जाति के, सभी 'मालिक' के आदेशानुसार प्रत्याशियों के पक्ष में मतदान करते हैं। निःसंदेह इस वर्ग में काफी जागरूकता आ रही है लेकिन अभी भी ये अपनी इच्छानुसार तथा अपने हितों से प्रेरित होकर मतदान नहीं कर पाते।

वर्ग एवं व्यवसाय के आधार पर भी मत आचरण में अंतर देखने को मिलता है। समृद्ध एवं मज़दूर वर्ग, उद्योगपति एवं कृषक, व्यापारी एवं व्यवसायी, दलों और प्रत्याशियों का चयन वर्गीय आधार पर ही करते हैं। हालाँकि जाति, धर्म आदि जैसे कारकों की भी इसमें भूमिका होती है।

व्यक्तियों व समूहों के मत आचरण को सामाजिक-आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं तथापि इसमें राजनीतिक कारकों की दीर्घकालिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ महत्त्वपूर्ण कारक हैं — विचारधारा, परिवार व दल संबद्धता। प्रत्येक समाज में काफी संख्या में लोग किन्ही विचारधाराओं व मूल्यों से जुड़े रहते हैं जैसे — पूँजीवाद, समाजवाद, रूढ़ीवाद, उदारवाद, पंथनिरपेक्ष या कट्टरवाद आदि। इनके मत आचरण स्पष्टतः इनकी प्रतिबद्धताओं से निर्धारित होते हैं न कि अल्पकालिक प्रभावों अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा से। अधिकांश मामलों में विचारधारात्मक प्रतिबद्धता व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए, मजदूर वर्ग के लोगों का झुकाव समाजवादी व साम्यवादी विचारधाराओं के प्रति होता है। इसी प्रकार, उद्योगपति तथा व्यापारी वर्ग का झुकाव पूँजीवादी मूल्यों के प्रति अधिक होता है।

परिवार की राजनीतिक पृष्ठभूमि भी एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक कारक है। राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय परिवारों में पाया जाने वाला प्रारंभिक राजनीतिक सामाजीकरण प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से बच्चों पर प्रभाव डालता है। वास्तव में जो माँ-बाप राजनीति में सक्रिय हैं अथवा रुचि रखते हैं, वे अपने बच्चों को परिवार की परंपराओं के अनुरूप राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित व प्रेरित करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि बच्चे अपने माँ-बाप की निष्ठा का अनुसरण करें तथापि प्रारंभिक सामाजीकरण एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व तो होता ही है।

मत आचरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है दलों के प्रति मनोवैज्ञानिक लगाव, जो लोगों की दलीय पहचान को प्रतिबिंबित करता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो दलों के औपचारिक सदस्य होते हैं अथवा दल विशेष से संबद्ध होते हैं। ऐसे लोग दल के दीर्घकालिक समर्थक होते हैं तथा अपने दल के पक्ष में मतदान करते हैं। ऐसे मामलों में मतदान साझेदारी का परिणाम होता है न कि नीतियों, व्यक्तित्व, अभियान अथवा संचार साधनों की भूमिका आदि का प्रभाव होता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रारंभिक वर्षों में लोगों का स्वतंत्रता संग्राम व नवभारत की परिकल्पना से जुड़े होने के कारण मत आचरण में दलीय पहचान सशक्त रूप से प्रभावित रहे। अब यह इतना सशक्त नहीं रह गया है। आज चुनाव-दर-चुनाव मतदाता दलों के मूल्यांकन के आधार पर मतदान करने को प्राथमिकता देते हैं। वैचारिक, पारंपरिक, जातीय अथवा सांप्रदायिक आधार पर दीर्घ कालिक संबंध आज भी दिखलाई दे जाते हैं। परंतु राजनीतिक दल इन सुदृढ़ प्रतिबद्धताओं पर निर्भर नहीं रह सकते। उनमें से अधिकांश उपरोक्त तकनीकों के माध्यम से मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं।

चुनाव आचरण : प्रतिमान व रूझान

मत आचरण की उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मतदाताओं का निर्णय किसी एक कारक पर निर्भर नहीं करता है। मतदाताओं के निर्णय अपने सामाजिक समूह, दीर्घकालिक संबंधों, चुनाव के मुद्दों की समझ, अर्थव्यवस्था की अवस्था, तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, दल का नेतृत्व करने वाले नेताओं, दल की छवि, चुनाव अभियान इत्यादि से प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त, मतदाताओं को प्रभावित करने में मीडिया की भूमिका काफी बढ़ गई है। इसलिए किसी भी समाज के मत आचरण का वर्णन करना कोई सरल कार्य नहीं है। फिर भी, कुछ ऐसे स्पष्ट रूझान हैं जो मत आचरण की ओर संकेत करते हैं। मत आचरण के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमानों व रूझानों का हम अगले पृष्ठ पर उल्लेख कर रहे हैं।

दलों के लिए मतदान

लोक सभा के विगत 13 आम चुनावों के दौरान यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि भारत में मतदाताओं ने व्यक्तियों के स्थान पर प्रमुखतः दलों के लिए ही मतदान किया है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि प्रगाढ़ सामाजिक संबंधों और प्रभावों के बावजूद निर्दलीय कुछ ज्यादा नहीं कर पाए। समय के साथ निर्दलीय उम्मीदवारों का भाग्य काफी अंधकारमय हुआ है।

यह देखा गया है कि यद्यपि आम मतदाता दल के लिए मतदान करता है न कि उम्मीदवार के लिए, फिर भी वे दल के नेता के व्यक्तित्त्व और लोकप्रियता से प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से, व्यक्ति महत्त्वपूर्ण रहता है। कई मामले इसे सत्य सिद्ध करते हैं और इसी कारण दल अपने-अपने शीर्षस्थ नेताओं की छवि को हीरो के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इसके फलस्वरूप दल अपनी विचारधारा एवं कार्यक्रमों की अपेक्षा अपने नेताओं की छवि पर निर्भर हो जाते हैं।

सामाजिक निष्ठाएँ

जबकि साधारणतया लोग व्यक्ति की अपेक्षा दलों के पक्ष में मतदान करते हैं तथापि यह केवल दल के साथ मनोवैज्ञानिक अथवा वैचारिक लगाव के कारण ही नहीं होता। वास्तव में, वे सामाजिक समूहों जैसे — जाति, धर्म, क्षेत्र, प्रजाति और वर्ग विशेष के प्रति निष्ठा के आधार पर मतदान करते हैं। इसके परिणामस्वरूप जाति व धर्म के आधार पर दल बढ़ते और सफल होते हैं। यह इस विश्वास के विपरीत है कि आधुनिकीकरण व विकास के साथ जाति व धर्म के पारंपरिक बंधन कमज़ोर हो जाएँगें। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि लोग अपने निजी हितों पर ध्यान नहीं देते। वास्तव में कई घटनाओं के कारण, विशेषतया आर्थिक विकास प्रक्रिया की असफलता के कारण व्यक्ति के निजी हित, सामाजिक हित समूहों से जुड़ गए हैं। अनुसूचित जातियों में बहुजन समाज पार्टी की लोकप्रियता, बिहार व उत्तर प्रदेश में अन्य पिछड़ी जातियों का, सर्वत्र जातीय संघों का कुकरमुत्तों की तरह बढ़ना, क्षेत्रीय दलों का बढ़ना तथा सफल होना और धार्मिक घटनाओं एवं मद्दों का चुनावों के दौरान प्रयोग, इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करता है।

राष्ट्रीय तथा स्थानीय मुद्दे

यह सच है कि ग्रामीण तथा शहर की गंदी बस्तियों में रहने वाले करोड़ों मतदाता भ्रम तथा वास्तविकता में अंतर नहीं कर पाते तथा भावनात्मक मोर्चाबंदी के शिकार हो सकते हैं। फिर भी उनका मतदान सरकार के क्रियाकलापों व मुद्दों के महत्त्व से अछूता नहीं रहता। वास्तव में विभिन्न चुनाव परिणामों ने सिद्ध किया है कि लोगों ने न केवल चुनावों के महत्त्व को समझा है अपितु लोकतांत्रिक तरीके से अपने विद्रोह को व्यक्त भी किया है। सत्तारूढ़ दलों को, केंद्र तथा सभी राज्यों सहित, सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग तथा तिकड़मों के बावजूद, अपदस्थ कर लोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे चुनाव के यंत्र का प्रयोग निष्क्रिय सरकारों को उखाड़ फेंकने हेतु कर सकते हैं। इसका स्पष्ट तथा ज्वलंत उदाहरण 1977 के चुनावों में आपात कालीन घोषणा को अस्वीकार करना था।

पुरूष प्रधानता

भारतीय चुनावों में प्रारंभ से ही महिला प्रतिनिधित्व के प्रति उपेक्षा रही है। यह एक बहुत ही दिलचस्प बात है कि पिछले दो दशकों से लगभग सभी राजनीतिक दल महिला सशक्तिकरण की बात तो करते हैं तथा उन्हें विधायिकाओं में 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का वायदा भी कर रहे हैं लेकिन जब प्रत्याशी खड़े करने

की बात आती है तो अधिकांश दल महिला प्रत्याशियों की उपेक्षा कर देते हैं।

धन, संचार साधन तथा बाहुबल

भारतीय चुनावों में उभरने वाला एक अन्य विघ्नात्मक रूझान धन, संचार साधन व बाहुबल का दुरुपयोग है। दुर्भाग्यवश पिछले तीन दशकों से राजनीतिक शक्ति अपने आप में ही महत्त्वपूर्ण बन गई है। इसका प्रयोग परिवर्तन लाने के लिए नहीं अपितु विशेषाधिकारों की प्राप्ति, यथास्थिति को बनाए रखने तथा स्वार्थपूर्ति के लिए किया जाने लगा है। चुनाव ही अपने आप में ही लक्ष्य बन गए हैं, जिन्हें किसी भी कीमत पर जीता ही जाना चाहिए। परिणामस्वरूप, हमारी चुनावी प्रक्रियाएँ काफी सीमा तक प्रदूषित हो गई हैं। चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए दल व उम्मीदवार, दोनों ही जातीय व धार्मिक भावनाओं के आधार पर तो मतदान की अपील करते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे उच्च कोटि के चुनाव अभियानों तथा वोट खरीदने के लिए धन-शक्ति का प्रयोग भी करते हैं। वे अपराधियों तथा माफिया (बाहुबल शक्ति) पर निर्भर रहने लगे हैं जिनके माध्मम से वे मतदाताओं को डराते-धमकाते हैं, बूथों पर जबरन कब्जा करते हैं तथा चुनाव अभियानों में विरोधियों को धमकियाँ देते हैं। संचार साधनों का प्रयोग झूठी रिपोर्टों, मत संग्रह अथवा मतदाताओं को प्रभावित करने वाली ख़बरों के माध्यम से किसी नेता की छवि बनाने तथा दल की लोकप्रियता दर्शाने के लिए किया जाता है। चुनाव में सफलता की दृष्टि से सभी दल ऐसे उम्मीदवार खड़े करने को बाध्य हो जाते हैं जो उपरोक्त शक्तियों से पूर्णतः लैस हों। इसमें संदेह नहीं कि ये शक्तियाँ इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक, जानबूझकर अथवा अनजाने में लोगों के मत आचरण को प्रभावित तो करती हैं।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चुनाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया का केंद्र बिंदु है। चुनावों के द्वारा ही सहमति तथा प्रतिनिधित्त्व के विचार को मतों (वोटों) को सीटों में रूपांतरित कर साकार किया जाता है। सार्वजनिक मामलों में लोगों की सहभागिता चुनावों में ही निहित होती है और चुनाव ही सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण को सुनिश्चित करते हैं तथा सरकार की वैधता को शक्ति प्रदान करते हैं। चुनाव लोकतंत्र को न केवल बनाए रखते हैं बल्कि इसे जीवन भी प्रदान करते हैं। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर भारतीय संविधान निर्माताओं ने जनसाधारण में अपना विश्वास जताया और समानता के आधार पर सार्वभौमिक मताधिकार के सिद्धांत को अंगीकार किया। उन्होंने लोगों की इस आशंका के बावजूद, कि भारत जैसे देश में सार्वभौमिक मताधिकार सफल नहीं होगा क्योंकि यहाँ लोग अशिक्षित और पिछड़े हुए हैं, इसे लागू किया। आमतौर पर भारत के लोगों ने भारत के संविधान निर्माताओं को सही सिद्ध किया है। एक विकासशील समाज की समाजिक संरचना की जटिलताओं के बावजूद भारतीय जनसाधारण ने न केवल चुनावों के महत्त्व को सही समझा है, बल्कि निष्क्रिय सरकारों को हटाने और परिवर्तन के प्रति अपनी इच्छा प्रकट करने के लिए इसका भरपूर प्रयोग भी किया है।

निःसंदेह, इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भारत में मतदाताओं का आचरण सदैव विवेकशील एवं जानकारी पूर्ण रहा है। वास्तव में, भारत में चुनाव आचरण अत्यधिक उलझा हुआ है। एक ओर तो यह दर्शाता है कि लोग सत्तारूढ़ दल को हटाने में सक्षम हैं तथा सत्ता प्रयोग के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं। दूसरी ओर वे जाति, उपजाति, समुदाय तथा क्षेत्रीयता को राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा वरीयता देते हैं। राज्य अथवा राष्ट्रीय स्तर पर चुनाव परिणामों का परीक्षण करने पर पता चलता है कि वे लोगों के आक्रोश व हताशा को प्रतिबिंबित करते हैं। लेकिन, जब हम निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर देखते हैं तो पाते

हैं कि जाति अथवा उपजाति, धर्म, धन और बाहुबल, राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के निर्धारक कारक बन गए हैं। स्थानीय मुद्दे, जाति, सत्तारूढ़ दल के कार्यों से असंतोष, चमत्कारिक नेताओं की भूमिका तथा स्थानीय समीकरण आदि मिलकर मतदान आचरण को निर्धारित करते हैं। यह भी देखा गया है कि अधिकांश लोग अपनी निष्ठाओं में समयानुसार परिवर्तन करते रहते हैं। अतः वे कभी जाति के आधार पर तो कभी वर्ग अथवा मद्दों के आधार पर मतदान कर सकते हैं। एक तथ्य तो स्पष्ट है कि लोगों में लोकतांत्रिक प्रणाली के प्रति असीम आस्था है जिसके लिए वे कुछ भी दाँव पर लगा सकते हैं।

यह एक गंभीर चिंतन का विषय है कि मूल्य व्यवस्था का ह्रास हो रहा है तथा व्यवस्था के प्रति शिक्षितों में उदासीनता की भावना दिन-प्रति-दिन घर करती जा रही है। अब तक वंचित रहे समूहों में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती चेतना के प्रत्युत्तर में राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वाकाँक्षी व्यक्तियों तथा शासक वर्ग ने सत्ता में बने रहने के लिए जातीय निष्ठाओं, धन और बाहुबल का प्रयोग करना आरंभ कर दिया है।

मूल्यों में ह्रास चिंता का विषय तो है लेकिन इसका तात्पर्य व्यवस्था का धराशायी होना अथवा लोकतंत्र की असफलता नहीं है। भारतीय लोकतंत्र का तंत्र अपनी दलीय प्रणाली, समय-समय पर होने वाले चुनाव, सत्ता हस्तांतरण की संस्थागत प्रक्रिया, अधिकारों की व्यवस्था आदि के साथ सुचारू ढंग से कार्य कर रहा है। निश्चय ही, व्यवस्था में कुछ विकृतियाँ उभरी हैं जिन्हें ठीक करने की जरूरत है। राजनीति, खुशहाली और लोक हित को बढ़ाने से संबंधित है, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अधिकाधिक लोग राजनीति में भाग लें सबको मिल-जुलकर चुनाव के साथ-साथ लोकतांत्रिक राजनीति की विभिन्न संस्थाओं के स्वास्थ्य एवं शक्ति की पुनर्स्थापना के लिए सामूहिक प्रयास करने चाहिए। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि लोकतंत्र, मात्र चुनाव ही नहीं है अपितु इससे बहुत कुछ अधिक है।

अभ्यास

1. सार्वभौम वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं? लोकतंत्र में उसके महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
2. उन अल्पकालिक व दीर्घकालिक कारकों की व्याख्या कीजिए जो चुनाव सहभागिता व आचरण को प्रभावित करते हैं।
3. भारत के विगत 13 आम चुनावों के दौरान उभरे प्रतिमानों व रूझानों का वर्णन कीजिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   - (i) भारत में वयस्क मताधिकार
   - (ii) दलीय पहचान
   - (iii) धन व बाहुबल का दुरुपयोग
   - (iv) पुरूष प्रधानता

अध्याय 2

चुनाव आयोग एवं चुनाव प्रक्रिया

हम जान चुके हैं कि लोकतंत्र की आधारभूत संकल्पना समय-समय पर कराए जाने वाले निष्पक्ष चुनाव हैं। इसका अर्थ है कि चुनाव एक ऐसे वातावरण में कराया जाता है जिसमें नागरिकों को तर्कसंगत विकल्प चुनने की स्वतंत्रता हो। यह कहना गलत न होगा कि चुनाव ऐसे निष्पक्ष, ईमानदार एवं योग्य प्रशासकों द्वारा कराए जाने चाहिए जो राजनीतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हों। चुनाव की पेटी के निर्णय में विश्वास की कमी लोकतंत्र की प्रक्रिया में न केवल जनता का विश्वास नष्ट करती है, अपितु चुनाव प्रशासन पर भी प्रश्न चिह्न लगाती है। भारत के संविधान निर्माता स्वतंत्र चुनाव निकाय की आवश्यकता से भली-भाँति अवगत् थे। इसकी व्यवस्था उन्होंने चुनाव आयोग के रूप में की जिसमें केवल कार्यपालिका का ही नहीं वरन् विधायिका का भी हस्तक्षेप नहीं हो सकता।

चुनाव आयोग

भारतीय संविधान में चुनाव आयोग का एक विशेष प्रावधान है जिसका मुख्य कार्य मतदाता सूची तैयार करना, चुनाव का निर्देशन करना, चुनाव की निगरानी करना तथा राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, लोक सभा, राज्य सभा, राज्य विधान सभाओं एवं राज्यों की विधान परिषदों (जिन राज्यों में ये विद्यमान हैं) के चुनाव कराना है। संविधान के अनुच्छेद 324 के अनुसार चुनाव आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे जिनकी संख्या राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर निर्धारित की जा सकती है। इन सभी निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा संसद के बनाए गए कानून के आधार पर होगी। निर्वाचन आयुक्तों की सेवा-शर्तो तथा उनकी कार्य अवधि को निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है।

उपरोक्त प्रावधान के अनुसार राष्ट्रपति के द्वारा निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की व्यवस्था है परंतु पद के लिए योग्यता की शर्तें या नियुक्ति की प्रक्रिया निर्धारित नहीं है। संसद में इस आशय के कानून के लंबित रहने की परिस्थिति में राष्ट्रपति नियमों का निर्धारण कर सकते हैं। संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्ति का अर्थ है तत्कालीन सरकार को नियुक्ति का अधिकार देना। संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह विचार व्यक्त किया था कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति यदि सिर्फ मंत्रिमंडल की सलाह पर की जाएगी तो यह राजनीतिक प्रभाव के प्रयोग को बढ़ावा देगा। अभी तक मुख्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति राजनीतिक प्रभाव के प्रयोग की आशंका को निराधार सिद्ध करती रही है। प्रधान मंत्री के परामर्श पर राष्ट्रपति विश्वासी एवं अनुभवी तथा निष्पक्ष छवि वाले प्रशासकों की नियुक्ति करते रहे हैं, न कि राजनीतिज्ञों या गैर पदाधिकारियों की।

चुनाव आयोग की स्वतंत्रता एवं कार्यप्रणाली

संविधान के अनुच्छेद 324 (5) में चुनाव आयोग की स्वतंत्रता को सुनिश्चित किया गया है। इसके अनुसार, मुख्य निर्वाचन आयुक्त को एक विशेष प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाए जाने के लिए उपयोग में लाई जाती है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा शर्तें उसकी कार्य अवधि के दौरान अलाभकारी रूप से परिवर्तित नहीं की जा सकती। मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्त उसी वेतन एवं सुविधाओं जैसे निःशुल्क आवास आदि के योग्य हैं, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए हैं। मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तिथि से छः वर्षों के लिए या 65 वर्ष की आयु तक (जो भी पहले हो) होता है। इस प्रकार चुनाव आयोग कार्यपालिका के प्रभाव से स्वतंत्र है। संसद तथा राज्य विधायिका के चुनाव संबंधी कानून के निर्माण की शक्ति, संविधान के अनुच्छेद 324 के प्रावधानों के अंतर्गत आती है।

कुछ निरीक्षकों के मत में चुनाव कराने वाले व्यक्तियों को लेकर आशंका बनी रहती है। चुनाव को संपन्न कराने के लिए निर्वाचन आयोग के पास अपने कर्मचारी नहीं होते। वह केंद्रीय एवं राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहता है। संविधान के अनुच्छेद 324 (6) में ऐसा प्रावधान है कि आयोग के कार्य को चलाने के लिए जिन कर्मचारियों की आवश्यकता होगी, राष्ट्रपति एवं राज्यपाल उनकी व्यवस्था करेंगे।

अपने दायित्व के निर्वहन के लिए आयोग की केंद्रीय/राज्य प्रशासन पर निर्भरता कभी-कभी तीव्र एवं प्रभावी ढंग से कार्यों के निष्पादन में बाधा उत्पन्न करती है। यद्यपि समय-समय पर होने वाले चुनावों को संपन्न कराने के लिए बड़ी संख्या में कर्मचारियों को रखना आयोग के लिए अत्यधिक खर्चीला होगा। इन सीमाओं के बावजूद कुछ अपवादों को छोड़कर सरकारी पदाधिकारियों ने निष्पक्ष एवं स्वतंत्र ढंग से कार्य किया है। 1988 में इस व्यवस्था को आगे भी दोषमुक्त रखने के लिए जन प्रतिनिधित्व कानून संशोधन करके यह व्यवस्था की गई है कि मतदाता सूचियों के पुनरीक्षण एवं चुनाव के संपादन के समय नियुक्त पदाधिकारी एवं कर्मचारी चुनाव आयोग में प्रतिनियुक्ति पर माने जाएँगे। इसके अनुसार वे चुनाव संबंधी सभी कार्यों के लिए सीधे चुनाव आयोग के प्रति उत्तरदायी होंगे।

राज्यों में चुनाव आयोग की सहायता के लिए संविधान क्षेत्रीय आयुक्तों का प्रावधान करता है। राष्ट्रपति चुनाव आयोग के परामर्श पर, आयोग को सौंपे गए कार्यों के संपादन में सहायता के लिए आवश्यक क्षेत्रीय आयुक्तों को भी नियुक्त कर सकता है।

इसके अतिरिक्त मतदाता सूची तैयार करने, उसके पुनर्निरीक्षण तथा चुनाव को संपादित कराने में आयोग की सहायतार्थ एक मुख्य चुनाव अधिकारी होता है जिसे 1956 तक कोई वैधानिक दर्ज़ा प्राप्त नहीं था। उसे यह वैधानिक दर्ज़ा जन प्रतिनिधित्व कानून, 1951 में संशोधन के द्वारा दिया गया। मुख्य चुनाव अधिकारी के कार्यालय का गठन एवं प्रशासनिक संरचना एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न हो सकती है जो उस राज्य के आकार एवं कार्य बोझ पर निर्भर होती है। भारत की विविधता, आकार एवं जनसंख्या के दृष्टिगत कुशलतापूर्वक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनावों का संपादन एक बृहद् कार्य है।

बहुसदस्यीय आयोग

सांविधानिक प्रावधानों के अनुरूप चुनाव आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे। इसका अर्थ यह है कि चुनाव आयोग में केवल एक मुख्य चुनाव आयुक्त अथवा उसके साथ-साथ अन्य सदस्य भी हो सकते हैं। 1950 में चुनाव आयोग

के गठन से लेकर अक्तूबर 1989 तक आयोग एक सदस्यीय निकाय के रूप में कार्य करता रहा। 16 अक्तूबर 1989 को राष्ट्रपति ने दो अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति नवंबर-दिसंबर 1989 के आम चुनाव से पूर्व कर दी, यद्यपि इन दोनों चुनाव आयुक्तों का पद 1 जनवरी 1990 को समाप्त कर दिया गया। पुनः 1 अक्तूबर 1993 को राष्ट्रपति ने अन्य दो चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति की। साथ ही कानून में संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था भी की गई कि मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य आयुक्तों की शक्तियाँ उनके वेतन, भत्ते एवं अन्य सेवा शर्तें भी एक जैसी होंगी। कानून में यह भी व्यवस्था की गई कि यदि मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों में मतभेद हो तो आयोग बहुमत के आधार पर निर्णय करेगा। इस कानून की वैधता को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई। 14 जुलाई 1995 को उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक पीठ ने, जिसमें 5 न्यायाधीश थे, इस आवेदन को रद्द कर दिया तथा इस कानून के प्रावधानों को सांविधानिक माना। वर्तमान में चुनाव आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा दो अन्य निर्वाचन आयुक्त हैं। क्या आप इनका नाम बता सकते हैं?

चुनाव आयोग की शक्तियाँ एवं कार्य

भारत के निर्वाचन आयोग की शक्तियाँ एवं कार्य बहुत व्यापक हैं। इनमें से प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

(i) मतदाता सूची तैयार करना, पुनर्निरीक्षण तथा नवीकरण करना जो संसद, राज्य विधायिकाओं, स्थानीय निकायों, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव से पूर्व आवश्यक हैं।

(ii) संसद, राज्य विधायिका, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनावों एवं उप-चुनावों को संपन्न कराना एवं निरीक्षण करना।

(iii) संसद एवं राज्य विधायिका के चुनाव तथा उनमें सीटों की संख्या के आबंटन के लिए क्षेत्रों का पुनर्निधारण करना।

(iv) चुनाव के कार्यक्रम का निर्धारण, जिसमें नामांकन की तिथि, नामांकन पत्र की जाँच व्यवस्था, चुनाव की तिथियों का निर्धारण, मतदान केंद्र एवं बूथों का निर्धारण, गुप्त मतदान करने के पीठासीन अधिकारियों की नियुक्ति, मतपत्रों की गिनती एवं अंतिम जाँच के बाद परिणामों की घोषणा तथा यदि आवश्यक हो तो मतदान को रद्द करना, शामिल हैं।

(v) राष्ट्रपति एवं संबद्ध राज्यों के राज्यपालों को, यदि आवश्यक हो, चुनाव संबंधित सभी मामलों में यहाँ तक कि सदस्यों की अयोग्यता से संबंधित मामलों में भी सलाह देना।

(vi) राजनीतिक दलों, उम्मीदवारों एवं मतदाताओं के लिए दिशा-निर्देश तैयार करना।

(vii) चुनाव में खर्च किए जाने वाले धन की सीमा तय करना तथा उम्मीदवारों द्वारा दिए गए चुनाव के खर्चे की समीक्षा करना।

(viii) राजनीतिक दलों को मान्यता देने की शर्तें तय करना और उन्हें मान्यता प्रदान करना, उनके चुनाव चिह्नों का निर्धारण तथा जनता तक चुनावी मुद्दों को ले जाने के लिए रेडियो एवं दूरदर्शन पर उनका समय निर्धारित करना।

(ix) निर्दलीय उम्मीदवारों के लए "स्वतंत्र चिह्नों" की सूची तैयार करना।

(x) चुनाव से संबंधित विवाद एवं आवेदन, जो राष्ट्रपति या राज्यपाल के द्वारा भेजे गए हों, का निपटारा करना।

चुनाव की व्यवस्था

पिछले अध्याय में हमने पढ़ा है कि भारत में लोक सभा एवं राज्य विधान सभा के चुनाव के लिए 'बहुलवादी व्यवस्था' या 'फर्स्ट पास्ट दी पोस्ट व्यवस्था' तथा राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, राज्य सभा एवं राज्य विधान परिषद् के चुनाव के लिए एकल संक्रमणीय आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अपनाई

गई है। आप अवश्य जानना चाहेंगे कि ये व्यवस्थाएँ क्या हैं? आगे इसकी संक्षेप में चर्चा की गई है।

बहुलवादी व्यवस्था (फर्स्ट पास्ट दी पोस्ट)

इस व्यवस्था में पूरे देश को लगभग एक आकार के एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। मतदाता किसी एक उम्मीदवार का चयन उसके नाम के आगे मोहर लगाकर करते हैं। जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक मत प्राप्त होते है, भले ही वे डाले गए कुल मतों के आधे से कम ही क्यों न हों, विजयी घोषित किया जाता है। यह एक आसान प्रक्रिया है तथा प्रतिनिधियों एवं क्षेत्र के बीच एक कड़ी स्थापित करती है। यह सरकार के गठन का अवसर उस दल या दल समूह को प्रदान करती है जिसे बहुमत के आधार पर जनादेश मिला हो। परंतु इस व्यवस्था में अनेक कमियाँ भी दिखाई देती हैं। इस व्यवस्था में अनेक मत व्यर्थ चले जाते हैं, उदाहरण के लिए पराजित हुए उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मत। छोटे राजनीतिक दलों को समुचित प्रतिनिधित्व न मिलने से यह व्यवस्था चुनाव परिणामों को दोषपूर्ण बनाती है। यह चुनाव प्रक्रिया सरकार के औचित्य के संबंध में भी प्रश्न चिह्न लगाती है क्योंकि कई बार इस तरह बनी सरकार को कुल मतों का बहुमत तो दूर, कभी-कभी डाले गए मतों का भी बहुमत प्राप्त नहीं होता। इस व्यवस्था में कुछ सामाजिक समूहों जैसे -- अल्पमतों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। इन सभी सीमाओं के बावजूद, यह व्यवस्था ब्रिटेन एवं भारत सहित कई देशों में काफी लोकप्रिय है।

बहुमतीय प्रणाली (द्वितीय मत या वैकल्पिक मतीय प्रणाली)

बहुमतीय प्रणाली में एक व्यक्ति एकल चुनाव क्षेत्र से तभी विजयी घोषित किया जाता है जब उसे स्पष्ट बहुमत यानि 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त हों। यह दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

(i) *द्वितीय मत प्रणाली :* इसमें एक क्षेत्र से एक ही उम्मीदवार होता है तथा एक विकल्प चुनना होता है। जैसा कि फर्स्ट पास्ट दी पोस्ट व्यवस्था में होता है, प्रथम मत से चुनाव जीतने के लिए उम्मीदवार को कुल डाले गए मतों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त होना चाहिए। यदि प्रथम मतों की गणना में किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न मिले तो सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले दो उम्मीदवारों में दोबारा मतदान होता है। यह व्यवस्था फ्रांस में प्रचलित है।

(ii) *वैकल्पिक मत प्रणाली :* इस व्यवस्था में एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्र होते हैं। मत की प्राथमिकताओं को तय किया जाता है। मतदाता अपनी प्राथमिकताओं का क्रम प्रथम या द्वितीय या इसी क्रम से तय करते हैं। विजयी उम्मीदवार को कुल डाले गए मतों का कम से कम 50 प्रतिशत प्राप्त होना चाहिए। यदि किसी भी उम्मीदवार को पहली प्राथमिकता के 50 प्रतिशत मत नहीं मिलते तो न्यूनतम मत प्राप्त उम्मीदवार को हटाकर उसकी द्वितीय प्राथमिकता के मत अन्य संबंधित उम्मीदवारों में बाँट दिए जाते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कोई उम्मीदवार कुल डाले गए मतों का बहुमत प्राप्त न कर ले। यह व्यवस्था भारत में राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए तथा आस्ट्रेलिया एवं कुछ अन्य देशों में भी प्रचलित है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व शब्द का प्रयोग चुनाव की उस व्यवस्था के सिद्धांत को दर्शाता है जिसके अनुरूप संसद या राज्य विधायिकाओं में राजनीतिक दलों को उनके प्राप्त मतों के अनुपात में सीटें प्राप्त होती हैं। ऐसा दावा किया जाता है कि इस व्यवस्था में सभी राजनीतिक दल या हित समूह अपने मतदाताओं

के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त करते है। यह दो तरीके से किया जाता है।

(i) *एकल हस्तांतरणीय मत प्रणाली :* इसमें बहुसदस्यीय चुनाव क्षेत्र होते हैं। एक क्षेत्र में जितनी सीटें होती हैं राजनीतिक दल उतने ही उम्मीदवार चुनाव के लिए उतार सकते हैं। मतदाता वैकल्पिक मतीय प्रणाली की तरह प्राथमिकता तय करते हैं। वह उम्मीदवार विजयी होता है जो एक निश्चित कोटा प्राप्त कर लेता है। यह निम्नलिखित फार्मूले के आधार पर तय किया हुआ न्यूनतम मत है जो क्षेत्र विशेष के लिए निर्धारित संख्या में उम्मीदवारों के निर्वाचन के लिए आवश्यक है। यह कोटा इस प्रकार निकाला जाता है :

$$\text{कोटा} = \frac{\text{कुल डाले गए मतों की संख्या}}{\text{कुल सीट जिन्हे भरा जाना है + 1}} + 1$$

उदाहरण के तौर पर किसी एक क्षेत्र में एक लाख वोट डाले गए हैं तथा चार सदस्यों का चुनाव होना है तो कोटा इस प्रकार निकाला जाएगा:

$$\text{कोटा} = \frac{1,00,000}{4+1} + 1$$

$$= \frac{1,00,000}{5} + 1$$

$$= 20,000 + 1$$

प्रथम प्राथमिकता के आधार पर मतों को गिना जाता है। यदि सभी सीटें इस प्रकार नहीं भरती हैं तो न्यूनतम मत प्राप्त उम्मीदवार को हटा दिया जाता है और उसके द्वारा प्राप्त मतों को द्वितीय प्राथमिकता के आधार पर अन्य उम्मीदवारों में बाँट दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक निर्धारित सीटें भर न जाएँ। भारत में यह व्यवस्था राज्य सभा एवं राज्य विधान परिषद् के चुनावों में अपनाई जाती है।

(ii) *दलीय सूची प्रणाली :* इस प्रणाली में संपूर्ण देश को एक चुनाव क्षेत्र की तरह देखा जाता है अर्थात् इसे कई बहुसदस्यीय क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। पार्टी प्राथमिकता के आधार पर अपने उम्मीदवारों की घटते हुए क्रम के अनुसार सूची तय करती है तथा मतदाताओं के सम्मुख रख देती है। मतदाता दलीय सूची के लिए मत देते हैं न कि उम्मीदवार के लिए। दलों को चुनाव में प्राप्त मतों के अनुपात में सीटें दे दी जाती हैं। इन सीटों को दल अपनी निर्धारित सूची से वरीयता के आधार पर भरते हैं। छोटे दलों को बाहर करने के लिए कुल मतों का एक न्यूनतम प्रतिशत (जैसे जर्मनी में 5 प्रतिशत) तय कर दिया जाता है। यह एक विशुद्ध आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली है जो सभी दलों के लिए न्यायसंगत है, यद्यपि बड़े देशों में इसका कार्यान्वयन कठिन है।

विभिन्न देशों में ऊपर वर्णित अलग-अलग व्यवस्थाएँ चल रही हैं। किसी एक देश में किसी व्यवस्था विशेष को अपनाया जाना अनेक बातों पर निर्भर करता है जैसे — ऐतिहासिक विकास, आकार, मतदाताओं के प्रकार, स्थायित्व, एवं जनसंख्या की प्रकृति। भारत में संविधान निर्माताओं ने ब्रिटेन के मॉडल का अनुसरण किया। इसलिए बहुलवादी या 'फस्ट पास्ट दी पोस्ट' व्यवस्था को लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं के चुनाव के लिए अपनाया गया। राष्ट्रपति को देश का वास्तविक प्रतिनिधि दर्शाने

के लिए बहुमतीय व्यवस्था हस्तांतरणीय मत प्रणाली के साथ अपनाई गई है राज्य सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व है इसलिए वहाँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अपनाई गई है।

ये सभी व्यवस्थाएँ प्रायः ठीक ढंग से कार्य करती रही हैं परन्तु 'फस्ट पास्ट दी पोस्ट' व्यवस्था में कुछ कमियाँ हैं जिनका निदान आवश्यक है। भारत में अनेक छोटे दलों या समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता, यद्यपि आम मतदाताओं में इनका महत्त्वपूर्ण आधार होता है। इस प्रकार, ऐसे दलों या समूहों को प्रतिनिधित्व मिलता ही नहीं या फिर अल्प प्रतिनिधित्व ही प्राप्त हो पाता है, वहीं दूसरी ओर केवल 30 प्रतिशत मत ही प्राप्त करके राजनीतिक दल कभी-कभी बहुमत दल के रूप में उभरते हैं तथा सरकार भी बना लेते हैं। इस विषय का अध्ययन हम अगले अध्याय में चुनाव सुधार के अंतर्गत करेंगे।

चुनाव संबंधी कानून

भारत में राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति, लोक सभा, राज्य सभा, राज्य विधान सभा, राज्य विधान परिषद्, स्थानीय स्वशासित निकाय जैसे — नगरपालिका एवं पंचायती राज, के लिए चुनाव होते रहते हैं। चुनाव आयोग का उत्तरदायित्व लोक सभा, राज्य सभा, राज्य विधायिका, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव संपन्न कराना है। संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत चुनाव आयोग को चुनाव के निरीक्षण, निर्देशन एव नियत्रंण के साथ-साथ मतदाता सूची तैयार करना तथा चुनाव संपन्न कराने का अधिकार प्राप्त है। अनेक संसदीय कानून भी इसमें सहायक होते हैं जिनमें से प्रमुख जन प्रतिनिधित्व कानून 1950, जन प्रतिनिधित्व कानून 1951, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति अधिनियम 1952, मतदाता पंजीकरण अधिनियम 1960, चुनाव के नियमों का पालन, 1961 एवं केंद्र शासित प्रदेश अधिनियम 1963 हैं। यही नहीं, चुनाव आयोग ने भी अपनी विधायी शक्तियों के प्रयोग द्वारा चुनाव चिह्न आदेश 1968 (आरक्षण एवं आबंटन) के अतिरिक्त चुनावी तंत्र एवं मतदाताओं के मार्गदर्शन के लिए अनेक निर्देश जारी किए हैं।

जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 एवं 1951 में राज्य, ज़िला एवं चुनाव क्षेत्र स्तर पर चुनाव की प्रक्रिया को संपन्न कराने तथा मतदाता सूची को तैयार करने एवं उसमें संशोधन के लिए विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 वास्तव में मतदाता सूची की तैयारी से संबंधित है जबकि 1951 का अधिनियम चुनाव को संपन्न कराने की वैधता, चुनाव के दौरान शांति व्यवस्था कायम रखने, तथा नागरिक सेवाओं की निष्पक्षता बनाए रखने का प्रावधान करता है। चुनाव चिह्न आदेश, राजनीतिक दलों के पंजीकरण, उनकी मान्यता, चुनावी चिह्नों का आबंटन तथा विवादों के निपटारे से संबंधित है। नगरपालिका एवं पंचायती राज के निकायों के चुनाव राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा कराए जाते हैं। इनके लिए समय-समय पर नियम एवं कानून राज्यों द्वारा बनाए जाते हैं।

चुनाव का संचालन

जैसा कि बताया जा चुका है, लोक सभा एवं राज्य विधान सभा के चुनाव बहुलवाद या 'फस्ट पास्ट दी पोस्ट' के आधार पर होते हैं। भारतीय संविधान के अंतर्गत क्रमशः लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं की कुल सदस्य संख्या निर्धारित की गई है तथा यह तय किया गया है कि उन सदस्यों का प्रत्यक्ष रूप से चुनाव क्षेत्र के आधार पर चुनाव होगा। इसी के अनुरूप सीटों एवं चुनाव क्षेत्रों का निर्धारण संविधान के अंतर्गत किया जाता है। पारित अधिनियमों के अंतर्गत मतदाता सूची तैयार करना, उनका नवीकरण तथा चुनावों को सुचारु ढंग से संपन्न कराने का उत्तरदायित्व चुनाव आयोग का है।

चुनाव क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण

संविधान के अंतर्गत लोक सभा के लिए सीटों का निर्धारण किया जाता है। वर्तमान में इस सदन के लिए राज्यों से 530 तथा केंद्र शासित प्रदेशों से 20 सीटें निर्धारित की गई हैं। प्रत्येक राज्य में उसकी जनसंख्या के अनुपात में सीटें निर्धारित की जाती हैं। उसके बाद पूरे राज्य की सीटों को जनसंख्या के अनुपात में इस ढंग से बाँटा जाता है कि लगभग सभी चुनाव क्षेत्रों की जनसंख्या एक सी हो। राज्य विधान सभा की सीटों के लिए भी ऐसा ही प्रावधान है। चुनाव क्षेत्रों के निर्धारण एवं सीटों के निर्धारण की प्रक्रिया को 'चुनाव क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण' कहा जाता है। संविधान के अंतर्गत प्रत्येक राज्य के लिए लोक सभा की सीटों का तथा प्रत्येक राज्य में चुनाव क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण प्रत्येक जनगणना के बाद किया जाता है ताकि जनसंख्या एवं सीटों का अनुपात बना रहे। लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं के 1951-52 के प्रथम आम चुनाव के लिए चुनाव आयोग ने संपूर्ण देश को इसी प्रकार से संसदीय एवं विधान सभा क्षेत्रों में बाँटा था। उस समय संविधान में लोक सभा की अधिकतम सीटें 500 निर्धारित की गईं। उसके बाद पुनर्निर्धारण का कार्य स्वतंत्र पुनर्निर्धारण आयोग को सौंप दिया गया। इसी प्रकार, विशेष प्रावधानों के अंतर्गत 1951, 1961 एवं 1971 में प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात् होने वाली जनगणना के अनुरूप सीटों के पुनर्निर्धारण का कार्य अलग-अलग सीमा निर्धारण आयोग को सौंप दिया गया। अंतिम आयोग 1972 में गठित किया गया था जिसने 1975 में अपनी रिपोर्ट दी। संविधान के 42 वें संशोधन द्वारा 1976 में चुनाव क्षेत्रों के पुनर्निर्धारण पर वर्ष 2000 तक रोक लगा दी गई और लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं की सीटें 1971 की जनगणना पर आधारित की गईं। ऐसा प्रावधान जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिए किया गया था। ऐसी आशंका जताई गई कि कुछ राज्य लोक सभा में अधिक सीटें प्राप्त करने के लिए परिवार नियोजन को संभवत: गंभीरता से लागू न करें। 2002 में किए गए 91वें संविधान संशोधन द्वारा इस चुनाव क्षेत्रीय निर्धारण को 2026 तक के लिए निश्चित कर दिया गया। इसके अनुसार सीटों का पुनर्निर्धारण देश की जनसंख्या की गणना के आधार पर 2026 के बाद किया जाएगा। इसलिए तब तक लोक सभा की सीटों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इस संशोधन में पुनर्निर्धारण आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है ताकि आवश्यकता पड़ने पर चुनाव क्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन किया जा सके। ऐसा मुख्यत: इसलिए किया गया है क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या तथा नागरिकों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आकर बस जाने से चुनाव क्षेत्र काफी सीमा तक असंतुलित हो गए हैं। उदाहरण के तौर पर, कुछ चुनाव क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या 25 लाख से भी अधिक तक पहुँच गई है तथा कुछ में मात्र 1 लाख से भी कम है। पुनर्निर्धारण आयोग के समक्ष एक अन्य प्रस्ताव आरक्षित सीटों को बारी-बारी परिवर्तित करने का था। संविधान के अंतर्गत अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान है। जैसा कि हम जानते हैं कि सन् 1971 से आरक्षित चुनाव क्षेत्रों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। यह अनुभव किया जाता है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं सामान्य श्रेणी के उम्मीदवारों की सीटों में क्रमानुसार परिवर्तन होते रहना चाहिए ताकि उन्हें विस्तृत विकल्प मिल सके। यह आशा की जा रही है कि अगले आम चुनाव से पूर्व चुनाव क्षेत्रों को पुन: समायोजित किया जाएगा जिससे कुछ अधिक संतुलन की स्थिति दिखाई देगी।

व्यवस्था का कार्यान्वयन

चुनावी प्रक्रिया में दो महत्त्वपूर्ण कार्य है — मतदाता सूची तैयार करना एवं पुनर्निरीक्षण तथा चुनाव को

संपन्न कराना। मतदाता सूची को तैयार करने का कार्य एक सांविधानिक पदाधिकारी के द्वारा किया जाता है, जिसे चुनाव पंजीकरण पदाधिकारी कहते हैं तथा वह चुनाव आयोग की देख-रेख एवं नियंत्रण में कार्य करता है। विधान सभा चुनाव के लिए चुनाव अधिकारी की नियुक्ति संबंधित राज्य सरकार से परामर्श करने के बाद चुनाव आयोग करता है। उसके कार्यों में एक या एक से अधिक सहायक चुनाव पंजीकरण पदाधिकारी सहायता करते हैं। तहसील स्तर पर उनकी सहायता के लिए अन्य पदाधिकारी होते हैं। ये पदाधिकारी अपने प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ मतदाता सूची में सुधार का कार्य भी करते हैं। मतदाता सूची में सुधार का कार्य आवश्यकता पड़ने पर ही किया जाता है। कोई भी नागरिक जिसकी आयु 18 वर्ष हो जाए या उसका नाम किसी भी कारण से मतदाता सूची में नहीं आ पाया हो तो वह किसी समय निश्चित प्रपत्र को भरकर अपने नाम को शामिल किए जाने का आवेदन दे सकता है। चुनाव प्रचार के दौरान उम्मीदवारों के नामांकन के बाद मतदाता सूची की समीक्षा रोक दी जाती है।

चुनाव संपन्न कराना

लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं के चुनाव यदि इनके कार्यकाल पूरा होने से पहले न कराने पड़ें तो प्रत्येक 5 वर्ष के बाद कराए जाते हैं। राष्ट्रपति 5 वर्षों से पूर्व भी लोक सभा भंग कर सकता है तथा आम चुनाव की घोषणा कर सकता है। राज्य विधान सभाओं के लिए राज्यपाल भी ऐसा कर सकते हैं। जब नए चुनाव की घोषणा की जाती है तो चुनाव आयोग चुनाव कराने के लिए अपने पूरे तंत्र का प्रयोग करता है। संविधान के अनुसार लोक सभा या विधान सभा के दो अधिवेशनों के बीच 6 महीने से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिए, इसलिए चुनाव को इसी प्रावधान के अनुरूप संपन्न कराना आवश्यक होता है।

पीठासीन अधिकारी

प्रत्येक चुनाव क्षेत्र में चुनाव का कार्य जिस अधिकारी के निर्देशन में किया जाता है उसे पीठासीन अधिकारी कहते हैं। उसका मनोनयन चुनाव आयोग राज्य सरकार की सलाह से करता है। एक व्यक्ति को एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों के लिए पीठासीन अधिकारी मनोनीत किया जा सकता है। उसके एक या अधिक सहायक पीठासीन अधिकारी हो सकते हैं। सहायक पीठासीन अधिकारी सभी कार्यों को उसके निर्देशन पर संपादित करता है (सिवाय नामांकन पत्रों की जाँच के)। यदि पीठासीन अधिकारी विशेष परिस्थितियों में ऐसा कार्य स्वयं संपन्न न कर सके तो नामांकन पत्रों की जाँच का कार्य भी सहायक पीठासीन अधिकारी के द्वारा किया जा सकता है।

चुनाव लड़ने के लिए योग्यताएँ

कोई भी भारतीय नागरिक जो एक मतदाता के रूप में पंजीकृत है तथा जिसकी आयु 25 वर्ष से ऊपर है वह लोक सभा या राज्य विधान सभा का चुनाव लड़ सकता है। राज्य सभा के लिए यह न्यूनतम आयु सीमा 30 वर्ष है। राज्य सभा एवं विधान सभा के उम्मीदवार को उसी राज्य का निवासी होना चाहिए जहाँ से वह चुनाव लड़ना चाहता है। यदि किसी व्यक्ति को चुनावी कानून के अंतर्गत या किसी फौज़दारी अपराध में सज़ा हुई हो तो वह व्यक्ति सज़ा की तिथि से 6 वर्षों तक चुनाव नहीं लड़ सकता है।

लोक सभा का चुनाव लड़ने वाले प्रत्येक उम्मीदवार को 10,000 रुपए एवं राज्य सभा या विधान सभा का चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को 5,000 रुपए जमानत राशि देनी पड़ती है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवार इसकी आधी राशि ज़मा करते हैं। यह जमानत राशि उम्मीदवार को लौटा दी जाती है यदि उसे कुल वैध मतों का कम-से-कम 1/6 भाग प्राप्त हो जाता है। उम्मीदवार

यदि किसी पंजीकृत दल का है तो उसका नामंकन पत्र उस चुनाव क्षेत्र के कम-से-कम एक पंजीकृत मतदाता के द्वारा समर्थित होना चाहिए अन्यथा दूसरे उम्मीदवारों के लिए उस चुनाव क्षेत्र में से कम-से-कम दस पंजीकृत मतदाताओं का समर्थन होना चाहिए। सुरक्षित क्षेत्र के उम्मीदवार के लिए आवश्यक है कि वह अनुसूचित जाति या अनूसूचित जनजाति से ही होने चाहिए।

मतदान

उम्मीदवारों द्वारा नामांकन पत्र भरे जाने की प्रक्रिया पूरी होने के बाद पीठासीन अधिकारी चुनाव लड़ रहे उम्मीदवारों की तथा मत पत्रों एवं उनके चुनाव चिह्नों की सूची तैयार करता है। निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित निश्चित दिन को मतदान कराया जाता है। मतदान गुप्त होता है। चुनाव आयोग यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि प्रत्येक मतदाता को दो किलोमीटर के दायरे में मतदान केंद्र सुलभ हो तथा एक मतदान केंद्र पर 1,200 से अधिक मतदाता न हों। कुछ मतदाता, जिनमें भारत सरकार के कर्मचारी तथा सेना के जवान जो कर्तव्य पालन में लगे हों, डाक द्वारा मत दे सकते हैं।

मतदान की समाप्ति के पश्चात् निर्वाची अधिकारी एवं चुनाव आयोग द्वारा नियुक्त अन्य निरीक्षकों की उपस्थिति में मतों की गिनती की जाती है। मत गणना समाप्त होने के बाद पीठासीन अधिकारी उस उम्मीदवार को विजयी घोषित करता है जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हों।

चुनाव संबंधी आवेदन

यदि किसी मतदाता या उम्मीदवार को ऐसा प्रतीत हो कि चुनाव में अवैध तरीकों का प्रयोग किया गया है तो वह इस आशय का आवेदन दे सकता है। चुनाव से संबंधित ऐसे मामले संबंधित राज्य के उच्च न्यायालय के द्वारा सुने जाते हैं जो विचार करने के पश्चात् किसी भी उम्मीदवार के चुनाव को अवैध घोषित कर सकता है, नए चुनाव के आदेश दे सकता है, परिणाम की घोषणा पर रोक लगा सकता है या कोई अन्य उचित आदेश दे सकता है। उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

इस प्रक्रिया के द्वारा चुने गए उम्मीदवारों से लोक सभा या राज्य विधान सभा का गठन होता है। 1985 में पारित किया गया 'दल बदल विरोधी कानून' संसद सदस्यों या विधान सभा सदस्यों को एक दल छोड़कर दूसरे दल में शामिल होने पर रोक लगाता है। यदि दल को छोड़ने वाले सदस्यों की संख्या मूल दल के विधायी भाग के 1/3 भाग से अधिक है तो उन पर यह रोक नहीं होगी। किंतु यदि कोई एक सदस्य अपने दल को छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो जाता है तो उसकी सदन की सदस्यता समाप्त हो जाती है।

भारत एक संसदीय लोकतंत्र है। लोकतंत्र को चलाने की मुख्य प्रक्रिया चुनाव है। उसे सार्थक बनाने के लिए चुनाव स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तथा निश्चित अंतराल पर होने चाहिए। भारत का संविधान एक ओर सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के अनुसार 18 वर्ष से उपर के सभी नागरिकों को चुनाव में मत देने का अधिकार देता है। वहीं दूसरी ओर, संविधान चुनाव संपन्न कराने के लिए एक चुनाव आयोग का भी प्रावधान करता है जिसे विधायिका एवं कार्यपालिका के हस्तक्षेप से स्वतंत्र रखा गया है। भारत में चुनाव की घटनाएँ विचित्र राजनैतिक दलबंदी एवं संगठनात्मक जटिलताओं का समावेश हैं, फिर भी स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण चुनाव कराने में हमें उल्लेखनीय सफलता मिली है। नि:सन्देह चुनाव व्यवस्था की कई खामियाँ उभरकर सामने आई हैं —

जैसे चुनाव संचालन से जुड़ी कठिनाइयाँ, सिद्धांतों एवं मूल्यों में गिरावट आदि। दूसरे शब्दों में, चुनाव प्रक्रिया की बढ़ती विश्वसनीयता के बावजूद, वर्तमान व्यवस्था में कुछ कमियाँ उजागर हुई है जिन्हें सुधार के द्वारा ही ठीक किया जा सकता है। इन सुधारों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

अभ्यास

1. भारत के निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता कैसे सुनिश्चित की गई है?
2. भारत के निर्वाचन आयोग के गठन, उसकी शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं बहुलवादी चुनाव प्रणाली के गुण एवं दोषों की समीक्षा कीजिए।
4. भारत में चुनाव संपन्न कराने के लिए अपनाई गई प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) बहुसदस्यीय आयोग
   (ii) दलीय सूची प्रणाली
   (iii) चुनाव क्षेत्रों का सीमा निर्धारण
   (iv) पीठासीन या निर्वाची अधिकारी
   (v) चुनाव से संबंधित याचिका

अध्याय 3

चुनाव सुधार

अब तक हम भली-भाँति समझ गए हैं कि चुनाव किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार है। यह जनसाधारण को एक अवसर प्रदान करता है कि लोग अपनी सरकार का चुनाव कर सकें जो उनके अधिकार एवं स्वतंत्रताओं का संरक्षण कर सके; उनकी अपेक्षाओं को पूरा करे एवं उनके व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए वातावरण तैयार करे। यह अत्यंत आवश्यक है कि चुनाव निष्पक्ष, स्वतंत्र, शांतिपूर्ण एवं गरिमामय ढंग से हों। एक प्रतिनिध्यात्मक संसदीय लोकतंत्र के रूप में भारत के पास चुनाव की एक अच्छी व्यवस्था है। भारत के संविधान ने चुनाव के निरीक्षण, निर्देशन एवं संपूर्ण चुनावी प्रक्रिया के नियंत्रण की शक्ति निर्वाचन आयोग जैसे स्वतंत्र सांविधानिक निकाय में निहित की है। पिछले पाँच दशकों में लोक सभा के तेरह आम चुनावों तथा राज्य विधान सभाओं के लगभग तीन सौ चुनावों ने न केवल यह प्रमाणित किया है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें गहरी हो चुकी हैं अपितु इसने अपनी निष्पक्षता के लिए विश्व में अपनी एक साख बनाई है।

चुनाव और उनके परिणामों को सामान्यत: नए लोकतांत्रिक अनुभव के रूप में देखा जाता है, परंतु गत वर्षों में इस व्यवस्था की अनेक कमियाँ भी उजागर हुई हैं। ये कमियाँ हैं: निष्पक्ष व स्वतंत्र चुनाव करवाने में कठिनाइयाँ, उनकी विश्वसनीयता के प्रति आशंकाएँ एवं चुनावी व्यवस्था तथा कार्यविधि में समाहित विसंगतियाँ। इस प्रकार यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था को मज़बूत करने के लिए चुनाव व्यवस्था में सुधार लाए जाएँ। वर्तमान में चुनाव व्यवस्था में सुधार का प्रश्न सभी राजनेताओं, मीडिया, नागरिक, राजनीतिक पर्यवेक्षकों और सबसे अधिक, चुनाव करवाने वालों के लिए चिंतन का विषय बना हुआ है। इस संदर्भ में सबसे पहले हम यह जानेंगे कि इस व्यवस्था के समक्ष कौन सी कमियाँ और समस्याएँ हैं।

व्यवस्था में कमियाँ एवं त्रुटियाँ

अप्रतिनिध्यात्मक

भारतीय निर्वाचन व्यवस्था में एक मुख्य कमी है कि बहुल मतदान या 'फस्ट पास्ट दी पोस्ट' व्यवस्था में प्राप्त मतों की संख्या तथा जीती गई सीटों की संख्या में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। अधिकतर चुनावी परिणाम यह दर्शाते हैं कि चुनाव में वोट का प्रतिशत एवं जीती गई सीटों की संख्या में असंतुलन होता है। यह भी देखा गया है कि किसी भी लोक सभा के चुनाव में सत्ता प्राप्त करने वाले दल या गठबंधन को 50 प्रतिशत मत भी प्राप्त नहीं होते । एक पर्यवेक्षक ने यह भी दर्शाया है कि कुल मतदान 60 प्रतिशत से अधिक नहीं होता। सामान्यत: कोई भी दल जो 30 से 35 प्रतिशत तक मत प्राप्त कर लेता है उसे सरकार

बनाने का अवसर मिल जाता है। दूसरे शब्दों में कुल मतदाताओं में 18 से 21 प्रतिशत मतदाताओं के समर्थन के आधार पर ही सरकार का गठन हो जाता है। प्रारंभिक वर्षों के दौरान विरोधी दल लोकमत के एक बड़े भाग का प्रतिनिधित्व करते थे परंतु विधायिकाओं के संगठन में एक दल की प्रधानता थी।

छोटे-छोटे अनेक दल अल्प प्रतिनिधित्व की स्थिति में रहते हैं। इसी कारण विभिन्न सामाजिक समूह अपनी संख्या के अनुपात में समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर पाते। इस तथ्य का दूसरा पहलू यह है कि किसी न किसी प्रत्याशी को चुनाव में विजयी होना ही है। इसलिए राजनैतिक दल प्रत्याशियों को निर्धारित करते समय धर्म, जाति आदि प्रभावों से अछूते नहीं रहते। फलस्वरूप, प्रत्याशियों के चयन में प्रतिभा पिछड़ कर रह जाती है।

दलों एवं प्रत्याशियों की बहुलता

राजनीतिक दलों को नियमित करने वाला कोई कानून नहीं है। बहुल व्यवस्था में कोई भी दल जिसका सीमित भौगोलिक क्षेत्र में प्रभाव है कुछ सीट जीतने की संभावना रखता है। इसका परिणाम यह है कि देश राजनीतिक दलों की लगातार बढ़ती हुई संख्या की समस्या से जूझ रहा है। यह अनुमान है कि देश में 700 से ज्यादा राजनीतिक दल हैं। दलों की बहुतायत न सिर्फ मतदाताओं में भ्रम पैदा करती है बल्कि चुनाव में उम्मीदवारों की अत्यधिक संख्या प्रशासनिक समस्याएँ भी उत्पन्न करती है। स्वतंत्र उम्मीदवारों की भी बड़ी संख्या ऐसी समस्या में और अधिक बाधा उत्पन्न करती है क्योंकि उनके नामांकन एवं चुनाव में उतरने पर कोई रोक नहीं है। ऐसे सिद्धांत-विहीन, व्यक्ति-आधारित दल एवं स्वतंत्र उम्मीदवार चुनाव के बाद के परिदृश्य में अवसरवादी गठबंधन एवं अस्थिर सरकार की समस्या उत्पन्न करते हैं।

बढ़ते खर्च एवं धन का प्रभाव

भारत में चुनाव लड़ने वाले तथा इसे संपन्न कराने वाले, दोनों के लिए यह एक खर्चीली व्यवस्था है। बड़े-बड़े चुनाव क्षेत्र, चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की बड़ी संख्या, राजनीतिक दल एवं उम्मीदवारों का व्यवहार एवं अन्य ऐसे तत्त्व चुनाव को शांतिपूर्ण एवं व्यवस्थित ढंग से कराने में राज्य के ऊपर खर्चे का बड़ा बोझ डाल देते हैं। 13वें आम चुनाव में सरकार को सिर्फ संसदीय चुनाव के लिए 850 करोड़ रुपए से ज्यादा की राशि खर्च करनी पड़ी। अस्थिर सरकारों के कारण लोक सभा के चुनाव 5 वर्षों में एक बार तक ही सीमित नहीं रहे हैं। इसी प्रकार राज्यों के विधान सभा चुनावों में भी भारी खर्च किए जाते हैं।

चुनावों में उम्मीदवारों के द्वारा किया गया बढ़ता खर्च एक गंभीर समस्या है। यदि हम धन शक्ति के दुरूपयोग पर ध्यान न दें तो भी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र वाले चुनाव क्षेत्र में जहाँ 10 लाख से ज्यादा मतदाता होते हैं, सिर्फ मतदाताओं तक पहुँचने में ही भारी खर्च करना पड़ता है। पिछले आम चुनाव में यह खुले तौर पर कहा गया कि एक संसदीय चुनाव में एक उम्मीदवार को 50 लाख से 1 करोड़ तक की राशि खर्च करनी पड़ी। चुनाव में किए जाने वाले अधिकतम खर्च की सीमा के लिए कानून तो है, परंतु यह प्रभावहीन हो गया है। उम्मीदवार एवं राजनीतिक दलों द्वारा किए गए भारी खर्च तथा कानून द्वारा निर्धारित चुनावी खर्च की सीमा के बीच कोई ताल-मेल नहीं है। यह कटु सत्य है कि चुनाव संबंधी राजनीतिक गतिविधि दलीय संगठन द्वारा चुनाव प्रचार के लिए बड़ी धन राशि की व्यवस्था करती है। यह धनराशि अधिक सीटें प्राप्त करने के लिए दी जाती है। कोई भी व्यक्ति अपनी गाढ़ी कमाई राजनीतिक उद्देश्यों के लिए नहीं देना चाहता है। उम्मीदवार एवं राजनीतिक दल चुनाव लड़ने के लिए बड़ी-बड़ी रकम पर निगाह रखते हैं। फलस्वरूप, समाज में विभिन्न स्तरों

पर भ्रष्टाचार जन्म लेता है। इसलिए किसी भी ईमानदार एवं समर्पित व्यक्ति के लिए जो जन-सेवा में विश्वास रखता हो, चुनाव लड़ना मुश्किल हो जाता है। विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि आनुवांशिक एवं पारिवारिक आधार राजनीति में व्यक्ति के प्रवेश का सबसे आसान तरीका है। साथ ही जिन्हें भारी धन उत्तराधिकार में प्राप्त होता है उनके लिए राजनीति में धन लगाना अच्छा व्यवसाय है। चुनाव में खर्च किए गए धन की उगाही सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग, रिश्वत एवं घोटालों से होती है। चुनावी निणयों में धन शक्ति की अनैतिक भूमिका चुनावी व्यवस्था की सबसे गंभीर समस्याओं में से एक है।

हिंसा एवं बाहुबल

चुनाव में जीत को ही अंतिम लक्ष्य मानने वाले प्रत्याशी धन शक्ति के साथ-साथ बाहुबल की शक्ति का भी दुरुपयोग करने में नहीं हिचकिचाते। बाहुबल का अर्थ अपराधियों की सहायता लेना, हिंसा एवं बल का प्रयोग करना, मतदाताओं को उम्मीदवार विशेष के पक्ष में मत देने के लिए बाध्य करना, मतदाताओं को वोट न डालने देना एवं मतदान केंद्रों पर कब्ज़ा करना तथा बोगस वोट डलवाना है। मतदान के समय मतदान केंद्रों पर कब्ज़ा करना, अवैध मत डलवाना, उम्मीदवारों के पक्ष में प्रतिद्वंदी गुटों द्वारा हिंसा का प्रयोग करना सामान्य घटनाएँ बन कर रह गई हैं।

राजनीति का अपराधीकरण

चुनाव में बाहुबल की शक्ति के प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि स्थानीय बाहुबली एवं अपराधी जिनकी सेवाएँ पहले उगाही के लिए या मत जुटाने के लिए ली जाती थीं, अब वो चुनाव में सीधे हिस्सा लेने लगे हैं एवं इस प्रक्रिया में चुने भी जाते हैं। पूर्व निर्वाचन आयुक्त जी.वी.जी. कृष्णमूर्ति ने 1996 के लोक सभा चुनाव का एक नमूना उदाहरण के तौर पर 1997 में जारी किया जो राजनीति के अपराधीकरण को दर्शाता है। उन्होंने यह पाया कि लोक सभा के 13,952 उम्मीदवारों में से लगभग 1,500 उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि रही है। उनकी आपराधिक गतिविधियों में हत्या, डकैती, बलात्कार, गबन एवं जबरन वसूली के मामले सम्मिलित थे। उन्होंने यह भी दर्शाया कि ऐसे कम-से-कम 40 उम्मीदवारों ने चुनाव जीत भी लिया। जिला प्रशासन से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कृष्णमूर्ति ने यह दावा किया कि देश के 25 राज्यों एवं 2 केंद्र शासित प्रदेशों में विधायिका के 4,072 सदस्यों में से 700 सदस्यों पर अनेक प्रकार के आपराधिक मामले दर्ज थे जिनकी सुनवाई जारी थी। निर्वाचन आयोग की स्वर्ण जयंती के मौके पर 17 जनवरी 2001 को राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने निर्वाचन आयोग के हवाले से कहा कि 500 से 800 चुने गए प्रतिनिधियों का आपराधिक इतिहास है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जन प्रतिनिधित्व कानून 1951 की धारा 8 (क) के अनुसार जिस किसी भी व्यक्ति को कुछ विशेष मामलों में दोषी करार दिया गया हो तो वह उम्मीदवार नहीं बन सकता परंतु जो दोषी करार नहीं दिए गए हैं उन पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति जिनके विरूद्ध मामले दर्ज तो हैं परंतु उन्हें दोषी करार नहीं दिया गया है, वे चुनाव लड़ सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों का राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो जाना प्रशासन एवं सामान्य व्यक्ति के जीवन तथा संपत्ति को ख़तरा उत्पन्न करता है।

जाति व्यवस्था को भड़काना एवं सांप्रदायिक पूर्वाग्रह

हमारी चुनावी व्यवस्था में एक अन्य प्रमुख बुराई जाति एवं संप्रदाय जैसे कारकों का बढ़ता प्रयोग है। चुनाव के समय जाति एवं संप्रदाय के पूर्वाग्रह का प्रयोग

कोई नई बात नहीं है तथा यह सिर्फ चुनाव तक सीमित भी नहीं है। परंतु हाल के वर्षों में इसमें बढ़ोत्तरी हुई है। सभी राजनीतिक दल उम्मीदवारों के चयन के समय गुणों के बजाय जाति एवं संप्रदाय जैसे तत्वों पर ध्यान देते हैं। जन प्रतिनिधित्व कानून की धारा 123 (3) (क) धर्म के नाम पर वोट माँगने वाले उम्मीदवार पर प्रतिबंध लगाता है। परंतु, वास्तव में उम्मीदवार न सिर्फ जाति एवं धर्म के नाम पर वोट माँगते हैं बल्कि इस आधार पर राजनीतिक दलों का गठन भी हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में वोट एक सूत्र में बाँधने वाला, समता स्थापित करने वाला हथियार न बनकर एक विनाशकारी शक्ति के रूप में उभरा है। राजनीति में जाति एवं धर्म की भूमिका के बारे में बाद में विस्तार से अध्ययन करेंगे। यहाँ यह कहना यथेष्ट है कि जाति एवं संप्रदाय की भावनाओं को भड़काना प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।

सुधारों की आवश्यकता

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार द्वारा संविधान निर्माताओं ने आम जनता में जो आस्था व्यक्ति की थी, उस पर मतदाता प्राय: खरे उतरे हैं। धन एवं बाहुबल के प्रयोग, हिंसा, चुनावों में उम्मीदवारों का आधिक्य, उम्मीदवारों एवं उनके समर्थकों में चुनावी नैतिकता की कमी, तथा अल्पसंख्यकों और महिलाओं जैसे कुछ वर्गों के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व से चुनावी प्रक्रिया दूषित हो चुकी है। पर्यवेक्षकों और लोकतंत्र में रुचि रखने वाले व्यक्तियों का यह दृढ़ विचार है कि लोकतंत्र को सशक्त करने के लिए चुनावी प्रक्रिया में लोगों की बढ़ती उदासीनता को रोकने तथा चुनाव को सार्थक बनाने के लिए चुनावों में सुधार की नितांत आवश्यकता है। वास्तव में प्रथम आम चुनाव के समय से ही चुनावों में सुधार की आवश्यकता वाद-विवाद का विषय रहा है। चुनाव आयोग की सभी रिपोर्टों में सुधार के प्रस्ताव शामिल रहे हैं। कुछ सुधार लागू भी हो चुके हैं परंतु ये यथेष्ट नहीं हैं। यह अनुभव किया जा रहा है कि इसे प्रभावशाली बनाने के लिए सभी स्तरों पर सुधार की आवश्यकता है। अस्थायी या छोटे-छोटे सुधारों से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। चुनाव सुधार के विभिन्न प्रस्तावों पर चर्चा करने से पहले चुनाव सुधार के लिए अब तक किए गए प्रयासों पर एक नज़र डालना आवश्यक है।

चुनाव सुधार का इतिहास

प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् चुनाव आयोग द्वारा जारी रिपोर्ट के माध्यम से चुनावी प्रक्रिया में सुधारों की आश्यकता पर बल दिया जा रहा था। 1967 के चौथे आम चुनाव के बाद चुनावी व्यवस्था की अनेक कमियाँ उभर कर सामने आने लगीं। जहाँ एक ओर चुनावों के कारण मतदाताओं में परिपक्वता आई है, प्रभावशाली राजनीतिक दलों का उदय हुआ है, उम्मीदवारों एवं नागरिकों में अपने अधिकारों के प्रति सजगता आई है, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में उचित परिवर्तन आया है, वहीं राजनीतिज्ञों का एक नया वर्ग उभरा है जिनके कारण नैतिक मूल्यों तथा राजनीतिक संस्थाओं का ह्रास हुआ है। ये तथ्य विचलित करने वाले हैं। इस पृष्ठभूमि में चुनावों में सुधार के विषय ने राष्ट्रीय कार्य सूची में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

1970 में निर्वाचन आयोग ने विधि मंत्रालय को चुनाव सुधार से संबंधित एक विधेयक का प्रस्ताव भेजा। उसके बाद केंद्र सरकार ने जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 एवं 1951 में संशोधन के लिए विधेयक तैयार किया। इसे लोक सभा में दिसंबर 1973 में पेश किया गया। जनवरी 1977 में लोक सभा भंग होने के साथ ही यह स्वयंमेव समाप्त हो गया। यह ध्यान देने योग्य है कि इस विधेयक में निर्वाचन आयोग द्वारा सुझाए गए महत्त्वपूर्ण सुधार प्रस्तावों को सम्मिलित नहीं किया गया था।

1974 में जयप्रकाश नारायण ने एक क्रांति की शुरूआत की जिसे 'संपूर्ण क्रांति' के नाम से जाना गया। चुनाव सुधार इस आंदोलन का महत्त्वपूर्ण पहलू था। 'लोकतंत्र के लिए नागरिक' के बैनर तले जयप्रकाश नारायण ने मुंबई उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश वी. एम. तारकुंडे की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। अनेक प्रतिनिधियों एवं संगठनों से बातचीत करने के पश्चात् इस समिति ने फरवरी 1975 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसके बाद से राजनीतिक दलों, मीडिया, नागरिकों, प्रबुद्ध वर्ग एवं चुनाव आयोग द्वारा इस मुद्दे को लगातार उठाया गया है। नवंबर 1983 में निर्वाचन आयोग के साथ राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई जिसमें कुछ मुद्दों पर आम सहमति बनी। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण विषय इस प्रकार हैं :

(i) चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की न्यूनतम आयु सीमा को घटाना।
(ii) एक से अधिक चुनाव क्षेत्रों से चुनाव लड़ने पर रोक।
(iii) सुरक्षा राशि की बचत के लिए चुनाव में न्यूनतम मतों की संख्या में वृद्धि।
(iv) राजनीतिक दलों का अनिवार्य पंजीकरण तथा बही-खातों को नियमित रखना।
(v) आरक्षित सीटों का चक्रीय परिवर्तन।
(vi) चुनाव खर्चों का सरकार द्वारा वहन किया जाना।
(vii) वर्तमान चुनावी व्यवस्था को बहुमतीय सूची व्यवस्था में परिवर्तित करना।
(viii) चुनाव पर्यवेक्षकों की सिफारिशों के आधार पर चुनाव आयोग द्वारा चुनाव को रोकने की शक्ति।
(ix) निर्वाचन आयोग द्वारा भ्रष्ट आचरण के आधार पर किसी भी व्यक्ति को चुनाव में उम्मीदवार बनने से रोक लगाने की शक्ति।
(x) मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की प्रक्रिया का निर्धारण।
(xi) वैधानिक आचार संहिता।

ये सारे प्रस्ताव कागज़ी बन कर रह गए। दिसंबर 1988 में निर्वाचन आयोग की सिफारिश पर मतदान केंद्रों पर कब्ज़ा करने वाले व्यक्ति को सज़ा देने के लिए कानून में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया। चुनाव आयोग को यह शक्ति प्रदान की गई कि निर्वाचन क्षेत्र विशेष में यदि मतदान केंद्रों पर कब्ज़ा जैसी घटनाएँ व्यापक रूप में घटें, तो वह चुनाव पर रोक लगा दे। 1988 में मत देने की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई।

1996 के सुधार

1989 में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने सुधार के लिए एक अन्य प्रयास किया। 1990 में इस विषय पर आम राय बनाने के लिए विधि एवं न्याय मंत्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में एक सर्वदलीय समिति का गठन किया गया। मई 1990 में इस कमेटी ने लगभग आम राय से अपनी सिफारिशें पेश कीं। परंतु राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार गिर जाने के कारण इस विषय पर व्यावहारिक स्तर पर कुछ नहीं हुआ। उसके पश्चात, राजनीतिक दल एवं निर्वाचन आयोग इस बारे में अनेक सुझाव देते रहे हैं। 1996 में जन-प्रतिनिधित्व कानून में अनेक संशोधन किए गए जिनमें से कुछ प्रमुख हैं : (i) राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्र गान या भारत के संविधान के अपमान के दोषी व्यक्ति को सज़ा होने की तिथि से 6 वर्षों तक चुनाव लड़ने पर रोक; (ii) उम्मीदवारों की बहुतायत को रोकने के लिए सामान्य श्रेणी के संसदीय उम्मीदवारों के लिए सुरक्षित जमा राशि 500 रुपए से बढ़ाकर 10,000 रुपए तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों के लिए यह राशि 250 रुपए से बढ़ाकर 5,000 रुपए कर दी गई। इसी प्रकार राज्य विधान सभा के चुनाव

के लिए इसे 250 रुपए से 5,000 रुपए सामान्य श्रेणी के लिए तथा 125 रुपए से बढ़ाकर 2,500 रुपए अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों के लिए कर दिया गया। इसके साथ ही यह भी प्रावधान किया गया कि संसदीय या विधान सभा के उम्मीदवार के नामांकन पत्र पर यदि वह उम्मीदवार किसी राष्ट्र या राज्य स्तरीय दल का नहीं है, तो उस क्षेत्र के कम-से-कम दस मतदाताओं का समर्थन हो। नामांकन करने के दिन से मतदान होने के दिन तक के बीच की अवधि को 20 दिनों से घटाकर 14 दिन कर दिया गया; (iii) एक उम्मीदवार दो या दो से अधिक संसदीय या विधान सभा क्षेत्र से चुनाव नहीं लड़ सकता; (iv) पहले चुनाव क्षेत्र में किसी उम्मीदवार की मृत्यु हो जाने पर चुनाव रोक दिया जाता था परंतु अब चुनाव नहीं रोका जाता । यदि उम्मीदवार किसी राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय दल का है तो उस दल को दूसरे उम्मीदवार को खड़ा करने का विकल्प दिया जाता है; (v) मतदान केंद्र पर या उसके समीप किसी भी तरह का हथियार ले जाने पर दो साल तक की सज़ा या जुर्माना या कैद और जुर्माना दोनों हो सकते हैं; (vi) सभी पंजीकृत मतदाता, चाहे वे किसी भी व्यवसाय से जुड़े हुए हों मतदान के दिन छुट्टी के हकदार होंगे; (vii) चुनाव समाप्त होने के दिन से 48 घंटे की अवधि तक शराब या अन्य कोई भी नशीले पदार्थ न तो बेचे जा सकते हैं न ही वे होटलों में उपलब्ध होंगे; (viii) यदि सदन का समय एक वर्ष से ज्यादा बाकी हो तो संसद या राज्य विधान सभा के उपचुनाव 6 महीने के भीतर करा लिए जाएँगे।

1997 में राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव संबंधी नियमों में भी परिवर्तन किया गया। राष्ट्रपति के चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार के प्रस्तावक एवं समर्थकों की संख्या 10 से बढ़ाकर 50 कर दी गई तथा उप-राष्ट्रपति के लिए 5 से बढ़ाकर 20 कर दी गई। दोनों ही पदों के लिए सुरक्षित जमा राशि को 2,500 रुपए से बढ़ाकर 15,000 रुपए कर दिया गया।

एक अन्य संशोधन के द्वारा कुछ विशेष वर्ग के लोगों के लिए डाक से मतदान का प्रावधान किया गया। यह प्रावधान विशेषकर जम्मू-कश्मीर के प्रवासियों एवं वहाँ की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया।

सुझाव

चुनाव संबंधी सुधारों का इतिहास यह बताता है कि विभिन्न समितियों की रिपोर्ट, विशेष रूप से तारकुंडे समिति रिपोर्ट 1975 तथा गोस्वामी समिति रिपोर्ट 1990, के पश्चात् भी चुनाव संबंधी सुधारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आए। ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक दल चुनाव सुधारों में कोई विशेष रुचि नहीं रखते हैं। वे समय-समय पर इस मुद्दे पर विचार तो करते हैं, कुछ सुझाव भी देते हैं परंतु अंत में संसद में कुछ मामूली या तदर्थ परिवर्तन ही करते हैं। वास्तव में कुछ मामलों में राजनीतिक दलों ने निर्वाचन आयोग या न्यायपालिका द्वारा जारी किए गए निर्देशों को महत्त्वहीन बना देने का भी प्रयास किया है। इसका ताज़ा उदाहरण जुलाई 2002 में सभी दलों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के उस निर्देश के विरूद्ध आम सहमति बनाना था जिसके अनुसार निर्वाचन आयोग अपराधियों को चुनाव लड़ने से रोक सके। उम्मीदवारों को अपनी संपत्ति एवं शैक्षणिक योग्यता आदि के बारे में सूचना देना भी अनिवार्य था। अब यह भली-भाँति महसूस किया जा रहा है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में मजबूती लाने के लिए चुनाव सुधार अत्यंत आवश्यक हैं। प्रमुख आवश्यकताएँ इस प्रकार हैं : (i) राजनीति के अपराधीकरण को रोकना; (ii) चुनाव में धन शक्ति के प्रयोग पर रोक; (iii) राजनीतिक दलों की गतिविधियों पर नियंत्रण; (iv) महिलाओं एवं अन्य कमज़ोर वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का प्रावधान;

(v) मतदाता की सहभागिता एवं जागरूकता सुनिश्चित करना; (vi) चुनावी तंत्र को प्रभावी एवं विश्वसनीय बनाना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तारकुंडे समिति, गोस्वामी समिति, निर्वाचन आयोग, विभिन्न गोष्ठियों, राजनीतिक दलों एवं राजनीतिक पर्यवेक्षकों के द्वारा सुझाव दिए गए।

चुनावी व्यवस्था का पुनर्गठन

वर्तमान चुनावी व्यवस्था में राजनीतिक दलों को अपने चुनावी समर्थन के अनुपात में सीटें नहीं मिलतीं, साथ ही समाज के कई वर्ग बिना प्रतिनिधित्व के रह जाते हैं। राजनीतिक दलों को उनके मतों के अनुपात में सीटें देने के लिए वर्तमान व्यवस्था को सूची-व्यवस्था जैसी आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली में बदल देना चाहिए। कुछ विशेषज्ञों ने इसके पक्ष में अपनी राय दी है क्योंकि इससे न केवल निष्पक्ष चुनाव होंगे अपितु राजनीतिक दल योग्य एवं ईमानदार उम्मीदवारों को चुनाव में उतारेंगे। इस प्रकार सूची-व्यवस्था वास्तव में चुनाव में धन शक्ति के प्रयोग को कम करने का प्रयास करेगी तथा चुनावी गड़बड़ियाँ भी कम होंगी। अनेक राजनीतिक दल इस व्यवस्था के पक्ष में हैं क्योंकि इससे राजनीतिक नेतृत्व को निर्णायक शक्ति मिल जाएगी।

सूची व्यवस्था के आलोचक इसकी कई कमियाँ भी बताते हैं। यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था में : (i) राजनीतिक दलों की बहुतायत होती है तथा स्थापित राजनीतिक दलों का विखंडन हो जाता है; (ii) दलों के शीर्ष नेताओं की शक्ति में वृद्धि हो जाती है; (iii) बहुसदस्यीय बड़े चुनाव क्षेत्र उभरते हैं; (iv) किसी भी दल को बहुमत नहीं मिल सकता इसलिए गठबंधन सरकारों का उदय होता है; (v) मतदाता एवं उम्मीदवार के बीच का सीधा संबंध टूट जाता है। दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि सूची व्यवस्था से समाज भी विभाजित हो जाएगा। प्रत्येक जाति या समूह अपना दल बनाएगा जो उसके हितों का प्रतिनिधित्व करेगा। साथ ही यह व्यवस्था एक जटिल प्रक्रिया है क्योंकि भारत के अधिकांश मतदाता जो अनपढ़ हैं, मत पत्र पर अपनी इच्छा का सही चुनाव करने में कठिनाई महसूस करेंगे। राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई संख्या निरक्षर मतदाता के मतदान में और अधिक बाधक होगी।

इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव दिया जाता है कि जर्मनी की तरह 50 प्रतिशत सीटों को सूची व्यवस्था से तथा शेष 50 प्रतिशत को चुनावी क्षेत्रों के आधार पर भरा जाए। यह भी सुझाव दिया जाता है कि प्राप्त मत एवं सीटों के बीच के अनुपात को ठीक करने के लिए बहुमतीय व्यवस्था अपनाई जाए, अर्थात् प्रत्येक चुनाव क्षेत्र में जीतने वाले उम्मीदवार को न्यूनतम 50 प्रतिशत वैध मत प्राप्त होने चाहिए अन्यथा सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले दो उम्मीदवारों के बीच तुरंत पुनर्मतदान हो। अंतिम विजयी उम्मीदवार कम-से-कम 50 प्रतिशत मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करेगा। इसका एक अतिरिक्त लाभ यह होगा कि बड़े सामाजिक गठबंधन संकीर्ण गठबंधनों को बदल देंगे तथा राजनीतिक एवं सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी। पुनर्मतदान का यह भी लाभ होगा कि मतदान केंद्रों पर कब्ज़े जैसी घटनाएँ कम होंगी क्योंकि उम्मीदवार न्यूनतम 50 प्रतिशत मत प्राप्त करने के लिए मतदाताओं को प्रभावित करने का प्रयास करेंगे।

दूसरी तरफ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो 'फस्ट पास्ट दी पोस्ट' व्यवस्था में विश्वास रखते हैं क्योंकि यह न सिर्फ आसान है बल्कि सरकार को स्थिरता प्रदान करती है तथा मतदाता एवं विधायक के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करती है। आवश्यकता सिर्फ द्विदलीय प्रणाली की ओर बढ़ने की है जिसमें विजयी पक्ष लगभग 50 प्रतिशत मत प्राप्त कर लेता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक व्यवस्था के अपने गुण व दोष होते हैं। सुझाव सिर्फ यह है कि प्राप्त मत एवं सीटों के बीच कोई न्यायोचित संबंध हो तथा समाज की सहभागिता सुनिश्चित हो ।

धन शक्ति के प्रयोग पर रोक तथा राज्य द्वारा खर्च का वहन

यह बताया जा चुका है कि चुनाव व्यवस्था के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या धन-शक्ति के प्रयोग की है। इसका परिणाम यह होता है कि चुनाव लड़ना काफी महंगा हो जाता है तथा सामान्य आदमी चुनाव से दूर ही रहता है। इस स्थिति में सुधार के लिए तीन महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं।

प्रथम सुझाव राजनीतिक दलों पर नियंत्रण से संबंधित है। इसके लिए यह सुझाव दिया जाता है कि राजनीतिक दलों द्वारा किए गए खर्च को चुनावी खर्च की निर्धारित सीमा के अंतर्गत लाने का प्रयास किया जाए। राजनीतिक शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च को चुनाव क्षेत्र पर किए गए खर्चे से अलग रखना चाहिए, इसे चुनाव संबंधी खर्चे में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। राजनीतिक दलों को चुनाव आयोग द्वारा निर्देशित नियमों के अनुरूप कार्य करना चाहिए। राजनीतिक दलों को दान एवं चंदे तथा आमदनी के अन्य स्रोतों का एवं सभी खर्चों का विस्तृत ब्योरा देते हुए हिसाब रखना चाहिए। राजनीतिक दलों को अपने आय और व्यय के हिसाब को चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित एजेन्सियों से न केवल ऑडिट करवाना चाहिए अपितु किसी भी नागरिक द्वारा उन्हें देखने के लिए जनहित में जारी भी करना चाहिए। चुनाव आयोग को चुनावी खर्चों की जाँच करने का अधिकार मिलना चाहिए।

दूसरा, सुझाव यह है कि चुनावी खर्च की सीमा दिखावा मात्र न होकर व्यावहारिक ढंग से तय की जानी चाहिए। इस सीमा रेखा को समय-समय पर तथा चुनाव क्षेत्र का आकार, मतदाताओं की संख्या, मूल्य वृद्धि तथा अन्य तत्त्वों के अनुपात में तय किया जाना चाहिए और उपरोक्त विधि के अनुसार नियंत्रित होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि दलों को दी गई राशि और दान को कानूनी स्वरूप दिया जाए। पर्यवेक्षकों का कहना है कि लोकतंत्र में राजनीतिक दलों को चुनाव में भारी धनराशि खर्च करना पड़ता है। यदि राजनीतिक दलों को चंदा दिए जाने पर विभिन्न कंपनियों एवं व्यापारिक घराने पर प्रतिबंध होगा तो दलों के द्वारा अवैध ढंग से धन एकत्रित करने की संभावना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगी। इसलिए ऐसा वातावरण तैयार किया जाना चाहिए जहाँ धन से संबंधित मामलों में पारदर्शिता हो। चंदों और अन्य आर्थिक सहायता को वैधानिक स्वरूप प्रदान करने का सुझाव अत्यंत आवश्यक है।

तीसरा, सुझाव यह है कि धन शक्ति के प्रयोग को रोकने के लिए सभी खर्चे राज्य द्वारा वहन किए जाएँ। ऐसी व्यवस्था जर्मनी, फ्रांस, इज़राइल, कनाडा, जापान, अमेरिका आदि में लागू है। इस व्यवस्था में एक न्यूनतम मत प्राप्त करने वाले राजनीतिक दल राज्य से रियायतें प्राप्त करते हैं। अनेक समितियों, चुनाव आयोग और सर्वदलीय सम्मेलनों ने समय-समय पर यह सुझाव दिया है कि सरकार को चाहिए कि मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को पर्याप्त अनुदान व मान्यता प्राप्त करने के मापदंडों का निर्धारण करे। इस संबंध में यह भी सुझाव दिया जाता है कि सरकार से सहयोग सिर्फ धन के रूप में न होकर वाहनों के रूप में मुफ्त पेट्रोल या डीज़ल, चुनाव की सामग्रियों को छपवाने के लिए कागज़, मतदाता सूचियों की निःशुल्क उपलब्धि, एक निश्चित राशि तक डाक टिकट, मतदान के दिन चुनावी ऐजेंटों को जलपान जैसी चीज़ों के रूप में उपलब्ध कराई जाएँ। इस सुझाव का अर्थ यह नहीं है कि राज्य द्वारा खर्चों का वहन किए

जाने से चुनावी व्यवस्था से संबंधित भ्रष्टाचार समाप्त हो जाएँगे तथा राजनीतिक दलों को धन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसके साथ अगर राजनीतिक दलों को चुनावी अनुदान देने की प्रक्रिया शुरू की जाती है तो उन पर बही खातों को रखने की अनिवार्यता, एवं उनका प्रकाशन, ऑडिट, चुनावी खर्चे जैसे — पोस्टरों की संख्या, समाचारपत्रों में दिए गए विज्ञापनों आदि कड़े नियंत्रण भी होंगे। सरकारी अनुदान इस प्रकार सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि उससे गंभीर प्रत्याशियों को मदद मिले तथा ऐसे उम्मीदवार जो गंभीर नहीं है, वे हतोत्साहित हों। राज्य द्वारा दी गई आर्थिक सहायता का एक सुपरिणाम तो यह निकलेगा कि राजनीतिक दलों को न केवल समानता की दृष्टि से देखा जाएगा अपितु चुनावों के अवसर पर वे धन-राशि के व्यय को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं कर पाएँगे।

राजनीतिक दलों की कार्य-प्रणाली का नियमन

राजनीतिक दल आधुनिक लोकतंत्र का प्रस्थापित अंग हैं। भारत में भी चुनावों की सफलता बहुत कुछ राजनीतिक दलों के व्यवहार पर निर्भर करती है। दुर्भाग्यवश सभी राजनीतिक दल स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव की बात जोर से उठाते हैं और विशेष रूप से जब उनके अपने दल की कार्य-शैली का प्रश्न आता है तो उसे व्यावहारिक रूप देने से कतराने लगते हैं। कई अवसरों पर यह भी देखा जाता है कि राजनीतिक दल कई बार अपने-अपने संविधानों का पालन नहीं करते हैं। राजनीतिक दल अपने संगठनात्मक चुनाव समय पर नहीं कराते हैं और उनके नेतागण अपने पदों पर वर्षों तक तदर्थ रूप से चिपके रहते हैं। इस गैर-लोकतांत्रिक कारवाई से कई बार बहुमत पर अल्पमत की तानाशाही भी स्थापित हो जाती है। पार्टी के शीर्ष पर बैठा व्यक्ति दल के आम सदस्यों की आकाक्षांओं तथा लोकतांत्रिक औपचारिकताओं की बली चढ़ा देता है। यह एक आलोचना का विषय है कि गैर-लोकतांत्रिक आधार के राजनीतिक दल लोकतांत्रिक समाज को मजबूती कैसे प्रदान करेंगे? इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि राजनीतिक दलों में सुधार किया जाए, उन्हें लोकतांत्रिक तथा उत्तरदायी बनाया जाए।

लोकतांत्रिक सिद्धांतों के आधार पर निम्न स्तर से उच्च स्तर तक नेतृत्व का चुनाव, खुली सदस्यता सूची, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव, क्षेत्रीय एवं स्थानीय ईकाइयों पर केंद्रीय दल का निरंकुश प्रभाव न होना, पार्टी पदाधिकारियों पर प्रभावी नियंत्रण, विरोधियों के पार्टी से निष्कासन पर रोक तथा मनोनीत व्यक्तियों को किसी भी स्तर पर कोई पद न देना आदि प्रमुख सुझावों के द्वारा राजनीतिक दलों की कार्य पद्धति में आवश्यक सुधार हो सकेंगे।

वर्तमानकाल में यह आशा नहीं की जा सकती कि राजनीतिक दल के नेता स्वयं दलों में सुधार की प्रक्रिया की शुरूआत करेंगे। इसलिए यह सुझाव दिया जाता है कि सरकार को इस संबंध में कानून बनाकर उसे लागू करना होगा। राजनीतिक दलों के लिए आंतरिक लोकतंत्र बाध्यता के रूप में हो तथा वे उत्तरदायी हों, जिससे इस संबंध में चुनाव आयोग यह नियम तथा उपनियम बना सके कि:

(i) राजनीतिक दलों का अनिवार्य पंजीकरण हो;
(ii) दलों के लिए लेखा पुस्तिका को नियमित रखना, प्रकाशित कराना तथा ऑडिटिंग कराना अनिवार्य हो;
(iii) आयोग को अपनी रिपोर्टें प्रस्तुत करना हो;
(iv) सदस्यता सूची का अनिवार्य प्रकाशन, प्रत्येक स्तर के पदाधिकारियों का गुप्त मतदान द्वारा चुनाव एवं सदस्यों के निष्कासन की सीमाएँ निर्धारित हों।

राजनीति के अपराधीकरण पर रोक

आजकल देश के समक्ष एक गंभीर समस्या है चुनावी मैदान में अपराधिक तत्त्वों का प्रवेश और उनकी सफलता। वर्तमान में जन प्रतिनिधित्त्व कानून 1951 की धारा 8 में यह प्रावधान है कि न्यायालय द्वारा दोषी करार दिया गया व्यक्ति चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य होगा। कुछ मामलों में अयोग्यता तभी होगी जब जेल की सज़ा एक निश्चित समय के लिए हो। सामान्यत: यह दो वर्ष या उससे अधिक होती है। यह रोक काफी उदार है क्योंकि भारत में मुकदमों के निपटाने में कई वर्ष लग जाते हैं तथा प्रभावशाली लोग साक्ष्यों के अभाव में न्यायपालिका से छूट जाते हैं। यही कारण है कि संसद एवं विधान सभाओं में बहुत से सदस्य हैं, जिन पर संगीन अपराधिक मामले तो चल रहे हैं परंतु उन्हें अभी तक सज़ा नहीं सुनाई गई है।

इस संदर्भ में चुनाव आयोग समय-समय पर इस कानून में संशोधन का सुझाव देता रहा है। यह सुझाव दिया जा रहा है कि 6 महीने तक की सज़ा प्राप्त व्यक्ति को इन 6 महीनों की अवधि के अतिरिक्त कम से कम और 6 वर्षों तक चुनाव लड़ने के अयोग्य माना जाना चाहिए। चुनाव आयोग ने ऐसा भी सुझाव दिया है कि किसी अपराधी को जिसने कोई ऐसा जघन्य अपराध किया हो जिसके लिए उसे 5 वर्ष या उससे अधिक की सज़ा हो सकती है तो ऐसे व्यक्ति को भी अयोग्य ठहराया जाना चाहिए भले ही उस पर केवल मुकदमा चल रहा हो। शर्त यह है कि मुकदमा चल रहे न्यायालय द्वारा उसके अपराध तथा अभियोग रिपोर्ट का संज्ञान ले लिया गया हो।

जनमत का निर्माण करने एवं अपराधियों के चुनावी क्षेत्र में प्रवेश के संदर्भ में पारदर्शिता लाने के लिए निर्वाचन आयोग द्वारा अगस्त 1997 में इस आशय का आदेश जारी किया गया, क्योंकि ऐसे संशोधन की शीघ्र संभावना नहीं थी। इस आदेश के द्वारा प्रत्येक उम्मीदवार के लिए किसी भी न्यायालय द्वारा दोषी करार दिए जाने की सूचना शपथ पत्र पर देना अनिवार्य किया गया। चुनाव आयोग ने यह भी स्पष्ट किया कि निचली अदालत का निर्णय भी अयोग्य घोषित करने के लिए पर्याप्त है तथा जमानत पर छूट जाने तथा किसी उच्च न्यायालय में अपील करने वाले तथाकथित अपराधियों को भी चुनाव लड़ने के संबंध में अयोग्य करार किया जाए। चुनाव आयोग की स्थिति को सर्वोच्च न्यायालय के 2 मई 2002 के निर्णय से और अधिक बल मिला जिसमें सरकार को निर्देश दिया गया कि लोक सभा एवं विधान सभाओं के चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों के लिए संपत्ति एवं दायित्वों का ब्योरा, शैक्षणिक योग्यताओं एवं अपराधिक गतिविधियों की जानकारी देना भी अनिवार्य किया गया। चुनाव आयोग ने 14 मई 2002 के अपने आदेश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्देश का पालन किया। राजनीतिक दलों ने इसे पसंद नहीं किया तथा सिर्फ संगीन मामलों में दोषी ठहराए गए व्यक्ति को अयोग्य माने जाने का समर्थन किया। चुनाव आयोग द्वारा शपथ पत्र माँगे जाने पर राजनीतिक दल स्पष्ट नहीं हैं। चुनाव आयोग तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए सुझावों के प्रति राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया कैसी होगी यह तो केवल आम चुनाव के समय ही स्पष्ट होगा।

इन सभी प्रयासों एवं सुझावों के अतिरिक्त चुनाव आयोग ने राजनीति में बाहुबल के प्रयोग को रोकने के लिए कुछ और कदम भी उठाए हैं। इन प्रयासों में मतदान केंद्रों पर मत पत्रों एवं मत पेटियों को नष्ट किए जाने, बल प्रयोग, डराना-धमकाना, जाली वोट डाले जाने पर पुनर्मतदान का आदेश, मतदान केंद्र पर कब्जे की शिकायत पर आयोग के फैसले तक परिणामों की घोषणा पर रोक तथा पदाधिकारियों के

द्वारा अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा के संदर्भ में उचित कारवाई का सुझाव देना शामिल हैं। कुछ चुनावी अपराध जैसे मतदान केंद्रों के समीप हथियार ले जाना संगीन माने गए हैं। फिर भी, चुनावी प्रक्रिया में सुधार, अपराधीकरण से मुक्ति, तथा हिंसक वातावरण से छुटकारे के लिए काफी प्रयास की आवश्यकता है।

महिलाओं का प्रतिनिधित्व

इस व्यवस्था की एक अन्य कमी यह है कि विधायिका में महिलाओं का प्रतिनिधित्व काफी कम है। पिछले कुछ वर्षों में यह मुद्दा काफी महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर चुका है और अनिवार्य प्रतिनिधित्व की माँग उठी है। संविधान के 73 वें एवं 74 वें सांविधानिक संशोधनों द्वारा महिलाओं के लिए पंचायती राज संस्थाओं एवं नगर पालिकाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान हुआ है। ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि संविधान में संशोधन करके संसद एवं विधान सभाओं में भी यह आरक्षण प्रदान किया जाए। हालाँकि, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के स्थान देने के विषय पर राजनीतिक दलों में कुछ मतभेद है।

निर्वाचन आयोग के विचार में यह अनिवार्य है कि महिलाओं का प्रतिनिधित्व संसद एवं राज्य विधान सभाओं में बढ़ाया जाए। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि इस पर एक व्यापक दृष्टिकोण का विकास हो। उद्देश्य यह होना चाहिए कि महिलाओं की अधिकतम भागीदारी हो तथा किसी भी प्रकार से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के उद्वेग को तथा संसदीय संस्थाओं के प्रभावीकरण को कम न करते हुए महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने का प्रयास हो। इसका उद्देश्य यह है कि राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की वास्तविक सक्रिय भागीदारी हो तथा निर्णय लेने वाली संस्थाओं में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो। अत: आवश्यकता इस बात की है कि ऐसा वातावरण कायम किया जाए जिससे भारतीय राजनीति में उनके सावयविक एवं सामंजस्यपूर्ण विकास के अधिक अवसर प्राप्त हों।

चुनाव आयोग द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि आरक्षण की नीति को प्राथमिकता देने के बजाय यह प्रयास किया जाए कि सभी राजनीतिक दल इस बात पर आम सहमति बनाएँ कि महिलाओं को राजनीतिक प्रक्रिया में समान स्थान मिले। यह एक साधारण न्यायिक प्रक्रिया से हासिल किया जा सकता है जो इस बात का निर्धारण करे कि सभी मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल यह सुनिश्चित करें कि संसदीय एवं राज्य विधान सभाओं के चुनावों में महिलाओं को एक विशेष हिस्सा मिले। इसमें राजनीतिक दलों को यह स्वतंत्रता होगी कि वे उपयुक्त सीटों पर महिला प्रत्याशियों का चयन करें तथा महिला राजनीतिक कार्यकर्ताओ को भी यह अवसर मिलेगा कि वे भारतीय राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा ले सकें। वर्तमान समय में संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व सिर्फ 8 प्रतिशत ही है। यह विचार इस बात पर बल देगा कि राजनीतिक दल महिला उम्मीदवारों के लिए आरक्षण का एक निश्चित प्रतिशत तय करें ताकि संसद एवं राज्य विधान सभाओं मे उनकी पर्याप्ति मौजूदगी महसूस की जा सके। यदि इस विचार को व्यावहारिक रूप दिया गया तो फिर आरक्षण को लेकर किया जा रहा विवाद समाप्त हो जाएगा। यह राजनीतिक दलों पर निर्भर करेगा कि वे महिला वर्ग से कितने उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने के लिए टिकट आबंटित करते हैं। आयोग का यह मानना है कि महिला उम्मीदवारों के लिए न्यूनतम आरक्षण की व्यवस्था उत्तरी यूरोपीय देशों में ज्यादा सफल रही है। इस विचार के लिए कोई सांविधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं बल्कि मौजूदा विवादों को समाप्त

कर जन प्रतिनिधित्व कानून में साधारण संशोधन किया जाना चाहिए। यह राजनीतिक दलों पर निर्भर करेगा कि वे कितना प्रतिशत आरक्षण तय करना चाहते हैं।

चुनावी प्रक्रिया (मशीनरी) एवं चुनाव का प्रबंधन

चुनावी व्यवस्था में व्याप्त कमियों को सुधारने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि चुनावों की स्वतंत्रता एवं विश्वसनीयता को साफ एवं स्वच्छ करने के लिए समुचित कदम उठाए जाएँ। संभवतः इसीलिए यह सुझाव निरंतर दिया जाता है कि आयोग की स्वतंत्रता को बढ़ाया जाए ताकि उसकी कार्य पद्धति और अधिक प्रभावी हो। इसी संदर्भ में चुनाव आयोग ने स्वयं यह सुझाव दिया है कि संविधान का संशोधन कर आयोग की सदस्य संख्या को तीन सदस्यों तक सीमित किया जाए, जिसमें एक मुख्य चुनाव आयुक्त भी शामिल हो। यह कहा जाता है कि तीन से अधिक सदस्य होने पर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने से संबंधित निर्णय लेने में परेशानी हो सकती है। यह भी व्यवस्था की जानी चाहिए कि मुख्य चुनाव आयुक्त के साथ-साथ दो अन्य आयुक्तों को भी वे सारी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ जो संविधान के अंतर्गत निहित हों। इसके साथ-साथ चुनाव आयोग अपने लिए लोक सभा एवं राज्य सभा के सचिवालयो की भाँति एक स्वतंत्र सचिवालय की भी माँग करता है। यह भी सुझाव दिया गया है कि आयोग और उसके सचिवालय का खर्च संचित निधि द्वारा देय हो जैसा कि संघ लोक सेवा आयोग तथा नियंत्रक महालेखा प्रबंधक के सचिवालयों का होता है। यह स्पष्ट एवं सर्वमान्य है कि एक व्यवस्थित चुनाव आयोग जो कि विधिवत विधायी एवं प्रशासनिक गतिविधियों के द्वारा समर्थित हो, इन सभी समस्याओं से निपटने में सक्षम होगा जिनका आज की राजनीतिक व्यवस्था द्वारा सामना किया जा रहा है।

चुनाव आयोग को मज़बूत करने के साथ-साथ यह भी सुनिश्चित करना होगा कि मतदान सूची ठीक ढंग से तैयार हो ताकि उसमें सभी मतदाताओं के नाम सम्मिलित किए जाएँ, सभी मतदाताओं को पहचान पत्र दिए जाएँ, जिससे चुनाव में हेरा-फेरी न हो, इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन का इस्तेमाल हो जिससे बोगस वोटिंग पर रोक लगाई जा सके, मतदान को अनिवार्य बनाया जाए, आरक्षित सीटों को पुनर्आबंटित करने आदि की व्यवस्था हो। ये ऐसे विभिन्न सुझाव हैं जो प्रबंधन से संबंधित हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि हम पूरी चुनावी व्यवस्था को इस ढंग से परिवर्तित करें जिससे हमारे प्रतिनिधि के चुनाव का लक्ष्य एक लोकतांत्रिक एवं पारदर्शी तरीके से संपन्न हो।

लोकतंत्र की मज़बूती इस बात पर निर्भर करती है कि मतदाताओं द्वारा अपने प्रतिनिधियों एवं नेताओं का चुनाव कैसे किया जाता है, जो प्रत्यक्ष रूप से चुनावी प्रक्रिया से संबंधित है। हम देख चुके हैं कि भारत का संविधान न सिर्फ नागरिकों को सार्वभौम वयस्क मताधिकार प्रदान करता है बल्कि एक स्वतंत्र संस्था के गठन की भी बात करता है जो चुनाव को तर्कपूर्ण एवं विश्वसनीय ढंग से संपन्न कराए। हालाँकि जो राजनीतिक दल सत्ता में होते हैं, वे अपने चुनावी लाभ अथवा हानि के लिए सत्ता को दोषी ठहराते हैं। लेकिन ऐसा कोई गंभीर उदाहरण सामने नहीं आया जिससे यह पता लगे कि चुनावी हेर-फेर में राज्य द्वारा किसी प्रकार की भूमिका निभाई गई है। हाल में हुए चुनावों से यह पता चलता है कि इस पूरी व्यवस्था में क्या-क्या कमियाँ विद्यमान हैं। इसलिए यह आवाज़ हर स्तर पर उठती है कि सुधार अनिवार्य है। विभिन्न संस्थाओं, विशेषज्ञों, एवं स्वयं चुनाव

आयोग ने सुधार के कुछ आयाम सुझाए हैं। लेकिन राजनीतिक स्तर पर अभी तक कोई आम सहमति नहीं बन पाई है। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस दिशा में कुछ नहीं होगा क्योंकि अपेक्षित सुधारों के लिए दबाव बना हुआ है। महत्वपूर्ण बात यह है कि अंततः लोगों में जागरूकता तथा व्यवस्था में हिस्सेदारी से ही सुधार संभव है। अतः यह आवश्यक है कि लोगों की भागीदारी राजनीतिक गतिविधियों में सुनिश्चित हो।

अभ्यास

1. वर्तमान चुनावी व्यवस्था में विद्यमान कमियों की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. भारत में चुनाव सुधार क्यों आवश्यक हैं?
3. चुनाव सुधार से संबंधित प्रयासों का वर्णन कीजिए।
4. चुनाव सुधार से संबंधित सुझावों की चर्चा कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   - (i) चुनावी व्यवस्था का पुनर्गठन
   - (ii) राजनीति का अपराधीकरण
   - (iii) चुनाव में राजकीय खर्च
   - (iv) महिलाओं का प्रतिनिधित्व
   - (v) राजनीतिक दलों का नियमन

इकाई II

दल प्रणाली और हित समूह

अध्याय 4

राजनीतिक दल और दल प्रणाली

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में, लोकतांत्रिक अथवा अलोकतांत्रिक, राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया के अभिन्न अंग माने जाते हैं। विश्व के उन भागों में राजनीतिक दल अस्तित्व में नहीं है जहाँ वे तानाशाही अथवा सैन्य शासन द्वारा दबा दिए गए हैं। राजनीतिक दल प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की कार्यात्मकता के प्रमुख साधन होते हैं। इसी प्रकार, जैसे साम्यवादी, फासीवादी एवं नाजीवादी और लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों के लिए भी राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। निःसंदेह लोकतांत्रिक तथा अलोकतांत्रिक शासनों में उनकी प्रकृति एवं भूमिका अलग-अलग होती है। दल प्रणाली की प्रकृति तथा भूमिका की विवेचना से पहले हमारे लिए राजनीतिक दल की परिभाषा तथा अर्थ को भली-भाँति समझ लेना जरूरी है।

राजनीतिक दल

सामान्यतया राजनीतिक दल का अभिप्राय लोगों के ऐसे संगठित समूह से लिया जाता है जो समान नीतिगत प्राथमिकताओं तथा कार्यक्रमों से प्रतिबद्ध हों। ये भी आवश्यक है कि वे राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने तथा उसे अपने पास बनाए रखने की दिशा में प्रयासरत हों। राजनीतिक दल के कुछ विशेष लक्षण होते हैं जैसे — संगठन, राजनीतिक विषयों पर निश्चित अभिमत, एक सुनियोजित कार्यपद्धति, राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा तथा निर्धारित नीतियों को लागू करने की यथोचित क्षमता। राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति और उसे बनाए रखने के उद्देश्य से राजनीतिक दल एक दलीय संगठन के रूप में अन्य सामाजिक अथवा राजनीतिक समूहों से भिन्न होता है।

प्रचलित लोकतांत्रिक राजनीतिक ढाँचों में राजनीतिक शक्ति चुनाव द्वारा प्राप्त की जा सकती है अथवा क्रांतियों एवं आकस्मिक विप्लवों द्वारा हथियाई जा सकती है। साधारणतया दल का अर्थ यह लिया जाता है कि वह राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दलों के चार प्रमुख लक्षण हैं जो उन्हें अन्य समूहों से पृथक करते हैं :

(i) दलों का उद्देश्य, राजनीतिक पद जीत कर अथवा हथिया कर सरकारी सत्ता का प्रयोग करना।
(ii) दल औपचारिक सदस्यता वाले संगठित निकाय होते हैं। यह लक्षण उन्हें अधिक बिखरे हुए राजनीतिक आंदोलनों से पृथक करता है।
(iii) दल सामान्य विषयों पर जोर देते हैं और सरकारी नीति के प्रमुख क्षेत्रों पर अपना अभिमत व्यक्त करते हैं।

(iv) दल साझी राजनीतिक प्राथमिकताओं से संगठित होते हैं तथा न्यूनाधिक सामान्य वैचारिक पहचान रखते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि दल सामान्यतया चुनाव लड़ने वाले संगठनों के रूप में जाने जाते हैं, परंतु क्रांतिकारी दल चुनाव लड़ने की इच्छा से गठित नहीं होते तथापि उनका उद्देश्य विभिन्न माध्यमों से सत्ता की प्राप्ति ही है। सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति, राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने तथा उसे बनाए रखने की प्रकिया में विभिन्न संबंधित कार्य शामिल हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य

राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति तथा उसके प्रयोग के प्रारंभिक संगठन हैं। अतः वे राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अंग होते हैं। राजनीतिक दलों के महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक कार्य राजनीतिक प्रक्रिया का एकीकरण, सरलीकरण तथा स्थिरीकरण करना है। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दलों को समाज के विभिन्न धार्मिक, जातीय, तथा वर्गीय समूहों को एकताबद्ध करना पड़ता है। इस तरह, राजनीतिक दल अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में हितों, भौगोलिक दूरियों तथा सामाजिक संरचनाओं की विभाजक शक्तियों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। वे जिन हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनके दायरों को बढ़ाने तथा उनमें सौहार्द बनाए रखने की कोशिश भी करते हैं। इस के मुख्य अपवाद हैं, वर्गगत अथवा जातिगत दलों का व्यवहार, जिन्हे ऐसा करने पर अपने दलीय आधार के खो जाने का डर रहता है।

राजनीतिक दलों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विशेषतया लोकतंत्र में, प्रतिनिधित्व प्रदान करना है, इसलिए वे नागरिकों के समक्ष अपनी नीतियाँ एवं विभिन्न कार्यक्रम रखते हैं, चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं तथा सरकार बनाने के आमंत्रण पर उन नीतियों का निर्धारण कर उन्हें कार्यान्वित करते हैं। राजनीतिक दल नागरिकों और सरकार एवं मतदाता तथा प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के मध्य कड़ी के रूप में भी कार्य करते हैं। कुछ आदर्शों व मुद्दों पर वे मतदाताओं के समक्ष भिन्न-भिन्न विकल्प प्रदान करते हैं तथा समाज के उद्देश्यों के संबंध में वैकल्पिक लक्ष्य प्रस्तुत करते है। वास्तव में, राजनीतिक दल एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन बन गए हैं जिनके माध्यम से समाज अपने सामूहिक उद्देश्य निर्धारित करता है।

प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त ये दल राजनीतिक नेतृत्व भी प्रदान करते हैं। राजनीतिक दल राजनीतिज्ञों के लिए प्रशिक्षण के अवसर प्रदान करते हैं जहाँ वे कौशल, ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर सार्वजनिक जीवन में जन नेता के रूप में उभर कर सामने आते हैं। जिन राजनीतिक प्रणालियों में दल न के बराबर हैं अथवा कमजोर हैं, उनमें राजनेता तथा अभिजनों की भर्ती सामान्यतः पारंपरिक अभिजनों — जैसे वंशाधार पर आधारित शासक परिवारों अथवा धार्मिक अथवा सैन्य संगठनों, से की जाती है। दल राजनीतिक अवसरों के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था में नेताओं के चयन का व्यापक अवसर प्रदान करते हैं।

दलों का एक अन्य कार्य निर्वाचक मंडल को शिक्षित, सूचित तथा गतिशील बनाना है। राजनीति विज्ञान में इसे 'हित स्पष्टीकरण तथा एकत्रीकरण' के नाम से भी जाना जाता है। विकासशील तथा सामूहिक उद्देश्यों की प्रक्रिया में दल अनेक अवसरों पर माध्यम का कार्य करते हैं जिसके चलते व्यवसाय, श्रम, धर्म, प्रजातीय अथवा अन्य समूह अपने हितों को बढ़ाने अथवा उनके संरक्षण की दिशा में प्रयासरत रहते हैं। सत्य यह है कि राष्ट्रीय राजनीतिक दल विभिन्न समूहों के हितों को सुस्पष्ट कर, एक वृहत् आकार में उनके हितों का एकीकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

दल नागरिकों को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित भी करते हैं। यह कार्य सामाजीकरण और संगठन के नाम से जाना जाता है। ये गतिविधियाँ प्रायः चुनावों के समय तक ही सीमित रहती हैं। किंतु यह कार्य कई बार चुनाव की परिधि से बाहर भी हो सकते हैं जब दल अपना प्रभाव क्षेत्र और समर्थन बढ़ाने की इच्छा से विभिन्न तरीकों द्वारा जैसे — रैली आयोजित करके, बैठकें बुलाकर और वाद-विवाद के माध्यम आदि से लोगों को अपने पक्ष में समेकित करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक दलीय प्रणाली में यह भूमिका प्राथमिक तौर पर आधिकारिक विचारधारा के प्रचार से ही संबद्ध होती है। दूसरी ओर, लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों में जहाँ दल लोगों को अपने समर्थन के लिए तैयार करते हैं, वहाँ जनसाधारण को यह अवसर भी प्राप्त होता है कि वह लोकतांत्रिक प्रक्रिया में प्रोत्साहित हो तथा अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करे।

अंततः राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के प्रयासों के फलस्वरूप, सरकार बनाने का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य भी करते हैं। संसदीय लोकतंत्र में यह भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि सरकार भी दल के नाम से जानी जाती है जैसे — कांग्रेस की सरकार, राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन की सरकारें। संसदीय लोकतंत्र में जहाँ यह आवश्यक है कि सरकार को सदन में विधायकों के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहे, वहीं राजनीतिक दल निश्चय ही स्थायित्व एवं सुदृढ़ता प्रदान करते हैं। जब चुनाव में किसी एक दल को बहुमत प्राप्त हो जाता है, तब सरकार के सदस्य उसी दल में से लिए जाते हैं तथा वे समान कार्यक्रम से बंधे होते हैं। अलग अलग दलों से लिए गए विधायकों से बनी साझा सरकारें भी, एकता तथा समझौते की भावना को कहीं अधिक दर्शाती हैं अपेक्षाकृत उन सरकारों के जिन का गठन मात्र भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त, दल सत्ता प्राप्ति की प्रक्रिया में, सरकार के लिए ऐसे कार्यक्रम निर्धारित करते हैं जिससे उन्हें अधिक लोकप्रियता प्राप्त हो।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दलों के उपरोक्त कार्य सामान्य प्रकृति के हैं। इनका महत्त्व सरकार के रूप और प्रकृति, सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण तथा प्रचलित राजनीतिक संस्कृति पर निर्भर है। अपनी ऐतिहासिक परंपराओं सहित ये सभी कारक, दल प्रणाली के रूप को ही नहीं दर्शाते अपितु यह भी तय करते हैं कि किस प्रकार के दल निर्मित तथा विकसित हों।

दलीय प्रणाली तथा दलों के प्रकार

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि विभिन्न दलों तथा उनके रूपों का उदय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सरकार के प्रकार अथवा सामाजिक-आर्थिक वातावरण पर निर्भर है। दलीय प्रणालियों अथवा उनके स्वरूप के वर्गीकरण का कोई सामान्य सिद्धांत अथवा मानदंड नहीं है। साधारणतया, देश में दलों की संख्या और उनसे संबद्ध सदस्यता के आधार पर दलीय प्रणालियों के वर्गीकरण का प्रचलन है। सामान्यतया, किसी दल की प्रकृति उसकी विचारधारा अथवा कार्यक्रम की प्राथमिकताओं तथा संगठनात्मक संरचनाओं से निर्धारित होती है। संख्या के आधार और संबद्ध दलों की शक्ति के आधार पर दल प्रणालियों को साधारणतया चार भागों में बाँटा जाता है: (i) एकल दलीय प्रणाली; (ii) एक दल प्रधान प्रणाली; (iii) द्विदलीय प्रणाली और (iv) बहुदलीय प्रणाली।

एकल दलीय प्रणाली

एकल दलीय प्रणाली में शासन पर एक ही दल का एकाधिकार स्थापित हो जाता है तथा अन्य दलो की भूमिका नगन्य हो जाती है। यह सांविधानिक अथवा

इस प्रक्रिया में कांग्रेस ने विभिन्न सामाजिक, सामुदायिक और आर्थिक हितों को समाहित कर लिया और निःसंदेह राष्ट्रीय स्वतंत्रता को ही प्राथमिकता दी। 'फूट डालो और शासन करो' की ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप, भारत में सांप्रदायिक एवं जातिगत दलों का भी निर्माण हुआ जैसे — हिंदू महा सभा, मुस्लिम लीग, अकाली दल, तथा द्रविड़ कज्जगम। इनके अतिरिक्त, ऐसे दलों का भी गठन हुआ जो भावी भारत के अनुरूप वैचारिक दृष्टि पर आधारित थे। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण साम्यवादी दल का गठन था। अत: स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तथा भारत में संसदीय लोकतंत्र की पद्धति को अपनाने से पहले, भारत में विभिन्न स्वरूपों वाले राजनीकि दल विद्यमान थे। इसी पृष्ठभूमि में संविधान निर्माताओं ने भारत में संसदीय लोकतांत्रिक और संघात्मक प्रणाली को अंगीकार किया। उनकी यह अपेक्षा थी कि इस राजनीतिक प्रणाली के संचालन हेतु एक उपयुक्त दलीय प्रणाली विकसित होगी।

स्वतंत्र भारत में दलीय प्रणाली

संविधान निर्माताओं ने भारत के लिए संसदीय शासन प्रणाली को अंगीकार किया। स्पष्टत: इस प्रणाली की कार्यात्मकता के लिए राजनीतिक दल एक अनिवार्य यंत्र थे। यद्यपि संविधान में राजनीतिक दलों तथा उनके कार्यों के संबंध में कुछ भी वर्णित नहीं है, राजनीतिक दलों की स्थापना, उनके विकास तथा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र में उनके कार्यों को संविधान के विभिन्न प्रावधान यथोचित स्थान प्रदान करते हैं। एक वैधानिक प्रावधान के अंतर्गत चुनाव आयोग को सीमित रूप में दलों के विनियमन का अधिकार सौंपा गया जिसके अंतर्गत दलों का पंजीकरण एवं चुनाव चिह्नों के आबंटन का अधिकार है। बाद में, दल बदल के संदर्भ में संविधान की 10वीं अनुसूची में दलों का उल्लेख हुआ। अत: भारत में दलीय प्रणाली, चुनाव आयोग द्वारा पंजीकरण तथा दल बदल प्रावधानों के अत्याधिक सीमित प्रयोजनों को छोड़कर मूल रूप से, अपरिभाषित तथा अविनियमित है। स्वतंत्रता के समय के दलों के साथ-साथ विभिन्न विचारधाराओं, कार्यक्रमों तथा अपने-अपने संगठनात्मक ढाँचे वाले नए दलों का भी उदय हुआ। इस अनूठी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, जटिल सामाजिक-आर्थिक वातावरण तथा विकास संबंधी कार्यों के संदर्भ में जो दलीय प्रणाली भारत में उभरी, वह स्पष्टतया न तो एक दलीय और न द्विदलीय अथवा बहुदलीय प्रणाली से पूर्णत: मेल खाती थी। फिर भी, इन दलीय प्रणालियों के लक्षण समय-समय पर देखे जा सकते हैं। इन अवस्थाओं को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है: (i) एक दल की प्रधानता; (ii) द्विदलीय प्रणाली की ओर रूझान; (iii) नेतृत्व प्रधान दल और (iv) बहुदलीय प्रणाली तथा गठबंधन काल।

एक दल की प्रधानता

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रथम आम चुनाव के समय देश में अनेक राजनीतिक दल विद्यमान थे। काफी वर्षों 1977 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल की प्रधानता बनी रही। वह केंद्र तथा लगभग सभी राज्यों में सत्तारूढ़ दल बना रहा। संसदीय चुनावों में यद्यपि कांग्रेस को मुश्किल से 50 प्रतिशत मत ही प्राप्त होते रहे तथापि उसके तथा अन्य किसी दल के मतों में बहुत अधिक अंतर था। उदाहरण के लिए, देश के पहले आम चुनाव के दौरान कांग्रेस को 45 प्रतिशत मत प्राप्त हुए परंतु दूसरे स्थान के दल प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को मात्र 10.6 प्रतिशत मत ही मिले। 1971 के आम चुनाव तक कांग्रेस के अतिरिक्त किसी भी अन्य दल को 10 प्रतिशत से अधिक मत

नहीं मिल पाए। कांग्रेस ही एक ऐसा दल था जिसे सभी राज्यों और क्षेत्रों में लोगों के सभी वर्गों से मत प्राप्त हुए। कांग्रेस के इस प्रभुत्व के अनेक कारक थे। इन कारकों में 1885 से कांग्रेस का अस्तित्व में बने रहना, स्वतंत्रता आंदोलन में उसकी अग्रणी भूमिका, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल आदि नेताओं का योगदान तथा देश भर में व्यापक स्तर पर उसका संगठन और प्रसार थे। इन कारकों के विलुप्त होने और अन्य दलों के बढ़ते प्रभाव के कारण, कांग्रेस के प्रभुत्व का, विशेषतया राज्य स्तर पर, पतन होना शुरू हो गया। 1967 के आम चुनाव के दौरान यह पतन स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो गया, जब उसके द्वारा प्राप्त सीटों और मतों में भारी गिरावट आई। आठ राज्यों में कांग्रेस को पराजय का सामना करना पड़ा। परंतु 1971 के चुनाव में वह पुनः प्रधान दल के रूप में उभरी। स्वतंत्रता के बाद पहली बार 1977 में वह केंद्र में सत्ता से पदच्युत हुई तथा कई राज्यों में भी उसे मुंह की खानी पड़ी। इस प्रकार एक दल प्रधानता काल की समाप्ति हो गई।

द्विदलीय प्रणाली की ओर रूझान

1977 के चुनावों ने दलीय संस्थाकरण तथा द्विदलीय प्रणाली की संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया। इस चुनाव में सीटों में बढ़ोत्तरी के बावजूद प्रत्याशियों की संख्या में व्यापक गिरावट देखी गई। (542 स्थानों के लिए मात्र 2,439 प्रत्याशी खड़े हुए जबकि 1971 में 518 स्थानों के लिए 2,784 प्रत्याशी चुनाव मैदान में उतरे थे) पारस्परिक सीधे चुनावी मुकाबले में महत्त्वपूर्ण बढ़ोत्तरी हुई और यह संख्या 101 तक पहुँच गई। एक अथवा दो स्वतंत्र उम्मीदवारों को यदि छोड़ दिया जाए तो यह संख्या 279 तक पहुँची। इस चुनाव में एक उल्लेखनीय रूझान, निर्दलीय उम्मीदवारों का स्पष्ट नकारा जाना था। यद्यपि 1977 में निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या सर्वाधिक थी तथापि विजयी निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या निम्नतम रही। (1,222 में से केवल 7 प्रत्याशी ही विजयी हो पाए। अंततः 75.8 प्रतिशत मत केवल दो दलों अर्थात् जनता पार्टी और कांग्रेस में ही बँटे।

परिणामस्वरूप, पहली बार केंद्र में गैर-कांग्रेसी सरकार की स्थापना के संबंध में कई विद्वानों और पर्यवेक्षकों ने यह विचार व्यक्त किया कि भारत में संसदीय लोकतंत्र परिपक्व हो चला है तथा द्विदलीय प्रणाली की प्रक्रिया लगभग आरंभ अथवा उस के निकट पहुँच चुकी है। लेकिन यह अपेक्षा अल्पकालिक ही रही। जनता पार्टी, जो चार दलों को मिलाकर बनी थी, अपने व्यवहार में एक सुस्पष्ट दल के रूप में उभरने के स्थान पर मात्र दलों का जमघट ही बन कर रह गई। परिणामस्वरूप, प्रमुख रूप से कलह और गुटबंदियों के चलते, सरकार के संचालन में व्यवधान तो उत्पन्न हुए ही, जनसाधारण की दृष्टि में उसकी साख और छवि भी गिरती गई। इस सब का परिणाम स्पष्ट था, जनता पार्टी का विघटन हो गया और मतदाताओं का उससे मोहभंग हो गया। पार्टी तीन वर्षों के अल्पकाल के लिए भी एक साथ जुड़ कर नहीं रह सकी।

नेतृत्व प्रधान दल

1980 के चुनावों के आधार पर भारतीय दल प्रणाली में एक बार फिर एकल दलीय प्रणाली की प्रधानता स्थापित हुई। यद्यपि इस बार यह न तो नेहरू युगीन और न ही पूर्व आपात् कालीन के उत्तरोत्तर काल की तरह की दल प्रणाली थी। इस बार दल प्रधानता की पहचान उसके नेता (इंदिरा गांधी) से हुई जो अब दल की निर्विवाद नेता हो चुकी थीं।

विरोधी दलों के प्रति सत्ताधारी कांग्रेस के दृष्टिकोण और व्यवहार में एक विलक्षण बदलाव

आया। जब तक कांग्रेस एक प्रधान दल एवं एकल राष्ट्रीय शक्ति के रूप में थी, प्रतिपक्ष को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इस अवधि में कांग्रेस राज्य व स्थानीय स्तरों पर एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरी। परंतु 1977 में जनता पार्टी की सफल चुनौती के पश्चात् और कांग्रेस में विभाजन के कारण, कांग्रेस का शीर्षस्थ नेतृत्व अपने को असुरक्षित महसूस करने लगा। परिणामस्वरूप, दल में असहिष्णुता की भावना बढ़ी और कांग्रेस दूसरे दलों के साथ सत्ता में साझेदारी की इच्छुक नहीं रही।

कालांतर में, सत्ता का रसास्वादन लेने के पश्चात् विरोधी दलो ने नैतिक आधार पर और अपने शासन काल के आचरण के कारण, स्वयं को असमर्थ समझते हुए कांग्रेस का विरोध करने के लिए टकराव की राजनीति का मार्ग अपनाया। उनमें से कुछ विरोधी दल जाति की प्रधानता जैसे कारकों से बंध गए, जिसके फलस्वरूप कुछ राज्यों में उन्हें काफी समर्थन भी प्राप्त हुआ।

1980 के दशक में कांग्रेस (आई.) को प्राप्त प्रधानता, वास्तव में, न तो पूरे देश में थी और न ही आम सहमति की नीति पर आधारित। इस नेतृत्व प्रधान दल की स्थापना के कारक थे — राष्ट्रीय स्तर पर गैर-कांग्रेस दलों की असफलता और कुछ क्षेत्रीय दलों के सीमित क्षेत्रीय समर्थन की प्राप्ति। एक दलीय प्रधानता वाले काल के विपरीत, जिसमें दल का संगठनात्मक ढाँचा समाज के विभिन्न हितों और पहचानों को महत्त्वपूर्ण मानता है, नेतृत्व प्रधान अवस्था मे दल अपने नेता विशेष के व्यक्तित्व पर निर्भर हो गया।

बहुदलीय प्रणाली और संयुक्त सरकारों का युग

दिसंबर 1989 में संसदीय आम चुनाव केंद्र में बहुदलीय प्रणाली की दिशा में एक पहल थे। राज्य स्तर पर इस प्रणाली के संघटक तत्त्व 1967 में ही स्पष्ट हो गए थे, जब लगभग आधे राज्यों मे गैर-कांग्रेसी सरकारें गठित हुईं। पर्यवेक्षकों के अनुसार 1989 के चुनाव में, केंद्रीय स्तर पर दो अभूतपूर्व बदलाव आए। प्रथम, केंद्र में संयुक्त सरकार का औपचारिक रूप में गठन हुआ (तथापि औपचारिक तौर पर 1977 में बनी जनता सरकार भी निष्कर्षतया एक संयुक्त सरकार ही थी) दूसरे 1989 में यह स्पष्ट हो गया कि केंद्र में सरकार के गठन के लिए दो दलों से अधिक दलों का होना जरूरी है जो निश्चय ही बहुदलीय प्रणाली के अनुरूप था जैसाकि लोक सभा के 9वें चुनाव के दौरान हुआ था। बाद में हुए 1991, 1996, 1998 व 1999 के चुनावों ने बहुदलीय प्रणाली के रूझान को अधिक सशक्त कर दिया जब कांग्रेस के नेतृत्व प्रधान स्वरूप का ह्रास हुआ तथा बहुदलीय प्रणाली व मिली-जुली सरकार का युग प्रारंभ हुआ।

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह बहुदलीय व्यवस्था ही बनी रहेगी अथवा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया कार्यरत रहेगी। ध्रुवीकरण का अर्थ स्पष्टतया निर्धारित विचारधाराओं से लैस विभिन्न राजनीतिक दलों का सुदृढ़ीकरण है। नई प्रणाली ने कम से कम आज की स्थिति में बड़े राजनीतिक दलों में गतिशीलता का परिचय तो दिया ही है जैसे कांग्रेस और उसके सहयोगी तथा भाजपा और उसके सहयोगी पारस्परिक प्रतियोगिता के लिए तत्पर हैं । साथ ही साथ वामपंथी व क्षेत्रीय दल संतुलनात्मक भूमिका का निर्वाह भी कर रहे हैं। इस बहुध्रुवीय स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राजनीति में साझेदारी की स्थिति प्रारंभ हो गई है। कुछ पर्यवेक्षक इस अवस्था को भारतीय संसदीय लोकतंत्र के भविष्य के लिए घातक मानते हैं क्योंकि इससे अस्थिरता बढ़ जाती है। परंतु वास्तव में यह कोई असाधारण तथ्य नहीं है। इतने बड़े देश में, जहाँ अनेक विभिन्नताएँ हैं, बहुदलीय प्रणाली व

संयुक्त सरकारें स्वाभाविक ही हैं। विकसित पश्चिमी लोकतंत्रों में भी, जहाँ कम विभिन्नताएँ हैं — जैसे फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि देशों में संयुक्त सरकारें बनती रही हैं। एक प्रकार से संयुक्त सरकारें अपने अस्तित्व के प्रति निरंतर आशंका के चलते अधिक दायित्वपूर्ण ढंग से कार्य करने को मजबूर हो सकती हैं और लोकतंत्र की सफलता तथा असफलता के लिए उत्तरदायी हो सकती हैं। यह कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है जिसका अध्ययन हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

दलों के प्रकार — राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि भारत में एक विशेष सामाजिक ढाँचे के संदर्भ में, राजनीतिक विकास व संस्थात्मक संरचना दोनों ही स्तरों पर, एक अपने ही प्रकार की बहुदलीय प्रणाली विकसित हुई है। सभी दल आकार व फैलाव की दृष्टि से एक समान नहीं हैं। भारत का चुनाव आयोग दलों को उनकी सामर्थ्य तथा कार्यकलाप के क्षेत्र के आधार पर उन्हें राष्ट्रीय, राज्य स्तरीय अथवा मान्यताविहीन दल के रूप में पंजीकृत करता है।

चुनाव चिह्न (आरक्षण तथा आबंटन), 1968 के आदेशाअनुसार किसी दल को मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल तभी माना जा सकता है, जब वह दल अनुभाग (ए) अथवा अनुभाग (बी) में वर्णित शर्तों को पूरा करता हो। ये शर्तें हैं: (ए) (i) दल निरंतर पाँच वर्षों से राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न हो; तथा (ii) आम चुनाव के दौरान उस दल से लोक सभा में प्रति 25 में से एक सदस्य निर्वाचित हुआ हो; अथवा राज्य के चुनाव के दौरान प्रति तीस सदस्यों में कम-से-कम वह एक सदस्य निर्वाचित करवाने में सफल हुआ हो। अथवा (बी) जब एक दल-विशेष से संलग्न उन सभी उम्मीदवारों के (जिन्होंने आम चुनाव में भाग लिया हो) प्राप्त मतों की संख्या कुल मिलाकर लोक सभा अथवा राज्य विधान सभा में कुल वैध मतों की संख्या का चार प्रतिशत से कम न हो।

(ए) अथवा (बी) अंतर्निहित शर्तों को पूरा करने वाला दल राज्य स्तर पर राजनीतिक दल के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेता है। राज्य स्तर पर मान्यता प्राप्त दल यदि कम-से-कम चार राज्यों में मान्यता प्राप्त कर लेता है तो वह दल राष्ट्रीय राजनीतिक दल के रूप में पंजीकृत हो जाता है। निर्धारित संख्या के अभाव में जो दल राज्य स्तरीय मान्यता प्राप्त नहीं कर पाता, लेकिन आयोग द्वारा यह पंजीकृत हुआ होता है, तो ऐसे दलों को मान्यताविहीन पंजीकृत दलों की श्रेणी में रखा जाता है। संपूर्ण भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक दल का अपना अलग चुनाव चिह्न आरक्षित रहता है। राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों के संबंध में चुनाव चिह्न राज्य विशेष अथवा राज्यों तक ही आरक्षित होता है। स्पष्ट है कि मान्यता प्राप्त दलों की कोई स्थायी सूची नहीं होती है। निर्धारित नियमों के अनुरूप प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् चुनाव आयोग इसे संशोधित करता है। हम लोकतांत्रिक प्रणाली में विरोधी दल के रूप में प्रतिपक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका का अध्ययन करेंगे।

विरोधी दलों की भूमिका

इस अध्याय के आरंभ में हम यह पढ़ चुके हैं कि राजनीतिक दलों का प्राथमिक उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है परंतु इसके अतिरिक्त लोकतंत्र में राजनीतिक दलों को कई अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। इस प्रक्रिया में जिस दल को चुनावों के पश्चात् सत्ता प्राप्त नहीं हो पाती, उन्हें प्रशासकीय कार्यों के अतिरिक्त, दल के रूप में अन्य सभी कार्य भी करने पड़ते हैं जिसमें विरोधी पक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका

भी सम्मिलित है। विरोधी दल अथवा दलों से अपेक्षा की जाती है कि वे सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों को चुनौती देते हुए अगले चुनाव में स्वयं को शासन के प्रबल वैकल्पिक दावेदार के रूप में प्रस्तुत करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सरकार पर नकेल डालते हैं, और लोगों के समक्ष वैकल्पिक नीतियाँ और कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। सरकार की कमियों को लोगों के सामने उजागर करते हैं। उसकी असफलताओं को लोगों के समक्ष रखते हैं, वायदों से भटकाव तथा सत्ता दुरूपयोग का पर्दाफाश करते हैं। दूसरे शब्दों में, विरोधी दल विकल्पों के साथ-साथ सरकार पर नियंत्रण और संतुलन बनाए रखते हैं तथा सरकार की गतिविधियों और उनकी खामियों से जनता को अवगत् कराते हैं। इस कार्य को पूरा करने के लिए यह जरूरी है कि विरोधी दल सशक्त हों तथा संख्यात्मकता तथा गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से व्यवहार्य व उत्तरदायी हों। संख्यात्मकता का अभिप्राय है कि प्रतिपक्ष का मतों को अपेक्षाकृत समर्थन प्राप्त हो जिसके कारण मतदाताओं की थोड़ी सी भी प्राथमिकता परिवर्तन उसे सत्तासीन करने में सक्षम हो, गुणात्मकता का तात्पर्य लोगों में विरोधी दल की विश्वसनीयता तथा सक्षमता से है।

इस महत्वपूर्ण भूमिका की दृष्टि से, कई संसदीय लोकतंत्रों में, विरोधी दल को आधिकारिक मान्यता प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में विरोधी दल को शासकीय मान्यता प्राप्त है। वहाँ जैसे महामहिम की सरकार है वैसे ही महामहिम का प्रतिपक्ष भी है। विरोधी पक्ष के नेता को वही वेतन और विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो किसी ब्रिटेन के मंत्री को मिलते हैं। उसका सर्वाधिक विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व जब भी संभव हो, वैकल्पिक सरकार की स्थापना करना है; इसलिए, उसका सदैव एक छाया मंत्रीमंडल तैयार रहता है जो समय आने पर यथार्थता में परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् नई सरकार का गठन तत्काल हो जाता है जो निश्चय ही संसदीय शासन प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है। यह सदन में सरकार के परास्त होने पर और नए चुनाव के दौरान सत्तारूढ़ दल के पराजय के कारण भी हो सकता है। इसीलिए यह कहा भी जाता है कि आज का प्रतिपक्ष आने वाले कल की सरकार है। सरकार की यह प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य तब करती है जब द्विदलीय प्रणाली का प्रचलन हो और दोनों दलों की शक्ति लगभग बराबर हो, वहाँ मतदान प्रतिशत में आंशिक बदलाव भी सरकार को बदल कर रख देता है। बहुदलीय प्रणालियों के कई मामलों में देखा जाता है कि विरोधी दलों का पारस्परिक विरोध सत्ताधारी दल के विरोध की तुलना में कहीं अधिक होता है। इसका अभिप्राय यह कदापि भी नहीं है कि बहुदलीय प्रणाली में प्रतिपक्ष की कोई भूमिका ही नहीं होती अथवा वह प्रासंगिक नहीं होता। इस संदर्भ में, सत्तारूढ़ दल पर विरोधी दलों के नियंत्रण की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि सत्तारूढ़ दल को विभाजित प्रतिपक्ष द्वारा उखाड़ फेंके जाने का भय नहीं होता। परिणामस्वरूप यह एक अनुत्तरदायी और भ्रष्टाचारी सरकार बन सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि बहुदलीय प्रणाली सदैव एक दल प्रधान व्यवस्था हो। इसमें सरकार और विरोधी पक्ष दोनों ही अपने-अपने सहयोगी दलों के साथ मिलकर कार्य कर सकते हैं इसीलिए लोकतंत्र में सशक्त प्रतिपक्ष का होना अत्यंत आवश्यक है। विभिन्न परिस्थतियों और दलीय प्रणालियों में प्रतिपक्ष की भूमिका भिन्न-भिन्न हो सकती है। अंततः परिस्थितियाँ चाहे जैसी भी हों, लोकतंत्र को स्वस्थ बनाए रखने के लिए सत्तारूढ़ दल व प्रतिपक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी भूमिकाओं

का निर्वाह दायित्वपूर्ण, निष्ठापूर्वक और गरिमामय ढंग से करें।

भारत में प्रतिपक्ष

गणतंत्रात्मक शासन के प्रारंभिक वर्षों के दौरान अपनी कमज़ोरी और विभाजन के बावजूद, प्रतिपक्ष ने संसद में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन दलों के नेताओं ने विधायिका में होने वाले वाद-विवाद में सक्रिय हिस्सा लिया, महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्दे उठाए और सरकार की असफलताओं के लिए उसे आड़े हाथों लिया। विपक्ष के सदस्य अपने व्यवहार तथा निष्ठा के क़ारण आदर की दृष्टि से देखे ज़ाते थे और राष्ट्र तथा संविधान निर्माण के कार्य के प्रति अपनी ईमानदारी तथा प्रतिबद्धता के लिए जाने जाते थे। नि:संदेह, संसद में प्रतिपक्ष की कमज़ोर स्थिति के कारण नेहरू ने न केवल उन्हें सहन किया बल्कि प्रोत्साहित भी किया। नेहरू का मानना था कि प्रत्येक प्रश्न के दो अथवा दो से अधिक पहलू होते हैं, इसलिए महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर उन्हें अपना पक्ष रखने का आमंत्रण देते थे। प्रश्न काल के प्रभावी प्रयोग द्वारा सरकार को उन्होंने सदैव सज़ग रहने को मज़बूर किया।

जैसा कि प्रारंभ में कहा जा चुका है कि भारत में राजनीतिक दलों का उल्लेख स्पष्टतया न तो भारतीय संविधान और न ही किसी कानून में है। फिर भी, भारत में राजनीतिक व्यवस्था ने राजनीतिक दलों को फूलने-फलने का तथा बिना किन्हीं कठिन शर्तों के राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का भरपूर अवसर प्रदान किया। प्रारंभ के वर्षों में एक दल की प्रधानता की स्थिति थी। यद्यपि किसी विरोधी दल को मान्यता प्रदान करने का कोई वैध प्रावधान नहीं था, तथापि किसी दल को संसदीय दल के रूप में दर्ज़ा प्रदान करने का प्रावधान था, यदि उसे लोक सभा में कम से कम 50 स्थान प्राप्त हों। 1969 में पहली बार कांग्रेस (संगठन) को संसदीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त हुई और इसके अतिरिक्त कांग्रेस (आर.) नेता डॉ. राम सुभग सिंह ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्हें प्रतिपक्ष के नेता के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि यह प्रतिपक्ष भी कांग्रेस में विभाजन के फलस्वरूप ही उभरा। 1977 में पहली बार जनता पार्टी के शासन के दौरान संसदीय अधिनियम के अंतर्गत प्रतिपक्ष के नेता को कानूनी मान्यता मिली तथा उसके वेतन और विशेषाधिकार केबिनेट मंत्री के समकक्ष निर्धारित हुए।

राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व का ह्रास, राजनीतिक सत्ता का निहित स्वार्थों के हाथों में यंत्र बनना तथा संस्थाओं की अधोगति, जिनकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं, के कारण सरकार और प्रतिपक्ष में पारस्परिक क्रिया की भावना में भी पतन होने लगा। 1975-77 के दौरान आपातकाल में तथा 1977 के चुनावों के बाद भारत में एक स्वस्थ दलीय पद्धति की स्थापना के प्रति एक आशा जागृत हुई। इस चुनाव में पहली बार प्रतिपक्ष एक वैकल्पिक सरकार के रूप में उभरा और श्रीमती इंदिरा गांधी को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। विरोधी पक्ष से अपेक्षा की गई थी कि वह विषयनिष्ठ राजनीति प्रदान करेगा तथा सामाजिक व लोकतांत्रिक आधारों पर मुद्दे परिभाषित होगें। परंतु यह नहीं हो सका।

एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए सत्तारूढ़ और प्रतिपक्ष दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। विरोधी पक्ष के लिए रचनात्मक तथा सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करना आवश्यक है। सत्ताधारी दल तथा विरोधी पक्ष को याद रखना चाहिए कि उन्हें अपनी भूमिका आपस में बदलनी होती है। यदि राजनीतिक दलों तथा विरोधी पक्ष ने अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं किया तो लोकतंत्र से लोगों का विश्वास उठना शुरू हो जाएगा।

परिणामस्वरूप लोगों की सहमति से किसी अधिनायकवादी सत्ता की स्थापना का मार्ग आसानी से प्रशस्त हो जाएगा। इससे न केवल लोकतंत्र का अपितु स्वयं राजनीतिक दलों का भी अंत होगा। इस संदर्भ में कुछ पड़ोसी देशों का उदाहरण हमारे सामने है। इसलिए इसके बदलाव के प्रति हमें सजग होना पड़ेगा, यदि अत्यधिक विलंब हो गया तो यह किसी के लिए भी श्रेयष्कर नहीं होगा।

अभ्यास

1. राजनीतिक दलों से क्या अभिप्राय है? दल कौन-कौन से प्रमुख कार्य संपन्न करते हैं?
2. विभिन्न दल प्रणालियों की व्याख्या कीजिए।
3. एक दल प्रधान प्रणाली के गुण-अवगुणों का परीक्षण कीजिए।
4. भारत में एक दल प्रधान प्रणाली के उदय एवं विकास के कारणों को बताइए।
5. भारत में राष्ट्रीय व राज्य स्तरीय दलों को मान्यता कैसे प्राप्त होती है?
6. भारतीय दल प्रणाली में उभरते रूझानों की व्याख्या कीजिए।
7. भारत में प्रतिपक्ष की प्रकृति तथा भूमिका का परीक्षण कीजिए।
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   - (i) द्विदलीय प्रणाली
   - (ii) नेतृत्व प्रधान दल
   - (iii) भारत में स्वतंत्रता से पूर्व राजनीतिक दल
   - (iv) लोकतंत्र में प्रतिपक्ष की भूमिका

अध्याय 5

राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल

पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि भारत में अनेक गैरमान्यता प्राप्त पंजीकृत और अपंजीकृत राजनीतिक दलों के अतिरिक्त छः राष्ट्रीय और लगभग चालीस क्षेत्रीय दल हैं। ये दल विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रमों के आधार पर बनाए गए हैं। कुछ दल अपने कार्यक्रमों के स्वरूप अथवा सक्रियता के कारण विशेष सामाजिक समूहों से अधिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी होने के नाते हमारे लिए यह आवश्यक है कि हमें इन दलों के कार्यक्रमों, विचारधाराओं एवं उनके समर्थन के आधार की जानकारी होनी चाहिए। इस अध्याय में हम राष्ट्रीय दलों के इन पक्षों के संबंध में पढ़ेंगे तथा क्षेत्रीय दलों की प्रकृति एवं भूमिका के विषय में सामान्य जानकारी प्राप्त करेंगे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस न केवल भारत का अपितु सभी विकासशील अफ्रीकी-एशियाई देशों में सबसे पुराना राजनीतिक दल हैं। इसकी स्थापना 27 दिसंबर 1885 को मुंबई में हुई थी। प्रारंभ में यह विश्वविद्यालयों में शिक्षित, मध्यम वर्गीय पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित कुछ ही लोगों की एक सीमित संस्था थी। प्रथम दो दशकों तक मूलतः यह ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य के अंतर्गत राजनीतिक सुधारों की माँग से जुड़ी रही। इस समय इसका नेतृत्व उदारवादियों के हाथों में था जो अपनी गतिविधियों के लिए वैधानिक एवं सांविधानिक उपायों में विश्वास रखते थे। 1907 के लगभग पार्टी में एक गरम पंथी गुट का उदय हुआ जिसने स्वराज की माँग उठाई और गतिशीलता एवं विरोध के लिए ठोस कदम उठाए। कुछ समय के लिए कांग्रेस नरम-पंथियों और गरम-पंथियों में बँटी रही। शीघ्र ही यह राष्ट्रीय स्वाधीनता का एक व्यापक आंदोलन बन गई। महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक मंच पर आगमन से 1920 तक, इसने एक जन आंदोलन का रूप धारण कर लिया। एक राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में कांग्रेस ने सभी मतों और विचारों के लोगों को प्रवेश दे कर एक वृहद् संगठन के रूप में कार्य किया। इस प्रकार, वैचारिक दृष्टि से इसमें दक्षिणपंथी, वामपंथी और मध्यमार्गी विचारों के लोग सम्मिलित थे। पार्टी की इस प्रकृति और भूमिका के आधार पर गांधी जी जैसे नेताओं ने सुझाव दिया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस को भंग कर देना चाहिए। किंतु कुछ अन्य लोगों का विचार था कि स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व करने के पश्चात् अब कांग्रेस को राष्ट्र-निर्माण और लोकतंत्र की स्थापना के लिए स्वतंत्र भारत को नेतृत्व देना चाहिए।

स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारंभ से ही कांग्रेस पार्टी एक सत्ताधारी दल के रूप में उभरी। एक प्रभावी दल के रूप में उभरने के लिए अनेक हितकारी

कारक इसके पक्ष थे: (i) राष्ट्रीय लक्ष्यों और सम्मानित नेतृत्व वाला अखिल भारतीय संगठन; (ii) पंथ निरपेक्षता, समाजवादी एवं लोकतंत्र की मध्यमार्गी विचारधारा, जिसने समाज के विभिन्न वर्गों को आकृष्ट किया; और (iii) एक विस्तृत जनाधार जिसमें विभिन्न हितों, वर्गों, क्षेत्रों, समूहों और समुदायों के सदस्य सम्मिलित थे। परिणामस्वरूप, कांग्रेस एक प्रमुख एवं प्रभावी दल के रूप में उभरी।

1967 तक कांग्रेस केंद्र तथा लगभग सभी राज्यों में अपनी सरकार बनाने में समर्थ रही। यद्यपि कांग्रेस एक प्रमुख एवं वृहद् दल था, परंतु वैचारिक एवं वैयक्तिक मतभेदों के कारण दल के भीतर अनेक गुट एवं वर्ग विद्यमान थे। जवाहरलाल नेहरू के प्रभावशाली नेतृत्व में ये गुट खुल कर सामने नहीं आ सके। 1962 से प्रभावशाली नेतृत्व के ह्रास एवं कार्य निस्पादन से असंतुष्ट लोगों के सिमटते जनाधार के कारण गुटबाज़ी खुल कर सामने आई और महत्त्वपूर्ण बन गई। फलस्वरूप, 1967 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी, कमज़ोर हो गई। अंततः इस गुटबंदी और दलबंदी ने कांग्रेस को नवंबर 1969 में दो दलों में बाँट दिया -- कांग्रेस (आर.) जिसका नेतृत्व श्रीमती इंदिरा गांधी के पास था तथा कांग्रेस (ओ.) जिसका नेतृत्व निजलिंगप्पा, मोरार जी देसाई और के. कामराज के हाथों में था। नेहरू परिवार की पृष्ठ भूमि में इंदिरा गांधी ने, जो स्वयं को एक प्रगतिशील नेता के रूप में प्रस्तुत कर रही थी, अपने गुट को 1971-72 के चुनावों में भारी बहुमत से जीत दिलाई जिससे कांग्रेस (आर.) एक प्रमुख पार्टी बन कर उभरी। 1977 में कांग्रेस (ओ.) ने स्वयं को नवनिर्मित जनता पार्टी में विलय कर दिया। 1977 के चुनावों में हार के कारण 1978 में कांग्रेस (आर.) पुनः दो भागों में विभाजित हो गई। अब इंदिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (आई.) और स्वर्ण सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस (एस.) बन गई जिसका नेतृत्व बाद में देव राज अर्स और शरद पवार ने किया। 1980 के चुनावों ने एक बार फिर इंदिरा गांधी की कांग्रेस को प्रमुख पार्टी के रूप में वैधता प्रदान की। यह स्थिति 1989 तक यथावत् रही जब एक बार फिर वी.पी.सिंह जैसे नेताओं ने विरोधी दलों से हाथ मिलाने के लिए कांग्रेस छोड़ दी।

1994 में कांग्रेस में फिर एक और विभाजन हुआ, जब अर्जुन सिंह तथा एन. डी. तिवारी जैसे नेताओं ने इंदिरा कांग्रेस का गठन करने के लिए कांग्रेस को छोड़ दिया। उस समय कांग्रेस का नेतृत्व राजीव गांधी कर रहे थे। जब ये लोग पुनः कांग्रेस में लौट आए, शरद पवार, पी. ए. संगमा और तारिक अनवर के नेतृत्व में एक दूसरे गुट ने 1999 में एक अन्य दल 'नेशनल कांग्रेस पार्टी' बनाने के लिए, कांग्रेस (आई.) छोड़ दी। श्रीमती सोनिया गांधी के नेतृत्व वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अब भी समस्त भारत में महत्त्वपूर्ण जनाधार है, यद्यपि अब यह प्रमुख पार्टी नहीं है।

विचारधारा और कार्यक्रम के आधार पर कांग्रेस ने स्वयं को धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक एवं आधुनिक दृष्टिकोण वाली पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया है। आर्थिक विकास के लिए यह भूमि सुधारों, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक नियोजन की पक्षधर है। 1955 के उपरांत इसने समाजवादी सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति को अपना लक्ष्य माना परंतु समाज में अन्य सभी हितों को समायोजित कर चुनाव जीतने के प्रयास ने कांग्रेस को अपनी विचारधारा के साथ समझौता करने को विवश कर दिया। इस प्रकार यह वैचारिक प्रतिबद्ध पार्टी से अधिक व्यवहारिक पार्टी बनी रही। इसी कारण इसने मध्यम मार्ग को अपनाया। 1991 से यह पार्टी अपनी प्रारंभिक समाजवादी और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति प्रतिबद्धता की अपेक्षा उदारवादी अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ी है। इसलिए

कांग्रेस आर्थिक सुधारों और संरचनात्मक समायोजन को प्रारंभ करने वाली पार्टी है। कांग्रेस ने अपने कार्यक्रमों में सामाजिक सुधार के प्रयासों का भी समर्थन किया है। अधिकांश अन्य पार्टियों की भाँति यह जाति, धर्म, क्षेत्र और लिंग इत्यादि के आधार पर भेदभाव का विरोध करती है। स्वतंत्र भारत के प्रारंभिक वर्षों में इसने अल्पसंख्यकों के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता दर्शाई। कांग्रेस पार्टी की विदेश नीति ने, विशेषतः पंडित नेहरू के नेतृत्व में, भारत को गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक और नेता के रूप में प्रमुखता प्रदान की।

जैसा पहले बताया गया है कि स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस, पार्टी की अपेक्षा एक आंदोलन अधिक थी। स्वतंत्रता के उपरांत चुनाव लड़ने के लिए इसने स्वयं को एक राजनीतिक दल में परिवर्तित कर लिया। इसकी पृष्ठभूमि और शक्ति को देख अनेक लोग और समूह, इसके कार्यक्रमों के प्रति आवश्यक प्रतिबद्धता के बिना, कांग्रेस में सम्मिलित होने लगे। इसने कांग्रेस को कार्यक्रमों पर आधारित पार्टी से अधिक व्यवहारिक पार्टी बना दिया। इन्होने तथा अन्य कारकों ने कांग्रेस में विस्तृत गुटबाज़ी, चाटुकारिता और सत्ता केंद्रीकरण को प्रवेश दिया। परिणामस्वरूप, संगठनात्मक स्तर पर कांग्रेस व्यक्ति आधारित और केंद्र-नियंत्रित पार्टी बन गई। अब यह सामाजिक-आर्थिक विकास एवं सुधारों वाली मतैक्य की पार्टी नहीं रही। फिर भी यह पंथनिरपेक्षता एवं लोकतंत्र जैसे मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध है। यह अभी भी भारत के सभी राज्यों एवं क्षेत्रों में विस्तृत सामाजिक जनाधार वाली पार्टी है। इस दृष्टि से अपने अनुस्थापन, कार्य क्षेत्र एवं जनाधार पर कांग्रेस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय पार्टी बनी हुई है।

जनता पार्टी

लगभग 30 वर्षों तक कांग्रेस की प्रमुखता के बाद मार्च 1977 के लोक सभा चुनावों में पहली बार पाँच पार्टियों, कांग्रेस (ओ.) भारतीय लोकदल, जनसंघ, समाजवादी पार्टी और कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी तथा कुछ अन्य असंतुष्ट कांग्रेसियों ने एकजुट होकर संयुक्त रूप से चुनाव लड़ कर कांग्रेस को पराजित किया। 1975 में राष्ट्रीय आपातकालीन घोषणा, लोकतांत्रिक अधिकारों का दमन और विभिन्न विरोधी राजनीतिक पार्टियों के नेताओं की गिरफ्तारी ने, अपने अस्तित्व के रक्षार्थ इन घटकों का उनके लिए एक होना आवश्यक बना दिया।

गठबंधन के रूप में चुनाव जीतने तथा गैर-कांग्रेसी दलों की एकता सुदृढ़ीकरण की आवश्यकता को अनुभव कर इन उपर्युक्त पार्टियों ने स्वयं को एक पार्टी में विलय करने का निर्णय लिया। परिणामस्वरूप, 1 मई 1977 को कांग्रेस (ओ.), भारतीय लोकदल, जनसंघ, समाजवादी पार्टी, कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी और कुछ पूर्व कांग्रेसी जिन्होंने आपातकाल की घोषणा के समय कांग्रेस छोड़ दी थी, के विलय के साथ जनता पार्टी का जन्म हुआ।

विभिन्न पार्टियों का मिश्रण होने के नाते, जिनमें से कुछ की विचारधारा बिल्कुल परस्पर विरोधी थी, जनता पार्टी के कार्यक्रमों का मिश्रित तथा सभी घटकों को संतुष्ट करने के लिए व्यावहारिक होना अनिवार्य था। साथ ही एक अन्य तथ्य भी था कि 1977 के चुनावों में कांग्रेस के विरुद्ध अधिकांश समर्थन उत्तर भारत से प्राप्त हुआ था और वह भी विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों से इस कारण जनता पार्टी के कार्यक्रमों का झुकाव कृषि वर्गों की ओर था। कुछ पार्टियों का जनता पार्टी में विलय के बाद भी यह मानना था कि जनता पार्टी की जीत में उनका योगदान दूसरों की तुलना में अधिक था। इसलिए वे सत्ता में अधिक भागीदारी के अधिकारी थे। प्रत्येक घटक अपना सामाजिक आधार मज़बूत करने के लिए चिंतित था। इस प्रकार विलय के बावजूद

जनता पार्टी के विभिन्न घटक गठबंधन में स्वतंत्र भागीदार के रूप में कार्य करते रहे। अनेक घटकों के बीच मतभेद विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों तक बढ़ गए। जनता पार्टी अपने विभिन्न दलों और समूहों के विरोधी हितों को नियमित एवं समन्वित करने में असफल रही। अंततः, यह खुले विभाजन की ओर बढ़ती चली गई और तीन वर्षों से भी कम समय में, जुलाई 1979 में पार्टी दो भागों में बँट गई। पुराने भारतीय लोकदल और समाजवादी पार्टी के अधिकांश सदस्य दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर जनता पार्टी से बाहर आ गए और एक नया दल 'लोकदल' बना लिया। दोहरी सदस्यता के मुद्दे का अर्थ था कि क्या जनता पार्टी का कोई सदस्य किसी दूसरे राजनीतिक संगठन का सदस्य हो सकता है? यह प्रश्न विशेषकर पूर्व जनसंघ के सदस्यों के संदर्भ में उठाया गया था जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य भी थे, जिसे वे सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन मानते थे न कि राजनीतिक संगठन। जैसा कि पहले बताया गया है कि मतभेद कई प्रकार के थे। इस विभाजन के परिणामस्वरूप जनता पार्टी की सरकार गिर गई। कांग्रेस के सहयोग से लोकदल ने नई सरकार बनाई लेकिन यह गठजोड़ छः महीने से अधिक नहीं चल सका और अंततः 1980 में, लोक सभा के नए चुनाव करवाए गए।

भारत की जनता ने प्रत्यक्षतः स्वयं को जनता पार्टी द्वारा छला हुआ अनुभव किया और इसीलिए 1980 के मध्यावधि चुनावों में मतदाताओं ने जनता पार्टी और लोकदल दोनों के विरूद्ध मतदान किया। इससे जहाँ एक ओर कांग्रेस पुनः सत्ता में आ गई, वहीं दूसरी ओर, जनता पार्टी में मनमुटाव बढ़ गया। इस प्रकार चुनावों के तुरंत पश्चात् जनता पार्टी में एक और विभाजन हुआ। पूर्व जनसंघ के अधिकांश सदस्यों ने कुछ अन्य लोगों के साथ जनता पार्टी छोड़ कर भारतीय जनता पार्टी बना ली।

जनता दल

1980 और 1984 के दो आम चुनाव हार जाने के पश्चात् गैर-कांग्रेसी पार्टियों के कुछ नेताओं ने एक बार फिर विपक्षीय एकता के प्रयास प्रारंभ किए। परिणामस्वरूप, 11 अक्तूबर 1989 को जनता पार्टी, लोकदल और जन मोर्चा के विलय के साथ 'जनता दल' का जन्म हुआ। 1989 के चुनावों में 'जनता दल' राष्ट्रीय मोर्चा का एक अंग बन गया, जो सात पार्टियों का गठजोड़ था। इससे पूर्व वी. पी. सिंह सहित कुछ कांग्रेसी भ्रष्टाचार के मुद्दे पर कांग्रेस छोड़ चुके थे। वे भी 'राष्ट्रीय मोर्चा' का अंग बन गए। नवंबर 1989 के चुनावों के बाद राष्ट्रीय मोर्चा ने भाजपा और सी.पी.आई.(एम.) के बाहरी समर्थन के साथ सरकार बनाई।

शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा का गठन, किसी विचारधारा अथवा कार्यक्रम के प्रति सकारात्मक प्रतिबद्धता के बिना, कांग्रेस को पराजित करने की नकारात्मक सोच थी। राष्ट्रीय मोर्चा और जनता दल के सत्ता में आने के साथ ही उनमें गुटीय दबाव एवं खिंचाव उभर कर सामने आने लगे। नवंबर 1980 में जनता दल के अनेक सदस्यों ने दल छोड़कर समाजवादी जनता पार्टी का गठन किया। अगस्त 1992 में जनता दल (अजीत) बनाने के लिए अजीत सिंह ने अपने समर्थकों सहित जनता दल को छोड़ दिया। 21 जून 1994 को सदस्यों के एक और समूह ने जनता दल छोड़ कर समता पार्टी बना ली। इस प्रकार नवंबर 1995 तक जनता दल काफी क्षीण हो गया। फिर भी यह राष्ट्रीय पार्टी बना रहा और कर्नाटक तथा बिहार के दो राज्यों में सत्तारूढ़ दल रहा।

1996 के चुनावों में किसी भी पार्टी को बहुमत नहीं मिला। भारतीय जनता पार्टी अकेली बड़ी पार्टी के रूप में उभरी परंतु दूसरे दलों का समर्थन प्राप्त

नहीं कर सकी। इस कारण यह 13 दिन से अधिक सत्ता में नहीं रह सकी। एक बार फिर जनता दल को कांग्रेस के समर्थन के बल पर संयुक्त सरकार का नेतृत्व करने का अवसर मिला। इस प्रकार से बनी सरकार को संयुक्त मोर्चा की सरकार कहा जाता था जिसका नेतृत्व क्रमशः एच.डी. देवगोड़ा एवं आई. के. गुजराल ने किया। लेकिन संयुक्त मोर्चा की सरकार भी एक वर्ष से अधिक नहीं चल सकी।

संयुक्त मोर्चा सरकार के पतन से पहले 1997 में एक बार फिर जनता दल में विभाजन हुआ और राष्ट्रीय जनता दल बनाया गया। परंतु यह विभाजन प्रक्रियाओं का अंत नहीं था। 1998 में एक बार फिर इसका विभाजन हुआ और बीजू जनता दल बनाया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक विभाजन ने जनता दल को काफी कमजोर कर दिया। कुल मिला कर, राष्ट्रीय जनता दल और समाजवादी पार्टी जैसे अंश क्षेत्रीय पार्टियाँ बन चुके हैं। जनता दल (एस.) और जनतादल (यू.), दोनों गुट अपनी राष्ट्रीय पार्टी होने का स्तर बचाए रखने में समर्थ रहे हैं।

जनता दल में हुए लगभग सभी विभाजन प्राथमिक रूप से किसी वैचारिक मतभेद की अपेक्षा वैयक्तिक कारणों से हुए। विभिन्न अलग हुई पार्टियों — जनता दल, राष्ट्रीय जनतादल, समाजवादी पार्टी, इत्यादि का सामाजिक आधार एकसा है जो पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों के समर्थक हैं। ये सभी पार्टियाँ समाजवादी दृष्टिकोण शक्ति के हस्तांतरण और विकेंद्रीकरण, ग्रामीण पुनर्निर्माण, पंथनिरपेक्षता और पिछड़ी जातियों को न्याय दिलाने के प्रति प्रतिबद्ध हैं। हालाँकि इनमें से कोई भी अपने आधार को न तो विस्तृत कर सका और न ही सकारात्मक संरचना बना सका। जनता दल के सभी घटक क्षेत्रीय जातीय आधार पर निर्भर हैं तथा उनमें व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व है। जनता दल के इन गुटों में से प्रत्येक का कुछ राज्यों और क्षेत्रों जैसे — बिहार, उड़ीसा, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश इत्यादि, में महत्त्वपूर्ण जनाधार है। उन्हें एक करने के सभी प्रयास वैयक्तिक झगड़ों के कारण विफल हो रहे हैं।

भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना अप्रैल 1980 में जनता पार्टी में दूसरे विभाजन के फलस्वरूप हुई। जैसा कि पहले वर्णन किया गया है कि भारतीय जनता पार्टी के सदस्य अधिकांशतः पूर्व-भारतीय जनसंघ के सदस्य थे। भारतीय जनसंघ की स्थापना डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में 21 अक्तूबर 1951 में हुई थी। जनसंघ की स्थापना का उद्देश्य भारत को 'एक देश, एक राष्ट्र, एक संस्कृति और कानून का शासन' के चार आधारभूत सिद्धांतों एवं धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप आधुनिक एवं लोकतांत्रिक समाज का पुनर्निर्माण करना था।

1951 से 1977 तक भारतीय जनसंघ राष्ट्रीय पार्टी बनी रही परंतु मूलतः उत्तर भारत के शहरी क्षेत्रों में ही केंद्रित थीं। 1974 में जनसंघ जय प्रकाश नारायण के आंदोलन के समर्थन में खड़ी हुई, जो मूलतः कांग्रेस-विरोधी, भ्रष्टाचार-विरोधी और सुधार के लिए आंदोलन था। पार्टी ने 1975 में आंतरिक आपातकाल की घोषणा का खुल कर विरोध भी किया। अंत में अन्य मुख्य गैर-कांग्रेसी पार्टियों के साथ हाथ मिला कर भारतीय जनसंघ, अप्रैल-मई 1977 को बनी जनता पार्टी में अपना विलय कर, इसका एक भाग बन गई। जैसा कि पहले वर्णित किया गया है कि प्रारंभ से ही जनता पार्टी में विभिन्न मुद्दों पर मतभेद हो गए थे। इन मुद्दों में से एक दोहरी सदस्यता का मुद्दा था। जनता पार्टी के कुछ घटकों को पूर्ववर्ती जनसंघ के सदस्यों का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सदस्य बने रहने पर

आपत्ति थी। फलस्वरूप, कुछ समाजवादी सदस्यों ने जनता पार्टी छोड़ कर लोकदल बनाने तथा 1980 में जनता पार्टी की हार के बाद अधिकांश पूर्व जनसंघ के सदस्यों ने जनता पार्टी छोड़ कर भारतीय जनता पार्टी बनाने का निर्णय ले लिया। इस प्रकार, भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) को दो भिन्न विरासतें मिलीं — एक पूर्ववर्ती जनसंघ की और दूसरे जनता पार्टी की।

दोहरी विरासत और परिवर्तित वातावरण के दृष्टिगत प्रारंभ में भाजपा ने स्वयं को भारतीय जनसंघ से विभिन्न रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसलिए जहाँ इसने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को दोहरी सदस्यता की अनुमति दी, वहीं इसने गांधीवादी समाजवाद को अपनी नीति घोषित किया। वस्तुतः भाजपा का कार्यक्रम अस्पष्ट था। इसने कृषि और उद्योग के विकास, टैक्सों में कटौती, नागरिकों के काम के अधिकार को मौलिक अधिकार मानना, नौकरियों की गारंटी, सेवा योजना प्रारंभ करना और वृद्धों के लिए पेन्शन इत्यादि पर समान बल दिया। भाजपा ने समय के साथ गांधी के समाजवाद को उदार स्वदेशी में पविर्तित कर दिया। परंतु चुनावी घोषणा पत्रों और जन सभाओं में भाजपा नेताओं ने कांग्रेस की भाँति प्रत्येक के लिए कुछ न कुछ देने का वायदा किया। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार के एक वरिष्ठ भागीदार होने के नाते भाजपा की नीतियाँ, इसके उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के प्रति प्रतिबद्धता को स्पष्ट दर्शाती हैं। सामाजिक क्षेत्र में भी भाजपा सभी वर्गों के लिए न्याय का वायदा करती है। इसने जातीय आधार पर आरक्षण के सिद्धांत को तथा लोक सभा और राज्य की विधान सभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित करना स्वीकार कर लिया है। भाजपा की विचारधारा का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू सांस्कृतिक राष्ट्रीयता है। इसी कारण, कुछ पर्यवेक्षक भाजपा को प्रतिक्रियावादी, सांप्रदायिक और हिंदू पार्टी बताते हैं। कुछ अन्य अनुभव करते हैं कि चुनावी मजबूरी के कारण भाजपा ने अपनी वैचारिक समरूपता का त्याग कर दिया है। परंतु अब भी भाजपा एक राष्ट्र और एक संस्कृति के विचार के प्रति कटिबद्ध है। यह कांग्रेस सरकार द्वारा अपनाए गए अल्पसंख्यकवाद की नीतियों की आलोचना करती है। यह छद्म पंथनिरपेक्षता के प्रति आलोचना करने में संकोच नहीं करती है। कुछ पर्यवेक्षक मानते हैं कि एक ओर धार्मिक आधार को बनाए रखने तथा दूसरी ओर अपने चुनावी आधार को बढ़ाने की इच्छा से भाजपा की नीतियाँ और कार्यक्रम निरर्थक बने प्रतीत होते हैं।

चुनावी समर्थन के आधार पर भाजपा अपनी पूर्ववर्ती पार्टी भारतीय जनसंघ की भाँति हिंदी भाषी क्षेत्रों, गुजरात और महाराष्ट्र में व्यापक तथा मज़बूत जनाधार रखती है। 1989 से यह अपना आधार दक्षिण भारत में भी बढ़ाने के प्रयास कर रही है। यह विशेषतः कर्नाटक में सफल रही है। सामाजिक आधार की दृष्टि से भाजपा के परंपरागत वोट ऊँची जातियों, शहरी और ग्रामीण क्षेत्र के छोटे और मध्यम वर्ग के व्यापारियों एवं दुकानदारों तथा भारतीय मध्यम वर्ग के एक भाग से आते रहे हैं। बाद में भाजपा ने अन्य पिछड़ी जातियों में भी अपनी पैठ बनाई है।

1980 में अपने गठन के समय से ही भाजपा अपने मत प्रतिशत में वृद्धि करती आ रही है। दिसंबर 1984 के संसदीय चुनावों में पार्टी 7.72 प्रतिशत मत प्राप्त कर केवल दो ही स्थान प्राप्त कर सकी। 1989 के लोक सभा चुनावों में भाजपा का मत प्रतिशत 11.59 प्रतिशत तक पहुँचा और उसने लोक सभा में 88 स्थान प्राप्त किए। पर्यवेक्षकों के अनुसार भाजपा का यह आकस्मिक उत्थान, विशेषतः

सीटों की संख्या के मामले में, तीन कारणों से हुआ: (i) कांग्रेस विरोधी लहर-विशेषत: उत्तर भारत में; (ii) देश में सांप्रदायिक राजनीति का बढ़ना; और (iii) अन्य राजनीतिक दलों के साथ सीटों का तालमेल। 1991 के लोक सभा चुनावों में भाजपा की शक्ति 20.9 प्रतिशत मत प्राप्त कर 122 सीटों तक बढ़ गई। 1996 के लौंक सभा चुनावों में भाजपा 161 सीट जीत कर सबसे बड़ी एकल पार्टी के रूप में उभरी। तत्पश्चात् 1998 में यह 25.5 प्रतिशत मत प्राप्त कर 180 स्थानों पर जीती। 1999 में यह राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) के एक भागीदार के रूप में चुनाव लड़ी और 23 प्रतिशत मत प्राप्त कर 182 स्थानों पर विजयी रही।

इस प्रकार भाजपा एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय दल के रूप में उभरी है जिसकी तुलना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से की जा सकती है। परंतु इसका जनाधार संपूर्ण भारत में फैले होने पर भी कुछ विशेष क्षेत्रों तक सीमित है। पार्टी के भीतर भी वैचारिक स्थिति कई मामलों में अस्पष्ट पहलुओं पर विशेषकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक है। आर्थिक कार्यक्रमों में यह कांग्रेस की भाँति मध्यमार्गी तथा उपयोगितावादी पार्टी बन चुकी है।

साम्यवादी दल

वामपंथी विचारधारा का स्पष्ट प्रतिनिधित्व भारत में दो राष्ट्रीय दल — सी.पी.आई. (कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया) और सी.पी.आई.(एम.) (कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट) कर रहे हैं। इनका उद्गम, अन्य वामपंथी दलों की भाँति मार्क्सवाद के सिद्धांतों पर आधारित है, जिसका लक्ष्य समाजवाद की स्थापना है। 1964 में वैचारिक मतभेद के कारण सी.पी.आई. का विभाजन हुआ और बाहर आने वाले गुट ने कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट) का गठन किया।

भारतीय साम्यवादी दल (सी.पी.आई.) की स्थापना 1925 में उन लोगों द्वारा की गई जो मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हो चुके थे तथा जो पहले से ही क्रांतिकारी गतिविधियों में संलग्न थे। वास्तव में, उस समय वे ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन का दमन झेल रहे थे। उनका ग्रेट ब्रिटेन की साम्यवादी पार्टी और अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन से भी निकट का संबंध था।

बीसवें दशक के उत्तरार्द्ध और तीसरे दशक के प्रारंभ में, साम्यवादी गतिविधियों का मुख्य क्षेत्र मज़दूर संघों द्वारा उपलब्ध कराया गया जिसमें उसे निश्चित सफलता प्राप्त हुई। दूसरा क्षेत्र, जहाँ सी.पी. आई. अपना जनाधार बढ़ाने में सफल रही, कामगार और किसान पार्टियों ने उपलब्ध कराया। जैसे ही मज़दूर आंदोलन को समर्थन मिला, वैसे ही इन दलों की गतिविधियाँ सशक्त हुई। 1930 के दशक के दौरान पार्टी ने ऊपरी रूप से संयुक्त मोर्चा के चातुर्य को राष्ट्रीय आंदोलन के सहयोग से अपनाया। वामपंथी कांग्रेस में सम्मिलित हुए और शीघ्र ही इसने समाजवादी संगठन — कांग्रेस समाजवादी पार्टी का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। हालाँकि उन्हें 1939 में दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर कांग्रेस से निष्कसित कर दिया गया। कांग्रेस से अंतिम विच्छेद सोवियत संघ पर नाज़ी हमले के कारण हुआ। इस समय सी. पी.आई. ने दूसरे विश्व युद्ध को फासीवाद और नाजीवाद के विरूद्ध युद्ध मान कर ब्रिटिश सरकार को समर्थन एवं सहयोग दिया जबकि कांग्रेस भारत छोड़ो आंदोलन को शुरू करने में जुटी थी।

स्वतंत्रता के बाद सी.पी.आई. में स्वतंत्र भारत की राजनीतिक व्यवस्था के आकलन के आधार पर दो गुट उभरे। एक गुट का मत था कि भारत की स्वतंत्रता वास्तविक नहीं थी। यह एक प्रकार से बदलते हुए साम्राज्यवादी ढाँचे में शक्ति का हस्तांतरण था। इसलिए सी.पी.आई. के नेता संघर्ष हेतु कामगारों

और किसानों से गठबंधन की अपेक्षा कर रहे थे। इसे निम्न स्तर पर संयुक्त मोर्चा का एक कौशल कहा गया। यह दिशा, उस समय के अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन के नेता, रूस द्वारा दिखाई गई थी। दूसरे समूह का विचार था कि शक्ति हस्तांतरण वास्तविक था इसलिए नेहरू सरकार को, राष्ट्रीय ताकतों के गठबंधन का एक भाग होने के नाते, सहयोग देने की आवश्यकता थी। शीघ्र ही सोवियत स्थिति में परिवर्तन हुआ और सी.पी.आई. को जोखिम भरे कौशल को बंद करने की सलाह दी गई और इसके स्थान पर मध्यमवर्गीय लोगों के साथ सांमतवाद और साम्राज्यवाद विरोधी विशाल मोर्चा बनाने के लिए कार्य करने को कहा गया। इस आंदोलन ने सांविधानिक साम्यवाद की गति को दिशा दी।

'सांविधानिक साम्यवाद' का अर्थ है — साम्यवादियों द्वारा परंपरागत क्रांति के माध्यम से शक्ति हथियाने की बजाय चुनावों के माध्यम से शक्ति प्राप्त करना। इस प्रकार पहले आम चुनावों से ही सी.पी.आई. ने बहुदलीय व्यवस्था में चुनाव लड़ने प्रारंभ किए। यह इस तथ्य से प्रोत्साहित हुई कि उस समय की 'एक दल प्रधान व्यवस्था' में दूसरी विपक्षी पार्टियों की तुलना में अधिक समर्थन मिला। 1957 में एक ऐतिहासिक घटना घटी जब द्वितीय आम चुनावों में साम्यवादी पार्टी ने केरल में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर सरकार बनाई। इसने शांतिपूर्ण ढंग से सत्ता पाने के अवसरों को स्पष्ट किया। परंतु 1959 में केंद्र सरकार ने केरल की साम्यवादी सरकार को बहुमत प्राप्त होते हुए भी भंग कर दिया। इसने सुधारवादी तत्वों को यह कहने का अवसर दिया कि वर्तमान व्यवस्था में समाजवादी सुधार इतने सरल नहीं हैं। इसी समय, भारत और साम्यवादी चीन के बीच विवाद उभरने लगा जिसके परिणामस्वरूप 1962 का भारत-चीन युद्ध हुआ। इस युद्ध के संबंध में सी.पी.आई. के दोनों गुटों की भिन्न-भिन्न व्याख्या थी। ज़बकि सोवियत समर्थक समूह ने स्पष्ट रूप से चीन का विरोध किया तो दूसरे समूह ने, जो वास्तव में चीन समर्थक नहीं था, भारत और चीन दोनों को विवाद के लिए दोषी ठहराया। इन सभी कारकों के मिलने से 1964 में पार्टी विभाजन की ओर बढ़ी जब अति सुधारवादी गुट सी.पी.आई. से बाहर आ गया और स्वयं को भारत की वास्तविक साम्यवादी पार्टी मानते हुए सी.पी.आई.(एम.) का गठन किया।

भारतीय साम्यवादी पार्टी

1964 के विभाजन के पश्चात् सी.पी.आई. को सोवियत संघ का अनुगमन करने में कोई कठिनाई नहीं थी। फलस्वरूप सी.पी.आई. ने कांग्रेस में प्रगतिशील राष्ट्रीय वर्ग से तालमेल करना स्वीकार किया, जो मध्यमवर्गीय राष्ट्रवाद के मुख्य वाहक हैं।

इसी संदर्भ में सी.पी.आई. ने नेहरू सरकार का आकलन करना प्रारंभ किया और बाद में इंदिरा गांधी और उसके समर्थकों को सहयोग दिया। यह 1977 तक कांग्रेस की सहयोगी रही। तत्पश्चात् भारतीय साम्यवादी दल में कांग्रेस विरोधी विचार पनपने लगे। सांप्रदायिकता के मुद्दे पर सी.पी.आई. भाजपा की कटु आलोचक बन चुकी है। 1989 से सी.पी.आई. गैर-कांग्रेसी और गैर-भाजपाई वामपंथी और लोकतांत्रिक मोर्चे के सहयोगी के रूप में चुनाव लड़ती रही है। राष्ट्रीय लोकतंत्र के लक्ष्य को पाने के लिए प्रयासरत सी.पी.आई. 1996 में केंद्र में मिली-जुली सरकार में सम्मिलित होने की हद तक चली गई।

अपने कार्यक्रम में पार्टी सांप्रदायिक सद्भाव, पंथनिरपेक्षता तथा अन्य गतिविधियों के लिए धर्मस्थलों के दुरुपयोग पर प्रतिबंध की समर्थक है। एक नई और न्यायसंगत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के

सृजन, एकाधिकार वाले एवं विशाल व्यापार घरानों को रोकने अर्थात् दबाने, विदेशी व्यापार पर नियंत्रण करने, लघु एवं कुटीर उद्योगों तथा शिल्पकारों को बचाने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत करने, खाद्यान्नों के थोक व्यापार के सरकारी अधिग्रहण, फैक्ट्री मज़दूरों तथा अन्य असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को आवश्यकता अनुसार वेतन देने, सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था लागू करने तथा फैक्ट्रियों में तालाबंदी को रोकने, सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों के प्रबंधन में मज़दूरों की प्रभावी प्रतिभागिता, फसल बीमा योजना लागू करवाने तथा छोटे किसानों के ऋण माफ करने, क्रांतिकारी भूमि सुधार एवं कृषि मज़दूरों को उचित वेतन देने जैसे कार्यों के प्रति सी.पी.आई. अपनी वचनबद्धता घोषित करती है।

विदेश नीति के संदर्भ में सी.पी.आई. गुटनिरपेक्षता, साम्राज्यवाद विरोधी तथा पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों में सुधार की पक्षधर है। अमेरिकी साम्राज्यवाद की निरंतर बढ़त को रोकने हेतु सी.पी. आई. गुटनिरपेक्षता की नीति को मज़बूत करने पर बल देती है।

सी.पी.आई.(एम.)

सी.पी.आई.(एम.) के विचार में सी.पी.आई. वह पार्टी है जो लेनिन द्वारा दिखाए गए रास्ते से हट चुकी है और जिसने मार्क्सवाद को नकार दिया है।

सी.पी.आई.(एम.) जन लोकतंत्र को स्थापित करना चाहती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इसने एक 'लोकतांत्रिक' मोर्चा बनाने का प्रयास किया। इस मोर्चे का नेतृत्व कामगारों को देने पर बल दिया गया। कामगरों में मुख्य सहयोगी कृषि मज़दूर और ग्रामीण क्षेत्र के छोटे किसान थे। मध्यम किसान ठोस सहयोगी होंगे और धनाढ्य किसान भी एक सीमा तक मित्र सदस्य हो सकते थे। शहरी और अन्य वर्गों के छोटे मध्यमवर्गीय लोग इसके मित्र सदस्य माने जा सकते हैं। सी.पी.आई.(एम.) का मत है कि सामंत और साम्राज्यवादी विरोधी क्रांति के इकलौते दुश्मन एकाधिकारवादी, बड़े मध्यमवर्गीय लोग और साम्राज्यवादी हैं।

इसके साथ ही साथ सी.पी.आई.(एम.) संसदीय व्यवस्था को भी नहीं नकारती है। इस दृष्टिकोण से 1982 में निरंकुश अधिकारवाद के विरूद्ध एक विशाल मोर्चा बनाने की दिशा में कार्य करने का निर्णय लिया गया जिसमें भारतीय जनता पार्टी को भी सम्मिलित किया गया। यद्यपि इसने यह भी दोहराया कि वह अपनी शक्ति वामपंथी और लोकतांत्रिक एकता के निर्माण में लगाएगी।

1992 से पार्टी की रणनीति में कुछ परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं। किंतु मूल विचारधारा के प्रश्नों पर पार्टी की स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके कांग्रेस विरोधी रवैये में कोई नरमी नही आई, परंतु इसका भारतीय जनता पार्टी पर प्रहार अधिक तीव्र हो गया है।

आर्थिक मुद्दों पर पार्टी के चुनावी घोषणा पत्रों में भारत को आर्थिक मामलों में आत्म-निर्भर बनने तथा विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की वैसाखियों से बचने पर बल दिया है। सी.पी.आई.(एम.) के अनुसार इन के कारण भारत न केवल अपनी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण खो रहा है अपितु हमारी घरेलू और विदेशी नीतियाँ भी उनके द्वारा ढाली जा रही हैं। सी.पी.आई.(एम.) असमानता और बेरोज़गारी के बढ़ने और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का आलोचक है। यह भूमि सुधार लागू करने, न्यूनतम वेतन देने, नौकरियों के अवसर प्रदान करने और इन सबके लिए विकास हेतु पूँजीवादी मार्ग को मिटाने का पक्षधर है। यह कपड़े और जूट उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, बड़ी फैक्ट्रियों के सरकारी अधिग्रहण, असंगठित मज़दूरों की सुरक्षा, खेतीहर मज़दूरों के लिए पर्याप्त वेतन और काम के अधिकार के लिए समर्पित है।

आलोचकों ने सी.पी.आई.(एम.) की एक सत्तारूढ़ पार्टी के रूप में कुछ नीतियों, विशेषकर पश्चिम बंगाल में, इसकी आर्थिक नीतियों को विरोधाभासी और कुतर्कपूर्ण बताया है। विरोधाभासी इसलिए है कि पश्चिमी बंगाल में पार्टी ने जिस आर्थिक उदारीकरण को अपनाया है, वह इसके राजनीतिक कार्यक्रम के विपरीत है, तथा कुतर्कपूर्ण इसलिए कि इसने उदारीकरण की नीति को न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया है जबकि सिद्धांत एवं विचारधारा के स्तर पर पार्टी ने इन सिद्धांतों को नकारा है।

दोनों साम्यवादी पार्टियाँ अब 'वामपंथी एकता' विकसित और सुदृढ़ करने के लिए एक जुट हो गई हैं। दोनों पार्टियाँ अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में बोधगम्य परिवर्तन और नव-उपनिवेशवाद का ख़तरा अनुभव करती हैं। 1984 से दोनों पार्टियाँ वाम मोर्चा और संयुक्त मोर्चा के अंग के रूप में चुनाव लड़ती रही हैं। उस मोर्चे में सी.पी.आई.(एम.) प्रमुख है और सी.पी.आई. को दूसरा स्थान प्राप्त है। उनका मुख्य बल इस बात पर है कि भारत को इस समय जिसकी आवश्यकता है वह है राष्ट्रीय पंथनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक एकता। अमेरिका का नया आर्थिक प्रहार और राष्ट्रीय एकता और अखंडता को ख़तरा पहुँचाने वाली ताकतें, उनका का मुख्य लक्ष्य है।

जहाँ तक राज्य की विधान सभाओं का संबंध है, दोनों साम्यवादी दल पश्चिमी बंगाल, केरल और त्रिपुरा में विशेष सफलता प्राप्त कर रहे हैं। इन तीनों राज्यों में ये दोनों पार्टियाँ या तो अकेले या मिलकर अथवा दूसरी पार्टियों से गठजोड़ करके सरकार बनाने में सफल रही हैं। विश्व में पहली बार 1957 में एक साम्यवादी पार्टी ने किसी बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में चुनाव जीत कर सरकार बनाई, जब सी.पी.आई. को केरल में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। पश्चिमी बंगाल में सी.पी.आई.(एम.) के नेतृत्व में वाम मोर्चा लगभग 25 वर्षों से निरंतर सत्ता में है।

जहाँ तक सामाजिक आधार और सदस्यता का संबंध है, दोनों साम्यवादी पार्टियों में मुश्किल से ही कोई अंतर है। वे कामगारों, मध्यम वर्ग और खेतीहर मज़दूरों तथा छोटे किसानों के आधार पर निर्भर करते हैं। दोनों ही अनिवार्यतः मध्यम वर्ग की पार्टियाँ हैं जो युवा पीढ़ी से नए सदस्य बनाने में अक्षम हैं। सी.पी.आई.(एम.) की सत्ता से निकटता ने, विशेषकर पश्चिमी बंगाल में, इसे किसानों में अधिक स्वीकार्य बना दिया है। इसके समर्थकों की संख्या अधिक एवं सुदृढ़ है। इसलिए यह अधिक वोट शक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं। भारतीय साम्यवादी पार्टी के समर्थकों की संख्या छितरी और फैली हुई है। भारतीय साम्यवादी पार्टी (मार्क्सिस्ट) के हिंदी भाषी क्षेत्र में कम समर्थक हैं जबकि ऐसे क्षेत्रों में भारतीय साम्यवादी पार्टी की स्थिति अच्छी है। सघन मतदाता आधार ने भारतीय साम्यवादी पार्टी (मार्क्सिस्ट) को पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा ओर केरल में लोकप्रिय बना दिया है।

बहुजन समाज पार्टी

बहुजन समाज पार्टी (बसपा) राष्ट्रीय पार्टियों में सबसे नई है। 14 अप्रैल 1984 को बनी बहुजन समाज पार्टी दलितों के पुनरोद्धार की अभिव्यक्ति है। लोकतांत्रिक व्यवस्था द्वारा प्रदत अवसरों और अन्य राष्ट्रीय पार्टियों द्वारा दलितों को सामाजिक न्याय दिला पाने में असफल रहने के कारणों से देश के कुछ भागों में इसका उदय धीरे-धीरे हो रहा है। इस प्रकार बहुजन समाज पार्टी स्पष्टतया जातिगत दल है

बहुजन समाज पार्टी का उद्गम अखिल भारतीय पिछड़ी (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जातियाँ) एवं अल्पसंख्यक समुदाय कर्मचारी महासंघ से हुआ जिसकी स्थापना 1978 में कांशी राम ने की थी। पूरे देश में सरकारी कर्मचारियों

के बीच अपना ताना-बाना बुनने के बाद, विशेष कर उत्तरी राज्यों में उसने 1981 में एक और संगठन डी.एस.-4 (दलित, शोषित समाज संघर्ष समिति) चलाया। अंत में 14 अप्रैल 1984 को बहुजन समाज पार्टी की स्थापना हुई। उसका मानना था कि अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, पिछड़ी जातियाँ और अल्पसंख्यक वर्ग देश की जनसंख्या का 85 प्रतिशत भाग हैं और यह संख्या 'बहुजन' बनता है लेकिन ऊँची जातियों का अल्पमत देश पर राज कर रहा है।

इसलिए बहुजन समाज पार्टी की पैनी और स्पष्ट विचाधारा यह है कि दलितों और पीड़ितों को एकजुट किया जाए क्योंकि इन के ज्वालामुखी रूपी विस्फोट को अधिक समय तक नहीं रोका जा सकता और इसे तो एक दिन फटना ही है। पार्टी का मुख्य उद्देश्य दलितों को उनके अधिकारों के विषय में शिक्षित करने वाले निष्ठावान कार्यकर्ताओं को तैयार करना है।

प्रारंभ में बहुजन समाज पार्टी अन्य पार्टियों से अलग चलने वाली पार्टी थी जिसने घोषित किया था कि वह किसी अन्य पार्टी के साथ कोई संबंध नहीं रखेगी। इसका उद्देश्य दलितों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन प्रारंभ करना था। बाद में इसकी रणनीति में कुछ परिवर्तन हुए और उसका उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी के साथ गठजोड़ और सत्ता में भागीदारी 1995, 1997 तथा 2002 में हुई और 1996 में कांग्रेस के साथ चुनाव-पूर्व गठजोड़ भी हुआ। पार्टी ने समाजवादी पार्टी के साथ भी समझौता किया। बहुजन समाज पार्टी की रणनीति में परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए समीक्षक कहते है कि यह पिछड़ी जातियों से आवश्यक समर्थन जुटा पाने में असमर्थ थी क्योंकि पिछड़ी जातियों और दलितों में आपस में नहीं बनती थी। वास्तव में ग्रामीण भारत में पिछड़ों और दलितों के बीच सक्रिय विरोध ने पार्टी का आधार नहीं बढ़ने दिया। पिछड़े वर्ग जो हरित क्रांति और भूमि सुधार के बाद भूपति हो गए और वे दलित जिनमें से कई ग्रामीण भारत में भूमि हीन ही रहे हैं अपने-अपने हितों के कारण संघर्षरत रहते थे। दूसरी ओर, ऊँची जातियों और दलितों के बीच सक्रिय विरोध अब उतना तीव्र नहीं रहा जितना पिछले दो तीन दशकों में भू-स्वामित्व के बदलते परिप्रेक्ष्य में पिछड़ों और दलितों के बीच था।

एक दशक से भी कम समय में बहुजन समाज पार्टी, कम से कम हिंदी भाषी राज्यों में इस सीमा तक राजनीतिक शक्ति बन गई है कि यह कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी और जनता दल जैसी बड़ी पार्टियों के चुनावी भाग्य को प्रभावित करने लगी है। इसके पश्चात् बहुजन समाज पार्टी विशेषतः उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, पंजाब और मध्य प्रदेश में निरंतर लाभ की स्थिति में उभर रही है। पार्टी को अपने प्रयासों में अनेक गंभीर रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। जबकि बहुजन समाज का दावा एक दलित नेतृत्व के दायरे में केवल ऊँची जातियों को छोड़कर बाकी सब को एकत्रित करने की इच्छा की ओर इंगित करता है। परंतु इसकी विशेष अपील दलितों के प्रति रहती है जो भारत की कुल मत संख्या के 16 प्रतिशत से कुछ ही अधिक है। बहुजन समाज पार्टी का उत्तर भारत में सफलता के अतिरिक्त, देश के अन्य भागों में कोई विशेष समर्थन नहीं है। दक्षिण भारत में विशेषतः अन्य दलित संस्थाएँ भी हैं जिन्होंने अपना स्थान बना लिया है। इसलिए बहुजन समाज पार्टी का देश पर शासन करने का स्वप्न शायद कल्पना ही रह जाए, सिवाय मिली-जुली सरकार के एक घटक के रूप में, परंतु इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि निकट भविष्य में दलित शक्ति भारतीय राजनीति में निश्चित रूप से एक भूमिका अवश्य निभाएगी।

राज्य स्तरीय राजनीतिक दल

जैसा कि हम पहले अध्ययन कर चुके हैं कि राष्ट्रीय दलों के साथ-साथ देश में अनेक क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल भी हैं। इनमें से कुछ चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित मत संख्या के आधार पर मान्यता प्राप्त राज्य स्तरीय दल हैं। इसके साथ ही अनेक दल मतदाताओं के आवश्यक समर्थन की कमी के कारण गैर-मान्यता प्राप्त राज्य स्तरीय दल हैं। साधारणतया राज्य स्तरीय दल वे दल है जो अनन्य रूप से एक राज्य के सीमित भौगोलिक क्षेत्र में कार्य करते हैं अथवा जो संकीर्ण एवं न्यूनतम सामाजिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में ऐसे राज्य स्तरीय दलों को मुख्यतः चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

प्रथम श्रेणी में स्थापित राज्य स्तरीय पार्टियाँ हैं जिनका आधार सांस्कृतिक अथवा प्रजातीय है। ऐसी पार्टियाँ क्षेत्रीय हैं जिनकी रुचि एक या दो राज्यों में, संस्कृति, भाषा अथवा जातीयता के नाम पर, सत्ता हथियाने में होती है। इनके उदाहरण हैं : ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम और द्रविड़ मुनेत्र कषगम्, शिव सेना, असम गण परिषद्, नेशनल कांफ्रेंस, इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग, झारखंड मुक्ति मोर्चा, मणिपुर पीपुल्स पार्टी, शिरोमणी अकाली दल, सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट, तेलगू देशम इत्यादि।

दूसरी श्रेणी में वे पार्टियाँ आती हैं जो राष्ट्रीय पार्टियों के विभाजन के फलस्वरूप बनीं। इनमें से अधिकांश पार्टियाँ 1967 के बाद कांग्रेस से बाहर आए नेताओं द्वारा बनाई गईं। बाद में, जनता पार्टी एवं अन्य पार्टियों के विघटन के बाद कुछ अन्य पार्टियाँ अस्तित्व में आईं जैसे — बीजू जनता दल, केरल कांग्रेस, राष्ट्रीय जनता दल, समाजवादी जनता पार्टी, तृणमूल कांग्रेस इत्यादि।

तीसरी श्रेणी वे पार्टियाँ हैं जो विचारधारा और कार्यक्रम के आधार पर पंथनिरपेक्ष राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखती हैं तथा अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने का प्रयास करती हैं। परंतु उन्हें राष्ट्रीय आधार नहीं मिल पाया। इस कारण मतदाताओं के समर्थन के आधार पर इन्हें केवल राज्य स्तरीय पार्टी के रूप में मान्यता प्राप्त हो जाती है। इन पार्टियों में अखिल भारतीय फॉरवर्ड ब्लॉक, इंडियन नेशनल लोकदल, नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, समाजवादी पार्टी, इत्यादि।

चौथी श्रेणी उन पार्टियों की है जिन्हें वास्तव में वैयक्तिक पार्टी कहा जा सकता है। ऐसी पार्टियाँ व्यक्तिगत आधार पर नेताओं द्वारा बनाई जाती हैं जिनमें से कई राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय पार्टियों से बाहर आकर अपने व्यक्तिगत जनाधार अथवा क्षेत्र विशेष में चमत्कार के आधार पर बन जाती हैं। सामान्यतः ऐसी पार्टियाँ अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह पातीं। ये या तो नेता के व्यक्तित्व के लुप्त होने के साथ समाप्त हो जाती हैं या किसी दूसरी राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तरीय पार्टी के साथ सत्ता में कुछ हिस्सेदारी के लिए विलीन हो जाती हैं। ऐसी कुछ पार्टियाँ हैं — हिमाचल विकास कांग्रेस, हरियाणा विकास पार्टी, लोक शक्ति इत्यादि।

राज्य स्तरीय पार्टियों के अतिरिक्त कुछ गैर-मान्यता प्राप्त पंजीकृत पार्टियाँ भी हैं अर्थात् ऐसी पार्टियाँ जो चुनाव अयोग के पास पंजीकृत तो है परंतु जिन्हें आवश्यक चुनावी आधार की कमी के कारण चुनाव चिह्न आरक्षण की दृष्टि से मान्यता नहीं मिल पाती। ऐसी पार्टियों को भी उपरोक्त चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। ऐसी पार्टियों के कुछ उदाहरण हैं —अखिल भारतीय हिंदू महा सभा, अखिल भारतीय जनसंघ, ऑल-इंडिया मुस्लिम फॉरम, अम्बेदकर समाज पार्टी, अन्ना तेलगू देशम

पार्टी, बहुजन क्रांति दल, बहुजन समाज पार्टी (अम्बेदकर), गांधीवादी राष्ट्रीय कांग्रेस, शिरोमणी अकाली दल (मान), तमिल देशिक कछ, एम. जी. आर. अन्ना डी. एम. के., कन्नड़ चलावली वतल पक्ष इत्यादि।

गत 30 वर्षों में कुछ राज्यों में क्षेत्रीय पार्टियाँ काफी महत्त्वपूर्ण बन गई हैं। वास्तव में भारत के कई राज्यों मे सबसे बड़ी गैर-कांग्रेसी राजनीतिक पार्टियाँ केवल एक राज्य तक ही सीमित हैं और अपने राज्य से बाहर उनकी शक्ति ना के बराबर है। इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण पार्टियाँ हैं — तमिलनाडू में ऑल इंडिया अन्ना डी. एम. के. तथा डी. एम. के., आंध्र प्रदेश में तेलगू देशम, पंजाब में अकाली दल, जम्मू-कश्मीर में नेशनल् कांफ्रेंस और असम में असम गण परिषद्। वास्तव में, इन सभी राज्यों में गैर-कांग्रेसी क्षेत्रीय दल 1977 से 1999 के बीच विधान सभा चुनावों में कभी न कभी बहुमत प्राप्त करके सरकार भी बना चुके हैं। एक राज्य तक सीमित ऐसी क्षेत्रीय पार्टीयों की पहचान क्षेत्रीय राष्ट्रीय दृष्टि से भारतीय संघीय व्यवस्था में अपने राज्य के लिए अधिक स्वायत्ता की अपनी इच्छा, राज्य से संबंधित मुद्दों पर केंद्रित होने अथवा किसी धार्मिक अल्पसंख्यक होने के आधार पर की जाती है।

क्षेत्रीय पार्टियों के बढ़ते हुए प्रभाव का एक परिणाम यह हुआ है कि कई बार किसी एक भी राष्ट्रीय दल को लोक सभा में बहुमत नहीं मिल पाया। 1989 से 1999 तक लोक सभा के सभी आम चुनावों में यही स्थिति रही इससे न केवल मिली-जुली सरकारें बनीं परंतु क्षेत्रीय पार्टियों ने सरकार बनाने की प्रक्रिया को प्रभावित भी किया और इसमें सम्मिलित हुई। इसके अच्छे और बुरे दोनों प्रभाव पड़े। अच्छा प्रभाव तो यह हुआ कि क्षेत्रीय पार्टियों ने सत्ता के केंद्रीकरण पर रोक लगाई, संघीय व्यवस्था को सशक्त किया, जनता के विभिन्न वर्गों की क्षेत्रीय और सांस्कृतिक अपेक्षाओं को पूर्ण कर राष्ट्रीय एकीकरण में सहायता दी और अभावग्रस्त एवं उपेक्षितों को सत्ता में भागीदारी दिलाई। बुरा प्रभाव यह है कि वे शासन में अस्थिरता पैदा करती हैं, राष्ट्रीय सरकार के लिए एकता और संबद्धता में कमी, क्षेत्रीय एवं सांप्रदायिक शक्तियों को प्रोत्साहन तथा राजनीति में जाति और धर्म की भूमिका को बढ़ावा देती हैं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में क्षेत्रीय दलों के अच्छे और बुरे, दोनों ही प्रभाव एक स्वाभाविक प्रक्रिया हैं। विस्तृत विविधता वाले देश में, क्षेत्रीय असंतुलन, भाषायी और जातीय समूहों का कुछ क्षेत्रों में केंद्रीकरण के साथ-साथ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण एवं संतुलित विकास के नियोजन की विफलता के कारण क्षेत्रीय पार्टियों का विकास स्वाभाविक है। संघीय व्यवस्था वाले कुछ देशों में, राष्ट्रीय पार्टियाँ अपनी प्रादेशिक या क्षेत्रीय शाखाओं को क्षेत्रीय इच्छाओं व अपेक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने की पर्याप्त स्वायतता देती हैं। भारत में केंद्रीय नियंत्रित राष्ट्रीय पार्टियों में ऐसे लचीलेपन की व्यवस्था नहीं हैं। क्षेत्रीय दलों के फलने-फूलने का यह दूसरा कारण है। कुल मिलाकर क्षेत्रीय दल भारत के संसदीय और संघीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण प्रतिभागी हैं। उनमें से अधिकांश का कोई अलगावादी अथवा पृथकतावादी कार्यक्रम नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है कि सभी क्षेत्रीय दल सांस्कृतिक अथवा क्षेत्र आधारित दल नहीं होते। उन में से कुछ निश्चित रूप से वर्ग एवं विचारधारा पर आधारित हैं। परंतु राजनीति में भूमिका और जनाधार की दृष्टि से विशेष क्षेत्रीय अथवा सामाजिक-सांस्कृतिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दल ही महत्त्वपूर्ण बन पाए हैं। अधिकतर सफल क्षेत्रीय दलों में तमिलनाडु में अखिल भारतीय

अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कणगम् और दविड़ मुनेत्र कणगम्, पंजाब में शिरोमणी अकाली दल, आंध्र प्रदेश में तेलगू देशम पार्टी , जम्मू-कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, उड़ीसा में बीजू जनता दल, केरल में केरल कांग्रेस और मुस्लिम लीग हैं। ये सभी दल कई बार अपने दम पर या दूसरों के साथ मिल कर अपने-अपने राज्यों में सरकारें बना चुके हैं। कुछ राष्ट्रीय दलों की तुलना में उनमें से कुछ की जड़े अधिक गहरी हैं। यही कारण है कि एकल दल की प्रधानता में कमी आने पर कई राज्यों में वास्तविक और प्रभावी विपक्ष तथा कांग्रेस का विकल्प क्षेत्रीय दलों द्वारा ही उपलब्ध करवाया गया है। वे अब केंद्र सरकार में भी किसी एक गठबंधन अथवा मोर्चे का सदस्य होने के नाते सत्ता में भागीदार हैं। कम-से-कम निकट भविष्य में यही प्रक्रिया चलती दिखाई देती है।

अभ्यास

1. भारत के किन्हीं तीन राष्ट्रीय दलों के नाम व चुनाव चिह्न बताइए।
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियाँ और कार्यक्रम संक्षेप में लिखिए।
3. भारतीय जनता पार्टी की नीतियों और कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय राजनीति में बहुजन समाज पार्टी का महत्व बताइए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) राज्य स्तरीय (क्षेत्रीय) दलों की भूमिका
   (ii) जनता दल
   (iii) भारतीय साम्यवादी (मार्किसस्ट)
   (iv) सी.पी.आई. और सी.पी.आई.(एम.)

अध्याय 6

जनमत निर्माण

पिछले दो अध्यायों में आप दो प्रकार के संगठित समूहों — राजनीतिक दलों और हित समूहों के विषय में अध्ययन कर चुके हैं जो सरकारी मशीनरी पर नियंत्रण करके या फिर बाहर से दबाव डाल कर सरकार के निर्णय लेने की शक्ति को नियंत्रित और प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु अंततोगत्वा किसी भी व्यवस्था में सरकारी नीतियाँ, सिद्धांत रूप में, जनसाधारण के हित में बनाई जाती हैं। लोकतंत्रीय प्रणाली में किसी भी सरकार का सत्ता में बने रहना अंतिम रूप में चुनावों में जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति पर निर्भर करता है। इसलिए, सरकारें जनसाधारण की भावनाएँ जानने को उत्सुक रहती हैं, तथा किसी न किसी ढंग से उनको संतुष्ट करने का प्रयास करती हैं। दूसरे शब्दों में, सरकारें किसी एक या कुछ लोगों की राय जानने में कम ही रुचि लेती हैं; उनकी रुचि तो यह होती है कि जनता की उनके प्रति क्या राय है? अत: किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में और विशेषकर लोकतंत्र में प्रक्रिया, निर्णय निर्धारण, उत्तरदायित्व एवं कार्य-शैली में जनमत की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

जैसा कि जनमत शब्द से ही स्पष्ट है कि यह दो शब्दों 'जन' और 'मत' के जोड़ से बना है। 'जन' का अर्थ संयुक्त हित वाले लोगों की समष्टि है। समष्टि में किसी प्रकार के *'संगठन'* का अभाव रहता है और ऐसी समष्टि के लोगों के बीच संबंध केवल उनके संयुक्त हित के आधार पर ही होते हैं। वे कोई समूह नहीं होते। जनता में संयुक्त हित किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा भी आरोपित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, किसी सरकार को यह लग सकता है कि जनता स्थायित्व चाहती है। जनमत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सभी लोगों का मत हो अथवा बहुमत हो। इसलिए *'जन' निश्चित लोगों की संस्था नहीं है।* निश्चय ही यह लोगों का एकत्र अथवा समष्टि है। 'जन' उस दृष्टि से एक काल्पनिक रचना भी हो सकती है। 'मत' मौखिक रूप से अभिव्यक्त मनोभाव है जो किसी हित अथवा महत्त्वपूर्ण विषय पर व्यक्तियों अथवा समूहों के मनोभाव की झलक दर्शाता है। दोनों को मिला कर हम कह सकते है कि संयुक्त हित वाले लोगों की समष्टि (संग्रह) द्वारा अभिव्यक्त मनोभाव जनमत कहलाता है।

'जनमत' शब्द का प्रयोग प्राय: लोगों के उन विचारों के योग या समूह को दर्शाने के लिए किया जाता है जो वे अपने समुदाय के हितों को प्रभावित करने वाले विषयों के संबंध में व्यक्त करते हैं। अत: यह माना गया है कि जनमत सब प्रकार के विरोधी विचारों, विश्वासों, भ्रमों, पूर्वाग्रहों तथा आकांक्षाओं का संचय है। यह संचय अस्पष्ट, असंगत तथा अस्थायी होता है और दिन-प्रतिदिन और सप्ताह प्रति-सप्ताह बदलता रहा है। *लेकिन इस विभिन्नता और अस्पष्टता* के बीच, प्रत्येक वह प्रश्न जो महत्त्वपूर्ण हो जाता है,

उसे स्पष्ट एवं पुष्ट होने के लिए अनेकानेक प्रक्रियाओं से गुज़रना पड़ता है ताकि वह एक निश्चित रूप ग्रहण कर सके।

जनमत : परिभाषा

जैसा कि पहले बताया गया है कि जनमत कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सर्वकालिक हो। यह संबंधित और महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्मित होता है यद्यपि इसके निर्माण की कोई स्वचालित प्रक्रिया अथवा संगठित तरीका नहीं है। समाज में जब कोई मुद्दा उभरता है तो जागरूक लोग उस विषय पर अपने विचार और प्रतिक्रिया देना प्रारंभ कर देते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान कई प्रकार के विचार सामने आ सकते हैं। इनमें कुछ को छोड़ दिया जाता है, कुछ में सुधार लाया जाता है और कुछ पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जिसे साधारणतया जनमत कहा जाता है।

व्यक्ति के विचार भी उसी उपलब्ध जानकारी के आधार पर अथवा उस चर्चा और बहस के आधार पर बनते हैं जो वह अपने निकट के लोगों जैसे — परिवार, पड़ोस, स्कूल, कॉलेज, मित्र समूह, हित समूह, क्लबों अथवा संस्थाओं में करता है। इसी को राजनीतिक विज्ञान में सामाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं और यही एक व्यक्ति को उसके अपने अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक मनोवृत्ति एवं स्थिति स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। ये मनोवृत्तियाँ विषय और उसकी महत्ता के आधार पर मत अथवा विश्वास का रूप ले सकती हैं।

राजनीतिक दल भी जनमत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दल विभिन्न मुद्दों पर सभाएँ, विरोध प्रदर्शन एवं हड़ताल इत्यादि करते हैं। वे एक नीति के पक्ष अथवा विपक्ष में समर्थन जुटाते हैं जिस कारण मुद्दों पर बहस शुरू हो जाती है। संसद और राज्य विधान मंडल के अंदर अथवा बाहर नेताओं के भाषण भी जनमत को प्रभावित करते हैं। वे जनता को सूचित करने के लिए इश्तहार और पर्चे निकालते हैं। क्योंकि राजनीतिक पर्टियों की रुचि तो राजनीतिक शक्ति हथियाने में होती है, इसलिए वे नागरिकों, समाज और राज्य की हर परेशानी की ओर विशेष ध्यान देते हैं। विशेषत: विरोधी दल सरकार के विरूद्ध जनमत बनाने में बहुत सक्रिय रहते हैं। सत्ताधारी दल जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए सरकारी मशीनरी का प्रयोग आसानी से कर सकते हैं। परंतु अलोकप्रिय निर्णय लेने की विवशता और चुनावी वायदे पूरे करने में कठिनाई के कारण सरकार को प्राय: विपरीत जनमत को झेलना पड़ता है।

राजनीतिक दलों के साथ जनमत बनाने में हित समूह सर्वाधिक सक्रिय होते हैं। हित समूहों की सबसे बड़ी चिंता नीति निर्धारण को प्रभावित करना होता है जिसके लिए वे अपने हितों को सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हित के रूप में दर्शाने के लिए जनमत को ढालने का प्रयास करते हैं ताकि सरकार जनहित के नाम पर नीतियाँ निर्धारित कर सके। इसलिए वह जनसंचार (मीडिया) साधनों का प्रयोग, संगोष्ठियाँ और सभाएँ करते हैं ताकि सजग और मुखर वर्ग वही भाषा बोले जो हित समूह चाहते हैं। वर्तमान में कई बार जनसंचार माध्यमों से प्राप्त जानकारी भी जनमत का आधार बनती है। आज व्यक्ति के पास इंटरनेट, रेडियो, टेलिविज़न और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जानकारी का प्रवाह है। यह जानकारी जनमत को आकृति और पुनराकृति प्रदान करती है।

यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि विशेषज्ञों अथवा सजग बुद्धिजीवी वर्ग या जनसंचार माध्यमों से उपलब्ध जानकारी एवं विश्लेषण के आधार पर उभरा जनमत हितों अथवा मूल्यों से मुक्त हो। वस्तुत: आलोचकों का कहना है कि सूचना वास्तव में आँकड़ों अथवा विश्लेषण के छाटने की प्रवृति, पक्षपात, पूर्वाग्रह, निजी मान्यताओं, आदर्शों एवं विचारधाराओं पर आधारित होती है। इसीलिए कहा

जाता है कि जनमत को प्रभावित करने की संभावनाएँ भी बनी रहती हैं। कई बार जनसंचार के साधनों अथवा विशेषज्ञों के प्रभाव से जनता किसी नीति का समर्थन अथवा विरोध, बिना यह जाने करती है कि वह जनसाधारण के हितों के विरूद्ध भी हो सकता है। फिर भी क्योंकि जनमत स्थायी नहीं होता, उसमें परिवर्तन की संभावना होती है — विशेषकर लोकतांत्रिक देशों में जहाँ विभिन्न माध्यमों से जानकारी की उपलब्धि एवं सबके लिए विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होती हैं। इसीलिए सरकारें जनमत के प्रति सजग रहती हैं।

सरकार और जनमत

प्राय: सरकारें चुनाव में प्राप्त जनादेश के आधार पर कार्य करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सरकार के लिए केवल उन नीतियों को लागू करना न्यायोचित है जिसके लिए उसे चुनावी जनादेश मिला हो। जैसा कि आप निर्वाचन और राजनीतिक दलों के अध्यायों में पढ़ चुके हैं कि यद्यपि पार्टियाँ अपने घोषणा पत्र प्रकाशित करती हैं परंतु चुनाव विस्तृत नीतिगत मामलों की अपेक्षा साधारण मुद्दों पर लड़ा जाता है। तीव्र घटनाक्रम और परिवर्तन के समय में, सरकार को चुनाव के दौरान उभरी अनापेक्षित घटनाओं और संकटों से जूझना पड़ता है और सत्तासीन दल केवल पिछले चुनावों के बारे में ही नहीं अपितु वह आगामी चुनावों के प्रति भी पूरी तरह चिंतित रहता है और इसके लिए उसे अपनी छवि बनानी होती है। इस सब को ध्यान में रखते हुए सरकार के लिए जनमत की अवहेलना कर पाना अत्यंत कठिन है। वस्तुत: कुछ विचारकों का मत है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार के सफल संचालन के लिए आवश्यक तीन तत्त्वों में से 'जनमत' एक है और अन्य दो हैं — सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ। वयस्क मताधिकार लोकतांत्रिक प्रतिभागिता की नींव है; प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ लोकतांत्रिक नियुक्तियों और जनमत लोकतांत्रिक संवाद को सुनिश्चित करते हैं।

जनमत को नागरिकों की सामान्य अभिव्यक्ति समझे जाने के कारण सरकार के लिए भी उसे पूर्णतया नकार देना अत्यंत कठिन होता है। यह भी सत्य है कि बहुत बार जनमत तार्किक सोच और विश्लेषण की अपेक्षा लोकप्रियता और भावात्मक विस्फोट का प्रतिरूप होता है। अत: हर बार जनमत के समक्ष झुकना भी अत्यंत कठिन होता है। उदाहरण के लिए युद्ध जैसी अति आपातकालीन स्थिति को छोड़ किसी अन्य परिस्थिति में टैक्स लगाने के पक्ष में जनमत कैसे बनेगा। लेकिन सरकारों को टैक्स तो लगाने ही पड़ते हैं। इसी प्रकार दीर्घकालिक राष्ट्रीय हित, अंतर्राष्ट्रीय वचनबद्धता और शासकीय दक्षता की दृष्टि से प्राय: सरकारों को अलोकप्रिय निर्णय भी लेने पड़ते हैं। इस प्रकार की स्थितियों में भी जनमत इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दबाव में सरकार उत्तरदायी बने रहने का प्रयास करती है और ऐसी नीतियों और निर्णयों की आवश्यकता के संबंध में जनता को समझाने की भरपूर कोशिश भी करती है। भूमंडलीकरण के युग में सरकारें केवल जनमत से ही नहीं, अपितु अंतर्राष्ट्रीय जनमत के प्रति भी चिंतित रहती हैं। गैर-राजनीतिक संस्थाओं, अंतर्राष्ट्रीय जनमत, और राष्ट्रीय सीमाओं से पार मानवाधिकार की सुरक्षा एवं विस्तार, पर्यावरण, नाभिकीय आणविक हथियारों की होड़ का विरोध, जातिगत भेदभाव, बाल-मज़दूरी की रोकथाम, लिंग आधारित न्याय के विस्तार जैसे आंदोलनों के समक्ष सरकार को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है और इसकी विश्वसनीयता दाँव पर लग जाती है। इसलिए सरकार अंतर्राष्ट्रीय जनमत के प्रति भी सचेत रहती है। इसी संदर्भ में भारत में सरकार को अंतर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संस्थाओं जैसे —एमनेस्टी इन्टरनेशनल, ह्यूमन राईट्स

वाच व अन्य संस्थाओं को मानवाधिकार उल्लंघन, सांप्रदायिक हिंसा और जातीय अत्याचार जैसे मुद्दों पर स्पष्टीकरण देने पड़ते हैं।

कभी-कभी सरकारें जनमत को बदलने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करती हैं। भारत में जब सरकार का रेडियों और टेलिविज़न पर एकाधिकार था, तब प्रायः इनका प्रयोग जनमत को अपने पक्ष में बनाने के लिए किया जाता था। यद्यपि संचार क्रांति के वर्तमान युग में, केबल टी.वी., इंटरनेट के आगमन और नागरिकों में अपने अधिकारों के प्रति तथा सूचना के अधिकार प्रति जागरूकता ने, सरकार द्वारा जनमत को मोड़ने की क्षमता को काफी सीमित कर दिया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में भागीदार होने के कारण सरकारें विदेशी मीडिया की पहुँच को बंधन मुक्त रखने के लिए काफी दबाव में हैं और इसमें किसी प्रकार हेर-फेर करना सरल नहीं है। इस प्रकार सरकारों को आंतरिक और बाह्य जनमत के तीव्र दबाव में होने के कारण अपनी नीतियाँ और निर्णय निर्धारित करते समय इनका (जनमत) ध्यान रखना पड़ता है।

जनमत के साधन

हम अध्ययन कर चुके हैं कि सरकार के लिए जनमत का ध्यान रखना अति आवश्यक है। वस्तुतः प्रतिपक्ष भी इसके प्रति सजग रहते हैं। इसलिए सत्तारूढ़ और विपक्षी दल जनमत को अपने पक्ष में ढालने के लिए आतुर रहते हैं। साथ ही वे प्रमाणित ढंग से यह भी जानने का प्रयास करते हैं कि किसी विशेष मुद्दे पर लोगों के विचार क्या हैं और वह क्या चाहते हैं? जबकि यह कहा जा सकता है, कि जनमत को लोगों का मूड भाँप कर अथवा विभिन्न स्तरों पर बातचीत के माध्यम से पहचाना जा सकता है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि वह पूरे जनमानस के विचार का सही रूप हो। इसके लिए सरकार और दलों को विभिन्न साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। इनमें से महत्त्वपूर्ण साधन निम्नलिखित हैं :

प्रेस और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया

जनमत को भांपने का सबसे सरल और स्वीकृत साधन प्रेस और मीडिया हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जनमत निर्माण में प्रेस और मीडिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मीडिया सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों को उनके बल और कमज़ोरियों के साथ उजागर करता है। नेताओं, सजग नागरिकों और सक्रिय लोगों के विचार समाचारों और पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में छापे जाते हैं। विभिन्न मुद्दों, विचारणीय घटनाओं तथा सरकारी नीतियों पर संपादकीय लेख लिखे जाते हैं। लोग भी मुद्दों और नीतियों के संबंध में संपादकों को अपनी राय और विचार लिखते हैं इलैक्ट्रॉनिक मीडिया आंदोलनों, गतिविधियों, चर्चाओं, बहसों और साक्षात्कारों को सजीव दिखा कर बन रहे विचार एवं राय को प्रकाश में लाते हैं। मीडिया की जनमत के नाम पर सरकार को प्रभावित करने के लिए अपने पक्ष, पूर्वाग्रह, निष्ठा, आदर्शों और हितों के अनुरूप आँकड़े तथा घटनाएँ चुनने एवं दर्शाने के लिए निंदा भी होती रही है। उदाहरण के लिए एक टी.वी. चैनल विरोधी लोगों की तुलना में अपने पसंदीदा विचार के पक्ष में समर्थकों के अधिक साक्षात्कार दिखा सकता है। यह भी कहा जाता है कि भारत जैसे देशों में मीडिया पर अधिकतर बड़े व्यापारिक घरानों तथा उद्योगपतियों का नियंत्रण है। वर्तमान में मीडिया के भीतर बढ़ती प्रतिस्पर्धा के कारण विभिन्न विचारों को समय और स्थान मिलने की संभावनाएँ बढ़ी हैं जिसके कारण शहरी और ग्रामीण लोगों में जागरूकता बढ़ेगी।

दलीय मंच

राजनीतिक दलों द्वारा प्रयोग किया जाने वाला एक अन्य तरीका अपने कार्यकर्ताओं से जानकारी प्राप्त करना है। प्रत्येक राजनीतिक दल के पास पर्याप्त कार्यकर्ता होते हैं जो समाज के प्रत्येक वर्ग में फैले हुए होते हैं। दल के बैठकों में वह नेताओं को मतदाताओं से प्राप्त जानकारी उपलब्ध कराते हैं। इसे मतदाताओं और दलों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यद्यपि यह तरीका बहुत ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, परंतु भारत में इसका उपयोग गलत ढंग से किया जा रहा है। अधिकतर दल केंद्रीय नियंत्रित और व्यक्तित्व अभिमुख हो गए हैं। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता सही जनमत बताने की बजाय नेताओं को उनकी लोकप्रियता, चमत्कार और समर्थन की गलत तस्वीर दे सकते हैं।

जनमत संग्रह

इन दिनों जनमत संग्रह लोगों की राय एकत्रित करने का एक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण ढंग बन गया है। पहले यह तरीका व्यापारिक घरानों द्वारा अपने उत्पाद के प्रति उपभोक्ता की पसंद जानने के लिए प्रयोग किया जाता था। आजकल इसका प्रयोग स्थानीय और राष्ट्रीय मुद्दों सहित विभिन्न राजनीतिक विषयों पर जनता का रुझान एवं राय जानने के लिए, चुनावो में राजनीतिक और नेताओं के प्रति पसंद अथवा वरीयता जानने के लिए तथा राजनीतिक नीतियों और विशिष्ट घटनाओं पर जनता के रुझान एवं विचार संबंधी सूचनाएँ एकत्रित करने के लिए किया जाता है। ये जनमत संग्रह प्राय: व्यावसायिक साधनों द्वारा जनता में से प्रतिनिधि सैम्पल चुन कर करवाया जाता है। शोधकर्ता और शिक्षाविद् भी इस प्रकार का सर्वेक्षण चुनावी व्यवहार, राजनीतिक रुझान और संस्कृति का अध्ययन करने के लिए करते हैं। जनमत संग्रह राजनीतिक दलों को अपनी चुनावी रणनीति बनाने, कार्यक्रम समायोजित करने तथा चुनाव के दौरान आवश्यक गठबंधन बनाने में सहायता करते हैं। ये सरकार को उसकी नीतियों के प्रति लोगों के संतोष अथवा असंतोष के स्वर तथा जनता की आशाएँ और अपेक्षाओं की जानकारी भी दे सकते हैं।

यद्यपि जनमत संग्रह प्राय: लोगों की राय जानने का उपयोगी साधन रहा है तथापि यह सदैव सही नहीं होता। भारत जैसे देश में सही और वस्तुपरक सर्वेक्षण करवाने में कई समस्याएँ हैं। इनमें हैं — विशाल जनसंख्या, निरक्षरता, जागरूकता में कमी और लोगों में सर्वेक्षण के उद्देश्यों के प्रति शंकाएँ और इस कारण सही सूचनाएँ न देने की प्रवृति। कुछ आलोचकों का कहना है कि जनमत संग्रह का प्रयोग जनमत एकत्रित करने और बताने की अपेक्षा जनमत बनाने के लिए अधिक किया जा रहा हैं। विशेषतया राजनीतिक दल, जनमत संग्रहों को जान बूझकर किसी एक या दूसरे दल के पक्ष में करवाने के लिए प्राय: इसकी आलोचना करते हैं। सभी आलोचनाओं के बावजूद, जनमत संग्रह और सर्वेक्षण काफी लोकप्रिय हो रहे हैं तथा सरकार, राजनीतिक दल, मीडिया तथा शोधकर्ता, जनमत को समझने एवं विश्लेषण करने के लिए इसका प्रयोग एक उपयोगी साधन के रूप में कर रहे हैं।

जनमत की सीमाएँ

यद्यपि जनमत नागरिकों और सरकार के बीच संवाद का सबसे प्रभावशाली साधन है, तथापि यह सरकार पर निरंतर नियंत्रण रखने का एक साधन है। फिर भी इसका उपयोग सीमित है। जनमत की भूमिका और उपयोगिता कुछ निश्चित मान्यताओं पर निर्भर करती है। जिनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

(i) जनता, सरकार के कार्यों में रुचि रखती है;

(ii) जनता जानती ही नहीं अपितु बेहतर जानती है;

(iii) जनता वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा विवेकपूर्ण निर्णयों पर पहुँचती है;

(iv) विवेकपूर्ण निर्मित विचार सारे समाज में एक जैसे होते है;

(v) निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद, जनता चुनावों में अथवा अन्यत्र अपनी इच्छा को व्यक्त करती है;

(vi) जनता की इच्छा अथवा कम-से-कम 'सामान्य इच्छा' को कानून में बदला जाएगा;

(vii) निरंतर चौकसी और आलोचना जागरूक जनमत बनाए रखने को सुनिश्चित करेगी जिसके फलस्वरूप सामाजिक नैतिकता और न्याय के सिद्धांत पर आधारित जन नीति बनेगी।

भारत जैसे देश में जहाँ अधिकांश जनता, गाँवों में व्याप्त अशिक्षा, गरीबी, जाति और समुदायों के आधार पर विभाजित तथा पारंपरिक बड़े लोगों के प्रभाव में रहती हैं, वहाँ उपरोक्त तत्त्व कठिन संभावना बन जाते हैं। कभी-कभी जनमत लोगों की वास्तविक इच्छा जताने के बजाय, शासकीय वर्ग के हितों को सही ठहराने का साधन बन जाता है। शिक्षा के प्रसार, मीडिया के आगमन, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में जुड़ाव तथा राजनीतिक जागरूकता को हाशिये पर डाल दिए लोगों तक पहुँचने से, जनमत भारतीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगा।

अभ्यास

1. जनमत की परिभाषा लिखिए। लोकतंत्र में इसका क्या महत्त्व है?
2. जनमत के विभिन्न साधनों (एजेन्सियों) का वर्णन कीजिए।
3. जनमत को प्रभावित करने में इलैक्ट्रॉनिक मीडिया क्या भूमिका निभाता है?
4. जनमत संग्रह के महत्त्व का परीक्षण कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) सरकार और जनमत

   (ii) जनमत की सीमाएँ

अध्याय 7

हित समूह और दबाव समूह

पिछले अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि आधुनिक राजनीतिक प्रणाली में राजनीतिक दल ही राजनीतिक निर्णय लेने की शक्ति के लिए आपस में संघर्ष करते हैं। वे अपनी विचारधारा और कार्यक्रमों के अनुरूप नीतियाँ बनाने व क्रियान्वित करने के लिए इस शक्ति की अपेक्षा करते हैं, विशेषत: उस समूह के हितों के रक्षार्थ जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीतिक दल जब सत्ता में नहीं भी होते, तब भी अपनी प्राथमिकताओं के अनुरूप नीति-निर्माण को प्रभावित करने का निरंतर प्रयास करते रहते हैं। वास्तव में, राजनीतिक दलों का अंतिम लक्ष्य सत्ता प्राप्ति ही है। राजनीतिक दलों के अतिरिक्त कुछ अन्य समूह और संस्थाएँ भी हैं जो अपने विशिष्ट हितों के अनुरूप सरकार द्वारा निर्णय लेने अथवा नीति निर्माण को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये समूह सत्ता पाने के लिए स्वयं चुनावों में नहीं उतरते अपितु वे विशेष रूप से सरकार पर और साधारण रूप से राजनीतिक प्रक्रिया पर दबाव डालने में जुटे रहते हैं। ऐसे समूहों को दबाव या हित समूह कहते हैं।

अर्थ और परिभाषा

हित समूहों को ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो सत्ता संघर्ष में सम्मिलित हुए बिना, समाज में किसी विशेष हित की रक्षा हेतु अथवा किसी उद्देश्य या राजनीतिक स्थिति को प्रोन्नत करने के लिए बनती हैं। साधारणतया हित समूह का प्रयोग ऐसे समूहों के लिए किया जाता है जो किसी सामूहिक हित अथवा किसी एक व्यवसाय से संबंधित लोगों की रक्षा अथवा प्रगति के लिए संगठित किए जाते हैं जैसे — वकीलों, व्यापारियों, शिक्षकों तथा कृषकों, डॉक्टरों के हितों के समूह लॉबी और लॉबिस्ट की शब्दावली भी उभर कर आई है। वास्तव में, यह उस प्रणाली की ओर संकेत करती है, जहाँ विशेषत: अमेरिका में, हित समूह नीति निर्धारण करने वालों से मिलने, उनको प्रभावित करने व दबाव डालने के कार्य करते हैं। यह प्रक्रिया, जिसे लाबिंग कहा जाता है, हित समूह द्वारा प्रयोग किया जाने वाला एक और तरीका है। इस प्रकार सामान्यत: विशेष हितों का संगठन जो नीति निर्धारण को प्रभावित करता है, मूलत: हित समूह कहा जाता है। क्योंकि हित समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दबाव डालने के विभिन्न तरीकों का प्रयोग करते हैं, इसलिए उन्हें दबाव समूह भी कहा जाता है। यद्यपि उद्देश्य, प्रकृति, समर नीति और भूमिका के आधार पर हित समूह और दबाव समूह शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किए जाते हैं।

हित समूह और दबाव समूह की उपरोक्त परिभाषाओं से ऐसे समूहों के कुछ लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि ऐसे समूह संगठित समूह होते है। अत: वे व्यक्तियों द्वारा किए गए कृत्यों और सहभागिता से भिन्न होते है। इसलिए प्रत्येक समूह अपने सदस्यों के सामूहिक हितों के लिए कार्य करता है। दूसरे, दबाव समूह जिन्हें सामूहिक हितों के आधार पर संगठित किया जाता है, मूलत: बाहर से दबाव डाल कर निर्णयों को प्रभावित करने से संबद्ध हैं। अत: जहाँ राजनीतिक दल सरकार बनाने की लालसा रखते हैं, वहीं ये समूह उसे मात्र प्रभावित करना चाहते हैं। उनका उद्देश्य सरकार बनाना नहीं होता बल्कि उसकी दिशा और नीतियों को एक विशेष ढंग से बदलना होता हैं। हित समूह और दबाव समूह चुनाव नहीं लड़ते। वे कुछ दलों की, जो उनके हितों की रक्षा करते हैं, सहायता कर सकते हैं। ये समूह राजनीतिक दलों से अलग हैं क्योंकि ये चुनाव जीतने या सरकारी सत्ता का प्रयोग करने के स्थान पर, उस पर बाहर से प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। दबाव समूहों का ध्यान कुछ मुद्दों तक ही सीमित रहता है और प्राय: वे किसी विशेष लक्ष्य अथवा एक विशेष समूह के हितों से ही सरोकार रखते हैं। साधारणतया जहाँ राजनीतिक दल औपचारिक, खुली और राजनीतिक व्यवस्था द्वारा मान्यता प्राप्त अंग हैं, वहीं हित और दबाव समूह अनौपचारिक, छिपे हुए गैर-मान्यता प्राप्त भाग हैं। हित समूहों का, उनके औपचारिक संगठन की उच्चतर श्रेणी के कारण, सामाजिक आंदोलनों से भी भेद किया जाता है। आज लगभग सभी देशों मे, विशेषत: उदारवादी लोकतंत्रों में, हित समूहों की एक बड़ी संख्या कई विषयों और सरोकारों को उजागर करती है। भारत में अनेक प्रकार के हित और दबाव समूह हैं जो हमारे लोकतंत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

भारत में हित समूह

भारत में हित और दबाव समूह कोई नई राजनीतिक घटना नहीं है। वे औपनिवेशिक काल से ही अस्तित्व में रहे है। वास्तव में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने अवतरण के समय एक दबाव समूह ही थी जो ब्रिटिश शासन से विशिष्ट माँगें करती थी जैसे — प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की भर्ती की संख्या में वृद्धि, इंग्लैंड में भारतीय विद्यार्थियों के लिए अधिक कोटा इत्यादि। कालांतर मज़दूर संघ, किसानों, व्यापारियों और युवाओं की संस्थाएँ तथा जातीय और धार्मिक समूह भी अपने विशिष्ट हितों की रक्षा की माँग करते हुए उभरे। उनका राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रिय सहयोग देने के लिए प्रयोग किया गया। आज भी वे भारतीय राजनीति में सक्रिय हैं। यद्यपि वे मुद्दे जिनसे दबाव समूह संबद्ध रहे हैं तथा कई युक्तियाँ जिन्हें वे अपने उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करते हैं, निरंतर बदलते रहे हैं लेकिन दबाव समूह राजनीति के व्यापक सिद्धांत वही हैं। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही जब सरकारी गतिविधियाँ, समाज कल्याण, उद्योग और आर्थिक नियोजन के क्षेत्रों में फैलीं, तब राज्य को अपरिहार्य ढंग से लोगों के समूहों के साथ निकटता से सीधे संपर्क में आना पड़ा और इस प्रकार संगठित समूहों की गतिविधियों को अधिक बल मिला। राजनीतिक व्यवस्था भी समाज के विभिन्न वर्गों को इन व्यवस्थाओं से माँग करने की पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान करती है। ऐसे भी उदाहरण हैं जब एक दबाव समूह उभरता है तब वह दूसरी ओर जवाबी दबाव समूह को भी पैदा करता है और इस प्रकार इनकी संख्या बढ़ती जाती है। संचार के क्षेत्र में क्रांति ने जन संचार माध्यम और लोक संपर्क के प्रति कार्यकुशलता और आदर भाव की वृद्धि की और इस प्रकार आज दबाव समूहों के पास जनमत को प्रभावित

करने की अधिक सुविधाएँ हैं। अतः भारत में अनेकानेक हितों से संगठिक समूहों का गठन हुआ है। इन समूहों को चार मुख्य श्रेणियों में रखा जा सकता है — सामाजिक अथवा पहचान आधारित समूह; सामुदायिक अथवा व्यवसायिक समूह, संस्थात्मक समूह और तदर्थ समूह।

सामाजिक अथवा पहचान आधारित समूह

औपनिवेशिक काल में पाश्चात्य मूल्यों और अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति पर प्रहार का प्रतिकार करने के लिए, नए व्यवसायों तथा सरकारी नौकरियों में समुचित भाग की माँग करने तथा संख्या आधारित राजनीति में सामाजिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए धर्म, जाति, भाषा, जातीयता और क्षेत्रीयता, इत्यादि जैसे सामुदायिक हितों पर आधारित कई समूह सामने आए। कुछ विषयों में ब्रिटिश प्रशासन ने स्वयं ऐसे समूहों के गठन को राष्ट्रीय आंदोलन की कुछ माँगों का प्रतिकार करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्वतंत्रता उपरांत लोकतांत्रिक व्यवस्था और सीमित संसाधनों के लिए प्रतियोगिता के संदर्भ में ऐसे समूहों की महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। सामाजिक अथवा पहचान आधारित समूहों की मुख्य विशेषता यह है कि वे सामाजिक ताने-बाने से बुने जाते हैं। इस अर्थ में उनकी सदस्यता व्यवसायिक अथवा वर्ग के आधार पर न होकर जन्म पर आधारित होती है। इन समूहों को और आगे दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक, वे जो मूलतः सामुदायिक सेवा से संबद्ध हैं और दूसरे वे जो राजनीतिक एवं आर्थिक प्रतियोगिता में सांप्रदायिक अथवा सामाजिक सक्रियता का प्रयोग करते हैं। पहले प्रकार में हम डी. ए. वी. शिक्षण संस्थाएँ, रामकृष्ण मिशन, मुख्य खालसा दीवान, सिंह सभाएँ, मुस्लिम शिक्षण ट्रस्ट, वक्कम मौलवी संस्था, अल-अमीन शिक्षण संस्थान, एंग्लों इंडियन क्रिस्चियन एसोसिएशन, जैन सेवा संघ और ऐसी अनेक संस्थाओं का उल्लेख कर सकते हैं जो अपने-अपने समुदाय के शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक उत्थान के लिए संलग्न हैं। इस उद्देश्य के लिए वह सरकार से आर्थिक, तकनीकी और अन्य प्रकार की सहायता की अपेक्षा करते हैं और इसके लिए दूसरे समुदायों के प्रति किसी पूर्वाग्रह तथा जातीय या सांप्रदायिक विवाद प्रोत्साहित किए बिना सरकार पर दबाव डालते हैं। हाल के वर्षों में कई जाति एवं उप-जाति संस्थाएँ भी उभरी हैं। यद्यपि इन संस्थाओं में से अधिकांश ढीले-ढाले ढंग से संगठित हैं परंतु वे हित संधियोजन का महत्त्वपूर्ण आधार बन रहीं हैं। कुछ समूह, जिनका वास्तव में प्रजाति अथवा जाति समूह के रूप में गठन हुआ था, राजनीतिक दलों में परिवर्तित हो चुके हैं। तमिलनाडु में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन समय के साथ द्रविड़ कषगम् और बाद में द्रविड़ मुनेत्र कषगम् बन गया। अनुसूचित जाति परिसंघ बाद में रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया बन गया। आप यह पहले ही पढ़ चुके हैं कि आज की बहुजन समाज पार्टी का उद्गम ऑल-इंडिया बैकवर्ड एंड मायनॉरटीज़ कम्यूनिटीज़ एम्पलाईज़ फेडरेशन से ही हुआ।

दूसरे प्रकार के पहचान समूह वे हैं जो विशेष स्तर, श्रेष्ठता अथवा दूसरों की तुलना में अपने समुदाय के लिए प्राथमिकता का दावा करने में संलग्न हैं। मुसलमानों में जमायत-ए-इस्लामी, हिंदुओं में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और विश्व हिंदू परिषद् और सिक्खों में अखिल भारतीय सिक्ख छात्र परिसंघ ऐसे ही समूह हैं। ये समूह न केवल अपने समुदायों के हित के लिए कार्यरत हैं अपितु अपनी मूल्य पद्धति के अनुसार राजनीतिक प्रक्रिया के स्थानांतरण के लिए भी कार्य करते हैं। भाषा के विकास को अग्रसर करने वाली कई भाषाई संस्थाएँ भी हैं।

सामुदायिक अथवा व्यवसायिक समूह

सामुदायिक अथवा व्यवसायिक समूह वे समूह हैं जो संयुक्त व्यवसायिक हितों के लिए एकत्रित हुए व्यक्तियों द्वारा गठित किए गए हैं। उन्हें कभी-कभी संरक्षक और कार्यात्मक समूह भी कहा जाता है। मज़दूर संघ, व्यापार संस्थाएँ, और मज़दूर संस्थाएँ, व्यवसायिक संगठन आदि इस प्रकार के समूहों के प्रमुख उदाहरण हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता इस तथ्य में है कि वे समाज के एक वर्ग जैसे — मज़दूर, मालिक, उपभोक्ता, आदि का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये समूह आधुनिक आर्थिक और व्यवसयिक हितों पर आधारित हैं। इनमें सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ उद्योग और व्यापार समूह, मज़दूर संघ और कृषक तथा खेती मज़दूरों की संस्थाएँ हैं।

व्यापार समूह

नीतियों को प्रभावित करने तथा हितों की रक्षा करने की दृष्टि से किसी भी समाज में व्यापार और उद्योग सबसे बड़ा और सक्रिय वर्ग है। भारत में उन्होंने स्वयं को औपनिवेशिक काल में ही संगठित करना प्रारंभ कर दिया था। उस समय जब वे स्वयं को कांग्रेसी नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन की विरोध नीति से अलग-अलग रहने के पक्षधर थे, तब भी उन्होंने कांग्रेस की रचनात्मक गतिविधियों और स्वतंत्रता के कार्यक्रमों में कई प्रकार से सहयोग दिया। स्वतंत्र भारत में व्यापार और उद्योगों को विकास की नीतियों और योजनाओं के संदर्भ में कार्य करना था। इन नीतियों के अंतर्गत उनके पास विकास की संभावनाएँ भी थी और उस समय अपनाई गई मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत लाईसेन्स और नियंत्रण के माध्यम से प्रतिबंधों की आशंकाएँ भी थीं। इसलिए उन्होंने सरकार पर अपने हित के लिए दबाव डालने हेतु संगठित होने की अति-आवश्यकता अनुभव की। परिणामस्वरूप, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर कई प्रकार की व्यापार और वाणिज्यिक संस्थाएँ उभरीं। उनमें से महत्त्वपूर्ण हैं — चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज़ और उनके परिसंघ जैसे — कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज़ (सी.आई.आई.) और फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कामर्स एंड इंडस्ट्री (एफ.आई.सी.सी.आई.)। विशेषतः एफ.आई.सी.सी.आई. आजकल बड़े उद्योगों और भारतीय पूँजीवाद की प्रमुख प्रवक्ता है।

जब राष्ट्र द्वारा अर्थव्यवस्था संबंधी नीति बनाई और लागू की जा रही होती है, तब बड़े-बड़े उद्योगों की इन संस्थाओं के माध्यम से कार्यकारिणी तथा नौकरशाही से लाबिंग करने के लिए निरंतर पहुँच रहती है। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व तथा क्रियात्मक नियंत्रण उन्हें सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने हेतु सशक्त साधन उपलब्ध कराता है। उन्होंने अपने मज़बूत संगठन और अपार धन शक्ति के दम पर आर्थिक और औद्योगिक नीतियों से संबद्ध निर्णयों को तैयार करने और लागू करने में एक महत्त्वपूर्ण भागीदारी प्राप्त कर ली है। इसके फलस्वरूप, समाज का समाजवादी ढाँचा रखने की राज्य की सरकारी नीति के बावजूद बड़े उद्योग समूह अपने आग्रहपूर्ण दबाव से स्वयं को एक वैध और शक्तिशाली वर्ग बनाने में समर्थ रहे हैं। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण से व्यापार की भूमिका और भी बढ़ गई है। वे अब असुविधाजनक नीतियों को, व्यक्तिगत संपर्क संजोकर, रिश्वत देकर, प्रेस अथवा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का प्रयोग कर एवं सक्रिय व्यवसायिक संपर्कों को लगाकर, बेहतर ढंग से नियंत्रित कर सकते हैं।

मज़दूर संघ

मज़दूर, एक महत्त्वपूर्ण संगठित वर्ग के रूप में लगभग पूरे विश्व में, उभरे हैं। इस संदर्भ में मार्क्सवादी

और समाजवादी विचारधाराओं तथा दलों के उदय ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जबकि कुछ देशों में मज़दूर संगठनों के विकसित होने में काफी लंबा समय लगा, वहीं भारत में श्रमिक संघ आंदोलन चौंकाने वाली गति से विकसित हुआ। औपनिवेशिक काल में साम्यवादी और कांग्रेस पार्टी दोनों ने औपनिवेशिक दमन के स्वाभाविक विरोधी होने के नाते मज़दूरों के संगठनों की सहायता की। मज़दूर संघ न केवल फैक्ट्रियों और क्षेत्रीय स्तरों में ही स्थापित हुए अपितु राष्ट्रीय स्तर पर भी इनके गठन के प्रयास किए गए। 1920 में कांग्रेस के तत्वाधान में में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गई। 1929 में यह साम्यवादियों के नियंत्रण में आ गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तीव्र औद्योगीकरण की नीति, बहुत बड़े सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना और विकास, लाखों लोगों को नौकरी पर रखना, सरकार की समाजवादी रट और साम्यवादी दलों का चुनावों में भाग लेने का निर्णय, इन सबने मिलकर मज़दूर संघ आंदोलन के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध कराईं। विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने भी अपने मजदूर संघ, महासंघ, जैसे — इंडियन नेशलन ट्रेड यूनियन कांग्रेस (आई.एन.टी.यू.सी.), ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए.आई.टी.यू.सी.), हिंद मज़दूर सभा (एच.एम.एस.), सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स (सी.आई.टी.यू.), इत्यादि प्रायोजित करने प्रारंभ कर दिए।

भारत में लगभग विगत पाँच दशकों से मज़दूर संघ आंदोलनों ने भारतीय सामाजिक प्रणाली में निश्चित रूप से अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। फलस्वरूप नीति निर्णय निर्धारण स्तर पर कार्यरत श्रमिक वर्ग दबाव डालने में सक्षम रहा है और इसकी शक्ति को सभी राजनीतिक दल और सरकार खूब पहचानती हैं, यद्यपि आर्थिक विवशता और बाह्य नेतृत्व के दायरे में, ये अपनी माँगों के लिए अत्यधिक मुखर और तरीकों में उग्र भी हो सकते हैं। कुछ क्षेत्रों में उद्योगों की सघनता के कारण ये राजनीतिक पार्टियों के लिए महत्त्वपूर्ण मत-शक्ति उपलब्ध करा सकते हैं। इस कारण, संगठित मज़दूर वर्ग, अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाने में कुछ सफलताएँ प्राप्त करने में सक्षम रहा है। मज़दूर संघों ने अपनी गतिविधियों द्वारा मज़दूरों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना जागृत करने में भी काफी सहायता की है।

अब भी समाज में मज़दूर संघ सर्वश्रेष्ठ सुसंगठित समूह हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मज़दूरों के समक्ष एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत कर रही है। इसलिए नई आर्थिक व्यवस्था में मज़दूर संघों को अपनी भूमिका के लिए स्वयं का पुनर्नवीकरण करना होगा।

किसान और कृषक संगठन

यह सुविदित है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में रहती है और भारत की अर्थव्यवस्था मूलत: कृषि अर्थव्यवस्था ही है। स्वतंत्रता के समय सरकार के लिए एक ओर कृषि उत्पादन बढ़ाना आवश्यक था तो दूसरी ओर भूमि-सुधार लागू करना। जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करने से लेकर हरित क्रांति, सीमित भूमि-सुधार और चुनावी राजनीति में ग्रामीण लोगों को सक्रिय करने जैसी नीतियों और कार्यक्रमों ने ग्रामीण लोगों में जागरूकता और चेतना पैदा की तथा भिन्न-भिन्न हित वाले नए समूह बने। तत्पश्चात् ये हितों के रक्षार्थ एवं संघनन हेतु संगठित समूहों एवं आंदोलनों के रूप में उभरे। कई पर्यवेक्षक इन समूहों को प्रचलित शब्दावली में 'किसान समूह' या कृषि आंदोलन भी कहते हैं। वास्तविकता यह है कि किसानों के संयुक्त हित नहीं होते। वे भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए भिन्न होते हैं। वृहद् दृष्टि से हम इनको दो समूहों — खेतीहर समूह तथा कृषक समूह में बाँट सकते हैं।

खेतीहर संस्थाएँ

पिछले कई वर्षों से खेतीहर आंदोलन समाचारों में रहे हैं। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों से कृषक स्वयं को संस्थाओं में संगठित करते रहे हैं और कृषि उत्पादो के लिए उचित कीमतें, बिजली दरों में कटौती, कृषि निवेश के लिए सस्ती दरों पर ऋण तथा खाद पर सब्सीडी, इत्यादि पर ध्यान केंद्रित कराने में काफी हद तक सफलता प्राप्त करते रहे हैं। उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब में भारतीय किसान यूनियन, महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन, कर्नाटक में कर्नाटक राज्य रियोत संघ, इनमें महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इन सबके केंद्र में अमीर और मध्यम दर्जे के कृषकों का असंतोष है।

इन कृषक आंदोलनों की जड़े, अमीर कृषकों द्वारा अपने नेतृत्व में किसानों को सक्रिय कर राजनीतिक शक्ति जमाने और कृषि नीतियों में हरित क्रांति के विस्तार में, खोजी जा सकती हैं। ये आंदोलन के नए स्तरों को दर्शाते हैं, जो उचित रियातों और राजनीतिक पार्टियों में हिस्सेदारी के लिए प्रयास कर रहे हैं। काफी समय तक इन आंदोलनों ने राजनीतिक दलों से दूर रह कर तथा बाहर से दबाव समूह बना कर अपनी गैर-राजनीतिक छवि प्रदर्शित की। लेकिन बाद में उन्होंने यह अनुभव किया है कि शक्ति का प्रत्यक्ष प्रयोग, अप्रत्यक्ष प्रभाव से अधिक प्रभावकारी होगा। अतः उन्होंने भी राजनीतिक दलों में भाग लेना अथवा गठजोड़ करना प्रारंभ कर दिया। इन आंदोलनों की सफलता ने राजनीतिक कार्यक्रमों में कृषि संबंधी मुद्दों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है।

किसान आंदोलन

कृषि में संलग्न भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग छोटे किसानों, बटाइदारों और मज़दूरों का हैं। स्वतंत्रता के बाद यह माना जा रहा था कि अपनी संख्या के दम पर लोकतंत्र में गाँवों के गरीबों (ग्रामीण निर्धन) का राजनीतिक महत्त्व होगा तथा वे गणतंत्र की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में अपनी माँगों को रखने में सक्षम होंगे। लेकिन यह नहीं हुआ। राज्य की प्रकृति, उपनिवेशवादी अफसरशाही और राजनीतिक दलों में आत्मविश्वास की कमी ने वस्तुतः विकास नीतियों के उद्देश्य और लक्षणों को अमीरों, ऊँचे वर्गों और शहरी क्षेत्रों की ओर मोड़ दिया।

कई राजनीतिक दल और संस्थाएँ इन किसानों को उनके शोषण के संबंध में शिक्षित कर तथा उनके सुधार का आश्वासन देकर सक्रिय करती रहीं हैं। अतः इस प्रकार कृषि मजदूरों और छोटे कृषकों के संगठन उभरने शुरू हुए। कई किसान सभाएँ और कई कृषि संघ बन चुके हैं। इन सबका मूल उद्देश्य, कृषि, खेतों या संबंधित कार्यों में परिश्रम का रोटी-रोजी कमाने वालों के हितों के लिए संघर्ष करना है। किसान आंदोलन अच्छे ढंग से संगठित नहीं है, यह बँटा हुआ है।

तथापि ग्रामीण निर्धनों और किसानों में जागरूकता और चेतना बढ़ रही है। वे अपने वोट का मूल्य और संगठित कार्यवाही की शक्ति समझने लगे हैं। लेकिन इन समूहों के लिए लड़ाई कठिन और लम्बी है। विशेषतः आर्थिक सुधारों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के दृष्टिगत किसानों और ग्रामीणों के समक्ष कठिन कार्य है। बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि राजनीतिक दल भारतीय लोकतंत्र को किस तरह आगे ले जाते हैं।

उद्देश्य समूह

उद्देश्य समूहों का मुख्य उद्देश्य सामान्य सामाजिक विषयों जैसे — पर्यावरण संरक्षण, मानव अधिकार तथा नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा, मृत्यु दंड की समाप्ति, चुनाव सुधारों का प्रारंभ, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को रोकना, इत्यादि को आगे बढ़ाना

होता है। ऐसे समूह को, जो इस बात पर बल देने के लिए सामूहिक सामाजिक हित को आगे बढ़ाते हैं, न कि चुने हुए समूहों के हित को, जनहित समूह भी कहते हैं। ये समूह सुसंगठित भी हो सकते हैं और नहीं भी। उनकी सफलता सक्रिय से अधिक जनता और जन संचार साधनों के सहयोग पर निर्भर करती है। आप ने बड़े बाँधों के निर्माण का विरोध करने वाले, झुग्गियाँ हटाने, बाल मज़दूरी, बंधुआ मज़दूरी, दहेज, इत्यादि का विरोध करने वाले समूहों के विषय में अवश्य सुना होगा। यही समूह उद्देश्य समूह हैं जो काफी लोकप्रिय हो रहे हैं।

संस्थागत समूह

संस्थागत समूह ऐसे समूह हैं जो सरकार के भीतर हैं और सरकारी मशीनरी के द्वारा दबाव अथवा प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। अफसरशाही और सेना संस्थागत समूह के स्पष्ट उदाहरण हैं। उन समूहों के भीतर हम आई. ए. एस., आई. पी. एस. और आई. एफ. एस. लॉबी के बारे में सुनते हैं। इस प्रकार सेना में प्रायः थल सेना, वायु सेना और नौ सेना इत्यादि कुछ विषयों पर प्राथमिकता के लिए दबाव की बातें सुनाई पड़ती हैं। ऐसे समूह अलोकतांत्रिक शासनों में विशेषतः महत्त्वपूर्ण होते हैं, जहाँ स्वायत समूहों को प्रायः दबा दिया जाता है। लेकिन वे लोकतंत्र में अभिजनों के बीच प्रतियोगिता के रुप में सक्रिय रहते हैं। भारत में भी अपनी गतिविधियों के माध्यम से वे काफी सक्रिय हैं, यद्यपि उनकी गतिविधियाँ जनता में दिखाई नहीं देतीं। वे अपनी पसंद के क्षेत्र में संसाधनों के निर्धारण अथवा अपनी प्राथमिकता भूमिका के क्षेत्र के संबंध में नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे अप्रत्यक्ष रूप से अपने उद्देश्य का समर्थन करने वाले समूहों की सहायता भी करते हैं।

तदर्थ समूह

अंततः कुछ ऐसे समूह हैं जो किसी उद्देश्य विशेष के लिए किसी समय सरकार पर दबाव डालने के लिए अस्तित्व में आते हैं। इसलिए वे उद्देश्य पूरा होने तक ही सक्रिय अथवा संगठित रहते हैं। ऐसे समूहों में एक शहर में रेल सुविधा चाहने वाले, किसी पुस्तक या गतिविधि पर पाबंदी चाहने वाले, कोई स्कूल, कॉलेज अथवा अस्पताल इत्यादि खुलवाने जैसे समूह सम्मिलित होते हैं। ऐसे समूह कुछ समय के लिए बहुत सक्रिय हो सकते हैं। इनमें से कुछ बचे भी रह सकते हैं और अपनी गतिविधियों का विस्तार उद्देश्य समूह के रूप में कर सकते हैं।

दबाव समूह कैसे कार्य करते हैं?

दबाव समूहों द्वारा सरकारी प्रक्रिया को प्रभावित करने के अनेक तरीके हैं। एक समूह प्रायः एक ही नीति अथवा प्रभावित करने के एक ही माध्यम से प्रभाव डालने तक सीमित नहीं रहता। इसके साथ-साथ ये तरीके एक देश से दूसरे देश तक उसकी राजनीतिक व्यवस्था तथा समाज के अनुरूप बदलते रहते हैं। इसी प्रकार समूह की प्रकृति और उसके पास उपलब्ध संसाधन उसकी राजनीतिक नीति को निश्चित करने वाले महत्त्वपूर्ण निर्धारक हैं। संसाधनों में समूह के उद्देश्यों के प्रति जनसमर्थन, सदस्यों की संख्या का आकार, आर्थिक स्थिति और सांगठनिक क्षमता, सरकारी संस्थाओं, व्यक्तियों और राजनीतिक दलों, इत्यादि के साथ व्यक्तिगत अथवा संस्थागत संबंध सम्मिलित होते हैं।

भारत में विभिन्न समूह, इसके संघीय और संसदीय ढाँचे के अंतर्गत कार्य करते हैं। हित समूह, विधायी एवं पार्टी स्तर पर अधिकारियों से भी अनौपचारिक ढंग से संपर्क बनाए रखते हैं। उनके द्वारा अपनाए जाने वाले तरीकों में ज्ञापन देना, अधिकारिक प्रतिनिधिमंडल (शिष्ट मंडल) भेजना,

अधिकारियों के साथ सामाजिक समारोह आयोजित करना, सांसदों एवं विधायकों के साथ सक्रिय रहना सम्मिलित हैं। कभी-कभी हित समूह का दबाव राजनीतिक दलों के माध्यम से बनाया जाता है। राजनीतिक दलों और ट्रेड यूनियनो में संबंध इसका सटीक उदाहरण है। इसी प्रकार कुछ युवा संगठन खुल्लम-खुला राजनीतिक दलों से संबंधित होते हैं जैसे नेशनल स्टुडेंट्स यूनियन ऑफ इंडिया कांग्रेस से और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् भारतीय जनता पार्टी से जुड़े हैं।

सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ समूह प्राय: जनप्रदर्शनों, हड़तालों और नागरिक अवज्ञा का सहारा लेते हैं। यह विशेषत: छात्रों, शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों और विभिन्न प्रकार के श्रमिक संगठनों के लिए सत्य है। कुछ समय पहले छोटे और मध्यम किसानों ने भी स्वयं को किसान रैलियों, रास्ता रोको और अन्य प्रकार के आंदोलनों द्वारा संगठित किया था। इससे जनता का ध्यान आकृष्ट होता है तथा सरकार को उनकी गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का उत्तर देना पड़ता है।

दबाव समूहों की महत्त्वपूर्ण कार्यविधि है : जनसंचार माध्यम का प्रयोग — इलेक्ट्रॉनिक तथा प्रेस मीडिया का प्रयोग दबाव समूहों की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य विधि है। आज के युग में मीडिया जनमत बनाने एवं स्पष्ट करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। दूरदर्शन और समाचारपत्रों के समाचारों एवं विचारों से लोग अधिक प्रभावित होते हैं। कई बार लोग यह अनुभव करने लगते है कि अमुक विषय उनके हित का है, यद्यपि यह उनके हितों के विरूद्ध भी हो सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है हमारी उपभोग एवं आवश्यकता अनुभव करने की शैली पर विज्ञापनों का प्रभाव। यदि विज्ञापन लोगों पर इतना प्रभाव डाल सकते हैं तो विशेषज्ञों के विचार जिन्हें विषय निष्ठ एवं निष्पक्ष माना जाता है, लोगों की सोच को अधिकाधिक बदल सकते हैं। इसलिए दबाव समूह विशेषज्ञों, समाचार बनाने वालों और उत्पादकों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं ताकि उनकी गतिविधियों को अधिक समय एवं प्रचार मिले तथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उनकी समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि वह सामान्यत: जनहित में लगे। कई धनी घरानों के अपने अख़बार हैं और वह निजी रेडियो और टी. वी. चैनलों पर अत्यधिक पैसा लगा रहे हैं। यह सब निर्णयों को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

हित अथवा दबाव समूह द्वारा डाला जाने वाला प्रभाव विभिन्न कारको पर निर्भर करता है। एक महत्त्वपूर्ण कारक है समूह की अपनी सांगठनिक शक्ति एवं अनुशासन। अन्य कारक हैं समूह की जनसमर्थन अर्जित करने की क्षमता, निर्णय लेने वाली संस्थाओं तक पहुँच तथा संसाधनों की उपलब्धता इत्यादि।

दबाव समूहों की भूमिका

उपरोक्त चर्चा से विदित होता है कि ऐसे कई संगठित समूह हैं जो निर्णय लेने वालों से अपने दावे मनवाने के लिए दबाव का प्रयोग करते हैं। यद्यपि इनके विकास की गति धीमी रही है, परंतु ये समूह भारत में जनसाधारण तथा अभिजातवादी वर्गों के बीच एक कड़ी एवं संचार के साधन का रूप हैं। ये भागीदारी के क्षेत्र के विस्तार को महत्त्व देते हैं। जहाँ हित समूह अपने सदस्यों के लाभार्थ समाज से माँग करते हैं वहीं वे राजनीतिक जागरूकता एवं सदस्यों की प्रतिभागिता में भी वृद्धि करते हैं। हित समूह राजनीतिक नेतृत्व का आधार भी हो सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हित समूह सामाजिक एकता के प्रतीक हैं। व्यक्तियों के सामान्य हितों की अभिव्यक्ति के लिए, वे न केवल जनसाधारण और निर्णय लेने वालों के बीच अंतर कम कर सकते हैं अपितु पूरे समाज में परंपरागत विभाजनों को भी घटाने में सक्षम हैं।

कुल मिला कर, दबाव समूह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे विभिन्न राजनीतिक ढाँचों की क्रियात्मक गतिविधियों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के साथ दबाव समूहों की भूमिका और भी बढ़ गई है। वर्तमान के अनुभव, विशेषत: बड़े व्यापारियों तथा कृषकों द्वारा सरकार और राजनीतिक दलों पर डाले जा रहे प्रभाव को स्पष्ट दर्शाते हैं। तथापि, सभी दबाव समूह अपना प्रभाव डालने मे समान रूप से सक्षम नहीं होते। ऐसे दुर्बल दबाव समूह सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त एवं समाज के संगठित वर्गों के हाथों में लोकतांत्रिक प्रणाली में यंत्र मात्र बन कर रह जाते हैं।

अभ्यास

1. दबाव समूह से आप क्या समझते है? दबाव समूहों की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक अथवा पहचान आधारित समूहों की व्याख्या करते हुए भारत में कुछ ऐसे समूहों के उदाहरण दीजिए।
3. भारत में मजदूर संघों के विकास एवं भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. आप कृषक और किसानों के समूह से क्या समझते हैं? भारत में इनकी भूमिका का वर्णन कीजिए।
5. दबाव समूह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार कार्य करते हैं? व्याख्या कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) राजनीतिक दल और दबाव समूह में अंतर

   (ii) भारत में दबाव समूहों का उदय

   (iii) व्यापारिक समूह

   (iv) संस्थागत समूह

   (v) दबाव समूहों की भूमिका

इकाई III

विकास और प्रजातंत्र

अध्याय 8

भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास एवं नियोजन

आप भली-भाँति जानते हैं कि ब्रिटिश के लगभग 200 वर्षों के उपनिवेशवादी शासन से भारत के आर्थिक, सामाजिक और औद्योगिक विकास को काफी धक्का लगा। कुटीर उद्योग और हस्तशिल्प सहित पारंपरिक कृषि आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश मशीनों द्वारा बने सामान के पक्ष में नष्ट किया गया और भारत में स्थानीय उद्योगों को पनपने नहीं दिया गया। जो भी थोड़े बहुत उद्योग उभरे, उन्हें ब्रिटिश हितों को साधने के लिए ही उभरने दिया गया और इन पर भी ब्रिटिश पूँजी अथवा भारतीय एकाधिकारवादियों के एक छोटे से वर्ग का नियंत्रण था। वास्तव में व्यापार, उद्योग और बैंकिंग क्षेत्र में जो भी आर्थिक विकास हो रहा था–वह भी कुछ ही हाथों तक सीमित था जिससे एकाधिकार और न्यासों की स्थापना हुई। कृषि में भी अंग्रेज़ों ने ज़मींदारी व्यवस्था और व्यापारीकरण शुरू किया। इस प्रकार भूमि भी कुछ हाथों में केंद्रित हो गई जिससे कृषक बटाईदार अथवा भूमिहीन किसान बन कर रह गए। नई भू-राजस्व व्यवस्था, अधिक राजस्व और कम उत्पादन ने किसानों को साहूकारों से ऋण लेने पर विवश कर दिया। जो भी भूमि कृषकों और छोटे किसानों के पास बची थी वह भी कई कारणों से साहूकारों के हाथों में चली गई।

यद्यपि प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेज़ी प्रशासन ने समाज सुधारकों के दबाव में कुछ समाज सुधार लागू किए लेकिन यह उनके कार्यक्रम का भाग नहीं था। वस्तुत: उन्होंने शीघ्र ही भारतीय सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप बंद कर दिया और न केवल कुछ भ्रांतियों को चलने दिया अपितु उनके आघात को प्रोत्साहित भी किया। अंग्रेज़ों की भारत में शिक्षा के विकास में रुचि, मात्र अपने प्रशासन के लिए अंग्रेज़ी जानने वाले क्लर्क (बाबू) पैदा करने तक ही सीमित थी। इस प्रकार भारत में शिक्षा की हर स्तर पर अवहेलना हुई। निर्धन वर्ग, न्यूनतम आय वर्ग और महिलाओं की शिक्षा तक पहुँच 'न' के बराबर थी। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के अंतर्गत उन्होंने भारतीय समाज को धर्म, जाति और कबीलों के आधार पर बाँटने को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार स्वतंत्रता के समय भारत को एक अवरुद्ध सामाजिक ढाँचा और छिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्था प्राप्त हुई। उस समय विश्व में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास का दौर चल रहा था। इसलिए भारत के लोग भी तीव्र सामाजिक-आर्थिक विकास और परिवर्तन की राह देख रहे थे। इस अध्याय में हम चर्चा करेंगे कि विकास का क्या अर्थ था, इसके क्या लक्ष्य और आशाएँ थीं और इसे प्राप्त

करने के लिए क्या नीति और ढंग अपनाया गया। लेकिन हमारे लिए स्वतंत्रता के समय के भारत की अर्थव्यवस्था और समाज पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति

अर्थव्यवस्था

स्वतंत्रता के समय भारत की जनसंख्या लगभग 30.5 करोड़ थी। जिसका 82 प्रतिशत से भी अधिक भाग गाँवों में रहता था। स्वाभाविक रूप से भारत की अर्थव्यवस्था कृषि आधारित थी। भारत की कार्य-शक्ति का 72 प्रतिशत से अधिक भाग कृषि पर निर्भर था। खनन, फैक्ट्रियाँ और विभिन्न प्रकार के कुटीर, ग्रामीण तथा लघु उद्यमों में कार्य शक्ति का लगभग 11 प्रतिशत भाग लगा हुआ था। व्यवस्थित उद्योगों में केवल 20 प्रतिशत लोग थे जो कि प्रशासनिक कर्मचारियों की संख्या से भी कम थे। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का प्रत्यक्ष अर्थ था कि बहुत कम उत्पादन और अत्यधिक गरीबी। 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय अनुमानत: 8,853 करोड़ थी अर्थात् प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष 265 रुपए की औसत आय। तुलनात्मक दृष्टि से ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस और आस्ट्रेलिया में प्रति व्यक्ति आय क्रमश: 3,598 रुपए, 8,840 रुपए, 870 रुपए 3,280 रुपए और 4,340 रुपए थी। इस से स्पष्ट होता है कि प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारत विश्व के निर्धनतम देशों में था। इतना ही नहीं आय का वितरण भी इतना असमान था कि जनसंख्या का एक बड़ा भाग अत्यधिक निर्धन था।

भारत आर्थिक रूप से, विकसित देशों पर विभिन्न प्रकार से निर्भर था। इसके निर्यात में मुख्यत: मूल उत्पाद सम्मिलित थे जो कि विकसित देशों विशेषत: ब्रिटेन की मंडियों में जाते थे और आयात में जो विकसित देशों में बना समान आता था। इसने व्यापार संतुलन में काफी घाटा दर्शाया। घरेलू संसाधनों पर पर्याप्त मात्रा में विदेशी स्वामित्व बना हुआ था। निष्कर्षत: देश में स्पष्टतय दोहरी अर्थव्यवस्था के लक्षण थे। मुख्य शहरी केंद्रों में आधुनिक, विदेशी रंगत वाले और बड़े पूँजी वर्ग मिलते थे, जबकि शेष पूरे देश में पारंपरिक, पूरी तरह देशी और पूँजीपति व्यवस्था से पूर्व वर्ग का वर्चस्व बना हुआ था।

पूरी तरह से पिछड़ेपन की भारत की इस पृष्ठभूमि में भारतीय अर्थव्यवस्था व्यापक क्षेत्रीय असंतुलन से भी ग्रस्त थी। औपनिवेशिक शासकों ने संतुलित आर्थिक विकास की परवाह नहीं की, अत: अंतर्राज्यीय और अंतर्ज़िला असमानताएँ काफी स्पष्ट थीं। प्रति व्यक्ति आय और उपभोग, साक्षरता, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ, जनसंख्या वृद्धि, संरचना विकास और रोजगार के अवसरों इत्यादि के स्तर में भी अंतर था।

इस प्रकार स्वतंत्र भारत को एक पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था विरासत में मिली, जिसमें अत्यधिक गरीबी और भूख, अवरूद्ध कृषि (पुरानी पद्धति से कृषि), कमज़ोर और असमान उद्योग वर्ग, पूँजी साधनों में कमी और क्षेत्रीय असमानताएँ विद्यमानथीं।

सामाजिक संरचना

भारत की मुख्य सामाजिक विरासत इसकी जातीय और सांस्कृतिक अनेकता और श्रेणीबद्ध सामाजिक व्यवस्था थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेज़ों ने समय-समय पर कुछ समाज सुधार के कदम उठाए लेकिन कुल मिला कर उनकी नीति भारत के सामाजिक जीवन में दखल न देने की थी। वस्तुत: वह भारतीय समाज को विभक्त रखने में रुचि रखते थे। 'विभाजित रखने' की इस नीति के कारण स्वतंत्रता के समय न केवल भारत का विभाजन

हुआ अपितु भारत में कुछ ऐसे क्षेत्र भी बन गए जिनमें राष्ट्रीय पहचान की भावना अपेक्षाकृत कम थी। ऐसा इसलिए भी था क्योंकि 'अनेकता' के लक्षणों के कारण पारस्परिक सामाजिक व्यवहार वंश, जाति, धर्म, समुदाय, भाषा और क्षेत्र, आदि की पुरानी मान्यताओं पर आधारित था।

जहाँ तक भाषा का संबंध है अनेक बोलियों को मिला कर भाषाओं की संख्या एक हज़ार से भी अधिक थीं। भारत की सब भाषाओं में से सर्वाधिक प्रयोग की जाने वाली भाषा हिंदी भी 30 प्रतिशत से अधिक भारतीयों द्वारा नहीं बोली जाती थी। यद्यपि अधिकांश भारतीय हिंदु धर्म के अनुयायी लेकिन मुसलमानों की संख्या भी काफी थी जो विभाजन के बाद भी कुल जनसंख्या के 10 प्रतिशत से अधिक थी। संख्या की दृष्टि से केवल पाकिस्तान और इंडोनेशिया में ही मुसलमानों की संख्या भारत से अधिक थी। मुसलमान और अन्य छोटे समुदाय जैसे — सिक्ख, जैन, पारसी, बौद्ध, ईसाई, इत्यादि भारत की कुल जनसंख्या के 1/5 भाग से अधिक थे।

विस्तृत अशिक्षा भी एक अन्य कारक था जिसने लोगों को परम्परागत स्वामी भक्ति से निकल कर आधुनिक और पंथ निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने से रोका। अन्य कारणों के साथ ही शिक्षा की कमी ने सामाजिक गतिशीलता तथा उस समय के पूर्वाग्रहों तथा सांस्कृतिक अवरोधों के समाप्त होने का मार्ग अवरूद्ध किया। । ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय दृष्टिकोण और लोकाचार में विकास अत्यंत कठिन था।

जैसा कि पहले कहा गया है कि समाज जाति के आधार पर बँटा हुआ था। लगभग चार करोड़ ऐसे लोग थे जिन्हें अछूत माना जाता था; इन्हें बाद में अनुसूचित जातियाँ कहा गया। लगभग एक करोड़ लोग अनुसूचित जनजातियों के थे। ये समूह उत्पादन संसाधनों, भूमि, रोज़गार, समाज सेवाओं इत्यादि से वंचित थे तथा वे सामाजिक विभेद और दमन के शिकार थे।

स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक- आर्थिक स्थिति एक भयावह चित्र प्रस्तुत करती थी। अंग्रेज़ी औपनिवेशिक शोषण ने न केवल विकास को अवरूद्ध किया और रोका अपितु सामाजिक और आर्थिक स्थिति को भी कई तरीकों से पंगु बनाया। स्वतंत्रता के आगमन से लोग इन सब में परिवर्तन की अपेक्षा कर रहे थे। तात्पर्य यह है कि भारत को विकास की तीव्र गति प्राप्त करनी थी।

विकास के लक्ष्य

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता के समय भारत के लोग साधारणतया परिवर्तन के युग की राह देख रहे थे। भारत की गरीबी और पिछड़ेपन का कारण संसाधनों अथवा विकास के लिए शक्ति की कमी नहीं था अपितु यह तो सुनियोजित औपनिवेशिक नीतियों के कारण था जिनका मूल उद्देश्य भारत के संसाधनों का अपने स्वयं के विकास के लिए प्रयोग करना था। यह वह युग था जब तकनीकी क्रांति, विज्ञान और संचार में प्रगति ने तीव्र उन्नति को संभव बना दिया था। इन सब के साथ हमारे नेताओं की प्रतिबद्धता भी थी जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान औपनिवेशिक नीतियों की तीव्र आलोचना के साथ-साथ आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन की वैकल्पिक नीतियाँ भी सुझाई थीं। इस प्रकार यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं थी जिसकी राह भारतीय देख रहे थे, अपितु वह 'नवीन सामाजिक व्यवस्था' की स्थापना का भी आग्रह कर रहे थे। ऐसे में 'विकास' लोगों की आशा, समय की माँग और हमारे नेताओं की वचनबद्धता थी।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कई बार विकास का अर्थ प्रति व्यक्ति आय अथवा

उत्पादन में वृद्धि समझ लिया जाता है। यद्यपि ऊँची विकास दर और उत्पादन, विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु उसी समय भारत में इसका तात्पर्य गरिमामय ढंग से विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के रूप में था। अत: विकास को लोगों के भौतिक तथा अध्यात्मिक जीवन की गुणवत्ता में हुई वृद्धि, समानता पर आधारित समन्वित समाज और आत्मनिर्भर गौरवशाली राष्ट्र के आधार पर जांचा जाना चाहिए। जीवन की गुणवत्ता कई बातों पर निर्भर करती है जैसे — स्वास्थ्य, स्वच्छता, पोषण, जीवन दर, शिक्षा, आवास और जीने की सामान्य स्थितियाँ। सामान्य रूप में विकास का अर्थ है — आत्मनिर्भरता, समानता, निष्पक्षता और न्याय पर आधारित समाज। ऐसे समाज की स्थापना के लिए भारत में स्वतंत्रता के समय विकास के निम्नलिखित लक्ष्य थे :

(i) राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए विकास की तीव्र दर;
(ii) विभिन्न वर्गों, श्रेणियों और क्षेत्रों के बीच आय की असमानता को घटाना;
(iii) संपत्ति और संसाधनों को कुछ हाथों में केंद्रित होने को समाप्त करना और समाज के विस्तृत लाभ के लिए उनका प्रयोग करना;
(iv) गरीबी हटाना;
(v) रोज़गार में वृद्धि;
(vi) गरिमापूर्ण मानवीय-जीवन के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा और आवास के साथ आधार भूत न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध करवाना;
(vii) परिस्थिति का संरक्षण और पर्यावरण का बचाव;
(viii) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विदेशी नियंत्रण और सहायता से मुक्त कर आत्मनिर्भर बनाना;
(ix) समाज़ के विभिन्न दलित वर्गों जैसे — अनुसूचित जाँति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जातियाँ, महिलाओं इत्यादि पर पारंपरिक अवरोधों को हटाना।

उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास का आशय 'सामाजिक न्याय के साथ विकास' था। भारतीय संविधान की प्रस्तावना और राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों के एक भाग ने इन लक्ष्यों को नव निर्मित राज्य का आदेश माना है। बाद में इन्हें समाज की समाजवादी व्यवस्था के नाम से भी परिभाषित किया गया। दिसंबर 1954 में लोक सभा ने स्वीकृत किया कि "हमारी आर्थिक नीति का लक्ष्य समाज की समाजवादी व्यवस्था की प्राप्ति होना चाहिए।" जनवरी 1955 में जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस के आवाडी अधिवेशन में स्वयं एक प्रस्ताव रखा जिसने पार्टी को इस सिद्धांत के प्रति वचनबद्ध किया कि "नियोजन समाज में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लक्ष्य से लागू की जानी चाहिए जहाँ उत्पादन के सभी मुख्य साधन समाज के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में हों।" 1976 में संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद शब्द जोड़ कर समाजवाद को सांविधानिक लक्ष्य बना दिया गया। यद्यपि समाजवाद शब्द को कभी परिभाषित नहीं किया गया लेकिन सामान्य रूप से इसे धन-संपत्ति का पुनर्वितरण ही माना जाता है। परंतु सामान्य मान्यता यही थी कि गरीबी और असमानता के विरुद्ध उत्पादन में वृद्धि तथा धन-संपत्ति के पुनर्वितरण के माध्यम से लड़ाई लड़ी जानी चाहिए। लेकिन समस्या यह थी कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की कौन सी नीति अपनाई जाए। इसके लिए हम ने 'नियोजन' का सहारा लिया।

विकास के लिए नियोजन

भारत ने विकास एवं नियोजन के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रारूप को एक नीति के रूप में अपनाया। एक प्रकार से मिश्रित अर्थव्यवस्था भारतीय नियोजकों द्वारा अपनाई गई एक नई विधि थी। उस

समय पूँजीवादी और समाजवादी प्रारूप प्रचलित थे। पूँजीवादी प्रारूप का अर्थ है व्यापारिक शक्तियों द्वारा निश्चित आर्थिक प्रक्रियाओं तथा उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व। समाजवादी प्रारूप का अर्थ है समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप राज्य द्वारा संदर्शित आर्थिक गतिविधियों तथा उत्पादन के साधनों पर राज्य अथवा जनस्वामित्व। इन दोनों प्रारूपों के अपने-अपने गुण और दोष हैं। भारतीय नियोजक दोनों व्यवस्थाओं के सद्गुणों को अपनाना चाहते थे। इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रारूप प्रकट हुआ जिसका अर्थ है निजी, सार्वजनिक और संयुक्त क्षेत्र का एक ही व्यवस्था में साथ-साथ कार्य करना।

मिश्रित अर्थव्यवस्था

मिश्रित अर्थव्यवस्था में राज्य के स्वामित्व वाले उत्पादन के साधनों को समाज कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयोग किया जाना था। निजी स्वामित्व के उत्पादन साधनों को सरकार द्वारा निर्धारित मानदंडों के बीच निजी हितों की सेवा करनी थी। मिश्रित अर्थव्यवस्था का मूल उद्देश्य तीव्र आर्थिक विकास प्राप्त करना तथा यह सुनिश्चित करना था कि अर्थव्यवस्था में, शोषण एवं प्रतिबंधात्मक शक्तियाँ न उभरने पाएँ। इसका स्पष्ट उल्लेख 15 मार्च 1950 के कैबिनेट प्रस्ताव में किया गया जिसने भारत में योजना आयोग की स्थापना की। इन सिद्धांतों का उल्लेख इस प्रकार था : (i) सभी नागरिकों महिला और पुरूष दोनों को समान रूप जीवनयापन के पर्याप्त साधनों पर अधिकार हो; (ii) देश के भौतिक संसाधनों का स्वामित्त्व एवं नियंत्रण का वितरण सामान्य जनहित में हो; तथा (iii) अर्थव्यवस्था के संचालन के परिणामस्वरूप पूँजी तथा उत्पादन के साधनों का किसी अहितकार हाथों में एकत्रीकरण न हो। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत ने समाज के कमज़ोर वर्गों की सुरक्षा, आवश्यक वस्तुओं के वितरण, बुनियादी सुविधाओं की प्रोन्नति, निजी एकाधिकारवादियों को रोकने, समानता एवं न्यायपूर्ण समाज के निर्माण तथा आय में असमानता और क्षेत्रीय असंतुलन को घटाने आदि के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया। मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत विकास की इस प्रक्रिया को क्रियान्वित करने के साधन इस प्रकार हैं :

(i) राजनीतिक स्वतंत्रता;
(ii) नियोजन, सरकारी विनियम और अर्थव्यवस्था का नियंत्रण;
(iii) सार्वजनिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं स्थान;
(iv) लाइसेंस, सब्सीडी, प्रगतिशील कर प्रणाली, निजी क्षेत्र को सहायता, श्रमिक कल्याण, कीमतों पर नियंत्रण भूमि सुधार इत्यादि।

इस प्रकार का नियोजित आर्थिक विकास, योजना आयोग के माध्यम से होना था। आइए हम दृष्टि डालें कि नियोजन का अर्थ क्या है, ताकि हम नियोजन और योजना आयोग की प्रकृति, भूमिका, सफलता और असफलताओं को उचित ढंग से समझने योग्य हो सकें।

भारत में नियोजन

नियोजन का अर्थ है, भविष्य के लिए एक कार्यनीति बनाना। दूसरे शब्दों में, निश्चित विशिष्ट लक्ष्यों को एक निश्चित अवधि में प्राप्त करने के लिए कार्यक्रम बनाना ही नियोजन है। आर्थिक भाषा में इसका अर्थ है, वर्तमान के अपने संसाधनों का मूल्यांकन करना और भविष्य में कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उनका विभिन्न उपयोगों में वितरण करना। सरल शब्दों में, नियोजन कार्य करने की ऐसी शैली विकसित करने की प्रक्रिया है, जिसमें क्या करना है, कब करना है, और कैसे करना है सम्मिलित हैं।

भारत में नियोजन का महत्त्व स्वतंत्रता से पूर्व ही जान लिया गया था। सोवियत संघ में 1928 से

प्रारंभ हुए नियोजन के प्रयोग से भारतीय नेता अत्यधिक प्रभावित हुए थे। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों ने नियोजन के महत्त्व को सामने लाया तथा उसके पक्ष में सुदृढ़ प्रस्ताव भी रखे। 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना कमेटी का गठन किया। 1944 में सरकार ने भी योजना और विकास बोर्ड की स्थापना की। विकल्पों के रूप में, विभिन्न समूहों ने देश के विचारार्थ योजनाएँ बनाईं और प्रस्तुत कीं। इनमें उद्योगपतियों के एक समूह द्वारा निर्मित 'मुंबई प्लान' (बम्बई योजना), गांधी के एक शिष्य श्रीमन नारायण द्वारा निर्मित, 'गांधी योजना', एम. एन. राय का 'पीपुल्स प्लान', इत्यादि सम्मिलित थे। स्वतंत्रता उपरांत विकास के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए, जैसा कि ऊपर वर्णित है, नियोजन को सर्वाधिक प्रभावशाली साधन माना गया है। इस लक्ष्य को पूर्ति हेतु 15 मार्च 1950 को योजना आयोग की स्थापना की गई।

योजना आयोग

योजना आयोग की स्थापना एक बहुसदस्यीय संस्था के रूप में की गई, जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री तथा एक पूर्णकालिक उपाध्यक्ष था। उपाध्यक्ष को कैबिनेट मंत्री का दर्जा प्राप्त है। सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं है। साधारणतया योजना आयोग में 8 से 10 सदस्य होते हैं। इन सदस्यों को राज्य मंत्री के समान दर्ज़ा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त योजना आयोग का एक विशाल संगठनात्मक ढाँचा है जिसमें परामर्शदाता एवं सहायक स्टाफ होता है। योजना आयोग की स्थापना करने वाले आदेश ने इसके विशिष्ट कार्यों को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है :

(i) *संसाधनों का अनुमान :* आयोग सभी भौतिक पदार्थों, पूँजी तथा तकनीकी व्यक्तियों सहित मानव संसाधनों का अनुमान लगाता है और ऐसे संसाधन, जो देश की आवश्यकता की तुलना में कम हैं, की वृद्धि की संभावनाएँ तलाशता है।

(ii) *योजनाएँ बनाना :* योजना आयोग से देश के संसाधनों की सर्वाधिक प्रभावशाली और संतुलित उपयोग के लिए योजनाएँ बनाने की अपेक्षा की जाती है।

(iii) *क्रियान्वयन की अवस्थाएँ निश्चित करना :* प्राथमिकताएँ निश्चित करने के बाद योजना आयोग इसकी अवस्थाएँ निश्चित करता है और इस योजना को लागू करने तथा प्रत्येक अवस्था को पूरा करने के लिए संसाधनों के आबंटन की सिफारिश करता है।

(iv) *आवश्यकताओं की पहचान करना :* योजना आयोग का एक अन्य कार्य उन कारकों की पहचान करना है जो आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं और वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों के दृष्टिगत उन स्थितियों को पहचानना है जो योजना के सफल संचालन के लिए आवश्यक हैं।

(v) *क्रियान्वयन के लिए तंत्र निश्चित करना :* योजना के सभी पक्षों की प्रत्येक अवस्था में सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक तंत्र के रूपों को निश्चित करना।

(vi) *योजना मूल्यांकन :* योजना आयोग का एक आवश्यक कार्य है कि प्रत्येक योजना के क्रियान्वयन की प्रगति का समय-समय पर मूल्यांकन करना तथा ऐसे मूल्यांकन के दृष्टिगत नीति तथा साधनों में आवश्यक समायोजन करने की सिफारिश करे।

(vii) *परामर्श देना :* अंत में योजना आयोग को, सौंपे गए कार्यों को पूरा करने में सहायतार्थ अथवा विद्यमान आर्थिक स्थितियाँ, नीतियों, उपायों

और विकास कार्यक्रमों अथवा केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा प्रेषित विशिष्ट समस्याओं के परीक्षण के संबंध में, समुचित अंतरिम अथवा पूरक सिफारिशें करने का दायित्व है।

पंचवर्षीय योजनाएँ

विकास के निर्धारित लक्ष्यों के दृष्टिगत भारत में योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजनाएँ बनाना प्रारंभ किया। योजनाएँ, राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा दिए गए निर्देशानुसार बनाई जाती हैं। योजना के अंतिम प्रारूप पर केंद्रीय मंत्रीमंडल विचार करने के पश्चात् राष्ट्रीय विकास परिषद् को उसकी स्वीकृति के लिए भेजता है। कैबिनेट और राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्वीकृति के बाद इसे संसद में प्रस्तुत किया जाता है। योजना बनाने के बाद इसे, सुविधाजनक क्रियान्वयन और संसाधन आबंटन के लिए वार्षिक योजनाओं में बाँटा जाता है। योजना को राज्य और केंद्र सरकार लागू करती है। यद्यपि योजना आयोग स्वयं इस कार्य में सम्मिलित नहीं होता तथापि यह क्रियान्वयन की प्रगति का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करता है। योजना आयोग द्वारा बनाई गई प्रथम पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल 1951 को प्रारंभ की गई थी। तब से अब तक 9 पंचवर्षीय योजनाएँ और 6 वार्षिक योजनाएँ बनाई और पूरी की जा चुकी हैं :

(i) प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56);
(ii) दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61);
(iii) तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66);
(iv) वार्षिक योजनाएँ (1966-69);
(v) चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74);
(vi) पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79);
(vii) वार्षिक योजना (1979-80);
(viii) छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85);
(ix) सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90);
(x) वार्षिक योजनाएँ (1990-92);
(xi) आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97);
(xii) नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 1966-69, 1979-80 और 1990-92 में कोई पंचवर्षीय योजना नहीं थी। यद्यपि यह कहा जाता है कि वार्षिक योजनाएँ थी लेकिन वस्तुतः स्थिति यह है कि यह केवल अंतराल भरने की व्यवस्था मात्र थी। ये वो वर्ष हैं जो सरकारों के बदलने, अस्थिरता अथवा विकासात्मक लक्ष्यों और नीतियों में अस्पष्टता को दर्शाते हैं। इसलिए या तो पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई नहीं गई अथवा आने वाली सरकारों के पुनर्विचार और परिवर्तन का विषय बनी रहीं। कई समीक्षक इन वर्षों को योजना की छुट्टी के वर्ष बताते हैं।

नौवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा उनके जीवन को समृद्ध तथा बेहतर जीवन के अवसर प्रदान करने के वृहद् लक्ष्य के अंतर्गत लक्ष्यों, प्राथमिकताओं, नीतियों और दृष्टिकोणों में निरंतरता और बदलाव होते रहे। क्रमिक योजनाएँ आत्म-निर्भरता, सामाजिक न्याय, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास पर बल देती रहीं हैं। लेकिन सभी योजनाओं ने उन्हीं लक्ष्यों पर एक समान बल नहीं दिया। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) के समय तक नियोजक तीव्र आर्थिक विकास और अनुपाती न्याय के बीच फँस चुके थे, साथ ही लोकतांत्रिक व्यवस्था में समाज के सभी वर्गों से वोट और सहयोग प्राप्त करने की ऐसी स्थिति में निहित स्वार्थों पर चोट करने की राजनीतिक इच्छा शक्ति लुप्त हो चुकी थी। इसके साथ ही अफसरशाही, न तो केवल विकास प्रशासन से परिचित तथा प्रशिक्षित ही नहीं थी बल्कि वह समृद्ध समाज एवं ऐसे वर्ग से संबंध रखते थे जो परिवर्तन का समर्थक ही नहीं था। परिणामस्वरूप भारत में विकास की पहली

प्राथमिकता, आर्थिक विकास बन गई। यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्र भी मध्यम वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग उपभोक्ताओं के हितों को साधने का एक साधन बन गया। राज्य, निहित और शक्तिशाली हितों के दबाव में उनसे सामाजिक परिवर्तन के लिए टैक्स उगाहने की बजाय समाज के धनाढ्य वर्ग को धनानुदान देते रहे। संसाधनों को एकत्र करने में असमर्थ होने के कारण देश, अंदर और बाहर से प्राप्त सहायता तथा ऋण पर निर्भर हो गया। इन सब का परिणाम था :

(i) सरकार का, आय और राजस्व की तुलना में, अधिक खर्च से विशाल आर्थिक घाटा।

(ii) अधिक विदेशी ऋण, ऋण-सेवा अनुपात में वृद्धि, जिसने देश को ऋण जाल में फँसा दिया जिससे भुगतान की गंभीर समस्याएँ पैदा हुई और देश की ऋण के मामले में साख घटी।

(iii) एक अक्षम अर्थव्यवस्था, जिसमें एक ओर तो नियंत्रण और लाइसेन्स की प्रक्रिया थी जिसे आर्थिक विकास को एक निश्चित दिशा देने के लिए लागू किया गया था — वह भ्रष्टाचार का साधन और विकास में रूकावट बन गई थी तो दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र, जिन्हें साधनों के सृजन, श्रम कल्याण और जनसाधारण को आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराने के लिए स्थापित किया गया था — वह अपार घाटे वाला, अक्षम और अफसरशाही के चंगुल में राजनीतिज्ञों, निजी क्षेत्र और नौकरशाही की सेवा में संलग्न हो गया था।

इस प्रकार 1980 के मध्य तक भारत अन्य अनेक विकासशील देशों की भाँति गंभीर आर्थिक संकट से ग्रस्त था। ठीक इसी समय पश्चिमी विकसित देश पूरी दुनिया के देशों को इकट्ठा कर एक विश्वव्यापी पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के माध्यम से पुनः विश्व अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए सक्रिय थे। सोवियत संघ और अन्य पूर्वी-यूरोपीय समाजवादी देशों के बिखराव ने इसका मार्ग प्रशस्त किया। विकसित देशों ने इस कारण अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे — अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक का प्रयोग ऋणी देशों, और धीमी गति से विकास कर रहे देशों पर अपनी अर्थव्यवस्था को उसी प्रक्रिया अनुसार परिवर्तित करने के लिए दबाव डालने के लिए शुरू किया जिसे वैश्वीकरण अर्थात् भूमंडलीकरण के नाम से जाना जाता है।

नई आर्थिक नीति और भूमंडलीकरण

तीव्र गति के विकास अथवा संतोषजनक पुनर्वितरणात्मक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहने के बाद 1980 के प्रारंभ से सरकार विकास को वरीयता देने की ओर झुकना प्रारंभ कर दिया। यह अनुभव किया गया कि नियोजित विकास और सामाजिक न्याय के नाम पर सरकारी नियंत्रण, सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र पर लगी पाबंदियाँ विकास के मार्ग में बाधाएँ सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। 1980 के मध्य तक विकास की नीति दोहरी बन चुकी थी। पहली, थी : अर्थव्यवस्था के विकास में, सरकार की भूमिका को कम करना और सार्वजनिक क्षेत्र में कटौती और अर्थव्यवस्था को निजी उद्यमों के लिए खोलना। दूसरा सरकार के बचे हुए क्षेत्रों, पर नियंत्रण कसने तथा विशेषकर कर ऋण संबंधी नीतियों के क्षेत्र में नियंत्रण बढ़ाना था।

नई आर्थिक नीति के प्रति नीतिगत निणर्यों में परिवर्तन 1980 के शुरू से ही प्रारंभ हो गए थे जो सीमित एवं अव्यवस्थित रहे। 1991 से ही स्पष्ट एवं सुपरिभाषित नई आर्थिक एवं विकास नीति का

प्रारंभ हुआ। इसके बाद से सभी सरकारें आर्थिक सुधार की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रही हैं। नई आर्थिक नीति उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के सिद्धांतों पर आधारित है।

इस संदर्भ में अधिकतर उत्पादों पर से औद्योगिक लाइसेन्सों को हटाना, सार्वजनिक क्षेत्र से सरकारी पूँजी का विनिवेशीकरण, छोटे क्षेत्र में लिए आरक्षित उत्पादों की संख्या में कमी करना, आयात शुल्क का उदारीकरण एवं घटाना और विदेशी पूँजी निवेश का विनिवेशीकरण करना तथा प्रतिबंधों को हटाना, जैसे कार्य सम्मिलित हैं। इस सब का अर्थ है : निजी क्षेत्र को मनचाहा उत्पादन करने की स्वतंत्रता, सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका एवं स्थिति में ह्रास, विदेशी वस्तुओं का पहुँचना और भारतीय बाज़ार में निवेश तथा राज्य का आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा सहित समाज सेवा के अन्य विभिन्न क्षेत्रों से पीछे हटना अथवा अपनी भूमिका को कम करना।

नई आर्थिक नीति के अपने गुण तथा दोष हैं। नि:सन्देह निजी क्षेत्र को पहल सौंप कर इसने उत्पादन और विकास को तीव्रता प्रदान की है। बाज़ार में प्रतिस्पर्धा बढ़ी है और उपभोक्ताओं का चयन क्षेत्र विस्तृत हुआ है। देश का भुगतान संतुलन स्थिर हुआ दिखाई देता है। तकनीकी विकास तथा सूचना क्रांति के लाभ भारत में तेज़ी से पहुँच रहे हैं। यद्यपि आलोचकों का कहना है कि ये लाभ बहुत सीमित हैं और समाज के केवल एक छोटे से वर्ग को ही लाभ पहुँचाते हैं। उपभोक्तावाद की आलोचना भी इससे संबंधित है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने बड़े संसाधनों के बल पर मीडिया और विज्ञापनों के द्वारा अपना माल तथा वस्तुओं, जो अनावश्यक हैं, को बेचने के लिए माँग पैदा करते हैं। इसका दूसरा प्रभाव है मूल्यव्यवस्था में परिवर्तन। मूल्यों सहित प्रत्येक पश्चिमी वस्तु श्रेष्ठतर समझी जाती है।

यह भी संकेत हैं कि आर्थिक सुधारों ने कृषि क्षेत्र तथा रोज़गार पैदा करने की अवहेलना की जो भारत जैसे देश के लिए अत्यावश्यक हैं। दूसरी ओर यह राजस्व घाटे को कम करने में असफल रही है। इसी प्रकार विदेशी कर्ज़ बढ़ रहा है जो समय आने पर अपना प्रभाव दिखाएगा। आय का उच्च वर्ग के पक्ष में पुनर्वितरण हो रहा है और जनसाधारण के जीवन स्तर में गिरावट आई है। संपत्ति धारकों को लाभ और मज़दूर तथा वेतनधारियों को हानि निश्चित है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया और नियोजन का स्वरूप ही बदल गया है।

नई आर्थिक नीति और नियोजन

नई आर्थिक नीति का तात्पर्य है अर्थव्यवस्था और विकास में सरकार की भूमिका के दृष्टिकोण में परिवर्तन। यद्यपि इसका अर्थ विकास लक्ष्यों को निर्धारित करने की आवश्यकता तथा इसके लिए आवश्यक मार्ग एवं संदर्शन उपलब्ध करवाने को नकारना नहीं है। लोकतंत्र में राज्य सरकार भी मतदाताओं के दबाव में होती है और लोगों की इच्छाओं और माँगों की पूरी तरह अवहेलना नहीं कर सकती। इसलिए नए आर्थिक परिवेश में भी आर्थिक नियोजन, सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश की नीतियाँ निर्धारित करने तथा निजी क्षेत्र को वांछित दिशा में प्रेरित करने के लिए एक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कारक है।

इस परिप्रेक्ष्य में भारत मे दीर्घकालिक नियोजन की प्रक्रिया निरंतर चल रही है। यद्यपि आठवीं योजना के बाद से आर्थिक नियोजन के विचार में परिवर्तन आया है। अब यह कहा जाता है कि 'नियोजन की भूमिका' बहुधा संकेतात्मक होगी। दूसरे शब्दों में, निवेश योग्य संसाधनों का सरकार द्वारा निश्चित प्राथमिकताओं के अनुसार तथा बाज़ारी ताकतों द्वारा दिए गए संकेतों की परवाह किए

बिना योजना का प्रयोग नहीं किया जाएगा। नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के प्रलेख की प्रस्तावना में कहा गया है कि योजना का उद्देश्य सामाजिक न्याय और समता आधारित विकास पर केंद्रित होना है। इसलिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों एवं सरकार के सभी स्तरों का इस प्रक्रिया में भाग लेना महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा सितंबर 2001 में स्वीकृत दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-7) का प्रस्ताव पत्र दर्शाता है कि भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र और सरकार की भूमिका सामाजिक क्षेत्र तक सीमित होगी जबकि मूलभूत ढाँचे का विकास तथा औद्योगिक विकास को निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया जाएगा। योजना का उद्देश्य ग्यारहवीं पंचवर्षीय नियोजन के अंत तक जीवन के सभी मोर्चों पर गुणवत्ता को बढ़ाना है। बेशक इसमें गंभीर प्रयासों और नई उर्जा की आवश्यकता होगी। दुर्भाग्य से अब तक का अनुभव उत्साह वर्धक नहीं रहा है।

विकास और नियोजन : एक मूल्यांकन

उपरोक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि नियोजन को गरीब, पिछड़े और अल्प विकसित सामाजिक व्यवस्था के संतुलित विकास, न्याय, निष्पक्षता और समानता के सिद्धांतों पर एक समृद्ध, स्वतंत्र और विकसित आधुनिक समाज बनाने के लिए अपनाया गया था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अब तक हम नौ पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी कर चुके हैं। इन सबने आत्म-निर्भरता, सामाजिक न्याय, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास पर निरंतर बल दिया है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के युग में महत्त्व, विकास और सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के ढाँचे के भीतर पूरा ध्यान निजी क्षेत्र को सुविधाएँ एवं प्रोत्साहन देने तथा विदेशी निवेश को आकर्षित करने की ओर खिसक गया है।

गत पाँच दशकों के नियोजित विकास के परिणामों की समीक्षा करने पर हम कह सकते है कि भारत के खाते में कई उपलब्धियाँ दर्ज हैं। सातवें दशक के मध्य तक सकल औद्योगिक उत्पादन चार गुना से अधिक हो चुका था। सरकारी और निजी क्षेत्र में धातु क्रम और भारी उद्योगों के साथ खनन और संसाधित उद्योगों की नई शाखाएँ स्थापित हुई हैं। एक गतिहीन और निर्भर अर्थव्यवस्था को आधुनिक और अधिक स्वावलंबी बनाया गया है। कृषि उत्पादन विशेषत: खाद्यानों की उपज निरंतर बढ़ी है जिसने हमें आत्मनिर्भर बना दिया है। बैंकिग, बीमा, व्यापार और परिवहन के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर छात्रों की संख्या की वृद्धि के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा के अवसरों का भी सार्थक विस्तार हुआ है। यह जानना भी आवश्यक है कि चालीस के दशक में औसत जीवन आयु 32 वर्ष से बढ़ कर नब्बे के दशक में 60 वर्ष हो गई है। तृतीय विश्व में भारत सर्वाधिक तकनीकी उन्नत देश है। भारत अंतरिक्ष में उपग्रह भेज चुका है, नाभकीय शक्ति का परीक्षण कर चुका है और समुद्र तल का खनन कर चुका है। भारतीय सेना ने भी उल्लेखनीय उन्नति की है। भारत विविध प्रकार के तकनीकी, प्रबंधकीय और व्यवहारिक कौशल विकसित कर चुका है। कृषि और ग्रामीण विकास के अनेक नए कार्यक्रम प्रारंभ किए जा चुके हैं।

इस सब उपलब्धियों के बावजूद भारत की मूल समस्याएँ जैसे — गरीबी, बेरोजगारी, वितरणात्मक और स्वावलंबन की समस्याएँ नहीं सुलझी हैं। उत्तरोतर बनने वाली पंचवर्षीय योजनाएँ देश के आर्थिक ढाँचे को बदलने में असफल रही हैं। वास्तव में पूँजी और आय के बटवारे में असमानता बढ़ रही है। जनसंख्या का एक बड़ा वर्ग अभी भी गरीबी रेखा के नीचे भूख और अमानवीय स्थिति में रहता है।

इसलिए यह समझना आवश्यक है कि हमारे देश के लाखों लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बिना, निर्मित विकास प्रारूप लोकतंत्र के अस्तित्त्व के लिए सहायक नहीं हो सकता। केवल पारंपरिक ढंग से विकास दर मापने को सामाजिक आर्थिक विकास के साथ भ्रमित नहीं करना चाहिए। विकास को, उन्नति के लिए अपनाए गए तरीकों और समुदाय की संयुक्त कारवाई करने की इच्छा को परिलक्षित करती हुई सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझना होगा। विकास का सुनिश्चित लक्ष्य गरीबी, अज्ञानता, विभेद, बीमारी और बेरोज़गारी हटाना तथा सभी लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना होना चाहिए। लोगों की सहभागिता के बिना कोई योजना अथवा प्रभावशाली विकास सफल नहीं हो सकता। लोग विकास नीतियों के लक्ष्य ही नही, अपितु साधन भी होने चाहिए। इसलिए विकास प्रक्रिया को मानव केंद्रित बनाने की आवश्यकता है, ऐसी जिसे लोग शुरू कर सकें और विभिन्न स्तरों पर विकसित कर सकें। साधनों की दृष्टि से योजना का विकेंद्रीकरण इसके लिए एक यंत्र है। पंचायती राज संस्थाओं तथा ज़िला विकास अभिकरण इनके विषय में हम अगले अध्याय में पढ़ेंगे के माध्यम से बहुस्तरीय नियोजन के विचार को स्वीकार कर इस दिशा में कुछ कदम उठाए जा चुके हैं। परंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है। विकास का वैकल्पिक प्रारूप और नीति तथा उसे लागू करने के लिए राजनीतिक इच्छा शक्ति की परम आवश्यकता है।

अभ्यास

1. नियोजन से क्या अभिप्राय है? विकास के लिए इसका क्या महत्त्व है?
2. स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. योजना आयोग के संगठन और कार्यों की व्याख्या कीजिए।
4. अब तक कितनी पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं?
5. भारत की नई आर्थिक नीति की समीक्षा कीजिए।
6. भारत में विकास और नियोजन का संक्षेप में मूल्यांकन कीजिए।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) मिश्रित अर्थव्यवस्था
   (ii) वैश्वीकरण (भूमंडलीकरण)
   (iii) भारत में विकास के लक्ष्य

अध्याय 9

बहुस्तरीय नियोजन एवं ज़िला विकास अभिकरण की भूमिका

भारत में नियोजन का विचार मात्र व्यापक विकास के लिए ही नहीं था, अपितु यह लोकतंत्र के सिद्धांतों पर भी आधारित था जिसमें लोगों और उनके प्रतिनिधियों के लिए इसके निर्माण और मूल्यांकन में प्रतिभागिता हेतु विशेष अवसर थे। इस के दृष्टिगत विभिन्न संस्थाओं को योजना निर्माण, क्रियान्वयन, जाँच एवं मूल्यांकन में सम्मिलित करने का निर्णय लिया गया। इनमें राष्ट्रीय विकास परिषद्, योजना आयोग, राज्य योजना बोर्ड, ज़िला योजना सैल, तथा संसद एवं राज्य तथा केंद्र सरकार के योजना सैल सम्मिलित हैं। अत: विचार बहुस्तरीय नियोजन को अपनाने का था। इसका उद्देश्य ज़िला स्तर पर ज़िला नियोजन बोर्ड द्वारा बनाई गई योजना को राज्य की योजना बोर्ड द्वारा निर्मित राज्य योजना से जोड़ कर और इसी क्रम से उन्हें योजना आयोग द्वारा निर्मित राष्ट्रीय योजना से जोड़ कर; योजनाएँ बनाना था।

केंद्रीकरण

यद्यपि योजना के प्रारंभिक वर्षों में बहुस्तरीय योजना के विचार और विधि का निर्माण किया गया था परंतु व्यवहार में यह बिल्कुल भिन्न था। भारतीय योजना की अवधारणा दो स्तरों पर की गई — राष्ट्रीय और राज्य स्तर। वस्तुत: जैसा कि आलोचक कहते हैं कि योजना आयोग ने संघीय व्यवस्था के अंतर्गत राज्यों की स्वायतता के क्षेत्र का उल्लंघन किया है। योजना आयोग ने राज्य सरकार के विकास कार्यक्रमों के उन प्रस्तावों को संशोधन करना अथवा नकारना शुरू कर दिया जिनके लिए केंद्रीय आर्थिक सहायता माँगी गई थी और जो केवल योजना आयोग की सिफारिश पर ही दी जा सकती थी।

केंद्रीय योजना व्यवस्था क्षेत्रों और समूहों के बीच आर्थिक विकास के लाभ के न्यायोचित वितरण में असमर्थ रही। केंद्र में बैठे निर्णय लेने वाले विषम क्षेत्रों और समूहों की आवश्यकताओं को नहीं समझ सकते थे। केंद्रीय नियोजन और प्रबंधन में केंद्र के पास शक्ति, अधिकार और संसाधनों का अत्यधिक संकेंद्रण है। लाल फीताशाही और जटिल संरचनात्मक कार्यशैली इसके अवश्यभावी गुण हैं। भारत जैसे विशाल देश में जहाँ विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त अनेकताएँ है, केवल एक केंद्रीय नियोजन एजेन्सी द्वारा योजना निर्माण का परिणाम विपरीत भी हो सकता है।

विकेंद्रीकरण की आवश्यकता

यह पूर्णतया स्वीकृत किया जा चुका है कि विकास से प्रभावित होने वाली संस्थाओं को महत्त्व दिए बिना एक प्रभावशाली और अर्थपूर्ण राष्ट्रीय विकास, संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय विकास एक ऐसा राष्ट्रीय प्रयास होना चाहिए जिसमें विभिन्न स्तरों पर

भिन्न-भिन्न संस्थाएँ सम्मिलित हों। इसलिए योजना निर्माण और क्रियान्वयन में सरकार के विभिन्न स्तर आवश्यक रूप से सम्मिलित हैं। इसी को ही विकेंद्रीकृत नियोजन कहते हैं। स्पष्ट है कि नियोजन में विकेंद्रीकरण का अर्थ है योजना के निर्माण और क्रियान्वयन के विभिन्न स्तरों पर व्यक्तियों का शामिल होना। भारत जैसे बड़े देश में जहाँ विस्तृत विभिन्नताएँ, असंतुलन और आवश्यकताओं में भिन्नताएँ हैं — विकास की सफलता के लिए विकेंद्रीकरण एक अनिवार्य साधन है। अतः नियोजन को केंद्र स्तर, राज्य स्तर और राज्य स्तर से नीचे ज़िला, ब्लाक और गाँव स्तर पर बनाना होता है। इसके लिए विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त योजना तंत्र की स्थापना की आवश्यकता होती है।

विकेंद्रीकरण में प्रयोग और जन सहभागिता

भारत में, लोगों की सहभागिता की आवश्यकता और विकेंद्रीकरण के महत्त्व को अनुभव किया जाता रहा है। वास्तव में, भारत के संविधान में योजना विषय को समवर्ती सूची में रखा गया है, संघीय सूची में नहीं। इस का तात्पर्य यह है कि योजनाबद्ध विकास का दायित्व योजना के सुव्यवस्थित निर्माण, क्रियान्वयन और मूल्यांकन-केंद्र और राज्य दोनों पर है। विकेंद्रीकृत नियोजन के विचार, निचले स्तर से योजना, नियोजन में लोगों की भागीदारी, बहुस्तरीय नियोजन, इत्यादि का उल्लेख पंचवर्षीय योजनाओं में बार-बार किया गया है। केंद्र और राज्यों के बीच तालमेल के लिए एक राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गई थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना, नियोजन को आधारभूत स्तर से जोड़ने की विचारधारा को क्रियान्वित करने का व्यापक प्रयास था। साधारणतया ये प्रयास असफल रहे। फिर भी समय-समय पर केंद्रीयकृत नियोजन की त्रुटियों और विकेंद्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया जाता रहा है।

राष्ट्रीय विकास परिषद्

'राष्ट्रीय विकास परिषद्' भारत में नियोजन के संघीय दृष्टिकोण के प्रतीक के रूप में अति महत्त्वपूर्ण संगठनों में से एक है। यह योजना आयोग की सिफारिशों की देन है अथवा उसकी उपज भी कही जा सकती है। योजना आयोग ने पहली पंचवर्षीय योजना के प्रलेख में, योजनाओं को राष्ट्रीय स्वरूप देने के लिए, केंद्र और राज्य सरकारों की एक संयुक्त संस्था की आवश्यकता की सिफारिश की थी। अगस्त 1952 में गठित राष्ट्रीय विकास परिषद् के अनुसार परिषद् के निम्नलिखित कार्य हैं :

(i) राष्ट्रीय योजना निर्माण के लिए दिशा निर्देश निर्धारित करना;

(ii) योजना आयोग द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय योजना पर विचार करना;

(iii) योजना को लागू करने के लिए आवश्यक संसाधनों का अनुमान लगाना और उन्हें प्राप्त करने के तरीके सुझाना;

(iv) विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक और आर्थिक नीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना;

(v) योजना की समय-समय पर समीक्षा करना तथा राष्ट्रीय योजना में घोषित लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक उपायों की सिफारिश करना।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है तथा इसमें सभी केंद्रीय कैबिनेट मंत्री, राज्यों के मुख्य मंत्री, संघ शासित क्षेत्रों के मुख्य कार्यकारी अधिकारी तथा योजना आयोग के सदस्य होते हैं। परिषद् को वर्ष में कम से कम 2 बार बैठक होनी चाहिए। अपनी बैठकों में यह प्रायः पंचवर्षीय योजना के प्रपत्र, पंचवर्षीय योजना के प्रलेख और पंचवर्षीय योजना की समीक्षा करते हैं।

राष्ट्रीय योजना में राष्ट्रीय विकास परिषद् की भूमिका के संदर्भ में विचारों में भिन्नता हैं। कुछ का मानना है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् संघीय सरकार, योजना आयोग और राज्य सरकारों के बीच उपयोगी कड़ी के रूप में काम किया है। इसने योजना को एक तार्किक दृष्टि प्रदान की है। दूसरा विचार है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् सर्वसम्मति तथा राष्ट्रीय नीतियों के प्रति वचनबद्धता स्थापित करने में एक प्रभावशाली साधन के रूप में कार्य करने में असमर्थ रही है। केंद्र और राज्य के संबंधों की समीक्षा करने के लिए नियुक्त किए गए 'सरकारिया कमीशन' ने सिफारिश की थी कि राष्ट्रीय विकास परिषद् को अधिक प्रभावशाली बनाया जाए ताकि यह केंद्र-राज्य के योजना संबंधों के लिए राजनीतिक स्तर पर एक उच्चतम संस्था के रूप में आगे आए। इसने इसे सांविधानिक दर्जा देने तथा इसका पुनर्गठन कर उसे 'राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद्' का नया नाम देने की सिफारिश भी की।

राज्य योजना बोर्ड

विकास गतिविधियों में सम्मिलित बहुत से विषय जैसे — कृषि, सिंचाई, शक्ति, सहकारिता, समाज सेवा इत्यादि राज्य सूची में हैं। ऐसे में राज्य स्तर पर नियोजन तथा विकास के क्षेत्र में केंद्र और राज्य सरकारों के बीच समन्वय आवश्यक हैं। प्रारंभिक वर्षों में, केंद्रीय स्तर पर योजना निर्माण के लिए योजना आयोग का गठन किया गया था, परंतु राज्यों ने इस प्रकार की कोई संस्था गठित नहीं की गई थी। लगभग सभी राज्यों में योजना विभाग सरकार के एक अंग के रूप में कार्य कर रहा था। यद्यपि राज्यों ने यह अनुभव किया कि पंचवर्षीय योजनाओं को बनाने, परखने और मूल्यांकन के लिए एक सरकारी विभाग पर्याप्त नहीं है। योजना आयोग ने स्वयं 1962 में इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया और राज्य योजना बोर्ड बनाने की सिफारिश की।

उपरोक्त सिफारिशों के आधार पर कुछ राज्यों ने राज्य योजना बोर्ड गठित किए। लेकिन इन्हें स्पष्ट परिभाषित कार्य नहीं सौंपे गए। इसलिए वे अधिक सफल नहीं हो पाए। 1967 में नियुक्त प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी सिफारिशों में राज्य योजना बोर्ड को बड़े स्तर की आर्थिक योजना बनाने, राज्य के संसाधनों का अनुमान लगाने, प्राथमिकताएँ निश्चित करने और ज़िला नियोजन में सहायता देने का कार्य सौंपने का सुझाव दिया। 1972 में योजना आयोग ने राज्य योजना तंत्र को मज़बूत करने के लिए कई तकनीकी विशेषज्ञ शामिल करने के दिशानिर्देश दिए। इस प्रकार 1970 के दशक में कई राज्यों ने उस समय की नियोजन संयंत्र को पूरक एवं संपूरक बनाने के लिए योजना बोर्डों का गठन कर लिया। यह अपेक्षा थी कि योजना बोर्डों के सहयोग से राज्य न केवल संसाधन जुटाने और योजनाओं को वैज्ञानिक रूप रेखा पर लाने में उचित स्थिति में होंगे अपितु आयोग से संपर्क बनाने में भी अपनी क्षमता बढ़ाएँगे।

राज्य योजना बोर्ड के ढाँचों में एकरूपता नहीं है। यह प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है। जैसा कि सरकारिया कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि यद्यपि केवल एक राज्य को छोड़ कर शेष सभी राज्यों ने राज्य योजना बोर्ड बना लिए हैं परंतु वे वास्तविक योजना कार्य में सम्मिलित नहीं हो सके। सामानयत: राज्य योजना बोर्ड को राज्य सरकारों में अपेक्षित स्तर और अधिकार प्राप्त नहीं थे।। जहाँ तक केंद्र का संबंध है राज्यों को योजना आयोग की सिफारिश पर अनुदान दिया जाता है और प्राय: राज्य द्वारा निर्मित योजना पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। अत: कुल मिलाकर राज्य योजना बोर्ड के कार्य और भूमिका सीमित और अर्थहीन बने हुए हैं। उनकी भूमिका केवल सीमित परामर्शदाता की रही है। योजना प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण की तरफ मात्र झुकाव ही है अन्यथा वे पूर्णतया केंद्रीय नियंत्रण में है।

ज़िला योजना अभिकरण

विकास योजनाएँ लोकोन्मुख होती है। इसके अनुसार लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की जानकारी और उनकी पूर्ति, योजना के अतिआवश्यक पहलू हैं। महात्मा गांधी ने विक्रेंद्रीकरण और जनसाधारण के सशक्तीकरण की आधारभूत स्तर पर ज़ोरदार वकालत की थी। विकेंद्रीकृत नियोजन सभी क्षेत्रों की आवश्यकताओं की बेहतर जानकारी देता है, उचित निर्णय लेने को संभव बनाता है, लोगों को अपने विकास और भलाई के निर्णयों में उचित भागीदारी मिलती है और कार्यक्रमों में अधिक अच्छा समन्वय और एकीकरण प्राप्त करने का साधन बनता है। संविधान निर्माताओं ने इस विचार को राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों में सम्मिलित किया था और अनुच्छेद 40 में कहा था कि ग्राम पंचायतें गठित करने के लिए राज्य कदम उठाएँ तथा उन्हें ऐसे अधिकार व शक्तियाँ प्रदान करे जो उन्हें स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य करने के लिए आवश्यक हो। 1950 के दशक में सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना, ऐसे पहले और महत्त्वपूर्ण कदम थे जिसने आधारभूत स्तर पर योजना को कार्यान्वित करने का कार्य किया। फिर भी ये दोनों प्रयास विभिन्न कारणों से विफल रहे।

पंचायती राज

1957 में भारत सरकार ने गाँव स्तर पर विकास की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए बलवंत राय मेहता समिति का गठन किया। समिति ने विकास कार्यो के सभी पहलूओं की देखभाल के लिए लोकतांत्रिक संस्थाओं को शुरू करने की सिफारिश की। इसके अनुसार त्रिस्तरीय पंचायती राज गाँव स्तर पर चुनी हुई पंचायत, ब्लॉक स्तर पर एक कार्यकारी संस्था ब्लॉक समिति तथा ज़िला स्तर पर एक परामर्शदात्री संस्था ज़िला परिषद्, का गठन हुआ।

यद्यपि पंचायती राज संस्थाओं के गठन के पीछे लक्ष्य अति महत्त्वपूर्ण था परंतु जिस भावना से इसे लागू किया गया उसमें वास्तविक उत्साह की कमी थी। परिणामस्वरूप अन्य असफलताओं के अतिरिक्त पंचायती राज संस्थाओं के अंतर्गत नियोजन भी अधिक सफल नहीं हुआ। वास्तव में उन्हें स्थानीय योजना निर्माण में कार्य करने का कोई अवसर नहीं दिया गया। अनुभवहीनता, योजना में सहायता और कौशल की कमी, अफसरशाही के हावी होने तथा राज्य सरकार के पूर्णतया अधीन होने व आर्थिक शक्तियों के अपर्याप्त वितरण के कारण ये संस्थाएँ सफल नहीं हो सकीं।

ज़िला नियोजन तथा ज़िला विकास अभिकरण

भारत में सामान्यत: नियोजन, केंद्र तथा राज्यों तक ही, सीमित रहा, लेकिन इसके असंतोषजनक परिणामों ने विकेंद्रीकरण के लिए दबाव बनाए रखा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा पंचायती राज संस्था की असफलताओं के कारण इनके साथ ही ज़िला नियोजन और ज़िला विकास अभिकरण के गठन के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए। 1969 में प्रशासनिक सुधार समिति ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि एक ज़िला नियोजन समिति होनी चाहिए जिसमें ज़िला परिषद्, ज़िले की नगर पालिकाओं के प्रतिनिधि तथा ज़िले की व्यवसायिक प्रतिभाएँ एवं ज़िले के अधिकारियों की उपयुक्त सहभागिता होनी चाहिए। योजना आयोग ने विकेंद्रीकृत नियोजन तथा ज़िला नियोजन अभिकरण के स्थापना के लिए दिशानिर्देश भी दिए थे, जिसमें सरकार, स्थानीय स्वशासन, प्रगतिशील कृषक एवं उद्यमी सम्मिलित हो सकें। फिर भी ज़िला स्तर एक उपयुक्त योजना तंत्र नहीं बन पाया। अशोक मेहता समिति ने 1978 में अपनी रिपोर्ट में कहा कि पंचायती राज संस्थाओं को वृहद् स्तर पर योजना बनाने अथवा लागू करने के अवसर बहुत कम दिए गए है। अपने सुझावों में समिति ने

सुझाया कि राज्य के बाद विकेंद्रीकरण प्रक्रिया में ज़िला प्रथम विकेंद्रकृत बिंदु होना चाहिए। बहुत से राज्यों में ब्लॉक नियोजन की भी एक इकाई है; परंतु उसे मात्र ज़िला परिषद् की कार्यसमिति होने के नाते विकेंद्रीकरण की मूल इकाई नहीं कहा जा सकता।

1978 में ब्लॉक स्तरीय नियोजन के अध्ययन के लिए एक कार्यकारी दल नियुक्त किया गया। समिति ने पाया कि ज़िला स्तर पर नियोजन तंत्र या तो अस्तित्व में ही नहीं है या बिल्कुल अक्षम है। समिति ने एक कोष्ठक का सुझाव दिया जो ज़िला नियोजन को मज़बूत करेगा। इन सुझावों के आधार पर एक बार फिर योजना आयोग ने 1982 में ज़िला स्तर पर नियोजन को सुदृढ़ बनाने के लिए रूपरेखा तैयार की। इस परियोजना ने सुझाव दिया कि ऐसे तकनीकी व्यक्तियों को ज़िले के वैज्ञानिक नियोजन में सम्मिलित किया जाए जिन्हें इसके विषय में ज्ञान और कौशल प्राप्त हो। नियोजन आयोग ने अपने ज़िला नियोजन के विचार को मूर्त रूप देने के लिए एक कार्यकारिणी की स्थापना सी. ए. हनुमनता राव की अध्यक्षता में करने का निर्णय किया। इस कार्यकारी वर्ग ने 1984 में अपनी रिपोर्ट प्रेक्षित करते हुए कहा : विकेंद्रीकरण (ज़िला नियोजन के द्‍वारा) स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं का अच्छा बोध कराता है, अच्छे निर्णय लेने में सहायक होता है, व्यक्तियों को अपने विकास और कल्याण हेतु निर्णय लेने के अवसर प्रदान करता है, कार्यो के मध्य तालमेल और समन्वय स्थापित करने में सहायक होता है, व्यक्तियों की वास्तविक आवश्यकताओं को भी ध्यान में लाने के लिए योग्य बनाता है, लोगों की प्रभावी भागीदारी सुनिश्चित करता है, समुदाय के वास्तविक संसाधनों अथवा धन को संगठित करके आत्मनिर्भरता सशक्त करता है और स्थानीय साधनों का विकास और स्थानीय क्षेत्र की विकास क्षमता, अच्छी उत्पादकता तथा उनको बढ़ाना संभव बनाता है।

कार्यकारी वर्ग ने ज़िला नियोजन अभिकरण के लिए निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए : (i) स्थानीय आवश्यकताओं और उद्‍देश्यों को निश्चित रूप देना; (ii) प्राकृतिक और मानवीय विकास को सूचिबद्‍ध करना; (iii) सुविधाओं को सूचिबद्‍ध एंव चित्रण करना; (iv) ज़िला योजनाओं का निर्माण; (v) निजी कार्यक्रमों तथा प्राथमिकताओं का निर्धारण (vi) संयोजित क्रियान्वयन; तथा (vii) ज़िला योजनाओं और कार्यक्रमों का पुर्नावलोकन और निरिक्षण करना। इस कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए कार्यकारी वर्ग ने ज़िला नियोजन ऐजेन्सी के विस्तार की सिफारिश की जिसमें ज़िला परिषद्, पंचायत समितियों, नगर पालिकाओं, विधायकों तथा सांसदों को ज़िले से प्रतिनिधियों के रूप में, कामगरों एवं, उद्‍योगपतियों के तथा बैंकों आदि के प्रतिनिधियों को सम्मलित करने का सुझाव दिया।

हनुमनता राव समूह की सिफारिशों के अनुसार तथा योजना आयोग की सहायता और प्रेरणा से ज़िला नियोजन प्रकोष्ठ बहुत से राज्यों में स्थापित किए गए हैं। ज़िला योजना प्रकोष्ट का मूल कार्य ज़िले के लिए एक संसाधन पत्र, ज़िला स्तर पर अन्य विभागों के सहयोग से, तैयार करना है। अनेक स्थितियों में इन प्रकोष्ठों को ज़िलो के वार्षिक योजनाओं के निर्माण का कार्य भी सौंपा गया। परंतु समान्यत: ज़िला नियोजन प्रकोष्ठ वास्तविक रूप से अर्थपूर्ण कार्य करने के स्थान पर केवल एक औपचारिक ही बने रहे। इसका मुख्य कारण नियोजन और सत्ता के मध्य असमन्वय होना था। वित्तिय शक्तियों के अभाव के कारण ज़िला स्तर संस्थाओं को लक्ष्यों का निर्धारण, प्राथमिकताओं का निर्धारण, संसाधनों का संगठन और इनके वितरण का निर्णय करना संभव हो जाता है। लगभग सभी विषयों में ज़िला नियोजन संस्थाओं को पर्याप्त प्रशिक्षित तथा योग्य नियोजन कर्मचारी उपलब्ध नहीं कराए गए। जैसा कि कहा जा चुका है कि

अवधारणा स्तर पर कम से कम यह अनूभूति होती है कि विकास एवं नियोजन को ज़िला स्तर पर क्रियान्वित करना अति महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रति एक उत्साहवर्धक कदम अंतत: ज़िला स्तरीय नियोजन को 1973 और 1974 में सांविधानिक संशोधनों द्वारा सांविधानिक मान्यता प्रदान करके उठाया गया।

सांविधानिक संशोधन तथा ज़िला नियोजन समितियाँ

स्थानीय स्वशासन सरकारों को सशक्त एवं पुनर्जीवित करने में एक ठोस प्रयास अंतत: 1992 में संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधन को स्वीकृत करके किया गया। इस ढाँचे के अंतर्गत इन संस्थाओं के कुछ कार्यों को अनिवार्य बना दिया गया। 74वां संशोधन ज़िला स्तर पर नियोजन समितियों के गठन का प्रावधान भी करता है ताकि पंचायतों और नगर पालिकाओं द्वारा बनाई गई योजनाओं को संगठित करके पूर्ण जिले के लिए एक विकास योजना तैयार की जा सके। राज्य विधायिकाओं को भी ज़िला नियोजन समितियों के गठन से संबंधित व्यवस्था करने की शक्ति प्रदान की गई।

74वाँ संशोधन ये निर्धारित करता है कि विकास योजना का प्रारूप बनाते समय ज़िला विकास समितियाँ इन बातों को ध्यान में रखेंगी : (i) पंचायतों और नगर पालिकाओं के बीच सामान्य हितों के विषयों को जिनमें स्थानीय नियोजन, जल तथा अन्य भौतिक और प्राकृतिक, संसाधनों की साझेदारी; (ii) मूल ढाँचे का एकीकृत विकास तथा पर्यावरण संरक्षण एवं वित्तीय तथा अवित्तिय संसाधनों के रूप और उपलब्धता की सीमा पर निर्भर है।

विकास और नियोजन के लिए कई कारणों से जिले को एक प्रेक्षण बिंदु माना गया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है। बहुत से अध्ययनों और समितियों ने इसकी सिफारिश की है। अनेक विशेषज्ञों द्वारा दिए गए मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(i) ज़िला किसी अन्य मध्य स्तरीय क्षेत्रीय स्थानीय इकाई की तुलना में स्थानीय जनसंख्या के अधिक निकट होता है।

(ii) ज़िला एक व्यवहारिक नियोजन इकाई के रूप में कार्य करने के लिए अधिक सक्षम है।

(iii) ऐतिहासिक दृष्टि में ज़िलों में प्रशासन की एक निश्चित रूपरेखा जिसमें उच्च मात्रा में आंतरिक स्थिरता तथा सुनिश्चित प्रशासनिक संबंध होते हैं।

(iv) राजस्व भूमि अभिलेख, सिंचाई कार्यों, विकासात्मक ऋणों, आवास, सड़कों, विद्युतिकरण, समाज सेवाओं इत्यादि से संबंधित बहुत सी सूचनाएँ ज़िले से ज़िले के आधार पर व्यवस्थित की जाती हैं।

(v) ज़िला स्तर पर राज्य सरकारों की ऐजेंसियों तथा विभागों के क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं।

(vi) ज़िला स्तर पर संस्थापित प्रशासनिक व्यवस्था के कारण ज़िला नियोजन विकास प्रयासों के प्रभाव का मूल्यांकन करने में और उस क्षेत्र के लोगों तथा संस्थाओं के प्रयासों में सहायक हैं।

(vii) जिला स्तर पर लोगों की प्रशासनिक क्रियाओं के प्रति जागरूकता ज़िला प्रशासन के साथ लंबे समय से संबंध के कारण अधिक होती है।

अंतत: ज़िला स्तर पर विकास ऐंजसी को नियोजन और विकासात्मक प्रक्रियाओं में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। 73वें और 74वें सांविधानिक संशोधनों में ज़िला और निचले स्तर पर संस्थाओं को सशक्त करने की आशा बंधाई है। परंतु अभी तक के परिणाम अधिक उत्साहवर्धक नहीं रहे हैं। नीति निर्धारकों के लिए यह उचित समय है कि वे आधारभूत स्तर तथा बहुआयामी नियोजन, विशेषकर भारत जैसे देश में, जो बहुत अधिक अनेकताओं, असंतुलनों और आंकाक्षाओं

तथा आवश्यकताओं से पूर्ण है, के महत्त्व को जाने। लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं, प्रशंसा की अनुपस्थिति और उनको पूर्ण करने के उपायों में कमी के फलस्वरूप क्षेत्रीय तथा खंडीय आंदोलनों की स्थिति उत्पन्न करते हैं। जो अंततः राष्ट्रीय एकता का स्वयं एक गंभीर विषय हो जाते हैं। राष्ट्रीय एकता को सर्वोच्च रूप से तभी प्राप्त किया जा सकता है जब निर्णय लेने में और विकासात्मक कार्यों का क्रियान्वयन जनता की भागीदारी से हो न कि ऊपर से थोपे गए मूल्य और आवश्यकताओं से।

अभ्यास

1. भारत में विकेंद्रीकरण क्यों महत्त्वपूर्ण है?
2. राष्ट्रीय विकास परिषद् के संगठन एवं कार्यो का वर्णन कीजिए।
3. 'जिला नियोजन अभिकरण' के विकास की व्याख्या कीजिए।
4. 'जिला नियोजन समिति' में संविधान के 73वें और 74वें संशोधन द्वारा किए गए परिवर्तनों की प्रकृति का वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

    (i) राज्य योजना बोर्ड
    (ii) पंचायती राज और नियोजन
    (iii) विकेंद्रीकरण की आवश्यकता

अध्याय 10

कमज़ोर वर्ग का विकास : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और अन्य पिछड़े वर्ग

जैसा कि हम पहले अध्ययन कर चुके हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओ, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के मूल्यों और विश्व में प्रचलित सिद्धांतों के ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान ने एक ऐसे राज्य की परिकल्पना की है जिसमें न केवल एक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था होगी, बल्कि वह न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के लक्ष्य को भी प्राप्त करेगा। ये लक्ष्य संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और नीति निदेशक सिद्धांतों तथा संविधान के अन्य विशिष्ट धाराओं में स्पष्ट होते हैं। इन प्रावधानों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है जो सामान्यतौर पर इस देश के लोगों और विशेषकर कमज़ोर वर्ग के कल्याण और विकास के लिए प्रतिबद्ध है। भारत में अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, महिलाएँ, अल्पसंख्यक वर्ग, अपंग और बच्चे कमज़ोर वर्गों की श्रेणी में आते हैं। इन लोगों के कल्याण के लिए मात्र समता का अधिकार या सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की गारंटी पर्याप्त नहीं है। *राजनीतिक लोकतंत्र* के आदर्श के लिए *सामाजिक और आर्थिक* लोकतंत्र भी आवश्यक हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि समाज के कमज़ोर वर्गों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए न केवल एक शक्तिशाली सांविधानिक तंत्र हो, बल्कि उनके कल्याण, विकास और सशक्तिकरण के लिए विशेष योजनाएँ और कार्यक्रम भी हों।

अनुसूचित जातियाँ

अनुसूचित जातियों के अंतर्गत वे लोग आते है जो उन जातियों, नस्लों के हैं जिनकी चर्चा विशेष रूप से संविधान की धारा 341 के अनुसार बनाई गई सूची में है या भविष्य में हो सकती है। पारंपरिक शब्दों में, ये ऐसे लोग हैं जिन्हे बहिष्कृत और अछूतों की श्रेणी में रखा जाता था। यह कठोर जाति प्रथा का एक अंग था जिसने भारतीय समाज को जन्म के आधार पर, बिना किसी तर्क या विवेक के, उच्च और निम्न जातियों में बाँट रखा था। निम्न जाति के लोगों को, जो अछूत माने जाते थे, निकृष्ट पेशा और व्यवसाय सौंपा जाता था, जिसके कारण ये एक शोषित एवं पीड़ित समुदाय बने रहे। आर्थिक और सामाजिक रूप से ये अत्यधिक निर्धन तथा न्यूनतम स्तर पर रहे हैं।

इतिहास में समय-समय पर जाति प्रथा के विरुद्ध आवाज़ें उठाई गई। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए विभिन्न समाज सुधारक भी इसका

विरोध करते रहे हैं। धार्मिक आंदोलनों जैसे — बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म और भक्ति आंदोलन ने आम तौर पर जाति प्रथा की सामाजिक और धार्मिक पद्धतियों और दमन का विरोध किया था। फिर भी यह व्यवस्था कायम है। ब्रिटिश औपनिवेशिक युग के दौरान पाश्चात्य उदारवादी मूल्यों के आगमन और सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों के उदय ने जातीय विभेद के प्रश्न को सामने ला खड़ा किया। निम्न जाति के लोगों के बीच भी अपनी दुर्दशा को लेकर चेतना और जागरूकता पैदा हुई और बदलाव की माँग उठी। विशेषतौर पर डॉ. भीमराव अम्बेदकर और महात्मा गांधी ने, अपने-अपने तरीके से, इस जाति विभेद के मुद्दे को महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाया। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने, अनेक कारणों से, इन जातियों के लिए आरक्षण समेत कुछ नीतियों का निर्धारण करना शुरू किया। राष्ट्रीय आंदोलन ने अनुसूचित जातियों के उद्धार के मुद्दे को अपनी कार्यसूची का हिस्सा बनाया। स्वतंत्रता के समय अनुसूचित जातियों के कल्याण और विकास के लिए माँग और प्रतिबद्धता दोनों ही थी। इसलिए संविधान बनते ही सरकार ने अनुसूचित जातियों के कल्याण का बीड़ा उठाया।

अनुसूचित जनजातियाँ

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ दूसरा वर्ग अनुसूचित जनजातियों का है। कानूनी तौर पर अनुसूचित जातियों की तरह अनुसूचित जनजातियों के अंतर्गत वे जनजातियाँ आती हैं जिनकी चर्चा विशेष रूप से संविधान की धारा 342 के अंतर्गत तैयार सूची में की गई है या भविष्य में की जा सकती है। अनुसूचित जनजाति जाति के रूप में पिछड़ी श्रेणी में नहीं आते हैं। ये वे लोग हैं जो सुदूर जंगली और पहाड़ी इलाकों में जनजाति के रूप में रहते हैं और जिनकी आधुनिक सामाजिक-आर्थिक संसाधनों तक पहुँच नहीं है। भारत की इन जनजातियों को औपचारिक ढंग से परिभाषित करना कठिन है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये भारतीय समाज के आदिम निवासी हैं। अधिकांश जनजातियों में कुछ चीज़ें समान रूप से पाई जाती हैं जैसे — ग्रामीणता, अशिक्षा, आर्थिक पिछड़ापन और सामाजिक उपेक्षा। ऐतिहासिक रूप से इन जनजातियों की एक मुख्य विशेषता इनका आर्थिक, सामाजिक एवं पर्यावरण संबधी एकाकीपन रहा है। सदियों से ये जनजातियाँ जंगलों और पहाड़ों तक सीमित रही हैं। उनके एकाकीपन ने उनकी सामाजिक व्यवस्था पर एक गहरी छाप छोड़ी है। व्यापक सांस्कृतिक विविधताओं के बावजूद, उनकी अलग-थलग जीवन शैली ने उन्हें भारतीय समाज में एक सामान्य नियति प्रदान की है।

अनुसूचित जातियों की तरह, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान इन जनजातियों में भी जागरूकता आई। लेकिन यहाँ कारण कुछ अलग था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सदियों से जनजातीय इलाकों का मुख्य धारा से अलगाव रहा है। इसलिए वे राज्य और राजकीय कानून के प्रभावशाली नियंत्रण से बाहर रहे। उनकी अपनी अर्थव्यवस्था और अपने जनजातीय कानून एवं रीति-रिवाज थे। ब्रिटिश शासन के दौरान प्रशासन के सर्वत्र विस्तार और रेल व सड़क निर्माण के फलस्वरूप ये जनजातीय इलाके प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण में आए। प्रशासकों के साथ-साथ व्यापारी, सूदखोर और उद्योगपति भी इन इलाकों में पहुँचे। इसका परिणाम यह हुआ कि जनजातियाँ अपनी ज़मीन और अपनी स्वायत्तता से वंचित हो गईं। इसके फलस्वरूप कई जगह जनजातीय आंदोलन शुरू हो गए। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं में और ब्रिटिश प्रशासन के अंदर भी इन लोगों के लिए संरक्षण और कल्याण की भावना जागृत हुई।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों का कल्याण

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ भारतीय समाज में सर्वाधिक उपेक्षित रही हैं। जैसा कि आरंभ में कहा गया है कि संविधान निर्माताओं ने स्वयं ही उनकी स्थिति और आवश्यकताओं को स्वीकार किया था। इस तरह एक ओर भारतीय संविधान में इन सब की सुरक्षा, संरक्षण और कल्याण के लिए कुछ उपाय सुझाए गए हैं और दूसरी ओर उत्तरोत्तर पंचवर्षीय योजनाओं में भी अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण को विकास नीति के मुख्य लक्ष्य के रूप में रखा गया है। इसके अतिरिक्त, केंद्र और राज्य सरकारों ने भी उनकी स्थिति में सुधार के लिए कई योजनाएँ और कार्यक्रम चलाकर इस दिशा में विशेष कदम उठाए हैं।

सांविधानिक प्रावधान

संविधान में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य कमजोर वर्गों के लिए सुरक्षा और संरक्षण के कुछ प्रावधान रखे गए है जो नागरिक के रूप में उनके ऐसे आम अधिकारों पर बल देते हैं जिनका लक्ष्य उनके शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देना और सामाजिक अक्षमता को दूर करना है।

संविधान का 17वाँ अनुच्छेद छुआछूत को समाप्त करता है और किसी भी रूप में अस्पृश्यता संबंधी व्यवहार पर प्रतिबंध लगाता है। छुआछूत (अपराध) अधिनियम, 1955 के क्षेत्र को व्यापक करने तथा सज़ा को और कठोर करने के दृष्टिकोण से 1976 में इस अधिनियम में विस्तृत संशोधन किए गए और इसका नाम बदलकर 'नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम' रखा गया जिससे छुआछूत पर रोक लगाई जा सके। 1989 में एक दूसरा अधिनियम 'अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (यातनाओं की रोकथाम) अधिनियम' के नाम से पारित किया गया।

जहाँ मौलिक अधिकारों का अनुच्छेद 17 छुआछूत को समाप्त करता है, अनुच्छेद 14, 15 और 16 समता और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों की स्थापना करते हैं। धारा 14 सभी के लिए कानून के समक्ष समानता और कानून के समान संरक्षण की घोषणा करता है। अनुच्छेद 15(1) नस्ल, जाति, लिंग, धर्म या जन्मस्थान के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव पर रोक लगाता है। अनुच्देद 16(1) सभी को अवसर की समानता प्रदान करता है। ये दोनों अनुच्छेद सभी को समान घोषित करने के साथ-साथ राज्य को यह अधिकार भी देते हैं जिससे वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था कर सके।

संविधान में संरक्षणात्मक भेदभाव से संबंधित प्रावधानों के अतिरिक्त राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों को सामाजिक न्याय और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की दिशा में सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन माना जा सकता है। अन्य अनुच्छेदों के साथ-साथ अनुच्छेद 38 और 46 विशेष तौर पर जनसंख्या के अभावग्रस्त वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाने का लक्ष्य रखते हैं। इन अनुच्छेदों के अतिरिक्त लोक सभा और विधान सभाओं, सरकारी नौकरियों और शैक्षणिक संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान रखा गया है। साथ ही, उनके कल्याण को बढ़ावा देने और उनके हितों की रक्षा के लिए एक 'जनजातीय सलाहकार समिति' का गठन, राज्यों में अलग विभागों और केंद्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग

संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत विशेष अधिकारी के पद को हटाकर 1990 में 65वें संशोधन के द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और 5 अन्य सदस्य होंगे जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। इस आयोग के निम्नलिखित कार्य होंगे:

(i) संविधान या किसी अन्य कानून के अंतर्गत अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण संबंधी मामलों की जाँच-पड़ताल और उन पर निगरानी रखना।

(ii) अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण संबंधी या अधिकार हनन संबंधी विशेष शिकायतों की जाँच-पड़ताल करना।

(iii) अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग लेना और सुझाव देना, तथा केंद्र या किसी राज्य के अंतर्गत उनके विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना।

(iv) इन संरक्षक कार्यों की प्रगति के बारे में राष्ट्रपति को वार्षिक, या जब भी आयोग उचित समझ, रिपोर्ट देना।

(v) ऐसे प्रतिवेदन/सुझाव देना जिन्हें लागू कर केंद्र या कोई राज्य उन संरक्षणों का कारगर कार्यान्वयन करे और अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की सुरक्षा, कल्याण और सामाजिक-आर्थिक विकास से संबंधित कदम उठाए।

(vi) ऐसे अन्य कार्यों का संपादन जिनका संबंध अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की सुरक्षा, कल्याण, विकास एवं उन्नति से है और जिनका उल्लेख राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित अधिनियमों और नियमावली के अंतर्गत विशेष रूप से करते हैं। कानून इसकी भी व्यवस्था करता है कि जब आयोग अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण संबंधी मामलों की जाँच कर रहा हो उस समय आयोग की शक्तियाँ किसी दीवानी मुकदमे की सुनवाई कर रहे न्यायालय के समान होगी। यह भी कहा गया है कि केंद्र और सभी राज्यों की सरकारें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों से संबंधित नीतिगत मामलों में आयोग से विचार-विमर्श करेगी।

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष योजनाएँ एवं कार्यक्रम

सांविधानिक व्यवस्था और निर्देशों के अनुसार, भारत सरकार और सभी राज्य सरकारें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के उद्धार के लिए योजना प्रक्रिया के अंतर्गत और उसके बाहर कई योजनाएँ और कार्यक्रम बनाते और लागू करते रहे हैं। ये कार्यक्रम शिक्षा, कौशल, रोजगार के अवसर और उन क्षेत्रों के विकास से संबंधित हैं जहाँ ये लोग संकेंद्रित हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में सभी राज्यों में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए उच्च स्तर तक शिक्षा निःशुल्क कर दी गई है। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में आमतौर पर जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार इनके लिए स्थान आरक्षित है। एक 'पुस्तक बैंक' योजना प्रारंभ की गई है जिसके अंतर्गत चिकित्सा विज्ञान, यंत्र विज्ञान, कृषि विज्ञान, पशु विज्ञान और शिल्पी विषयों का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए पुस्तकें प्रदान करने की व्यवस्था भी की गई है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत छात्राओं के लिए छात्रावास योजना प्रारंभ की गई

जिसका उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करने की इच्छुक छात्राओं को आवासीय सुविधा प्रदान करना था। 1989-90 में इसी प्रकार की एक योजना छात्रों के लिए भी चलाई गई। पूर्व-मैट्रिक, उत्तर-मैट्रिक और उच्चतर शिक्षा के लिए विभिन्न छात्रवृत्ति योजनाएँ भी चलाई गई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कार्यक्रम भी हैं जिनसे अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक स्तर में सुधार लाने में सहायता मिलेगी।

नौकरियों में आरक्षण के अतिरिक्त अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को रोज़गार दिलाने में सहायक प्रशिक्षण एवं निपुणता बढ़ाने वाले कई विशेष कार्यक्रम भी प्रारंभ किए गए हैं। चौथी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाएँ, जो संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग, सार्वजनिक प्रतिष्ठानों, बैंकिंग सेवा नियुक्ति बोर्ड और अन्य समान अभिकरणों द्वारा आयोजित की जाती हैं, को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए विशेष कोचिंग देना उन कार्यक्रमों में से एक है। गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों के उद्धार के लिए 'राज्य अनुसूचित जाति विकास निगम' भी हैं। 1987 में 'भारत के जनजातीय सहकारी बाज़ार विकास संघ' की स्थापना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जनजातीय समुदायों को विपणन में सहायता देना और उनके लघु वन उत्पाद और अतिरिक्त कृषि उत्पादों की उचित कीमत दिलाकर निजी व्यापारियों के शोषण से बचाना था। 1992-93 में जनजातीय इलाकों में रहने वाले युवकों को किसी भी रोज़गार या स्वरोज़गार के लिए तैयार करने हेतु व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना की गई। नौवीं योजना अवधि (1997-2002) में 'आदिम जनजाति समूह' के विकास के लिए एक अलग कार्य योजना की व्यवस्था की गई।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेदकर संस्था

शिक्षा और रोज़गार के अतिरिक्त अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सशक्तिकरण के लिए भी कई कार्यक्रम चलाए गए हैं। मार्च 1992 में बाबा साहब डॉ. अम्बेदकर संस्था की स्थापना इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। डॉ. अम्बेदकर की जन्म शताब्दी समारोह के दौरान निर्धारित योजनाओं और कार्यक्रमों का प्रबंधन, प्रशासन और कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व इस संस्था को सौंपा गया है। इन कार्यक्रमों में मुख्य हैं : कमज़ोर वर्ग की सामाजिक समझ और उद्धार के लिए डॉ. अम्बेदकर राष्ट्रीय पुरस्कार, शोषितों एवं दलितों के सामाजिक बदलाव, सामंजस्य, समता, न्याय और मानव गरिमा के लिए डॉ. अम्बेदकर अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार एवं डॉ. अम्बेदकर के स्मारक की स्थापना।

जनजातीय शोध संस्थान

कुछ राज्यों ने शोध, शिक्षा, आँकड़ों का संग्रह, प्रशिक्षण, गोष्ठी, कार्यशाला, जनजातीय योजना की तैयारी के लिए व्यावसायिक निवेश, जनजातीय साहित्य का प्रकाशन, जनजातीय प्रथागत कानून का वर्गीकरण इत्यादि कार्यों के लिए जनजातीय शोध संस्थानों की स्थापना की है। पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत जनजातीय योजना की रणनीति उभरकर सामने आई। यह दोहरे उद्देश्य पर आधारित है : (i) कानूनी और प्रशासनिक समर्थन के द्वारा जनजातीय हितों की रक्षा; (ii) योजना कार्यक्रमों के द्वारा जनजातियों के जीवन-स्तर में सुधार लाने के लिए विकास प्रयासों को प्रोत्साहन। वर्तमान में 194 एकीकृत जनजातीय विकास योजनाएँ चल रही हैं।

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की स्थिति

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के कल्याण, विकास और सशक्तिकरण से संबंधित सांविधानिक और कानूनी प्रावधान तथा चलाई गई कुछ योजनाएँ और कार्यक्रम की उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन समुदायों को न केवल भारत के सामान्य नागरिक के समकक्ष लाया जा चुका है बल्कि उन्हें अपनी पारंपरिक निम्न स्तरीय और अमानवीय स्थिति से निकलने के लिए विशेष सुविधाएँ, वरीयता और छूट भी दी गई है।

यह सत्य है कि सांविधानिक प्रावधानों और अनेक योजनाओं के बावजूद अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों की आर्थिक दशा में विशेष तौर पर गाँवों में कुछ अधिक सुधार नहीं आया है। इन समुदायों में निर्धनता, अशिक्षा, अभाव-ग्रस्तता, दमन, गुलामी काफी बड़े हिस्से में अब भी अक्षुण्ण है। कानून द्वारा प्रतिबंधित होने पर भी छुआछूत काफी प्रचलित है। भारत के बंधुआ मज़दूर प्रायः अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वर्ग से आते हैं। अनुसूचित जाति का केवल एक विशिष्ट वर्ग ही सरकारी नीतियों और कल्याण कार्यक्रमों का लाभ उठा पाया है।

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की इस शोचनीय स्थिति के कई कारण हैं। पहली समस्या यह है कि सांविधानिक और योजना स्तर पर अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के प्रावधान और योजनाएँ पर्याप्त सशक्त तो हैं लेकिन कार्यान्वियन के स्तर पर वे ढीले पड़ जाते हैं। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त, योजना आयोग और अन्य अभिकरणों व प्रतिवेदनों में यह कहा गया है कि संसद द्वारा आवश्यक धन उपलब्ध कराने के बावजूद, राज्य के अधिकारी और प्रशासनिक तंत्र कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने के लिए अपर्याप्त हैं और ये ही कार्यान्वियन के स्तर पर इसकी असफलता के लिए उत्तरदायी हैं।

दूसरी समस्या अपर्याप्त कोष और भ्रष्टाचार की है। प्रारंभिक दौर में या तो योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं कराया जाता था या आबंटित धन उपलब्ध नहीं हो पाता था। कई बार कोष का महत्त्वपूर्ण अनुपात लाभभोगीयों तक नहीं पहुँच पाता। भूमि सुधार की विफलता इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस विफलता ने विशेषतौर पर अनुसूचित जातियों को भूमि से वंचित कर दिया है और उन्हें बड़े किसानों और जमींदारों पर आश्रित कर दिया है। जनजातियों के विकास के परिपेक्ष्य में देखा गया है कि अधिकारी वर्ग, जिनका प्रशिक्षण औपनिवेशिक परंपरा में हुआ है और जिनका काम कानून-व्यवस्था की रक्षा करना है, जनजातियों के सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषा की परंपरा एवं मूल्यों से अनभिज्ञ हैं तथा उनकी उम्मीदों से अछूता रहते हुए जनजातियों के रक्षक की अपेक्षा शोषक बनकर रह गए हैं।

प्रशासनिक उदासीनता और कोषाभाव की समस्याएँ काफी हद तक योजना की समस्याओं से ही जुड़ी हैं। आमतौर पर योजना एकतरफा, खंडित और मध्यमवर्गीय या विशिष्ट वर्ग-अभिमुखी है, न कि जन-अभिमुखी। राजनीतिक स्तर पर निर्णय मतों को ध्यान में रखकर लिए जाते हैं न कि दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखकर। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि कानून ने आयोगों की स्थापना तो की है और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों के विरूद्ध अपराधों को रोकने के लिए छूआछूत विरोधी कानून तो बनाए गए हैं, परंतु इनके प्रावधानों में कोई दम नहीं है और न ही न्याय दिलाने के लिए कारगर तंत्र की स्थापना की गई है। विशेषतौर पर अनुसूचित जनजातियों के मामले में नियोजकों ने

जनजातीय संस्कृति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाजों और भूमि संबंधी अधिकारों को नहीं समझा। इसीलिए, नियोजक अपने ही ढंग से राष्ट्रीय योजनाओं के अंतर्गत उनके लिए योजनाएँ तैयार करते हैं।

पिछले दशक में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों से संबंधित एक और गंभीर समस्या उभर कर सामने आई है वह है : इन जातियों में उभरती हुई जागरुकता एवं अधिकारों के लिए उनके संघर्ष। परिणामस्वरूप तनाव बढ़ने के साथ-साथ संगठित गुटों द्वारा एक दूसरे के प्रति हिंसा भी बढ़ रही है। नौकरशाही और पुलिस का व्यवहार ऐसा है कि इस प्रतिघात को उतनी सख़्ती के साथ नहीं कुचला जाता जितनी आवश्यकता है। वास्तव में कई मामलों में पुलिस और दूसरे अधिकारियों की इस तरह के अत्याचारों में मिलीभगत होती है।

इस तरह संविधान के अनुच्छेद 17, 'छुआछूत अपराध अधिनियम' और 'नागरिक अधिकार रक्षा अधिनियम' के बावजूद कई स्थानों पर (केवल गाँवों में ही नहीं शहरों में भी) छुआछूत खुलेआम प्रचलित है। इन सब के परिणामस्वरूप उन समूहों में एक अलगाववादी प्रवृत्ति पैदा हो रही है जो जनजातीय और दलित आंदोलनों को जन्म देती है। ये आंदोलन न्याय की तलाश में सांविधानिक तथा असांविधानिक दोनों तरीकों का इस्तेमाल करते हैं और इस प्रकार भारत की राजनीतिक प्रक्रिया में अन्य नए मुद्दे पैदा हो जाते हैं।

अन्य पिछड़े वर्गों का कल्याण

भारत में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के अतिरिक्त अन्य कमज़ोर वर्ग के लोग भी हैं जो आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं। वे अन्य पिछड़े वर्ग (ओ.बी.सी.) के रूप में जाने जाते हैं। संविधान का अनुच्छेद 340, सरकार को यह अधिकार देता है कि वह एक आयोग का गठन करे जिसका काम अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति का आकलन कर उसके बारे में सुझाव देना होगा।

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संविधान 'पिछड़े वर्ग' शब्द का इस्तेमाल करता है। इसका सिर्फ यह अर्थ है कि वह कोई भी पिछड़ा व्यक्ति नहीं है बल्कि एक ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनमें पिछड़ेपन के सामान्य लक्षण हों। संविधान यह स्पष्ट नहीं करता कि कौन सा समूह पिछड़े वर्ग के अंतर्गत आता है। सरकार ने दो 'पिछड़ा वर्ग आयोगों' की नियुक्ति की थी। इन आयोगों ने पिछड़े वर्गों को समुदायों और जातियों के आधार पर पहचानने का मापदंड प्रस्तुत किया।

पहले 'पिछड़ा वर्ग आयोग' की नियुक्ति सन् 1953 में काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में हुई थी। इस आयोग ने पिछड़े वर्ग को पहचानने के चार मापदंड प्रस्तुत किए : (i) हिन्दू समाज की परंपरागत जाति व्यवस्था में निम्न स्थिति; (ii) किसी जाति या समुदाय में सामान्य शैक्षिक प्रगति का अभाव; (iii) सरकारी सेवा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व; (iv) व्यापार, वाणिज्य और उद्योग में व्यापक अनुपस्थिति। कालेलकर आयोग ने इस आधार पर 2,399 जातियों और समुदायों को पिछड़े वर्ग में रखा। क्योंकि आयोग के भीतर आपस में मतभेद था, इसलिए सरकार ने आयोग की सिफारिशों को नहीं माना।

दूसरे 'पिछड़े वर्ग आयोग' की नियुक्ति 1978 में बी. पी. मंडल की अध्यक्षता में हुई। इसीलिए उसका नाम मंडल आयोग रखा गया। इस आयोग के पिछड़ेपन के 11 सूचक बनाए : चार जातिगत सामाजिक पिछड़ेपन से, तीन शैक्षिक पिछड़ेपन और चार आर्थिक पिछड़ेपन से संबंधित थे। आयोग के विचार में पिछड़ापन जाति से जुड़ा था। तदनुसार इसने 3,743 जातियों को उपरोक्त सूचक के अनुसार

पिछड़े वर्ग में रखा। तब से इन जातियों को अन्य पिछड़े वर्ग (ओ.बी.सी.) के नाम से जाना जाता है। ये अनुसूचित जातियों से भिन्न हैं।

आयोग ने सरकारी नौकरियों, सार्वजनिक प्रतिष्ठानों, राष्ट्रीयकृत बैंकों, विश्वविद्यालयों और इससे संबद्ध महाविद्यालयों और सरकारी सहायता प्राप्त निजी क्षेत्र की कंपनियों में 27 प्रतिशत नौकरियाँ अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित करने का सुझाव दिया। केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा संचालित वैज्ञानिक, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा संस्थानों में इस वर्ग के छात्रों के लिए कुछ स्थान के आरक्षण की भी सिफारिश की गई। आयोग ने अन्य पिछड़े वर्गों के आर्थिक और व्यवसायिक विकास के भी सुझाव दिए।

अगस्त 1990 में, भारत सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने की घोषणा की । तब से केंद्र सरकार की नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण और राज्य सरकारों की नौकरियों में आरक्षण का प्रतिशत प्रत्येक राज्य में अलग-अलग लागू किया गया है। इसके अतिरिक्त पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए अन्य योजनाएँ भी बनाई और चलाई जा रही हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

राष्ट्रीय पिछड़ावर्ग वित्त और विकास निगम

एक निगम के रूप में इस संस्था का गठन भारत सरकार द्वारा जनवरी 1992 में हुआ। इसका उद्देश्य गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले पिछड़े वर्गों के सदस्यों को रियायती दर पर ऋण उपलब्ध कराना था। निगम ने पिछड़े वर्गों की योग्य महिलाओं के लिए भी 'स्वर्णिमा' नामक एक विशेष योजना चलाई।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए योजनाएँ

1998-99 से अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए निम्नलिखित योजनाएँ चलाई गई हैं :

(i) पूर्वपरीक्षा कोचिंग : अन्य पिछड़े वर्गों के उन उम्मीदवारों के लिए कोचिंग जिनके पिता/अभिभावक की वार्षिक आमदनी एक लाख रुपए से कम है;

(ii) अन्य पिछड़े वर्ग के छात्र एवं छात्राओं के लिए छात्रावास;

(iii) पूर्व-मैट्रिक छात्रवृत्तियाँ;

(iv) उत्तर-मैट्रिक छात्रवृत्तियाँ;

(v) स्वयंसेवी संस्थाओं को सहायता : इस योजना का संबंध उन स्वयंसेवी संस्थाओं से है जो अन्य पिछड़े वर्ग की शैक्षिक और आर्थिक स्थिति में सुधार लाकर उन्हें उचित रोज़गार दिला सकें।

उपरोक्त कथन के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के अतिरिक्त सरकार ने अन्य पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए भी पर्याप्त प्रयास किए हैं। कुछ पर्यवेक्षक यह अनुभव करते है कि कई जातियाँ जो आर्थिक रूप से संपन्न है वे राजनीतिक कारणों से 'अन्य पिछड़े वर्गों' (ओ.बी.सी.) के नाम पर लाभ उठा रही हैं जबकि ऐसे लोग जो, सही अर्थों में आर्थिक रूप से पिछड़े हैं परंतु तकनीकी रूप से संकेत (ओ.बी.सी.) के अंतर्गत नहीं आते हैं, वे इस लाभ से वंचित रह जाते हैं। इन पर्यवेक्षकों के अनुसार भारतीय संविधान यह सुझाव देता है कि पिछड़ेपन की पहचान वर्ग के हिसाब से होनी चाहिए, न कि जाति या जनजाति के आधार पर। इसलिए, वे पिछड़ेपन के लिए आर्थिक मापदंड को उपयोग में लाने की राय देते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने 16 नवंबर 1992 के अपने फैसले में आरक्षण के लिए जातीय मापदंड को महत्त्वपूर्ण माना। साथ ही, यह अनुभव किया कि पिछड़े वर्गों के अंतर्गत ऐसे लोग जो आर्थिक रूप से संपन्न हैं वे निश्चित तौर पर सामाजिक रूप

से भी आगे हैं या ऐसे लोग, जिन्हें उच्च सामाजिक प्रतिष्ठावाले पद मिले हुए हैं, उन लोगों को अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सुरक्षित आरक्षण सुविधाओं से वंचित कर दिया जाना चाहिए। एक बार जब वे सामाजिक रूप से आगे बढ़ जाते है इसका अर्थ यह है कि वे आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से भी पिछड़े वर्ग के अंतर्गत नहीं रह जाते। साथ ही, निर्णय में यह भी सुझाया गया कि उन लोगों को भी जो समर्थ हैं या जिन्होंने दूसरे लोगों के साथ प्रतिस्पद्‌र्धा करने की पर्याप्त क्षमता हासिल कर ली है, पिछड़े वर्ग की श्रेणी से निकाल देना चाहिए। इसे संपन्न तबके (Creamy Layer) के सिद्धांत पर आधारित निष्कासन का नियम बताया गया है। इस निर्णय का तात्पर्य यह है कि : (i) यद्यपि पिछड़ेपन के निर्धारण के लिए जाति एक आवश्यक शर्त है परंतु अब यह पर्याप्त नहीं है; (ii) मौजूदा पहचान के वर्तमान मापदंड के साथ-साथ आर्थिक मापदंड भी प्रयुक्त होना चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान की गई प्रतिबद्धताएँ और भारत के संविधान की प्रस्तावना के अंतर्गत भारतीय नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता और समानता दिलाने के लिए संविधान में कई प्रावधान हैं। साथ ही, हज़ारों वर्षों से मात्र जन्म के आधार पर न्याय से वंचित वर्गों के लिए कई कल्याणकारी योजनाएँ चलाई गई हैं। ऐसा किया जाना आवश्यक समझा गया क्योंकि सामाजिक-आर्थिक न्याय का अर्थ है अन्यायपूर्ण सामाजिक ढाँचे और यथास्थिति को नकारना। इस सच्चाई के बारे में दो मत नहीं हो सकते कि भारत में जाति प्रथा एक श्रेणीबद्ध एवं स्तरीय समाज की ओर संकेत करती है जहाँ लोगों का विभाजन और वर्गीकरण मात्र जन्म के आधार पर किया जाता है। इसलिए इसका परिणाम है सामाजिक असमानता, अत्यधिक बेरोज़गारी और निर्धनता के कारण पिछड़े वर्ग के लोगों की दशा बद से बदतर होना।

संविधान में इसका उल्लेख मात्र काफी नहीं था कि भारत के सभी नागरिक स्वतंत्र और समान हैं बल्कि उसके लिए ऐसी स्थिति और वातावरण बनाने की भी आवश्यकता थी जिससे कि लोग सदियों पुरानी यातनापूर्ण व्यवस्था से बाहर निकल सकें। अत: अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए विविध योजनाओं और कार्यक्रमों को अपनाया गया। वर्तमान में केंद्र और राज्य दोनों सरकारों द्‌वारा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। निरंतर चल रहे पंचवर्षीय योजनाओं में उनके कल्याण के लिए विशेष कार्यक्रमों का प्रावधान है और इन कार्यक्रमों के लिए निवेश में निरंतर वृद्‌धि हो रही है। अब बड़ी संख्या में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्ग के लोग विभिन्न स्तर की सरकारी नौकरियों, शैक्षिक संस्थाओं, संसद, राज्य विधान सभाओं और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में कार्यरत हैं। सामाजिक संस्थाओं में भी उनकी पहुँच है। लेकिन दुर्भाग्यवश देश के विभिन्न भागों में रहने वाले इन जातियों के अंतर्गत बहुत से लोग अभी भी भेदभाव, सामाजिक वर्जना और यातना के शिकार हैं। वे अभी भी अशिक्षा, अत्यधिक विपन्नता और सामाजिक उदासीनता के माहौल में रह रहे हैं। आज भी भारत में काफी लोगों की मानसिकता जातिगत ऊँच-नीच की भावना से ग्रसित है। ग्रामीण क्षेत्र में अभी भी कई जगह अनुसूचित जातियों के लोग परंपरागत रूप से निकृष्ट काम करते आ रहे हैं। वे प्रताड़ना और हिंसा के शिकार होते हैं ; उन्हें कभी-कभी चुनाव में मतदान नहीं करने दिया जाता और वे अपनी भूमि से भी वंचित हैं। इसके कई कारण हैं

जिनमें राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव, दोषपूर्ण योजना, प्रशासनिक उदासीनता, साधनों की कमी और सर्वव्यापी भ्रष्टाचार शामिल हैं। हालाँकि लोकतंत्र की वजह से सार्वभौमिक मताधिकार के कारण तथाकथित निम्न जाति और जनजाति के लोग अपनी दुर्दशा और अधिकारों के प्रति सजग हो रहे हैं। वे लोग न्याय की माँग करते हुए अपनी स्थिति में बदलाव चाहते हैं। फलस्वरूप, एक ओर राज्य उन लोगों के कल्याण के लिए कारगर कदम उठाने पर बाध्य हो रहा है और दूसरी ओर कुछ उच्च जाति के लोगों, जो उनकी यथास्थिति में बदलाव नहीं चाहते, प्रतिघात की स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं।

यह जानना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है कि इस श्रेणीबद्ध जाति प्रथा के पीछे धार्मिक, वैज्ञानिक या कोई अन्य औचित्य नहीं है। जाति प्रथा की कठोरता केवल न्याय, समानता और स्वतंत्रता के आदर्शों के ही विरूद्ध नहीं है बल्कि राष्ट्र के विकास के लिए भी एक बहुत बड़ी बाधा है। हमें अपनी सोच बदलनी होगी, लोकतांत्रिक, लोककल्याणकारी राज्य और समाज के नियमों और मूल्यों को स्वीकारना होगा और सुव्यवस्थित समान न्याय व्यवस्था के लिए काम करना होगा। इसमें राज्य अकेले कुछ नहीं कर सकता। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में जागृति आए और समाज के प्रबुद्ध और शिक्षित वर्ग इस कार्यक्रम को अपना समर्थन और सहयोग दें।

अभ्यास

1. भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए क्या व्यवस्था की गई है? विवेचना कीजिए।
2. 'अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति राष्ट्रीय आयोग' के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
3. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए सरकार द्वारा चलाए जा रही विभिन्न योजनाओं का परीक्षण कीजिए।
4. 'अन्य पिछड़े वर्गों' के कल्याण के लिए सरकार ने क्या कदम उठाए हैं?
5. मंडल आयोग के प्रतिवेदन के महत्त्व की चर्चा कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) बाबा साहेब अम्बेदकर संस्था

   (ii) अन्य पिछड़े वर्ग का संपन्न तबका (Creamy Layer)

अध्याय 11

कमज़ोर वर्ग का विकास : महिलाएँ

भारत ही नहीं अपितु विश्व के बहुत सारे देशों में समाज का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग जिसे न्याय से वंचित रखा गया है, वह है महिला वर्ग। सदियों से वे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन से बहिष्कृत होती रही हैं। महिलाओं को निम्न श्रेणी में रखकर समाज के हर स्तर पर यातनापूर्ण और असमान मानवीय संबंधों को प्रोत्साहन दिया गया। इस बात पर भी बल दिया जा रहा है कि महिलाएँ, जो विश्व जनसंख्या का आधा भाग हैं, उनकी समस्या पूरे समाज की समस्या है। वर्तमान आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की संतुष्टि में बाधक संरचनाओं और व्यवहार को बदलने के प्रयासों का अनिवार्य अंग होना चाहिए। इस प्रकार कोई भी विकास या सामाजिक न्याय की प्रक्रिया जो महिलाओं की स्थिति सुधारने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देती तथा और अधिक कारगर तरीके या रणनीतियाँ जो महिलाओं को समाज और देश के विकास में पुरुषों के समान सक्रिय रूप से हिस्सा लेने में मदद नहीं करतीं, उन्हें उचित नहीं माना जा सकता। भारत भी इसका अपवाद नहीं है।

भारत में महिलाओं का कल्याण

भारत में सदियों से महिलाओं ने जीवन के हर क्षेत्र में असमान व्यवहार पाया है। भारतीय समाज भी अनेक प्रतिष्ठित समाजों की भाँति एक पितृ प्रधान समाज है। इतिहास के क्रम में भी महिलाओं की इस स्थिति का विरोध हुआ है। विशेषकर भक्ति आंदोलन के दौरान मध्यकालीन संतों और समाज सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान के प्रश्न का मामला उठाया था, परंतु इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में उदारवादी विचारों और कुछ मामलों में ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में कई सुधारवादी आंदोलनों का आविर्भाव हुआ। बह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य अनेक आंदोलनों ने महिलाओं के प्रति अन्याय का प्रश्न उठाया। जैसा कि सर्वविदित है कि राजा राममोहन राय ने बाल विवाह और सती प्रथा की भर्त्सना की और महिला उद्धार के लिए कार्य किया। 19वीं शताब्दी में सरकार द्वारा कई सामाजिक कानून पारित हुए जैसे — 1829 में सती प्रथा उन्मूलन, विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (1856), सिविल मैरिज अधिनियम (1872)। 19वीं शताब्दी की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता लड़कियों की शिक्षा का प्रयास है।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भी भारतीय महिलाओं की छुपी हुई असीम क्षमता को बाहर आने का अवसर मिला। गांधी जी ने महिलाओं को पर्दा त्यागकर राजनीति में भाग लेने का आह्वान किया। 1917 में एक महिला प्रतिनिधिमंडल ने भारत

सचिव से मिलकर महिला मताधिकार की माँग की। 1927 में महिला कल्याण और विकास के लिए 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की स्थापना की गई।

समाज सुधार और राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप महिलाओं की दुर्दशा और उनके उद्धार के संबंध में जागरुकता आई लेकिन सामान्यतया उनके प्रति सामाजिक व्यवहार में कोई विशेष अंतर नहीं आया। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक कानूनों के बावजूद संपत्ति, विरासत जैसे कानून अभी भी महिलाओं के विरुद्ध हैं। आमतौर पर स्वतंत्रता के समय वे सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया की मुख्यधारा में सम्मिलित नहीं थीं तथा वास्तव में समाज में उन्हें उचित स्थान प्राप्त नहीं था।

स्वतंत्र भारत में महिला कल्याण

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता से पूर्व भी महिलाओं के लिए न्याय और विकास का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। तदानुसार स्वतंत्र भारत में यह विकास योजना का एक केंद्र बन गया।

भारतीय संविधान के अंतर्गत मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्त्वों की धाराओं में इन विचारो को एक ठोस स्वरूप दिया गया। अनुच्छेद 14 सबको कानून के समक्ष समानता और कानून के संरक्षण का अधिकार देता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि कानून महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 15 केवल धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव की मनाही ही नहीं करता अपितु राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था करने की शक्ति भी प्रदान करता है। इसका अर्थ है कि आवश्यकता पड़ने पर महिलाओं और बच्चों के पक्ष में अन्य किसी अनुच्छेद के विरुद्ध पक्षपात भी किया जा सकता है। इस प्रकार अनुच्छेद 16 सार्वजनिक रोज़गारों मे महिलाओं को समान अवसर का गारंटी देता है।

अनुच्छेद 19 महिलाओं सहित सभी नागरिको को भाषण और अभिव्यक्ति, एक जगह एकत्र होने संस्था या संघ बनाने, भारत के किसी भी प्रदेश मे स्वतंत्र रूप से घूमने, कहीं भी रहने और बसने तथा कोई भी व्यवसाय या रोज़गार करने का अधिकार देता है।

इस प्रकार मौलिक अधिकार महिलाओं को जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों और समाज के अन्य वर्गों के समान और स्वतंत्र बनाते हैं। इसके अलावा मौलिक अधिकार राज्य को, महिलाओं और बच्चो के लिए विशेष सुविधा प्रदान करने का अधिकार भी देते हैं। राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों के अंतर्गत महिलाओं को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं जो ये हैं :

(i) पुरुष एवं महिलाओं को समुचित जीविकोपार्जन का समान अधिकार है (अनुच्छेद 39);
(ii) पुरुष एवं महिलाओं के समान कार्य के लिए समान वेतन (अनुच्छेद 39);
(iii) काम करने वाले पुरुषों एवं महिलाओं के स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य तथा अल्प आयु के बच्चों का दुरूपयोग न हो और नागरिकों को आर्थिक मज़बूरी के कारण अपनी आयु और सामर्थ्य के प्रतिकूल कोई अनुपयुक्त कार्य न करना पड़े (अनुच्छेद 39);
(iv) कार्य करने की न्यायोचित और मानवीय स्थितियों और प्रसूति सुविधा का प्रावधान।

राज्य पर इन सभी सकारात्मक और नकारात्मक उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त संविधान ने (1976 के 42 वें संशोधन के बाद) सभी नागरिकों के लिए कुछ मौलिक कर्तव्य भी निर्धारित किए हैं, इनमें से एक है ''महिलाओं की गरिमा के विरुद्ध व्यवहार

का परित्याग'' (अनुच्छेद 51ए)। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भारत का संविधान सार्वभौम मताधिकार का अधिकार प्रदान करता है। इस प्रकार महिलाओं को मतदान करने और चुनाव लड़ने का समान अधिकार है।

कल्याण और विकास नीतियाँ

महिलाओं के कल्याण और विकास के प्रयास दो स्तरों पर प्रारंभ किए गए हैं। पहला है कानून को लागू करना और दूसरा है कल्याण कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं का निर्माण।

कानून

कानून लागू करने का अर्थ है, बदलाव और विकास के यंत्र के रूप में कानून का प्रयोग। इस संदर्भ में पिछले पाँच दशकों में असमानता हटाने तथा कल्याण की परिस्थितियाँ तैयार करने की दृष्टि से कई कानून लागू किए गए हैं। उनमें से संसद द्वारा पारित कुछ महत्त्वपूर्ण कानून हैं : विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिंदू विवाह अधिनियम 1955, हिंदू दत्तक-ग्रहण एवं भरण-पोषण अधिनियम 1956, दहेज निषेध अधिनियम 1961, गर्भपात अधिनियम 1971, समान भत्ता अधिनियम 1976, बाल विवाह पर रोक (संशोधन) अधिनियम 1978, अपराधी कानून (दूसरा संशोधन) अधिनियम 1985, और दहेज निषेध (संशोधन) अधिनियम 1984।

विधायिका द्वारा लागू इन कानूनों के अतिरिक्त, न्यायपालिका के कुछ विद्यमान कानूनों की व्याख्या महिलाओं के अत्यंत अनुकूल कर रही है। सर्वोच्च न्यायालय ने नवंबर 1995 के एक ऐतिहासिक निर्णय में, एक मृतक की पत्नी और उसकी बेटी को उसके द्वारा छोड़ी गई संपत्ति में बराबर का हिस्सा दिलवाया। न्यायिक सक्रियतावाद की दृष्टि से 'शाह बानो और अन्य' जैसे मामलों में न्यायपालिका का निर्णय, मुस्लिम निजी कानूनों को सुधारने की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय रहा है।

कल्याणकारी योजनाएँ

कानूनों को लागू करने के अतिरिक्त महिलाओं को शिक्षा, कौशल विकास, रोज़गार, विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति, लिंग संवेदनशीलता आदि में सुविधा प्रदान करने के लिए कई कार्यक्रम और योजनाएँ बनाने और लागू करने के प्रयास भी किए गए हैं। महिला कल्याण और विकास, पंचवर्षीय योजनाओं का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

1953 में भारत सरकार ने केंद्रीय सामाजिक कल्याण समिति की स्थापना की जिसका उद्देश्य महिलाओं, बच्चों और शोषित वर्गों के कल्याण एवं विकास सेवाओं को राष्ट्रव्यापी अनुदान सहायता के द्वारा बढ़ावा देना था। इस समिति के प्रतिरूप राज्यों में भी हैं।

केंद्र में 1985 में अलग से महिला एवं शिशु विकास विभाग का गठन किया गया जिसका कार्य महिलाओं को अलग पहचान दिलाना और उनके विकास से संबंधित विषयों को मुख्य मुद्दा बनाना था। महिला शिक्षा की नीति के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति — 1986 ऐतिहासिक है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा नीति की कारवाई के अनुसार कार्यान्वयन रणनीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(i) महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए पूरी शिक्षा व्यवस्था को सकारात्मक हस्तक्षेप की भूमिका के अनुकूल बनाना;

(ii) महिलाओं का दर्जा बढ़ाने और हर क्षेत्र में उनके विकास को बढ़ावा देने के सक्रिय कार्यक्रमों को अपनाने हेतु शिक्षा संस्थाओं को प्रोत्साहित करना;

(iii) लिंग रूढ़िवादिता को मिटाते हुए बहुपयोगी तकनीकी और व्यवसायिक शिक्षा के हर

स्तर पर महिलाओं के प्रवेश का मार्ग प्रशस्त करना;

(iv) एक गतिशील प्रबंधन व्यवस्था तैयार करना जो इस आदेश द्वारा कई चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हो।

बड़ी संख्या में महिलाओं को रोजगार प्रदान करने वाले पारंपरिक क्षेत्रों जैसे — कृषि, पशुपालन, हथकरघा, उद्योग, हस्तशिल्प, कुटीर एवं ग्रामीण उद्योग तथा रेशम उद्योग में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली महिलाओं के लिए रोज़गार एवं कौशल संवर्धन द्वारा रोज़गार के अवसर बढ़ाने के लिए 1987 में महिलाओं के लिए प्रशिक्षण सह रोज़गार कार्यक्रम चलाए गए। 1995 में 'इंदिरा महिला योजना' नाम से एक दूसरा कार्यक्रम चलाया गया जिसका उद्देश्य मूल स्तर पर महिलाओं को संगठित करके निर्णय निर्धारण में उनकी सहभागिता और सशक्तिकरण को सुनिश्चित करना था। अक्तूबर 1998 में 'ग्रामीण महिला विकास और सशक्तिकरण परियोजना' को भी मंजूरी दी गई।

राष्ट्रीय महिला आयोग

महिलाओं के अधिकार और कानूनी अधिकारों की सुरक्षा के लिए 1990 में संसद ने महिलाओं के लिए राष्ट्रीय आयोग की स्थापना करने के लिए एक कानून बनाया। 31 जनवरी 1992 को यह आयोग अस्तित्व में आया। राष्ट्रीय महिला आयोग को सौंपे गए कार्य व्यापक और विविध है जो उनके अधिकार और उन्नति की सुरक्षा संबंधी मामलों के लगभग सभी पहलुओं से जुड़े हैं। इसके आदेशित गतिविधियों में कानून की समीक्षा, अत्याचारों की विशिष्ट व्यक्तिगत शिकायतों में हस्तक्षेप और जहाँ कहीं भी उपयुक्त और संभव हो महिलाओं के हितों की रक्षा के उपाय सम्मिलित हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद महिलाओं की स्थिति को असमानता से समानता तक लाने के जागरूक प्रयास होते रहे हैं। वर्तमान समय में, कानूनी और सांविधानिक रूप से भारत में महिलाओं को पुरुषों के साथ समानता का दर्जा दिया गया है। महिलाएँ किसी भी प्रकार की शिक्षा या प्रशिक्षण, जो उन्हें आजीविका दिला सके को चुनने के लिए स्वतंत्र हैं। वे कोई भी विशेष या उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। लेकिन जब हम सामाजिक वास्तविकता को देखते हैं तो पता चलता है कि यहाँ एक ओर शहरी शिक्षित महिलाओं का एक छोटा वर्ग ही अधिकृत वैधानिक और उन्नतिशील कार्यक्रमों का लाभ उठा रहा है तो दूसरी ओर समाज में लिंग भेद चला ही नही आ रहा है अपितु कुछ मामलों में तो हिंसा और महिलाओं के विरुद्ध अपराध के रूप में यह और भी बदत्तर हो गया है। भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति का मामला बहुत ही गंभीर है और इसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

शिक्षा और रोज़गार

पुरुषों और महिलाओं की स्थिति में कुछ अन्य क्षेत्रो में भी अंतर स्पष्ट दिखाई देते हैं वे क्षेत्र हैं: शिक्षा और रोज़गार। स्वतंत्रता के समय महिलाओं की साक्षरता दर 7.9 प्रतिशत थी जबकि 2001 में यह बढ़कर 54.16 प्रतिशत हो गई जबकि पुरुषों में यह 75.85 प्रतिशत थी। इसके बावजूद अशिक्षित महिलाओं की संख्या इन दशकों में और भी बढ़ गई और इसके कारण हैं — जनसंख्या में वृद्धि तथा लड़कियों को विद्यालयों में दाखिला न दिलाना एव शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था में लड़कियों का स्कूल छोड़ जाना। निरक्षरता एवं शिक्षा के अभाव के कारण रोज़गार, प्रशिक्षण और स्वास्थ्य सुविधाओ

के उपभोग जैसे क्षेत्रों में महिलाओं की सफलता सीमित है।

सामाजिक संकेतक

भारतीय संविधान महिलाओं को न्यायिक और सामाजिक समानता का आश्वासन देता है। लिंग समानता को वास्तविक बनाने के लिए कई कानून भी बनाए गए हैं।

वर्तमान कानूनों का अगर बारीकी से परीक्षण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी भी कई कानून पुरुषों के पक्ष में ही हैं और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यवहार में महिलाओं के प्रति सामाजिक व्यवहार भेदभाव पूर्ण ही है।

संपत्ति के मामलें में तत्कालीन कानूनों और न्यायिक निर्णयों के द्वारा महिलाओं को पारिवारिक संपत्ति में आधा हिस्सा मिलने का प्रावधान है लेकिन परिवार के सदस्य बहुत कम मामलों में महिलाओं के साथ न्याय कर पाते हैं। बहुत से दृष्टांतों में महिलाएँ अशिक्षित होती हैं और इसलिए धोखाधड़ी से उन्हें संपत्ति के कानूनी अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

स्पष्टत: महिलाओं की यह स्थिति सांविधानिक प्रावधान या कानूनों या योजनाओं की कमी के कारण नहीं है। इसके कई अन्य कारण भी हैं। पहला कारण है गहरी जड़ जमाई हुई पैतृक व्यवस्था जो पुरुषों को सिर्फ परिवार का मुखिया ही नहीं बल्कि सामाजिक तौर से निर्णय लेने का अधिकार भी देती है। इस पितृ प्रधान व्यवस्था के अंतर्गत सामाजीकरण की प्रक्रिया लड़के और लड़कियों दोनों को अपनी भावी भूमिका को स्वीकारते हुए वयस्क होने पर विवश करता है। एक औसत भारतीय परिवार में लड़कों को लड़कियों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता है।

इन सामाजिक कारणों के साथ-साथ हमारी योजना ने वृहद् रूप से महिलाओं के विकास की अवहेलना की है। ये कार्यक्रम एकाकी खंडों में विभक्त हैं, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कार्यक्रम बनाए तो गए हैं परंतु पर्याप्त धन की व्यवस्था नही की गई है। इस प्रकार पुरुष प्रधान पारिवारिक ढाँचा, जाति और रक्त संबंध पर आधारित समाज, एकतरफा विकास तथा नियोजन, यथा स्थिति से ग्रसित नौकरशाही द्वारा निर्मित और कार्यान्वित योजना ने समानता और अवसरों के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित बदलाव नहीं आने दिया है।

सशक्तिकरण के लिए आंदोलन

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पुरुष प्रधान समाज में परिवार के अंतर्गत महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण में, मात्र कानून बनाकर या नीतियों के द्वारा बदलाव नहीं लाया जा सकता। इसके लिए महिलाओं को निर्णय लेने और कार्यान्वयन प्रक्रिया में स्वयं को शामिल करने की आवश्यकता है। राजनीतिक निर्णय निर्धारण संस्थाओं और सरकारी ढाँचे से महिलाओं को वंचित रखने ने लिंग आधारित भेदभाव को बढ़ावा दिया है। किसी भी सरकार या राजनीतिक दल ने निर्णय निर्धारण संस्थाओं में महिलाओं की भागीदारी की समस्या को गंभीरता से नहीं लिया हैं।

महिला आंदोलन चुनावी संस्थाओं में महिलाओं के आरक्षण के लिए संघर्ष करता रहा है। 73वें और 74वें संविधान संशोधन से, जिनके द्वारा महिलाओं को पंचायती राज संस्थाओं तथा नगर पालिकाओं एवं नगर निगमों में 33 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त हुआ है, इस आंदोलन को केवल

1952 से 1999 तक संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व

	लोक सभा			राज्य सभा		
साल	सीटें	लोक सभा की महिला सदस्या	महिला संसद सदस्यों का प्रतिशत	सीटें	राज्यसभा* की महिला सदस्या	महिला संसद सदस्यों का प्रतिशत
1952	499	22	4.4	219	16	07,31
1957	500	27	5.4	237	18	07,59
1962	503	34	6.8	238	18	07,56
1967	523	31	5.9	240	20	08,33
1971	521	22	4.2	243	17	07,00
1977	544	19	3.4	244	25	10.25
1980	544	28	7.9	244	24	09,84
1984	544	44	8.1	244	28	11,48
1989	517	27	5.3	245	24	09,80
1991	544	39	7.2	245	38	15,51
1996	543	39	7.2	223	20	08,52
1998	543	43	7.92	245	15	06.12
1999	543	49	9.02	245	19	07.76
औसत	528	33	6.15	[illegible]	22	09.00

* राज्य सभा की संरचना हर दो साल पर बदलती है। राज्य सभा की सदस्य संख्या उन्ही सालों की ली गई है जिनसे लोक सभा की तुलना की जा सके। राज्य सभा का औसत इन्हीं सालों पर आधारित है।

स्रोत : सी.एस.डी.एस., दिल्ली (सांख्यिकी इकाई)।

आंशिक सफलता मिली है। संसद और राज्य विधान सभाओं में ऐसे ही आरक्षण के लिए संघर्ष जारी है, लेकिन जहाँ लगभग सभी राजनैतिक दल खुले तौर पर इस माँग का समर्थन करते हैं वहीं जब यह विधेयक संसद के समक्ष पेश होता है तो किसी न किसी प्रकार इसे पारित नहीं होने दिया जाता है।

महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति —2001

2001 में भारत ने महिला सशक्तिकरण के लिए एक राष्ट्रीय नीति घोषित की । इस नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(i) सकारात्मक आर्थिक और सामाजिक नीतियों द्वारा ऐसा वातावरण तैयार करना जिसमें

महिलाओं को अपनी पूर्ण क्षमता को पहचानने का मौका मिले और उनका पूर्ण विकास हो;

(ii) महिलाओं द्वारा पुरुषों की भाँति राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नागरिक सभी क्षेत्रों में समान स्तर पर सभी मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं का कानूनी और वास्तविक उपभोग;

(iii) स्वास्थ्य देखभाल, प्रत्येक स्तर पर उन्नत शिक्षा, जीविका एवं व्यवसायिक मार्गदर्शन, रोज़गार, समान पारिश्रमिक, व्यवसायिक स्वास्थ्य एवं सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा और सार्वजनिक पदों आदि में महिलाओं को समान सुविधाएँ;

(iv) न्याय व्यवस्था को मजबूत बनाकर महिलाओं के विरूद्ध सभी प्रकार के भेद-भाव का उन्मूलन।

राष्ट्रीय नीति के अनुसार, केंद्रीय तथा राज्य मंत्रालयों को केंद्रीय-राज्य स्तरीय महिला एवं शिशु कल्याण विभागों और राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोगों के साथ सहभागिता के माध्यम से विचार-विमर्श करके नीति को ठोस कारवाई में परिणत करने के लिए समयबद्ध कार्य योजना बनानी होगी।

राष्ट्रीय नीति दस्तावेज़ वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संस्थागत तंत्रों, संसाधन प्रबंधन, वैधीकरण, लिंग संवेदनशीलता, स्वयंसेवी संगठनों तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को सशक्त करने की बात भी करता है।

यह कहना व्यर्थ होगा कि महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति — 2001 पहली बार महिलाओं के विकास और सशक्तिकरण का व्यापक प्रस्ताव प्रस्तुत करती है। अब यह देखना है कि अन्य मामलों की भाँति यह दस्तावेज़ सिर्फ इच्छाओं का दस्तावेज़ मात्र ही रह जाता है या इसका कुछ परिणाम भी सामने आता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए कई नीतियाँ और उपाय अपनाए गए हैं। इन सबके बावजूद, महिलाओं की स्थिति में वांछित सुधार नहीं हो पाया है। महिलाएँ, सामान्य रूप से इन उपायों से विशेष लाभ उठाने की स्थिति में नहीं रही है। इन कानूनों और योजनाओं को यथार्थ में लागू करने में भी उत्साह की कमी रही है। इसलिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि संविधान द्वारा दिए गए इन अधिकारों, नीतियों एवं उपायों को महिलाओं की पहुँच तक कैसे लाया जाए? केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड एवं विकास जैसे कई अन्य कार्यक्रम महिलाओं के कल्याण के लिए स्थापित किए गए हैं। रोज़गार के माध्यम से आर्थिक आत्मनिर्भरता लाने, आमदनी बढ़ाने, शिक्षा, कौशल प्रशिक्षण और अन्य विकास संबंधी कार्यक्रमों के लिए कई योजनाओं की शुरुआत की गई है। इनको सशक्त करने के लिए सरकार ने कई कानून बनाए हैं। वास्तव में महिलाओं के लिए सामाजिक विधान बनाने की दृष्टि से भारत एक अग्रणी देश है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी देश के संपूर्ण विकास के लिए सभी क्षेत्रों में महिलाओं और पुरुषों की अधिकतम भागीदारी की आवश्यकता है। जनसंख्या के लगभग आधे हिस्से की क्षमता का कम उपयोग सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए एक गंभीर बाधा है। समय आ गया है कि पुरुष और महिलाएँ दोनों मिथक, थोपी गई परंपराओं और लिंग वरीयता की संकीर्ण धारणाओं से बाहर निकलकर, कंधे से कंधा मिलाकर एक सुखी और सुव्यवस्थित निजी पारिवारिक और सामाजिक जीवन व्यतीत करें।

अभ्यास

1. भारत में महिलाओं के कल्याण से संबंधित मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निदेशक तत्वों के प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।
2. महिलाओं के कल्याण के लिए स्वतंत्रता के बाद से संसद द्वारा पारित किन्हीं तीन अधिनियमों की गणना कीजिए।
3. महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति – 2001 के मुख्य उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
4. महिला सशक्तिकरण के साधन के रूप में संसद और राज्य विधान सभाओं में सीटें आरक्षित करने की माँग का परीक्षण कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) महिला राष्ट्रीय आयोग

   (ii) महिलाओं की शिक्षा और रोजगार संबंधी स्थिति

   (iii) महिलाओं की सामाजिक स्थिति

इकाई IV

भारतीय लोकतंत्र की चुनौतियाँ तथा समाधान

अध्याय 12

असमानता : सामाजिक तथा आर्थिक

हम अनेक बार पढ़ चुके हैं कि संविधान निर्माताओं ने लोक सहभागिता के आदर्शों के आधार पर एक वांछनीय लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को ही नहीं अपनाया बल्कि समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने की कार्यप्रणाली के रूप में भी अपनाया है। ऐसा माना जाता है कि लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कम-से-कम सिद्धांत में, राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक जीवन में बिना जाति, नस्ल, लिंग और सामाजिक उत्पत्ति के भेदभाव के सभी व्यक्तियों की समान सहभागिता सुनिश्चित करती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्त्व के अध्याय यह सुस्पष्ट करते हैं कि संविधान निर्माता संविधान को सामाजिक-आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए एक यंत्र के रूप में कार्य करते हुए देखना चाहते थे। सामाजिक-आर्थिक न्याय का आधार राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समानता है।

लोकतंत्र के व्यावहारिक रूप को देखने पर लगता है कि इसकी सफलता के लिए समानता भी एक आवश्यक शर्त है। लोकतंत्र की माँग है कि व्यक्तियों में समानता यथेष्ट मात्रा में हो। समान का तात्पर्य पूर्ण समानता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि धन, सामाजिक स्तर, शिक्षा तथा ज्ञान की क्षमता एक व्यक्ति समूह द्वारा दूसरे व्यक्ति समूहों पर स्थायी रूप से आधिपत्य जमाए रखने का कारण न बन सके। अतः लोकतंत्र के विचार और सिद्धांत समानता के सिद्धांत से पृथक नहीं किए जा सकते। यदि लोकतंत्र लोक सहभागिता है तो चुनावी प्रक्रिया में लोगों की औपचारिक सहभागिता समान सहभागिता के अवसर होने का एक सूचक है। सार्थकता की स्थिति को बनाए बिना सार्थक सहभागिता को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। यह सार्थकता सारगर्भित समानता के द्वारा ही आगे बढ़ सकती है। सामाजिक और आर्थिक असमानता की पृष्ठभूमि में अवसर की समानता अथवा राजनीतिक समानता अर्थहीन प्रतीत होती है। अतः राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्श के लिए जरूरी है कि उसे सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र का समर्थन प्राप्त हो। भारत में हमने लोकतंत्र को अपनाया ताकि इसके माध्यम से राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक समानता भी प्राप्त हो सके। लोकतंत्र के सफलतापूर्वक कार्य करने में अंततः हमें सामाजिक और आर्थिक समानता की आवश्यकता भी थी। इसमें किंचित संदेह नही है कि 55 वर्षों की आजादी के बाद भी हमारे समाज में गंभीर असमानताएँ

व्याप्त हैं जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए एक गंभीर चुनौती हैं।

असमानता

भारत में सामाजिक-आर्थिक असमानता एक लंबे इतिहास की विरासत है। भारत चिरकाल से विश्व का एक पुरातन असमान समाज है। अतीत में भारत में व्याप्त असमानता उस जाति व्यवस्था का परिणाम थी जहाँ पेशे का निर्धारण किसी परिवार अथवा जाति में जन्म के आधार पर होता था। वंचित और हाशिए पर बैठे लोगों को कहा जाता था कि उनकी गरीबी, निम्नस्थिति और निर्धनता कर्म से निर्धारित है और उन्हें जन्म से ही निधारित कर्म करना होगा क्योंकि वही उनकी नियति है।

दूसरे प्रकार की असमानता जैसे निर्धनता, उपनिवेशवाद का परिणाम है। इस दृष्टि से न केवल संपूर्ण भारत ही गरीब हुआ, बल्कि आय में विभिन्नता के कारण असमान वर्गों का भी उदय हुआ। कुछ श्रेणियों का भूमि और उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार स्थापित था और जनसाधारण का अधिकांश भाग रोजगार और जीविका के लिए उन पर निर्भर था। आय में असमानता का अन्य पहलू है ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आय की असमानताएँ तथा विभिन्न क्षेत्रों एवं राज्यों में व्याप्त क्षेत्रीय असमानताएँ और असंतुलन। हम आगे सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की प्रकृति तथा उसके विस्तार और राजनीतिक प्रक्रिया पर उनके प्रभाव की चर्चा कर रहे हैं। दूसरे अध्याय में हम क्षेत्रीय असमानताओं तथा उनके परिणामों का अध्ययन भी करेंगे।

सामाजिक असमानता

भारत में सामाजिक असमानता सामान्यत: जातीय आधार पर कायम है। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ तथा अन्य पिछड़ी जातियाँ व्यापक तौर पर जो पिछड़े वर्गों के नाम से जानी जाती हैं, उन समूहों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो युगों से जातीय पूर्वाग्रहों, आर्थिक असमानता, शैक्षिक पिछड़ेपन का शिकार रही हैं।

अनुसूचित जातियाँ

'अनुसूचित जाति' लोगों के उन समूहों को कहा गया है जो अतीत में जाति व्यवस्था के बाहर थे। उनमें अधिकांशत: अछूत जातियाँ सम्मिलित हैं। 'अनुसूचित जाति' एक राजनीतिक वैध शब्द है। इसका सृजन सबसे पहले साइमन आयोग द्वारा हुआ और बाद में भारत सरकार अधिनियम 1935 में भी इसका प्रयोग हुआ। जब भारत स्वतंत्र हुआ तब संविधान द्वारा इस शब्द को अपना लिया गया ताकि इसके माध्यम से इन जातियों को कुछ विशेषाधिकार तथा सांविधानिक संरक्षण प्रदान किए जा सकें।

भारत में जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर प्रचलित रहा है। सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से अनुसूचित जातियों के लोग सबसे निचली श्रेणी में आते हैं। उन्हें अछूत कहकर सार्वजनिक जीवन में सहभागिता से वंचित रखा जाता था। नि:संदेह, अनुसूचित जातियाँ समरूप समूह का निर्माण नहीं करती हैं; स्वयं उनमें भी स्तरीकरण और विभिन्न श्रेणियाँ पाई जाती हैं, लेकिन उन्हें अछूत मानकर अलग-थलग रखा गया है। उन्हें हमेशा जाति से बाहर माना जाता रहा है। स्वतंत्रता के बाद ही उन्हें संविधान द्वारा नागरिक समानता प्राप्त हुई है। पहले बतलाया जा चुका है कि उनकी स्थिति में सुधार के लिए प्रयास किए जा रहे है। लेकिन परिणाम अधिक उत्साहजनक नहीं हैं। अत: जातीय आधार पर आज भी सामाजिक असमानता विद्यमान है।

कानूनी समानता

हम पहले पढ़ चुके हैं कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारत में समाज और राज्य को नियमित करने के लिए समानता, न्याय और स्वतंत्रता के मूलभूत सिद्धांतों को स्थापित करता है। इसका उल्लेख मात्र पवित्र इच्छा के रूप में नहीं हुआ। मौलिक अधिकारों के अंतर्गत सम्मिलित नागरिक अधिकारों के संबंध में भेदभाव विहीन सिद्धांत यह सुनिश्चित करता है कि सभी लोग कानून के समक्ष समान होंगे, सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होगा और सभी को समान अवसर और स्वतंत्रता प्राप्त होगी। जाति, लिंग, धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा आदि के भेदभाव के बिना संविधान सभी को अवसर की समानता सुनिश्चित करता है। सार्वजनिक स्थलों पर प्रवेश का सभी को समान अवसर प्राप्त है। संविधान (अनुच्छेद 17) अस्पृश्यता का पूर्णत: उन्मूलन करता है तथा उसके प्रचलन को एक दंडनीय अपराध घोषित करता है। नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से संविधान (अनुच्छेद 46) राज्य को निर्देश देता है कि वह समाज के असहाय वर्ग, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देगा।

यही नहीं, संविधान के अंतर्गत आरक्षण की नीति अनंतकाल से प्रचलित विषमताओं और तिरस्कार के शिकार लोगों को वरीयता प्रदान करने हेतु एक सकारात्मक कदम हैं। आरक्षण की नीति को मौलिक अधिकारों के माध्यम से अंगीकार किया गया है। अनुच्छेद 15 (4) में प्रावधान किया गया है कि सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के नागरिकों के विकास के लिए राज्य व्यवस्था करेगा। अनुच्छेद 16 (4) में प्रावधान है कि राज्य पिछड़े वर्ग के उन लोगों के लिए, जिन्हें सरकारी नौकरियों में पर्याप्त स्थान प्राप्त नहीं, आरक्षण की व्यवस्था करेगा। अनुच्छेद 15 और 16 जहाँ शैक्षिक संस्थाओं तथा रोज़गार में आरक्षण का प्रावधान करते हैं, वहीं अनुच्छेद 330 व 332 में विशेषतया उल्लेख किया गया है कि लोक सभा और राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए जाएँगे। इस प्रकार लोक सभा के 543 स्थानों में से 79 स्थान अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित है तथा राज्य विधान सभाओं के कुल 3,997 स्थानों में से 541 स्थान उनके लिए आरक्षित किए गए हैं। आरक्षण की नीति के अधीन (i) सरकारी नियुक्तियाँ; (ii) शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश; तथा (iii) लोक सभा और राज्य विधान सभाओं में स्थान आरक्षित किए गए हैं।

हम पहले ही एक अध्याय में पढ़ चुके हैं कि अनुसूचित जातियों के कल्याणार्थ और उनके उत्थान के लिए विभिन्न नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों को निर्धारित और लागू किया गया है। अत: यह कहा जा सकता है कि जातीय व्यवस्था पर आधारित सामाजिक असमानता के मुद्दे को संविधान निर्माताओं ने सुस्पष्ट ढंग से सुलझाने की चेष्टा की तदुपरांत पिछले 55 वर्षों के दौरान केंद्र और राज्य सरकारों ने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और शैक्षिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु विभिन्न विधेयक पारित किए हैं और उनके कल्याणार्थ विशेष योजनाएँ और कार्यक्रम चलाए गए हैं। इन सब के परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों की स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है, उनमें से कुछ को सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक स्तर पर ऊपर उठने के अवसर मिले है परंतु साधारणतया इन सांविधानिक प्रावधानों का लाभ निम्नतम वर्गों तक अभी नहीं पहुँच पाया है।

यद्यपि संविधान द्वारा अस्पृश्यता का पूर्णत: उन्मूलन कर दिया गया है परंतु देश के विभिन्न

क्षेत्रों में इसका आज भी प्रचलन है। अनुसूचित जातियों के अधिकांश लोग आज भी जीवन यापन के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उनमें से एक बहुत बड़ी संख्या भूमिहीन मजदूरों की है। उनका अधिकांश भाग निम्न श्रेणी के कार्यों को करता है, और उत्पादन के स्रोतों जैसे — भूमि, जंगल और पानी आदि पर उनका नियंत्रण प्रायः नहीं के बारबर है। भूमि सुधारों, भूस्रोतों के पुनर्वितरण के वैधानिक प्रयास लागू नहीं हो पाए हैं।

अनुसूचित जातियों का अल्पसंख्यक भाग ही आरक्षण नीतियों और सामाजिक-आर्थिक बदलाव के परिणामस्वरूप समाज में अपना स्थान बना पाया है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का केंद्रीय सरकारी सेवाओं में प्रतिनिधित्व इन तथ्यों की पुष्टि करता हैं। तालिका 12.1 स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि इन्हें मात्र वर्ग 'सी' तथा वर्ग 'डी' (जोकि निम्न श्रेणी के कर्मचारियों से संबंधित है), में ही नौकरी मिलती है। सफाई कर्मचारियों में से 50 प्रतिशत से अधिक इसी वर्ग में से लिए जाते हैं जो यह दर्शाता है कि आज भी वे ऐसे ही व्यवसाय से जुड़े हैं। कुछ तो अमानवीय तथा निष्कृट परिस्थितियों में कार्य करते हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार लगभग आठ लाख व्यक्ति हाथों से कूड़ा-करकट व गंदगी उठाने का कार्य करते हैं। यह भी विडंबना है कि अनुसूचित जातियों में आरक्षण नीति के फलस्वरूप यदि कोई मध्यमवर्ग उभरता भी है समाज में उच्च जातियों के समान उन्हें आदर और सम्मान नही मिल पाता है।

जहाँ तक साक्षरता का प्रश्न है अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ सामान्य जनता से बहुत पिछड़ी हुई हैं। अनुसूचित जातियों के विद्यार्थियों के स्कूल में प्रवेश लेने की दर सामान्य विद्यार्थियों से कहीं कम है, और जहाँ तक स्कूल छोड़ने की दर का प्रश्न है यह कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए अनुसूचित जातियों की लड़कियों में से जो प्रवेश लेती हैं लगभग 75 प्रतिशत किसी न किसी कारणवश स्कूल छोड़ देती हैं।

इन सब के अतिरिक्त अनुसूचित जातियों के साथ जनसाधारण का दुर्व्यवहार भी एक वास्तविकता है। पुलिस-रिकॉर्ड को देखने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि जहाँ आम अपराधों की संख्या में कमी आई है वहाँ अनुसूचित जातियों के विरूद्ध हिंसात्मक घटनाओं की संख्या बढ़ी है। इनके विरूद्ध हिंसा की घटनाएँ अधिक संगठित हुईं जो ज्यादातर राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हिंसात्मक वर्गों द्वारा की जाती हैं। उनके विरूद्ध बढ़ती हुई हिंसा का मुख्य कारण यह है कि अनुसूचित जातियों में अपने अधिकारों के प्रति सजगता बढ़ी है और इस बात से उच्च जाति के कुछ लोगों में असहिष्णुता आई है। अनुसूचित जातियाँ अक्षमताओं से उभारने की धीरे-धीरे कोशिश कर रहीं हैं परंतु संरचनात्मक समस्याओं और मानसिकताओं के कारण उनका सामाजिक उत्थान अवरूद्ध हो जाता है। अनुसूचित जनजातियों की कहानी भी कुछ ऐसी ही है।

अनुसूचित जनजातियाँ

अनुसूचित जनजातियों के अंतर्गत सामान्यतः ऐसे समूहों को सम्मिलित किया जाता है जो जंगलों एवं पहाड़ी इलाकों में रहते हैं और जनसाधारण से अलग-थलग हैं। सर्वप्रथम इन लोगों को अंग्रेज़ों ने रेखांकित किया और उन्हें इस प्रकार के नामों से संबोधित किया जैसे — जंगली, पहाड़ी, देशी और आदिवासी। यह इसलिए क्योंकि इन जनजातियों का सामान्य जातियों से मेल-जोल कम था। जनजातियों के संबंध में कुछ सामान्य लक्षण इस प्रकार उल्लिखित किए गए : (i) यह सभ्य समाज से बहुत दूर जंगलों

तालिका 12.1 : केंद्रीय सरकार की सेवा में अनु. जा. / अनु. जनजा. का ब्यौरा (1 जनवरी 1998 के अनुसार)

पद श्रेणी	कुल	अनु. जा.	प्रतिशत	अनु. जन जा.	प्रतिशत
ए	63,466	6,608	10.41	2,047	3.23
बी	1,05,679	12,510	11.84	2,868	2.71
सी	21,36,640	3,48,309	16.31	1,28,776	6.03
डी	9,98,672	2,14,784	21.51	69,108	6.93
सफाई कर्मचारी	1,71,994	93,430	54.32	6,916	4.02
कुल (सफाई कर्मचारी को छोड़कर)	33,03,457	5,82,211	17.62	2,02,859	6.14
कुल (सफाई कर्म. को सम्मिलित कर)	34,75,451	6,75,641	19.44	2,09,775	6.04

टिप्पणी : केंद्रीय मंत्रालय/विभाग की सूचना सम्मिलित नहीं है।

स्रोत : इंडिया 2001 : "ए रेफरेन्स एनुअल", प्रकाशन विभाग, *सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार – 2001*

तालिका 12.2 : वर्ष 1971-91 के दौरान विभिन्न वर्गों की साक्षरता प्रतिशत

जनसंख्या वर्ग	1971			1981			1991		
	कुल	पुरुष	महिला	कुल	पुरुष	महिला	कुल	पुरुष	महिला
अनु. जा.	14.7	22.36	6.4	21.38	31.12	10.93	37.41	49.91	23.76
अनु. जनजा.	11.3	17.6	4.0	16.35	24.52	8.04	29.6	40.65	18.19
गैर-अनु.जनसंख्या	33.8	44.5	22.3	41.3	52.34	29.42	57.69	69.55	44.81
सामान्य	29.5	39.52	18.7	36.23	46.89	24.82	52.21	64.13	80.29

टिप्पणी : 1. एन.एस.पी. गैर-अनुसूचित जनसंख्या को और सामान्य शेष जनसंख्या को दर्शाता है।

2. वर्ष 1971 और 1981 में साक्षरता की प्रतिशतता को गुणात्मक रूप से पूर्ण साक्षर जनसंख्या में प्रतिभाजित किया गया है जिसमें 0-4 वर्ष आयुवर्ग के शिशु भी शामिल हैं, तथापि वर्ष 1991 में 0-6 वर्ष आयुवर्ग के बच्चों को निकालने पर साक्षर गुणात्मक रूप दर्शाया गया है।

स्रोत : बी.एस. भार्गव तथा अविनाश सामल "प्रोटेक्टिव डिसक्रीमीनेशन एंड डेवलपमेंट ऑफ शैडयूल्ड कास्टस : एन ऑल्टरनेटिव मॉडल फॉर गुड गवर्नेस", *इंडियन जरनल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन*, वाल्यूम XLIV, नं. 3, एनुअल इश्यू, 1998।

और पहाड़ों के उन हिस्सों में रहते हैं जो सामान्य व्यक्ति की पहुँच से बाहर होते हैं; (ii) ये अपने में प्रचलित तीन वर्गों में से किसी एक से संबंधित होते है — नैगरिटो, आस्ट्रालायॅड अथवा मौंगोलायॅड; (iii) इनकी भाषा शैली समान है; (iv) यह 'ऐनिमिज्म (जडात्मवाद अथवा जीववाद' नामक पुरातन धर्म में आस्था रखते है जिसमें प्रकृति एवं आत्माओं की पूजा करते हैं; तथा (v) ये प्रमुखतया मांसाहारी हैं और पुरातन धंधे जैसे — शिकार, जंगली उत्पादन की वस्तुओं को एकत्रित करते हैं।

प्राचीन काल से अनुसूचित जनजातियों का सभ्य व विकसित संस्कृति और समाज से बहुत कम संपर्क रहा है। अंग्रेज़ भारत में अपनी जड़ें जमा रहे थे उसी समय उनसे संपर्क स्थापित हुआ। ये जातियाँ समरूप नहीं हैं। ये संपूर्ण भारत में अनेक क्षेत्रों में फैली हुई हैं। जिन क्षेत्रों में यह विशेष रूप से संकेंद्रित हैं उनमें लद्दाख, हिमाचल प्रदेश, उत्तर तथा दक्षिणी उत्तर प्रदेश, सिक्किम, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, बिहार, झारखंड, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडू, कर्नाटक, केरल, उत्तर पूर्वी राज्य तथा केंद्रशासित प्रदेश अंडमान-निकोबार तथा लक्षद्वीप शामिल हैं। जनजातियों में से अधिकांश जातियाँ भूमि और जंगलों के साधनों से जीवन-यापन करती हैं। जिन स्थानों पर यह रहना प्रारंभ कर देती हैं इनका सामाजिक जीवन उसी क्षेत्र से बँध जाता है। धीरे-धीरे इन जातियों के लोगों में प्रतिव्यक्ति भूमि क्षेत्र का ह्रास हो रहा है। ब्रिटिश काल में आवागमन तथा संचार के साधनों में प्रगति होने के कारण जनजातियों के क्षेत्रों में गैर-जनजातीय लोगों ने घुसपैठ की। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा इन क्षेत्रों में खानों की खुदाई और उद्योगों के लगाने से इनके भूक्षेत्र का और अधिक अधिग्रहण हो रहा है।

स्वतंत्रता के समय जनजातियों का जीवन स्तर सामान्य लोगों से अलग और पिछड़ा हुआ था। इनका शैक्षिक तथा रहन-सहन का स्तर निम्न था। इसके साथ ही साथ इनकी संस्कृति, धर्म, पारंपरिक मूल्य जनसाधारण से अलग थे। यद्यपि इन्हें पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था में किसी विशेष वर्ण में नहीं रखा जाता था तथापि धीरे-धीरे निम्न जाति की श्रेणी में आने से इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। इनके विकास और कल्याण के संबंध में तीन प्रकार की समस्याएँ उजागर हुईं जो ये थीं : (i) इनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना; (ii) इन्हें भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में सम्मिलित करना; (iii) साथ ही इनकी अपनी पहचान को बनाए रखना। हम यह तो जानते ही हैं कि भारतीय संविधान ने अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए विशेष प्रावधान किए हैं। अनुसूचित जातियों की भाँति इन्हें भी नौकरियों, शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश तथा विधान सभा में सीटों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा कुछ अन्य पिछड़ी हुई जातियों के प्रति विकसित वर्गों का इनके प्रति भेदभाव एवं दुर्व्यवहार इनकी सामाजिक असमानता के लिए उत्तरदायी है। जनजातीय जनसंख्या आर्थिक असमानता और देश में फैली हुई गरीबी से अपने आप को बाहर नहीं निकाल पाई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गरीबी केवल इनको ही नहीं अपितु अन्य अनेक वर्गों को भी घेरे हुए है।

आर्थिक असमानता : गरीबी

हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि अंग्रेज़ों के उपनिवेशवादी शोषण के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के समय भारत विश्व के सबसे ग़रीब देशों में से एक था। न केवल भारत एक गरीब देश था, यहाँ आय और धन के

वितरण में भी बहुत अधिक विषमताएँ थीं। ऐसा नहीं है कि विश्व के अन्य देशों में गरीबी नहीं हैं। ब्रिटेन और अमेरिका में भी गरीबी है। परंतु भारत के विषय में यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता के समय भी यहाँ अमीर और गरीब के बीच में अतुलनीय असमानताएँ थीं। अतः गरीबी एक बड़ी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्या थी। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने लोगों की आय के स्तर को बढ़ाने के लिए और असमानताओं को दूर करने के अनेक प्रयास किए। इस प्रकार देश से गरीबी हटाने में विशष सफलताएँ भी मिली हैं लेकिन अभी भी जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग गरीबी की दयनीय अवस्था में जी रहा है। जब हम गरीबी की बात करते हैं तो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है कि हम जाने कि गरीबी का क्या अर्थ है, इसने किस सीमा तक हमारे समाज को ग्रसित कर रखा और इसके परिणाम क्या हैं।

गरीबी : अर्थ

सामान्य अर्थों में, गरीबी सुदीर्घ, स्वस्थ एव सृजनात्मक जीवन के अवसरों को नकारना और सुसंस्कृत जीवन-शैली का अभाव है। सच तो यह है कि गरीबी एक सामाजिक आर्थिक घटना है जिसकी कोई समुचित परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसकी अवधारणा तथा विषय-वस्तु विभिन्न देशों में अलग-अलग है क्योंकि प्रत्येक देश अपने समाज विशेष के लिए अच्छे जीवन स्तर की अलग-अलग व्याख्याएँ करता है। इस संदर्भ में गरीबी का संपूर्ण तथा सापेक्ष रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

संपूर्ण गरीबी

इसका अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार के जीवन यापन के लिए आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न होना। इस परिस्थिति में भौतिक आवश्यकताओं की जबर्दस्त कमी जैसे — भूखमरी, कुपोषण, वस्त्रों का अभाव, आवास का अभाव, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव का विशेष प्रभाव होता है। दूसरे शब्दों में, इस संपूर्ण गरीबी की परिस्थितियों में मूलभूत आवश्यकताओं की कमी में मानव जीवित मात्र रहता है।

सापेक्ष गरीबी

यह एक ऐसी अवधारणा है जहाँ पर अवसरों के अभाव और जीवन स्तर के मापदंड को समय तथा स्थान के संदर्भ में देखा जाता है। यह सत्य है कि विभिन्न समाज के अलग-अलग स्तर होते हैं अतः गरीबी को मापने का कोई सर्वव्यापी तरीका नहीं है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में यदि किसी परिवार में दो गाड़ियाँ न हो तो उसे गरीब समझा जाता है जबकि भारत में एक गाड़ी वाले परिवार को अमीरों की श्रेणी में रखा जाता है।

गरीबी का स्वरूप कुछ भी हो, इसे कोई नहीं झुठला सकता कि यह सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को बढ़ावा देती है जो राजनीतिक शक्ति को प्रभावित करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि *लोकतंत्र की सफलता के लिए असमानताएँ कम से कम हों। भारत में संपूर्ण तथा सापेक्ष दोनों* प्रकार की गरीबी विद्यमान हैं। इन दोनों में से संपूर्ण गरीबी अत्यधिक गंभीर समस्या है।

भारत में गरीबी

यह सत्य है कि भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गरीबी रेखा से नीचे रहते हुए जीवन बिता रहा है लेकिन गरीबी का स्तर क्या है इसका पता *केवल 1960 में लगा जब विद्वानों ने इसका* आकलन करने के लिए इस पर गंभीरतापूर्वक विचार

करना आरंभ किया। गरीबी का आकलन करने के लिए गरीबी रेखा की अवधारणा का प्रयोग किया। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं तथा न्यूनतम पोषण स्तर के लिए कितना जरूरी है। जिन व्यक्तियों को यह भी प्राप्त नहीं हो पाता वे गरीबी रेखा के नीचे माने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि भारत में ग्रामीण लोगों में प्रत्येक व्यक्ति को 2,400 कैलोरी का भोजन मिलना चाहिए जबकि कैलोरी का यह स्तर शहरों में 2,100 कैलोरी प्रतिदिन होना चाहिए है। डांडेकर तथा रथ के एक अध्ययन (1960) के अनुसार ऐसे भोजन के लिए ग्रामीण क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को 15 रुपए प्रतिमाह चाहिए और शहरी क्षेत्र में 22 रुपए 50 पैसे। इस मापदंड के अनुसार भारत की ग्रामीण जनसंख्या का 38 प्रतिशत और शहरी जनसंख्या का 50 प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे रह रहा था। 1980-85 की छठी पंचवर्षीय योजना का सबसे प्रमुख उद्देश्य गरीबी उन्मूलन था क्योंकि उनके अनुसार 1979-80 में भारत की ग्रामीण जनसंख्या का 50.7 प्रतिशत तथा शहरी जनसंख्या का 40 प्रतिशत भाग गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहा था। यदि संपूर्ण संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो भारत में 31.7 करोड़ गरीब हैं जिनमें से 26 करोड़ ग्रामीण क्षेत्रों और 5.7 करोड़ शहरी क्षेत्रों में रहते हैं।

समय के बीतने के साथ-साथ सामान्य जीवन स्तर के लिए बढ़ती हुई कीमतों के कारण प्रति व्यक्ति पर खर्च होने वाले धन के संदर्भ में गरीबी रेखा पर पुनर्विचार किया गया। परिणामस्वरूप 1984-85 में ग्रामीण तथा शहरी निवासियों के लिए क्रमशः 2,400 और 2,100 कैलोरी के भोजन के लिए गरीबी रेखा पर पुनर्विचार करते हुए ग्रामों में प्रतिमाह 107 रुपए और शहरी लोगों में 122 रुपए का व्यय निर्धारित किया गया। इन आँकड़ों के आधार पर यह आंका गया कि भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में 39.9 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों में 27.7 प्रतिशत भाग जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवन-निर्वाह करती है। 1993-94 में यह संख्या 34.3 प्रतिशत थी। अर्थात् 32 करोड़ व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे जीवन बिता रहे थे। इन आँकड़ों के लिए प्रति व्यक्ति आय ग्रामीण क्षेत्र में 205 रुपए 84 पैसे तथा शहरी क्षेत्रों में 281 रुपए 35 पैसे निर्धारित की गई थी। भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण — 2001 तथा दसवीं पंचवर्षीय योजना के अनुसार कुल जनसंख्या का 26.1 प्रतिशत गरीबी रेखा से नीचे रह रहा है। अनेक स्वतंत्र अर्थशास्त्रियों ने इन आँकड़ों को गलत बताया है। मानवीय विकास रिपोर्ट 2001 के अंतर्गत विश्व के 174 गरीब राष्ट्रों में से भारत का नंबर 128वां है और यहाँ 34.6 प्रतिशत जनसंख्या गरीबों की श्रेणी में रखी गई है।

गरीबी को लेकर चाहे सरकारी और अन्य संस्थाओं के आँकड़ों में कितना भी अंतर हो लेकिन यह सत्य है कि भारत में जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग गरीबी में रह रहा है। आँकड़ों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के प्रतिशत में कमी आई है लेकिन संख्या को देखते हुए इसमें कोई परिवर्तन नज़र नहीं आता, जिसका प्रमुख कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है। दूसरे शब्दों में, भारत में लगभग 30 करोड़ व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो यह स्थिति अत्यंत दयनीय है। बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडू, सिक्किम, मध्य प्रदेश, असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा अरुणाचल प्रदेश में रहने वालों में से 40 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे है।

गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

भारत की स्वतंत्रता के समय राष्ट्रीय नेता देश की आर्थिक स्थिति तथा गरीबी की गंभीरता से भली-भाँति परिचित थे जिसके साथ-साथ दूसरी

अनेक समस्याएँ जैसे — बेरोज़गारी, अल्प रोज़गार, संसाधनों तथा आय के साधनों में असमानता प्रमुख थीं। प्रारंभिक वर्षों में गरीबी की समस्या और उसके उन्मूलन के संबंध में गंभीरता से विचार नहीं किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ही लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिए अनेक कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देने और उन्हें प्रोत्साहित करने पर बल दिया गया। इसी दिशा में आर्थिक क्षेत्र में वृद्धि की दर को बढ़ाने तथा गरीबी उन्मूलन के संबंध में, विशेष साधनों को उपलब्ध कराने की नीति बनाई गई।

उपरोक्त कार्यक्रमों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग में गरीबी रेखा से लोगों को ऊपर उठाने के लिए उन्हें उत्पादन के साधनों अथवा दक्षता या फिर दोनों ही प्रदान करने के बारे में सोचा गया ताकि वे स्वयं को काम-धंधे में लगा कर अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करें। कार्यक्रमों के दूसरे स्वरूप के अंतर्गत गरीबों और भूमिहीनों को विशेषतया उस समय जबकि बुआई, जुताई और कटाई का समय नहीं होता था या फिर अकाल जैसी स्थिति के क्षेत्रों में जहाँ अच्छे समय में भी नौकरियों का अभाव था इन्हें अस्थायी नौकरियाँ प्रदान की गईं।

गरीबी से घिरे हुए लोगों को इस वातावरण से छुटकारा दिलवाने के लिए जो भी योजनाएँ बनाई गईं दुर्भाग्यवश वे अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल नहीं हुईं। इसके अनेक कारण थे जैसे — प्रशासकीय उदासीनता, बढ़ती हुई रिश्वतखोरी, सामाजिक तथा आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग द्वारा प्रशासनिक तथा राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित करने की क्षमता, भूमि सुधार संबंधी नीतियों के व्यवहारीकरण के संबंध में राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी तथा स्वयं गरीबों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता का अभाव। भारत में असमानताएँ न केवल जनता में अपितु राज्यों और क्षेत्रों में भी व्याप्त है जिनके बारे में विस्तृत विवरण एक अन्य अध्याय में किया जाएगा।

संक्षेप में, भारत की जनता का एक बहुत बड़ा भाग अब भी गरीबी रेखा के नीचे रह रहा है। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि कृषि, उद्योग और नौकरी के क्षेत्रों में काफी अधिक विकास हुआ है लेकिन विकास का वास्तविक लाभ सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली उच्च मध्य तथा मध्यम वर्गों तथा ऊँची जाति के लोगों के हाथों में ही सीमित रहा है। परिणामस्वरूप आय वितरण की असमानताएँ बढ़ी हैं। संपत्ति के वितरण के गलत ढंग के कारण एक तिहाई जनसंख्या अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी नही कर पाती। आर्थिक दृष्टि से इन गरीबों में अधिकांश भाग अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का है। दूसरे शब्दों में, भारत में सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं।

असमानताएँ तथा राजनीति

25 नवंबर 1949 को संविधान सभा को अंतिम बार संबोधित करते हुए डॉ. बी.आर. अम्बेदकर ने कहा था : "*सामाजिक स्तर पर भारत में एक ऐसा समाज है जो* असमनताओं पर आधारित है जिसमें कुछ लोग उन्नति की ओर और कुछ अवनीति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। आर्थिक क्षेत्र में हमारे समाज में कुछ लोग अत्यधिक धनवान हैं, दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो अत्यधिक गरीबी से त्रस्त हैं। 26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभासों से भरे जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में हम सब समान होगें परंतु सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में असमानताएँ ही असमानताएँ होंगी। राजनीति के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को 'एक व्यक्ति', 'एक मत' तथा 'एक मत', 'एक मूल्य' होगा। हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के कारण हम 'एक मानव एक मूल्य' के सिद्धांत को अस्वीकार करते रहेंगे। हम कब तक इस विरोधाभास में जीवित रहेंगे? सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम कब तक समानता को अस्वीकार करेंगे? अगर हम निरंतर ऐसा जीवन बिताएँगे तो हमारा लोकतंत्र ख़तरे में पड़

जाएगा। इन विरोधाभासों को यदि हम शीघ्रातिशीघ्र समाप्त नहीं कर पाए तो जो लोग असमानतापूर्ण जीवन बिता रहे हैं वे राजनीतिक लोकतंत्र को उखाड़ फेकेंगे।"

ऐसा लगता है कि डॉ. अम्बेदकर के इन शब्दों को हमारी योजना के निर्माणकर्ताओं और नीति-निर्धारकों ने गंभीरता से नहीं लिया। परिणामस्वरूप देश में सामाजिक तनाव बढ़ रहा है तथा लोकतंत्र समय-समय पर झटके खाता रहा है। हमारे देश में गरीबी से ग्रस्त मानव समुदाय जो विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र में निवास करते हैं, निर्वाचक मंडल के निर्माता हैं। गरीब, अशिक्षित, जाति अथवा संप्रदाय से जुड़े हुए लोग संचार माध्यमों की पहुँच से बाहर हैं, लेकिन आम चुनावों के समय जनता का यह सागर चुनाव स्थलों की ओर उमड़ पड़ता है। यह समुदाय कुछ और कर सकने में चाहे सक्षम न हो किंतु परिवर्तन लाने की प्रक्रिया में प्रभावी भूमिका निभा सकता है। अनेक चुनावों में उन्होंने मतदान द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वे सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से अलग-थलग नहीं हैं, क्योंकि वे बहुमत में हैं और यदि उचित ढंग से संगठित हो जाएँ तो चुनावों के परिणामों में अद्वितीय परिवर्तन ला सकते हैं। इसीलिए निहित स्वार्थों द्वारा चुनावों में छल-कपट करके उनके लोकतांत्रिक परिणामों को नकार दिया जाता है। ऐसा वे धन और बाहुबल के प्रयोग, सांप्रदायिक, जातिवाद तथा चुनावों में हिंसा के द्वारा करते हैं। शासकीय वर्ग स्वहित में धर्म, कट्टरपंथ एवं रूढ़िवाद को बढ़ावा देते हैं। यदि सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ बढ़ीं अथवा इनमें कमी नहीं आई तो निश्चय ही सामाजिक तनाव तथा राजनीतिक हिंसा का दैत्य विकराल रूप धारण कर लेगा।

स्वतंत्रता के समय भारतीय समाज सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से परिपूर्ण था। इन असमानताओं की उत्पत्ति तथा उनको बनाए रखने में जातिवाद की भूमिका उल्लेखनीय है। यही नहीं ब्रिटिश शासन द्वारा इन असमानताओं को न केवल बल मिला बल्कि इनके साथ ही साथ नई प्रकार की असमानताएँ भी लाई गईं। स्वतंत्र भारत ने इसमें परिवर्तन लाने के लिए लोकतंत्रीय व्यवस्था को अपनाया। एक ऐसा संविधान बनाया जो वायदों से भरपूर था। इसके साथ ही साथ योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया भी आरंभ हुई।

सांविधानिक प्रावधानों और कानूनों के द्वारा देश में अस्पृश्यता का अंत तथा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों की सुरक्षा के प्रयास किए गए। सामाजिक और शैक्षिक नीतियों के द्वारा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के स्तर को सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए गए। परंतु इन पिछड़े वर्गों के प्रति भेदभाव पूर्ण व्यवहार तथा इनके प्रति हीनता की भावना रखने वालों के दृष्टिकोण में विशेष बदलाव नहीं आया है। इसी प्रकार पिछले 55 वर्षों में नौ पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत गरीबी उन्मूलन के लिए अनेक नीतियाँ बनाई गईं और उनका व्यवहारीकरण किया गया परंतु अभी भी लगभग एक तिहाई जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रह रही हैं और दो समय की रोटी भी नहीं जुटा पाती। बहुत से ऐसे लोग हैं जिनको स्वच्छ वातावरण, स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा, सिर ढकने को छत और पहनने के लिए उचित कपड़े उपलब्ध नहीं हैं। अमीरों और गरीबों में खाई बढ़ती जा रही है। किन्तु साथ ही यह वर्ग जागृत भी होने लगा है। लोकतंत्र का प्रारंभ समय-समय पर होने वाले चुनाव, मीडिया द्वारा राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय सूचनाओं से गरीबों और वंचित वर्गों में कुछ जागरूकता तो आई है। वे अपने मतदान का प्रयोग अपने लाभ के लिए करना चाहते हैं परंतु आर्थिक व्यवस्था का उनकी आवश्यकताओं के प्रति उदासीनता उन्हें कई बार निराश कर देती है और वे राजनीतिक व्यवस्था

का कड़ा विरोध करना प्रारंभ कर देते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कट्टरपंथी और संप्रदायवादी तथा उग्रवादी समूह उन्हें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ लोकतंत्र की सुरक्षा, राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता और देश की एकता और अखंडता के लिए एक बहुत बड़ा ख़तरा है। इन असमानताओं के निराकरण के लिए इनको प्राथमिकता के आधार पर पूरी गंभीरता से सुलझाने का प्रयास करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। विकास का अभिप्राय बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय से नहीं लिया जाना चाहिए, आवश्यक यह है कि एक ऐसी न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था बने जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम अवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

अभ्यास

1. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से आप क्या समझते हैं?
2. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के उत्थान के लिए भारतीय संविधान द्वारा क्या प्रावधान किए गए हैं?
3. भारत में गरीबी की स्थिति क्या है? गरीबी उन्मूलन के लिए बनाए गए कार्यक्रमों का विवेचन कीजिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) गरीबी रेखा
   (ii) वरीय व्यवहार
   (iii) लोकतंत्र तथा समानता
   (iv) असमानताएँ एवं राजनीति

अध्याय 13

शिक्षा और निरक्षरता

सदियों से विशेषज्ञों और विद्वानों द्वारा लोकतंत्र की सफलता एवं समाज और देश के विकास दोनों के लिए शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया गया है। शिक्षा सामाजिक एवं आर्थिक विकास पर अपना निर्णायक प्रभाव डालती है। यह सिर्फ व्यक्ति की उत्पादक क्षमता ही नहीं बढ़ाती बल्कि देश में अर्जित संपदा के समान एवं निष्पक्ष वितरण सुनिश्चित करने में एक निर्णायक भूमिका भी निभाती है। यह प्रबुद्ध नागरिक वर्ग के सृजन करने में सहायता करती है जो लोकतांत्रिक राज्यतंत्र की सफलता के लिए प्राणाधार है। यह राष्ट्रीय पुनर्गठन और देश के सांस्कृतिक पुनर्जीवन के लिए भी प्रभावकारी बल है। हाल के मानव विकास रिपोर्ट ने स्पष्ट कहा है कि शिक्षा विकास के लिए एक निवेश है। अगर मानव विकास लोगों को ऐसा जीवन व्यतीत करने के लिए जिसको वे महत्त्व देते हों का विकल्प प्रदान करता है तो शिक्षा को उसका अभिन्न अंग होना चाहिए। भारत के पास एक सुव्यवस्थित शिक्षा की लंबी परंपरा रही है। इतिहासकारों की मान्यता है कि ऐसा कोई दूसरा देश नहीं है जहाँ ज्ञानप्राप्ति का उद्भव इतना पहले से हुआ हो या उसने इतने समय तक इतनी प्रभावशाली छाप छोड़ी हो। लेकिन यह सर्वविदित है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान सामान्य लोगों को शिक्षित करने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया। इस दौरान औपनिवेशिक प्रशासन के अंतर्गत काम करने योग्य अंग्रेजी भाषा जानने वाले लोगों को तैयार करने के लिए अधिनस्थ कर्मचारियों के लिए सीमित शैक्षणिक सुविधा दी गई। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में साक्षरों की संख्या बहुत कम थी। यह संख्या लगभग 6 करोड़ थी जो पूरी जनसंख्या का 18 प्रतिशत था। 30 करोड़ से ज्यादा लोग निरक्षर थे। साक्षरों के बीच भी ज्यादातर लोग उच्च जातियों, मध्यमवर्ग और नगरों के थे। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अधिकतर महिलाओं एवं ग्रामीण लोगों की लगभग पूरी आबादी निरक्षरों की श्रेणी में आती थी। पुरुष साक्षरता दर 27.16 प्रतिशत तथा महिला साक्षरता दर 8.86 प्रतिशत था। इस प्रकार, स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, भारत को विरासत में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली मिली जो न सिर्फ मात्रीक रूप से अपर्याप्त थी बल्कि जिसमें क्षेत्रीय और अंतर्क्षेत्रीय तथा संरचनात्मक असंतुलन भी विद्यमान थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपने करोड़ो लोगों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए कार्यक्रम प्रारंभ किया। इसके परिणामस्वरूप 2001 जनगणना में साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत तक पहुँच गया है। पुरुष साक्षरता दर 76 प्रतिशत और महिला साक्षरता दर 54 प्रतिशत हो गया है। 1947 की तुलना में यह बहुत बड़ी उपलब्धि लगती है लेकिन आश्वासनों, आवश्यकताओं और आशाओं की दृष्टि से और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। 2001

में 83.88 करोड़ लोगों में से सात वर्ष की आयु वर्ग से ज्यादा की उम्र वाले 26.84 करोड़ लोग निरक्षर थे तथा 3.8 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। यह पूरे विश्व में किसी एक देश में निरक्षरों की यह सबसे बड़ी संख्या है। नि:संदेह इसका कारण भारत का, जनसंख्या के दृष्टिकोण से, दूसरा सबसे ब़ड़ा देश होना है। फिर भी यह चिंता का विषय है। जहाँ एक ओर दुनिया में सबके लिए 10 से 12 साल तक की शिक्षा की बात हो रही है वहीं दूसरी ओर भारत 5 साल तक की प्राथमिक शिक्षा के लिए जूझ रहा है। इसे समझने के लिए हमे विश्वव्यापक साक्षरता प्राप्त करने के लिए प्रयासों एवं समस्याओं, जिसका हम सामना कर रहे है, पर ध्यान देना आवश्यक है।

साक्षरता की ओर

लोकतंत्र के विकास एवं मानव गरिमा के लिए शिक्षा का महत्त्व एवं इसकी अनिवार्यता को संविधान निर्माताओं ने स्वयं ही सराहाया। इसलिए 'राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतो' के अनुच्छेद 45 में उन्होंने राज्य को यह जिम्मेदारी सौंपी कि संविधान लागू होने के एक दशक के अंदर 14 वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को, नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास होगा। इसलिए यह आशा की गई थी कि 1960 तक 6 से 14 साल तक के सभी बच्चे विद्यालय में पढ़ रहे होंगे। समस्या सिर्फ बच्चों को विद्यालय तक लाने की ही नहीं थी बल्कि वयस्कों को भी साक्षर बनाने की थी क्योंकि 'शिक्षा की चुनौतियाँ— 1985' नामक दस्तावेज़ में कहा गया था, "यदि शिक्षा के प्रसार के लिए पर्याप्त उपाय नहीं किए गए तो आर्थिक असमर्थता की खाई, क्षेत्रीय असंतुलन और सामाजिक अन्याय बढ़ता जाएगा जिसके फलस्वरूप विघटनकारी तत्त्व उभरने लगेंगे।"

सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व होने तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के समय साक्षरता की दयनीय हालत होते हुए भी योजना के प्रारंभिक वर्षों में प्राथमिक शिक्षा और साक्षरता के प्रसार को गंभीरता से नहीं लिया गया। हालाँकि निरक्षरता उन्मूलन सरकार की मुख्य चिंताओं में से एक थी फिर भी प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक संसाधनों का आबंटन किया गया। इसलिए प्रारंभिक वर्षों में साक्षरता दर बढ़ाने की दिशा में ज्यादा प्रगति नहीं हुई। जैसा कि तालिका 13.1 में देखा जा सकता है कि 1961 में साक्षरता दर 28.30 प्रतिशत तक, 1971 में 34.45 प्रतिशत तक तथा 1981 में 43.57 प्रतिशत तक बढ़ी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के 30 वर्ष बाद भी साक्षरता दर 50 प्रतिशत तक नहीं पहुँची। शिक्षा पर कोठारी आयोग — 1964-66 ने भारत में शिक्षा की समस्याओं के बारे में अध्ययन किया और पता लगाया कि सर्वव्यापक शिक्षा की असफलता के मुख्य कारण थे — पर्याप्त संसाधनों की कमी, आबादी की अत्यधिक वृद्धि, लड़कियों की शिक्षा का विरोध, आम लोगों की गरीबी तथा माता-पिता की उदासीनता व निरक्षरता।

बहुत से शिक्षा विशेषज्ञ इन कारणों से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार विभिन्न अध्ययनों से पता चलता है कि माता-पिता का अधिकतर बहुमत चाहे वे वंचित वर्ग के क्यों न हों अपने बच्चों की शिक्षा को बहुत महत्त्व देता है। यह भी पाया गया है कि बाल श्रम पर निर्भरता ही मात्र गरीब परिवारों के लोगों द्वारा अपने बच्चों को स्कूल भेजे जाने की असमर्थता का मुख्य कारण नहीं है। उन्हें इसका कारण संसाधनो की कमी और गलत प्राथमिकताएँ लगती हैं। यह दर्शाया गया है कि स्वतंत्रता के पहले 25 वर्षों में विश्वविद्यालयों की संख्या चार गुनी हो गई और अगले 25 वर्षों में यह संख्या फिर दुगुनी हो गई। तालिका 13.2 से पता चलता है कि उच्चतर शिक्षा में नामांकन की बढ़त दर प्राथमिक शिक्षा की

बढ़त दर से आगे निकल गई। यह बात संस्थागत् विस्तार के मामले में भी सच थी विशेषकर 1960 के दशक में। उच्चतर शिक्षा पर व्यय का अनुपात 1950 के दशक के अंत तक द्वितीय पंचवर्षीय योजना में

तालिका 13.1 : अखिल भारतीय साक्षरता दर (प्रतिशत में)

वर्ष	पुरुष	महिलाएँ	योग
1901	9.8	0.6	5.3
1911	10.6	1.1	5.9
1921	12.2	1.8	7.2
1931	15.6	2.9	9.5
1941	24.9	7.3	16.1
1951	27.2	8.9	18.33
1961	40.4	15.4	28.30
1971	46.0	22.0	34.45
1981	56.38	29.76	43.57
1991	64.13	39.29	52.21
2001	75.85	54.16	65.38

तालिका 13.2 : शिक्षा में वृद्धि (औसत सालाना वृद्धि प्रतिशत में)

	प्राथमिक	माध्यमिक	उच्च माध्यमिक	उच्चतर
नामांकन				
1951-61	6.2	8.8	9.2	9.8
1961-71	5.0	7.1	8.6	12.6
1971-81	2.6	4.8	6.0	5.8
1981-89	3.3	5.1	6.9	5.6
संस्थाएँ				
1951-61	4.7	13.6	9.0	10.0
1961-71	2.1	6.2	7.8	12.6
1971-81	1.9	2.7	3.3	2.9
1981-89	1.3	2.5	4.6	1.6

स्रोत : जे.बी.जी. तिलक और एम.वी. वर्गीस, फाइनेन्सिंग ऑफ एजुकेशन इन इंडिया (पेरिस, यूनेस्को, 1991)

भरपूर मात्रा में बढ़ा और 1970 एवं 1980 के दशक तक अधिक ही रहा।

प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा के बीच असंतुलन का कारण अन्य विषयों की भाँति शहरी इलाकों, मध्यम एवं उच्च मध्यम वर्ग और उच्चजाति के हितों के अनुकूल विकास योजनाओं को माना गया क्योंकि ये समूह सरकार पर दबाव डालने में समर्थ रहे थे। भारत के शिक्षा आयोग के सदस्य सचिव जे.पी. नाइक ने 1965 में लिखा : ''हमारी शिक्षा पद्धति का सबसे बड़ा लाभान्वित वर्ग लड़के, शहरी इलाकों के लोग तथा मध्यम एवं उच्च वर्ग हैं। शैक्षणिक विकास से, खास तौर पर माध्यमिक और उच्चतर स्तर पर, विपन्न लोगों से अधिक संपन्न लोगों को लाभ मिल रहा है।''

नए दृष्टिकोण : शिक्षा की राष्ट्रीय नीति —1986

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओ एवं योजनाकर्ताओं ने कम से कम 6 से 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए सार्वभौमिक शिक्षा एवं साक्षर जनसंख्या की आवश्यकता को समझा परंतु स्वतंत्रता के पहले 30 वर्षों में उपलब्धि संतोषजनक नहीं थी। सुनिश्चित संख्या के रूप में 1951 में निरक्षरों की संख्या 30.1 करोड़ थी जो 1981 में बढ़कर 42.5 करोड़ हो गई, यानि 30 सालों के अंदर 12.4 करोड़ की वृद्धि (संख्या में वृद्धि जनसंख्या वृद्धि के कारण हुई जबकि प्रतिशत के हिसाब से निरक्षरों की संख्या में कमी हुई थी)। अगर यह प्रक्रिया चलती रहती तो सन् 2000 तक भारत में 50 करोड़ लोग निरक्षर होते। 1980 के दशक के मध्य तक इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का अनुमान हुआ। इस समय तक यह भी स्पष्ट हो रहा था कि दुनिया बहुत तेज़ी से विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में विकास कर रही है। देश आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों से विकास की चुनौतियों का सामना कर रहा था। और यह स्पष्ट था कि इन चुनौतियों को सामना करने का सबसे कारगर अस्त्र शिक्षा है। इसके अधीन 1985 में वर्तमान शिक्षा प्रणाली का पुनरावलोकन किया गया। 1986 में इस पुनरावलोकन को "शिक्षा की चुनौती एक सापेक्ष नीति" दस्तावेज़ों में प्रस्तुत किया गया जिसके आधार पर शिक्षा की राष्ट्रीय नीति का निर्माण हुआ और जिसे संसद ने अपनी स्वीकृति दी। यह नई शिक्षा नीति के नाम से लोकप्रिय हुआ। एक कार्य योजना भी चलाई गई। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति — 1986 का संशोधन 1992 में किया गया और एक नई कार्य योजना अपनाई गई। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति — 1986 तथा कार्य योजना — 1992 का कहना है कि 21वीं शताब्दी के आरंभ होने के पहले 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को संतोषजनक स्तर की नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा मिलनी चाहिए। सरकार की प्रतिबद्धता के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद का लगभग छ: प्रतिशत सन् 2000 तक शिक्षा क्षेत्र के लिए निश्चित कर दिया जाएगा और इस राशि का 50 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किया जाएगा। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति ने ज़ोर देकर कहा कि, "प्राथमिक शिक्षा के बारे में नई सोच दो पहलूओं पर विचार करेगी: (i) 14 साल तक की आयु के बच्चों का सर्वव्यापक नामांकन एवं उसको बनाए रखना; तथा (ii) शिक्षा की गुणवत्ता में महत्त्वपूर्ण सुधार।" शिक्षा की राष्ट्रीय नीति ने यह भी सुझाव दिया कि 1990 तक जो बच्चे लगभग 11 वर्ष के हो जाएँगे उन्हें 5 साल की स्कूली शिक्षा या इसके समकक्ष अनौपचारिक स्रोत द्वारा शिक्षा उपलब्ध कराई जाएगी। इस प्रकार 1995 तक 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जाएगी। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति ने उल्लेखनीय ढंग से सामाजिक-सांस्कृतिक असमानताओं पर भी ध्यान दिया और शिक्षा प्राप्ति की समानता के लिए विशेष उपायों की सूची ही नहीं बनाई बल्कि समाज

के सुविधा विहीन वर्गों की स्थिति में उत्थान के समकरण के लिए भी प्रयास किया। इसने यह निर्धारित किया कि शैक्षणिक रूपांतरण, असमानता में कमी, प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता, प्रौढ़ शिक्षा तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुसंधान को राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार किया जाएगा, जिसके लिए पर्याप्त साधन जुटाना केवल राज्य सरकारों की ही जिम्मेदारी नहीं होगी बल्कि उन सभी अभिकरणों की होगी जो सम्मिलित रूप से राष्ट्रीय विकास के लिए उत्तरदायी हैं। सर्वव्यापक प्राथमिक शिक्षा तथा नई शिक्षा नीति में निर्धारित लक्ष्यों एवं आदर्शों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपाय किए गए और विभिन्न कार्यक्रम तथा योजनाएँ चलाई गईं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम एवं योजनाएँ निम्नलिखित हैं ।

शिक्षा कोष आबंटन

शिक्षा के लिए संसाधनों को बढ़ाने की प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए, शिक्षा कोष का आबंटन इन वर्षों में काफी बढ़ाया है। शिक्षा पर योजना राशि, पहली पंचवर्षीय योजना में 153 करोड़ से बढ़ाकर आठवीं पंचवर्षीय योजना में 19,600 करोड़ कर दी गई तथा नौवीं पंचवर्षीय योजना में यह राशि बढ़ाकर 20,381.64 करोड़ कर दी गई। शिक्षा पर व्यय सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में 1951-52 में 0. 7 प्रतिशत से बढ़ाकर 1997-98 में 3.6 प्रतिशत कर दी गई। प्राथमिक शिक्षा पर व्यय 1999-2000 के शिक्षा के लिए संपूर्ण केंद्रीय क्षेत्र की योजना राशि का 64.6 प्रतिशत था। शिक्षा पर व्यय में काफी वृद्धि हुई है फिर भी यह सकल घरेलू उत्पाद के 6 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से कम है। मार्च 2002 के बजट ने शिक्षा को सकल घरेलू उत्पाद का 3.8 प्रतिशत आबंटित किया।

प्राथमिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाना

आठवीं पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप देश के 95 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या एक किलोमीटर के दायरे में प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं, और 85 प्रतिशत इलाकों में तीन किलोमीटर के दायरे में उच्च प्राथमिक विद्यालय हैं। इन सबके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि (i) 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों का प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन बढ़कर क्रमशः 87 और 50 प्रतिशत हो गया है; (ii) लड़कियों और अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के नामांकन में भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए है; तथा (iii) 1950-51 में प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 2.33 लाख थी, जो 1996-97 में बढ़कर 7.75 लाख हो गई।

कोषों के आबंटन एवं विद्यालयों में वृद्धि के अतिरिक्त कई योजनाएँ लागू की गई हैं जैसे — जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.), प्राथमिक शिक्षा को पौष्टिक सहायता देने का राष्ट्रीय कार्यक्रम (मध्य दिवस भोजन), ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड, राष्ट्रीय साक्षरता अभियान, इत्यादि। 1994 में प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम चलाया गया। इसका लक्ष्य सभी बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना, प्राथमिक स्तर पर बीच में ही पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या 10 प्रतिशत से नीचे लाना, प्राथमिक पाठशाला के छात्रों की शिक्षा प्राप्ति की उपलब्धि बढ़ाकर 25 प्रतिशत करना तथा लिंग भेद और सामाजिक अंतर पाँच प्रतिशत से कम करना है।

15 अगस्त 1995 को मध्य दिवस भोजन योजना प्रारंभ की गई। इसका उद्देश्य नामांकन, उपस्थिति, स्कूल छोड़ने वालों की संख्या घटाने के साथ-साथ प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों का पौष्टिक स्तर सुधारना भी है। यह कार्यक्रम सभी सरकारी, स्थानीय और

सरकारी सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ रहे *कक्षा I से V तक के सभी बच्चों के लिए पका* हुआ भोजन/संसाधित भोजन की सुविधा प्रदान करता है। 1987-88 में प्राथमिक पाठशालाओं में भारी सुधार लानें के विचार से 'ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड' चलाया गया। इस योजना के तीन तत्त्व है : (i) सभी मौसम के अनुकूल कम-से-कम दो कमरे; (ii) कम-से-कम दो शिक्षक जिसमें संभवत: एक महिला हो; (iii) आवश्यक पढ़ाई-लिखाई संबंधित सामग्री जैसे — ब्लैक बोर्ड, नक्शे, चार्ट, एक छोटा पुस्तकालय, खिलौने, इत्यादि की सुविधा।

अनौपचारिक शिक्षा

सर्वेक्षणों एवं प्रतिवेदनों के अनुसार बहुत से बच्चे चाहते हुए भी विभिन्न कारणों एवं विवशताओं की वजह से पाठशाला नहीं जा पाते। इसके कई कारण हो सकते हैं जैसे — घर के पास स्कूल का न होना, कार्यरत बच्चे, घरेलू काम-काज में सहायता जैसे — पानी, ईंधन और चारा लाना या अपने छोटे भाई बहनों की देख-भाल, बच्चों द्वारा किसी स्तर पर पाठशाला का परित्याग, लड़कियों का सामाजिक परिस्थितियों के कारण पाठशाला न जाना, इत्यादि। ऐसे बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए भारत सरकार के शिक्षा विभाग ने 1979-80 में अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम प्रारंभ किया। इस योजना के अंतर्गत स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा अनौपचारिक शिक्षा केंद्र चलाए जाते हैं, सांध्य विद्यालय खोले गए हैं तथा बच्चे अन्य साधनों के द्वारा भी अध्ययन कर रहे हैं।

प्रौढ़ शिक्षा

शिक्षा की राष्ट्रीय नीति इस बात पर भी बल देती है कि निरक्षरता का उन्मूलन प्रत्येक स्तर पर, खासकर 15 से 35 वर्ष तक की आयु वर्ग के लिए भी होना चाहिए। कार्य योजना ने निर्धारित किया कि 15 से 35 वर्ष के लगभग 8 करोड़ प्रौढ़ निरक्षरों को साक्षर बनाया जाएगा। बाद में इस कार्यक्रम ने 1997 तक 10 करोड़ प्रौढ़ निरक्षरों को काम-चलाऊ साक्षरता प्रदान करने का लक्ष्य तय किया। निरक्षरता उन्मूलन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मुख्य रणनीतियाँ ये हैं : प्रौढ़ शिक्षा की वर्तमान योजना का पुनर्गठन एवं इसे सुदृढ़ बनाना, कार्यात्मक साक्षरता के जन कार्यक्रम को चलाना, शिक्षा जारी रखने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों का प्रबंध, तकनीकी संसाधन व्यवस्था को मज़बूत करना, इत्यादि।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

यह महसूस करते हुए कि भारत जैसे विशाल देश में निरक्षरता उन्मूलन के रास्ते में कई सामाजिक और आर्थिक बाधाएँ हैं, 5 मई 1988 को प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता और गंभीरता को नई दिशा प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की स्थापना की गई। 1990 में सर्वप्रथम केरल के कोटायम शहर और फिर एरनाकुलम ज़िले में क्षेत्र विशेष, समय बद्ध एवं स्वयं सेवी आधारित अभियान पद्धति की सफलता के बाद राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने साक्षरता अभियानों को निरक्षरता उन्मूलन की प्रभावशाली रणनीति के रूप में स्वीकार किया।

पिछले दस वर्षों में देश के 597 ज़िलों में से 574 ज़िले साक्षरता अभियान के अंदर आ चुके हैं। 1999 में राष्ट्रीय साक्षरता अभियानों के सराहनीय कार्य के लिए इसे 'यूनेस्को नोमा' साक्षरता पुरस्कार भी मिल चुका है। 30 सितंबर 1999 को केंद्र सरकार की स्वीकृति से राष्ट्रीय साक्षरता को पुनर्जीवित किया गया। मिशन का उद्देश्य 2005 तक संपूर्ण साक्षरता हासिल करना है। इस मिशन का उद्देश्य 15 से 35 वर्ष तक की आयु वाले निरक्षरों को कामचलाऊ

साक्षरता प्रदान करना है। इस अभियान के मुख्य केंद्र हिंदी बोलने वाले और साक्षरता में पिछड़े चार राज्य बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश हैं। केरल और मिजोरम जैसे कुछ राज्यों ने साक्षरता दर प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। 2001 की जनगणना के अनुसार साक्षरता दर केरल में 90.92 प्रतिशत और मिजोरम में 88.49 प्रतिशत है जबकि बिहार में यह दर 47.53 प्रतिशत एवं झारखंड में 54.33 प्रतिशत है। जैसा कि कहा जा चुका है संपूर्ण देश में साक्षरता का प्रतिशत 65.38 है। 1989 में एक विशेष कार्यक्रम महिलाओं के लिए प्रारंभ किया गया। यह *महिला समख्या* (महिलाओं की गुणवत्ता के लिए शिक्षा) कहलाता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य महिलाओं के लिए ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें जानकारी और सूचना प्राप्त करके वे अपने एवं समाज के बारे में अपनी धारणा बदल सकें। यह आठ राज्यों में 51 जिलों के 6,877 गाँवों में लागू किया गया है। ये राज्य है : उत्तर प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, बिहार, असम, मध्य प्रदेश और केरल।

उपरोक्त वर्णित योजनाओं एवं कार्यक्रमों द्वारा भारत में साक्षरता की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, खासतौर पर 1991-2001 के दशक के दौरान। जैसा कि कहा गया है साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत हो गया है जिसमें पुरुषों का दर 75.85 प्रतिशत तथा महिलाओं का दर 54.16 है। महिला साक्षरता दर 1981-91 के दौरान 10 प्रतिशत अंक और 1991-2001 के दौरान 15 प्रतिशत अंक से बढ़ा है। 1991-2001 के दौरान पिछड़े राज्यों में महिला साक्षरता दर में सर्वश्रेष्ठ वृद्धि हुई : छत्तीसगढ़ में 27.5 प्रतिशत से 52.4 प्रतिशत, राजस्थान में 20.4 प्रतिशत से 44.3 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 29.4 प्रतिशत से 50.3 प्रतिशत तथा उड़ीसा में 34.7 प्रतिशत से 51 प्रतिशत। इसलिए यह कहा जा सकता है कि साक्षरता अभियान ने बड़े समुदायों और सामाजिक संगठन में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त की है जिससे विद्यालय में नामांकन एवं सामाजिक और लिंग समानता के विषयों पर जागरूकता बढ़ी है। साथ ही यह भी सच है कि हम अभी भी अपने निर्धारित और आवश्यक लक्ष्य से पीछे हैं।

संविधान ने 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की परिकल्पना की थी। यह लक्ष्य बार-बार टलता जा रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रम ने भी इसे 1995 तक टाल दिया था। थाइलैंड में आयोजित विश्व सर्वशिक्षा सम्मेलन में भारत ने अन्य 155 देशों के साथ सर्वव्यापक प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य पूरा करने और 2000 तक प्रौढ़ निरक्षरता को आधा करने का वायदा किया। लेकिन 2001 में हमारे यहाँ 26 करोड़ निरक्षर थे, यानि 7 वर्ष से ऊपर की आयु वालों में 30 प्रतिशत से अधिक अभी भी निरक्षर हैं। इसके साथ यह भी सच है कि इनमें से अधिक संख्या उन लोगों की है जो विद्यालयों में नामांकित हैं परंतु गुणात्मक शिक्षा नहीं पा रहे हैं। प्रजातंत्र की सफलता एवं विकास के लिए प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता का अर्थ सिर्फ सर्वव्यापक सुविधाएँ, व्यापक नामांकन और सर्वव्यापक रूप से बच्चों को पाठशाला में रोके रखने से ही नहीं है बल्कि पढ़ाई-लिखाई की सर्वव्यापक गुणवत्ता से भी है।

शिक्षा प्रजातांत्रिक व्यवस्था के सफल संचालन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यक शर्तों में से ही एक नहीं है बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन भी है। किसी भी वर्तमान कल्याणकारी राज्य में अगर ज्यादा नहीं तो कम से कम सब के लिए प्राथमिक शिक्षा अत्याधिक आवश्यक माना गया है।

प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य का अर्थ है सर्वव्यापी सुविधा की व्यवस्था, सर्वव्यापी नामांकन एवं सर्वव्यापी तौर पर बच्चों को विद्यालय में रोके रखना। हालाँकि

आवश्यक नहीं है कि सर्वव्यापी सुविधाएँ सर्वव्यापी नामांकन सुनिश्चित करे और सर्वव्यापी नामांकन सभी बच्चों की स्कूली शिक्षा जारी रखने की गारंटी दे। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है कि ये नीतियाँ और कार्यक्रम इन सभी पहलुओं पर ध्यान दें। संविधान निर्माताओं ने सरकार को अतिशीघ्र इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। भारत में साक्षरता दर स्वतंत्रता प्राप्ति के समय 18.33 प्रतिशत थी जो 2001 में बढ़कर 65.38 प्रतिशत हो गई। यह कोई साधारण उपलब्धि नहीं है। परंतु इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि प्रतिबद्धताओं के होते हुए भी हम लोग 26 करोड़ निरक्षर लोगों के साथ 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर रहे हैं। विश्व की सबसे बड़ी आबादी (संख्या के दृष्टिकोण से) भारत में रहती है और निरक्षरता, गरीबी और सामाजिक पिछड़ेपन से भी जुड़ी हुई है। इसका अर्थ है कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और गरीब वर्ग का एक बड़ा हिस्सा निरक्षर है। निरक्षरता, इन लोगों को आर्थिक रूप से ही पिछड़ा नहीं रखती बल्कि सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी अनभिज्ञ रखती है। इसके परिणामस्वरूप ये लोग चुनाव एवं अन्य सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में जाति, समुदाय तथा ऐसे ही पारंपरिक भावनाओं के आधार पर शोषण के शिकार होते हैं। साक्षरता का अर्थ सिर्फ पढ़ाई-लिखाई की कला में निपुणता हासिल होना ही नहीं है, यह लोगों को आत्म-विश्वास और आत्म-बल भी देती है। यह लोगों को उत्पादक कार्य करने की कुशलता तथा निर्णय लेने की सर्वोपरि क्षमता प्रदान करती है जो एक सहभागी प्रजातंत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। इसलिए यह आवश्यक है कि बिना समय गँवाए शिक्षा की सर्वव्यापकता के लिए चौतरफा प्रयास किए जाएँ। इसके लिए पर्याप्त संसाधनों का आबंटन, यह आश्वासन कि ये संसाधन अपने लक्ष्य तक पहुँच जाए, समुदाय की सहभागिता, एक समर्पित प्रशासन तथा सर्वोपरि सामाजिक जागरूकता की आवश्यकता है।

अभ्यास

1. प्रजातंत्र में शिक्षा के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में साक्षरता की स्थिति क्या थी?
2. प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता से आप क्या समझते हैं? इस संदर्भ में प्रारंभ किए गए किन्हीं पाँच कार्यक्रमों का उल्लेख कीजिए।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) नवीन शिक्षा नीति
   (ii) अनौपचारिक शिक्षा
   (iii) राष्ट्रीय साक्षरता मिशन
   (iv) प्रौढ़ शिक्षा

अध्याय 14

क्षेत्रीय असंतुलन : क्षेत्रवाद, भाषावाद और पृथकतावाद

भारत धर्मों, जातियों, भाषाओं, जनजातियों और संस्कृति की विविधताओं से भरा एक विशाल देश है। भावात्मक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जुड़े अनेक भाषायी एवं सांस्कृतिक समूह कुछ निश्चित क्षेत्रों में बसे हुए हैं। हम यह अध्ययन कर चुके हैं कि औपनिवेशिक शासन के दौरान इस देश के विकास के स्थान पर प्रशासन आर्थिक शोषण में ही रुचि रखता था। इसी कारण राष्ट्रीय आंदोलन को विभाजित रखने के लिए औपनिवेशिक प्रशासन ने धर्म, क्षेत्र, जाति और भाषा पर आधारित अनेक विभाजनों को प्रोत्साहित किया तथा देश के संतुलित विकास हेतु किसी प्रकार की योजनाओं अथवा नीतियों को लागू नहीं किया। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय असंतुलन तथा सामूहिक पहचान को बल मिला। तदुपरांत स्वतंत्र भारत ने क्षेत्रीय, भाषावाद और अलगाववाद को उभरते हुए देखा। इस अध्याय में हम इसकी पृष्ठभूमि, कारणों, प्रकृति तथा इन पर रोक लगाने के लिए संभव तरीकों का अध्ययन करेंगे। यह स्मरणीय है कि ये सब परस्पर जुड़े हुए तथा अंतर्संबंधित हैं।

क्षेत्र

क्षेत्र एक ऐसा भू-भाग है जहाँ के वासियों का धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक विकास की अवस्था, संयुक्त ऐतिहासिक परंपरा, रहन-सहन का ढंग इत्यादि के कारण अपने क्षेत्र से भावात्मक लगाव होता है। इन कारणों में से कोई एक या कुछ और सब से अधिक उनमें उपस्थित निकटता की भावना इस जुड़ाव को सशक्त करती है। यह भू-भाग राज्य की सीमाओं में, सीमाओं तक या सीमाओं से बाहर एक से अधिक राज्यों में भी हो सकता है। आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक आधार पर विभेद अथवा प्रतिस्पर्द्धा की भावना तथा न्याय अथवा लाभ की इच्छा क्षेत्रवाद को उभारती है। उपरोक्त कारणों और उनके स्वभाव के आधार पर क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति कई प्रकार से हो सकती है जैसे — राज्य के लिए स्वायत्तता अथवा शक्तियाँ माँग कर, नए राज्य की माँग करके, क्षेत्रीय भाषा अथवा संस्कृति को बचाने की माँग द्वारा या फिर देश से पृथक होने की माँग द्वारा।

क्षेत्रीय असंतुलन

क्षेत्रीय असंतुलन अथवा क्षेत्रीय विषमता का अर्थ है विभिन्न क्षेत्रों के बीच प्रति व्यक्ति आय, शिक्षा दर, स्वास्थ्य एवं शिक्षा सुविधाओं तथा औद्योगीकरण के स्तर में बहुत बड़ा अंतर व्याप्त होना। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि यह क्षेत्र राज्य भी हो सकते हैं या राज्य के भीतर कोई क्षेत्र। इस दृष्टि से भारत में विभिन्न कारकों के परिणामस्वरूप असंतुलन व्याप्त

है। पहले तो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की शोषण प्रवृति के कारण या तो क्षेत्रीय विषमताएँ पैदा की गईं या उन्हें और अधिक बढ़ा दिया गया। तत्पश्चात् स्वतंत्र भारत द्वारा अपनाई गई योजनाएँ भी इन्हें दूर नहीं कर सकीं।

औपनिवेशिक विरासत

ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन मूलतः भारतीय बाज़ार में अपने उत्पाद बेचने तथा यहाँ से कच्चा माल ले जाने में रुचि रखता था। कुछ मामलों में वे यहाँ अपनी अतिरिक्त पूँजी निवेश तथा सस्ती मजदूरी का प्रयोग कर लाभ उठाने के लिए कुछ उद्योग लगाने में भी रुचि रखते थे। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने कुछ क्षेत्रों से अधिकाधिक भू-राजस्व प्राप्त करने के लिए ज़मींदारी व्यवस्था प्रारंभ की। अपने उत्पादों के विक्रय हेतु मंडियाँ पैदा करने के लिए उन्होंने कुछ क्षेत्रों में कृषक-स्वामित्व व्यवस्था और कृषि में सुधारों का पक्ष लिया। परिणामस्वरूप, विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में कृषि के क्षेत्र में उत्पादन संबंधों और उत्पादन के स्तर में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखने लगे।

शहरीकरण का प्रारूप प्राथमिक उत्पादों का निर्यात और तैयार माल के आयात की नीति पर आधारित था जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसे बंदरगाहों की नींव पड़ी जो शहरी औद्योगिक गतिविधियों के मुख्य केंद्र बन गए। इसलिए, औपनिवेशिक भारत में व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि का अर्थ था विभिन्न समुद्रतटीय केंद्रों जैसे बंबई, कलकत्ता, मद्रास और कुछ देशी रियासतों की राजधानियों में नौकरियों और शिक्षा संबंधी अवसरों का पैदा होना। इससे कुछ क्षेत्रों में उपभोक्ता उद्योगों का भी उदय हुआ जिससे व्यापारिक पूँजीवादी वर्ग का विकास हुआ।

असंतुलित क्षेत्रीय विकास का एक अन्य कारण *शिक्षा का प्रसार था।* ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत और भारत के तटीय क्षेत्रों, विशेषतः बंबई, कलकत्ता और मद्रास बंदरगाहों के निकट के क्षेत्रों को व्यापार के माध्यम द्वारा यूरोप से जोड़ दिया था। इन क्षेत्रों में स्थापित संस्थाओं के प्रबंधन के लिए कर्मचारी तैयार करने हेतु आधुनिक शिक्षा प्रारंभ की गई। इससे इन क्षेत्रों में एक शिक्षित व्यवसायी वर्ग पनपा जिसमें मुख्यतः कम वेतन वाले सरकारी और व्यापारिक लिपिक थे। इन क्षेत्रों में जागरूक वकीलों तथा दूसरे व्यवसायियों का एक ऐसा प्रबुद्ध वर्ग उदित हुआ जिसने स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया।

स्वतंत्रता के समय राज्यों और ज़िलों के बीच *असमानता काफी स्पष्ट और व्यापक थी।* प्रति व्यक्ति आय और उपभोग, शिक्षा, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ, प्राकृतिक संसाधन, जनसंख्या वृद्धि, मूल ढाँचे के विकास तथा रोज़गार के अवसर में भी पर्याप्त अंतर थे। स्वतंत्र भारत की सरकार व्यक्तिगत और क्षेत्रीय — दोनों प्रकार के असंतुलन को समाप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थी। इसलिए यह स्वीकार किया गया कि क्षेत्रीय असमानता को हटाने के लिए राज्य को मुख्य भूमिका निभानी होगी।

स्वतंत्र भारत में क्षेत्रीय नीति

इस प्रकार भारतीय नेतृत्व ने क्षेत्रीय असमानताओं को हटाने की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लिया था। वस्तुतः भारत के संविधान ने केंद्र सरकार के लिए यह अनिवार्य बना दिया कि वह कम-से-कम पाँच साल में एक वित्त आयोग का गठन करे। इस वित्त आयोग को भारत के विभिन्न राज्यों में व्यय की आवश्यकता और उपलब्ध राजस्व के बीच के अंतर तथा दूसरे मुद्दों से उपजी समस्याओं का अध्ययन करना था। केंद्र सरकार और इसकी दो मुख्य एजेन्सियों — योजना आयोग और वित्त आयोग का मुख्य लक्ष्य *संतुलित क्षेत्रीय विकास घोषित किया गया।* नियोजन

का एक उद्देश्य विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों के बीच पुनः संतुलन बनाना था, यद्यपि इन संस्थाओं को पूरे देश के आर्थिक-सामाजिक ढाँचे तथा उसकी विकसित होती हुई राजनीतिक प्रक्रिया के बीच काम करना था। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है कि प्रारंभ से ही अपनाए गए विकास प्रारूप और सत्तासीन वर्गों की चुनाव रणनीति के कारण विकास अपने लक्ष्य से दूर हटता गया। प्रारंभ से ही, नियोजन मूलतः राष्ट्रीय स्तर तक ही सीमित था। क्षेत्रीय असमानताओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और जो कदम उठाए भी गए वे केवल प्राकृतिक विपदा वाले क्षेत्रों की विशिष्ट समस्याओं से ही संबंधित रहे। अतः राष्ट्रीय संदर्भ में क्षेत्रीय विकास की समस्याओं की ओर नीति निर्धारकों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया। पहले से ही विकसित कुछ क्षेत्र पिछड़े क्षेत्रों की उपेक्षा के फलस्वरूप और अधिक विकास का आनंद उठाते रहे जबकि पिछड़े क्षेत्र जैसे के तैसे बने रहे।

तीसरी पंचवर्षीय योजना ने क्षेत्रीय असमानता की समस्या की ओर कुछ ध्यान दिया। पिछड़े क्षेत्रों की पहचान करने के कुछ प्रयास किए गए। चौथी योजना के बाद से योजनाकार इस उद्देश्य पर और अधिक बल देते रहे। पिछड़े क्षेत्र के रूप में पहचाने गए क्षेत्रों के लोगों के जीवन स्तर में सुधार के लिए विशेष नीतिगत् उपाय भी किए जा रहे हैं। यद्यपि इन पहलुओं के प्रति बढ़ती जागरूकता के बावजूद उपलब्धियाँ बहुत नगण्य हैं।

यद्यपि औद्योगिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों को योजना आयोग द्वारा पहचान कर लिया गया है परंतु उन क्षेत्रों के लिए जिन्हें अर्थव्यवस्था की दृष्टि से पिछड़ा कहा जाता है, उनके लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। वास्तव में भारतीय योजनाओं के दौरान क्षेत्रीय नीति का मुख्य लक्ष्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उद्योग बाँटना ही रहा है। औद्योगीकरण के विभिन्न प्रयासों के बावजूद भारत के अधिकतर राज्यों में उत्पादन तथा रोजगार की दृष्टि से कृषि सबसे महत्त्वपूर्ण गतिविधि बनी रही और कृषि क्षेत्र में भी उत्पादन में तुरंत वृद्धि के दबाव के कारण प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन में अंतर्राज्यीय असमानता बढ़ती ही रही। यह भली-भाँति ज्ञात है कि कृषि विकास नीति में हरित क्रांति और इसके प्रभाव को अपेक्षाकृत कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रखा गया। अतः देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा एक ही क्षेत्र के लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में असमानताएँ बढ़ती ही रहीं।

क्षेत्रीय असंतुलन और क्षेत्रवाद

राज्यों के बीच तथा राज्यों के भीतर असमानताओं के बने रहने के कारण उपेक्षा, वंचित होने और भेदभाव की भावना जन्म लेती है। बहुजातीय और बहुधार्मिक देश में राज्यों और क्षेत्रों में बसे समूहों के बीच ये असमानताएँ सामाजिक टकराव का कारण बनती हैं जिससे राजनैतिक और प्रशासनिक समस्याएँ पैदा होती हैं। प्रत्येक दशा में, क्षेत्रीय असंतुलन भारत में क्षेत्रवाद का कई प्रकार से एक मुख्य कारण है। बिहार और पश्चिमी बंगाल के झारखंड क्षेत्र, उत्तर प्रदेश के उत्तरांचल तथा मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्रों में अलग राज्य बनाने के आंदोलन उनके अल्प विकास तथा लोगों में शोषण एवं वंचित रहने की भावना के कारण हुए । अंत में, 2001 में इन क्षेत्रों को अलग राज्य बना दिया गया। इसी प्रकार के आंदोलन आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र, महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र, पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग क्षेत्र तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में चल रहे हैं।

उपेक्षित राज्यों और क्षेत्रों में वंचित रखे जाने की भावना के अतिरिक्त वर्गीय असंतुलन जैसे — कृषि एवं औद्योगिक विकास में कमी की शिकायतें भी हैं। इस कारण एक ओर विशेषतः विकसित राज्यों के ग्रामीण क्षेत्रों में हितों का व्यापक विकास हुआ, दूसरी

ओर वर्गीय विवादों ने भी जन्म लिया है। ये दोनों ही विकसित राज्यों में क्षेत्रवाद को प्रोत्साहित कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, जिन क्षेत्रों में हरित क्रांति प्रारंभ और सफल हुई वहाँ नया धनाढ्य कृषक वर्ग, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन गया है। वे अब भी, दी गई रियायतों और सुविधाओं को चिरस्थायी बनाने में रुचि रखते हैं। कृषि के पर्याप्त लाभप्रद हो जाने के बाद भी वे सब्सीडी के जारी रखने तथा आयकर से मुक्त रहना चाहते हैं। ये धनाढ्य कृषक ऐसे राज्यों में क्षेत्रीय असमानता को सामाजिक आधार प्रदान करते हैं।

असंतुलित विकास का एक अन्य पहलू यह है कि सीमित क्षेत्रों में विकास के कारण, अन्य राज्यों और क्षेत्रों से मज़दूर रोज़गार और नौकरी की तलाश में विकसित क्षेत्र की ओर भागते हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत और अन्य भागों से औद्योगिक मज़दूरों का बड़ी संख्या में निरंतर मुंबई में, उड़ीसा और बिहार से कोलकाता में, तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से खेतीहर मज़दूरों का पंजाब में पहुँचना, दो प्रकार के तनाव उत्पन्न कर रहा है। प्रथम, यह भाषायी और सांस्कृतिक समूहों में अपनी स्थिति को लेकर पैदा हुई चिंताओं से उस क्षेत्र की सांस्कृतिक समरसता को प्रभावित करता है। दूसरे, यह उन स्थानीय मज़दूरों में दुर्भावना पैदा करता है, जो या तो नौकरी पाने में असफल रहते हैं या फिर बाहर से आए मज़दूरों द्वारा कम दर पर कार्य करने की इच्छा के कारण स्थानीय मालिकों से प्रभावशाली ढंग से सौदेबाज़ी करने में असमर्थ रहते हैं। यह वर्गीय संगठनों तथा 'भूमि-पुत्रों' जैसे आंदोलनों को जन्म देता है।

इसी प्रकार पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा विशेषकर उच्च शिक्षा का प्रसार, परंतु औद्योगीकरण तथा अन्य रोज़गार पैदा करने वाली संस्थाओं का अप्रसार, शिक्षित बेरोज़गार युवकों की फौज को बढ़ा रहा है। ये हताश युवा वर्ग अन्य देशों अथवा राज्यों से लोगों के आगमन के विरूद्ध आंदोलनों की ओर आकर्षित होते हैं। असम आंदोलन के आधारभूत कारणों में से यह एक प्रमुख कारण है। बिहार और उड़ीसा के भागों में भी इसी प्रकार की स्थिति उभर रही है। इसके अतिरिक्त ये बेरोज़गार युवक वर्गीय आधार पर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ने को जातीय, सांप्रदायिक और वर्गीय आंदोलनों की ओर आकर्षित होते हैं। आधुनिकीकरण और शिक्षा के प्रसार के बावजूद जातीय आधार पर विवाद विशेषत: बिहार और गुजरात में नौकरियों के लिए आरक्षण, शहरों और कस्बों में जातीय एवं उपजातीय संस्थाओं में वृद्धि तथा सांप्रदायिक झगड़ों में निरंतर बढ़ोतरी, एक हद तक इसी कारण से है।

ये क्षेत्रीय असंतुलन काफी सीमा तक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय राजनीति में अवरोध पैदा करते हैं। ये राजनीति में भिन्न प्रकार के स्तर और स्वरूप बनाते हैं जिससे अंतर्राज्यीय, अंतर्क्षेत्रीय और केंद्र-राज्य विवाद उत्पन्न होते हैं। कुछ मामलों में ये सांप्रदायिक और सांस्कृतिक भेदों से जुड़ कर ऐसे विवादों को गहरा देते हैं। इसी संदर्भ में क्षेत्रवाद का एक सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू भाषावाद है।

भाषावाद

भाषा मानवीय व्यवहार तथा पूरे समुदाय को संगठित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। भारत जैसे बहुभाषी देश में भाषा के साथ दो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। प्रथम, एक आम भाषा राष्ट्रीय जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व प्रतीत होती है। दूसरे, भाषा का किसी जातीय समूह की सही पहचान होने के कारण, वह भाषायी समूह अपनी भाषा के संरक्षण और विकास के प्रति चिंतित रहते हैं। अत: मुख्य समस्या विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के बीच एक समान राष्ट्रीय जीवन को विकसित करना है।

औपनिवेशक युग में अंग्रेज़ी समान भाषा थी। यह विभिन्न भाषायी समुदायों के विशिष्ट वर्ग के बीच संवाद की भाषा थी। यह केंद्र और प्रांतीय दोनों स्तरों पर प्रशासनिक, न्यायिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होती थी। इसका अभिप्राय निश्चय ही यह था कि जनसाधारण को उपलब्ध प्रशासनिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवसरों से दूर रखा गया था। इसलिए जहाँ ब्रिटिश भाषायी नीति उपनिवेशवादी शासकों की आवश्यकताओं को पूरा करती थी, वहीं वह लोकतांत्रिक संस्थाओं वाले स्वतंत्र देश के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकी। राष्ट्रीय गौरव को आघात पहुँचाने वाले भावनात्मक मुद्दे के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भाषा के प्रयोग ने विशिष्ट शिक्षित वर्ग और जनसाधारण तथा शासकों व शासितों के बीच की दूरी को बढ़ाया। परिणामस्वरूप जनसंख्या का एक बड़ा भाग देश की राजनीतिक प्रक्रिया और आर्थिक कार्यक्रमों से अलग, निष्क्रिय और असंबद्ध रहा।

उपरोक्त दृष्टिकोण के अनुसार भाषा का मुद्दा, स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ही एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरना शुरू हो गया था। मुख्य रूप से तीन मुद्दे उठाए जा रहे थे : (i) स्वतंत्रता उपरांत भारत की राजकीय सरकारी भाषा; (ii) भाषायी आधार पर राज्यों का निर्माण जिनकी सीमाएँ ब्रिटिश शासन में भाषायी विभाजन के अनुसार नहीं थीं; और (iii) क्षेत्रीय भाषाओं की स्थिति।

राजभाषा

संविधान सभा में राजभाषा घोषित करने के संबंध में बहुत प्रबल विचार थे। एक वर्ग ने हिंदी को राजभाषा स्वीकार करने के पक्ष में ज़ोरदार बहस की, परंतु अहिंदी भाषी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने इस माँग का इस आधार पर विरोध किया कि हिंदी को राजभाषा स्वीकार करने के परिणामस्वरूप पूरे भारत पर हिंदी क्षेत्रों का प्रभुत्व और प्रभाव बढ़ेगा। प्रतियोगी सरकारी नौकरियों के मामले में हिंदी भाषी लोगों को स्वाभाविक रूप से अतिरिक्त लाभ होगा। उनका यह भी मानना था कि हिंदी को राजभाषा स्वीकार किए जाने से अंतर्राष्ट्रीय जगत में संवाद एवं संचार कठिन हो जाएगा।

हिंदी के समर्थकों ने इन सभी तर्कों को अस्वीकार करते हुए बल दिया कि हिंदी भाषी लोग भारत का सबसे बड़ा भाषायी समूह (लगभग 40 प्रतिशत) हैं। अत: हिंदी का राजभाषा के लिए दावा स्वाभाविक है। उनका मानना था कि यदि अंग्रेज़ी जैसी विदेशी भाषा को राजभाषा मान लिया गया तो सरकार और जनता के बीच निकट संबंध बनाए रखना संभव नहीं होगा। अंत में संविधान सभा ने एक समझौता फार्मूला निकाला। संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार हिंदी को राजभाषा घोषित किया गया। यद्यपि इसने केंद्र के सभी राजकीय कार्यों के लिए अगले पंद्रह वर्षों तक अंग्रेज़ी के प्रयोग को जारी रखने का प्रावधान भी किया। संविधान के अनुच्छेद 345 के अंतर्गत प्रावधान किया गया कि किसी राज्य की विधान सभा कानून द्वारा राज्य में प्रयोग की जा रही किसी एक या अधिक भाषाओं या हिंदी को राज्य के सभी राजकीय कार्यों या किसी एक कार्य के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा अथवा भाषाओं के रूप में अपना सकती है।

जबकि संविधान में केंद्र सरकार के लिए अंग्रेज़ी को राजभाषा के रूप में पंद्रह साल तक प्रयोग करने का प्रावधान किया गया, वहीं 1955 में नियुक्त राजभाषा आयोग ने अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी लाने के पक्ष में प्रबल राय दी। इस सिफारिश के साथ ही अहिंदी भाषी लोगों का लंबे समय से चला आ रहा असंतोष और भय फूट पड़ा। दक्षिण के आलोचकों ने इस सिफारिश का कड़ा विरोध किया। व्यापक पैमाने पर प्रदर्शन हुए। सरकार एक बार फिर समझौते पर उतर आई। समझौते के अनुसार हिंदी का औपचारिक

बदलाव 1965 में होना था अर्थात् संविधान स्वीकार किए जाने के पंद्रह वर्ष बाद और उसके बाद अंग्रेज़ी का राजभाषा के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। अप्रैल 1963 में राजभाषा विधेयक को औपचारिक ढंग से संसद में प्रस्तुत किया गया। विधेयक की प्रस्तुति से गर्मागर्म बहस हुई और भारत के संसदीय इतिहास में कुछ उदंडतापूर्ण दृश्य भी देखे गए। हिंदी भाषा के समर्थकों ने राजभाषा के संविधानिक प्रावधानों को तुरंत लागू करने की माँग की तो अहिंदी भाषी क्षेत्रों, विशेषत: दक्षिण भारत और पश्चिमी बंगाल के सांसदों ने अंग्रेज़ी बनाए रखने के पक्ष में ज़ोरदार बहस की। विधेयक ने अंग्रेज़ी को राजभाषा के रूप में बिना किसी समय सीमा के जारी रखने की अनुमति प्रदान की तथा साथ ही साथ हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने के लिए 1975 में समीक्षा करने का करार भी किया। तत्कालीन प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अहिंदी भाषियों को आश्वस्त किया कि उनकी सहमति के बिना हिंदी उन पर नहीं थोपी जाएगी।

इन विवादग्रस्त वर्षों के दौरान, विभिन्न भाषायी समूहों के विवादित विरोधी दावों को संतुष्ट करने के लिए तथा राष्ट्रीय अखंडता और अंतर्राज्यीय संवाद को बढ़ाने की दृष्टि से, शिक्षा के लिए त्रिभाषी फार्मूला खोजा गया। इसके अनुसार देश के सभी विद्यालय अपनी क्षेत्रीय भाषा तथा अंग्रेज़ी पढ़ाएँगे। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भाषा भी पढ़ाई जाएगी, अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी अथवा हिंदी भाषी क्षेत्रों में जो हिंदी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा हो सकती है। व्यवहार में इस फार्मूले का मजाक बनाया गया। उदाहरण के लिए हिंदी भाषी क्षेत्रों के अधिकांश स्कूलों में हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत पढ़ाई जाती है।

1964 में जवाहरलाल नेहरू के मरणोपरांत स्थिति एक बार फिर बिगड़ी। हिंदी के प्रबल समर्थक तत्कालीन गृह मंत्री गुलजारी लाल नंदा ने सभी मंत्रालयों को निर्देश देकर सरकारी कार्यों में हिंदी के प्रयोग को बढ़ाने के लिए की गई प्रगति की रिपोर्ट देने को कहा। इससे अहिंदी भाषी क्षेत्रों विशेषकर तमिलनाडू, आंध्र प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में व्यापक विरोध और आंदोलन हुए। उन्होंने नेहरू के आश्वासनों पर खरा उतरने की माँग की। व्यापक और हिंसक विरोध के चलते 1967 में संसद ने 'राजभाषा विधेयक' को संशोधित किया। इसमें यह प्रावधान था कि अंग्रेज़ी का प्रयोग उन सभी राजकीय कार्यों के लिए जिनके लिए यह अब तक प्रयोग होती रही है, तब तक जारी रहेगा जब तक सभी अहिंदी भाषी राज्य अपने विधान मंडल के प्रस्ताव द्वारा हिंदी अपनाने को तैयार नहीं हो जाते।

1977 में जब जनता पार्टी सत्ता में आई तब प्रधान मंत्री मोरारजी देसाई ने स्पष्ट किया कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों पर हिंदी नहीं थोपी जाएगी। परंतु उन्होने देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए एक संपर्क भाषा और समान लिपि विकसित करने की आवश्यकता भी बताई। इसे हिंदी के समर्थन का एक संकेत माना गया और इसका विरोध हुआ। राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में केंद्र सरकार ने सितंबर 1986 में अपने कर्मचारियों को एक परिपत्र जारी कर सरकारी पत्र व्यवहार और प्रलेखों में हिंदी का प्रयोग करने को कहा। एक बार फिर इस परिपत्र के विरुद्ध तमिलनाडू तथा कई अन्य राज्यों में प्रबल नाराज़गी प्रकट की गई।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि हिंदी को भारत की एक मात्र राजभाषा के रूप में लागू करने का अहिंदी भाषी क्षेत्रों में, विशेषकर दक्षिणी राज्यों में, उल्टा प्रभाव पड़ा और इसका प्रबल विरोध हुआ। परिणामस्वरूप शिक्षा, प्रशासन और संचार में भाषा विशेष का प्रयोग एक मुख्य मुद्दा बन गया। सरकारी नौकरियाँ और सेवाएँ इससे जुड़ी हुई हैं। लोगों के एक वर्ग की मातृभाषा को राजभाषा के रूप में

अपनाए जाने से उन नागरिकों के अवसर बुरी तरह से प्रभावित होंगे जिनकी इसमें प्रवीणता नहीं है तथा जिनकी मातृभाषा इससे अलग है। यह विचार विरोध और हताशा पैदा करता है। यही वे आंशकाएँ थीं जिनके भय के कारण स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ही भाषायी राज्य बनाने की माँग उठी थी।

भाषायी राज्य

बहुत से भाषायी समूह निश्चित क्षेत्रों में जमाव के कारण अनुभव करते हैं कि यदि उनका क्षेत्र राज्य बन गया होता तो यह उनकी भाषा और संस्कृति को संरक्षित रखने और बढ़ाने का एक सशक्त साधन होता। यही नहीं, तब उनकी भाषा के राजभाषा होने के कारण, आर्थिक गतिविधियों में उनके बेहतर अवसर प्राप्त हो जाते। ब्रिटिश शासन काल में प्रांत (तत्कालीन राज्य) किसी विवेक अथवा लोकतांत्रिक विचार के आधार पर न बना कर उन्हें सेना, राजनीतिक अथवा प्रशासनिक सुविधाओं के अनुरूप बनाया गया था। राष्ट्रीय आंदोलन के व्यापक रूप लेने के साथ-साथ भाषायी और सांस्कृतिक चेतना बढ़ी और इसलिए प्रांतों या राज्यों के गठन के लिए भाषायी सिद्धांत को अपनाने की प्रबल माँग भी उठी। 1909 और 1919 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतीय स्वायत्तता और प्रांतीय स्तर पर अद्र्ध उत्तरदायी सरकारों के गठन ने भाषायी प्रांतों के लिए मज़बूत आधार तैयार किया। 1920 में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन को मज़बूत बनाने के लिए भाषायी आधार पर प्रांतों को मान्यता दी।

स्वतंत्रता के बाद प्रारंभ में भाषा के आधार पर राज्य संगठित नहीं थे। यह अधिकांश भाषायी समूहों को स्वीकार्य नहीं था। फलस्वरूप वहाँ आंदोलन प्रारंभ हो गए। 1952 में तत्कालीन मद्रास प्रांत के आंध्र क्षेत्र में तेलगू भाषी राज्य बनाने के लिए एक बड़ा आंदोलन हुआ। आंदोलन के दौरान एक सम्मानित नेता पोटी श्रीरामुलु के निधन ने सरकार को इस माँग को मानने पर विवश किया और आंध्र राज्य बनाया गया। इसके साथ ही राज्यों के भाषायी आधार पर गठन की माँग के अध्ययन के लिए 'राज्य पुनर्गठन आयोग' भी नियुक्त किया गया। आयोग ने 1955 में दी गई अपनी रिपोर्ट में कहा कि बहुभाषी राज्यों में प्रभावशाली भाषायी समूह का राजनीतिक नेतृत्व तथा प्रशासनिक शक्ति पर एकाधिकार बना रहता है। भाषायी अल्पमत को अपने राज्य के शासन में प्रभावी रूप से हस्तक्षेप करने नहीं दिया जाता। इसी कारण आयोग ने राज्यों के पुनर्गठन के लिए भाषायी एकरूपता के सिद्धांत की सिफारिश की।

केंद्रीय सरकार ने इस मुद्दे पर जनभावना की गहराई को समझते हुए राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और 1956 में भाषायी आधार पर अधिकांश राज्यों का पुनर्गठन किया। 1960 में द्विभाषी बंबई को समभाषी गुजरात और महाराष्ट्र में विभाजित किया गया। 1966 में पंजाब को हरियाणा और पंजाब में बाँटा गया।

इन विभाजनों के बावजूद प्रत्येक राज्य में बहुत से ऐसे लोग रह गए जिनकी मातृभाषा बहुसंख्यक वर्ग की भाषा से भिन्न थी जिसे किसी भी भाँति टाला नहीं जा सकता था। परंतु साधारणतया राज्यों के पुनर्गठन की समस्त प्रक्रिया में विभिन्नताओं को राष्ट्रीय मुख्य धारा से जोड़ने की इच्छा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। विभिन्न सांस्कृतिक भाषायी समूहों ने संतोष की भावना व्यक्त की। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आर्थिक विकास में क्षेत्रीय असमानताओं के न मिटने पर भाषायी राज्यों ने क्षेत्रवाद के लिए सरल आधार प्रदान किया।

उसी समय राजभाषा के मुद्दे ने केंद्र-राज्य संबंधों में भी तनाव पैदा किया। अतः क्षेत्रीय असंतुलन, स्पष्ट भाषा नीति का अभाव, राजनीतिज्ञों द्वारा जन भावनाओं को वोट बैंक बनाने के लिए प्रयोग करने

की इच्छा, विशिष्ट राज्यों में सांस्कृतिक, भाषायी तथा धार्मिक समूहों का जमाव, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का केंद्रीकरण आदि मिलकर भारत में क्षेत्रवाद के उदय एवं विकास का कारण बने। काफी सीमा तक भारत जैसे बहुलवादी समाज में क्षेत्रवाद को एक स्वाभाविक घटना माना जा सकता है। मूलरूप से यह सौदेबाज़ी, शिकायतें अभिव्यक्त करने, असंतुष्ट इच्छाओं को उजागर करने और केंद्रीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया का साधन एवं प्रक्रिया है। लेकिन कुछ मामलों में या तो सरकार के गलत व्यवहार से, निहित स्वार्थों के दुरुपयोग अथवा बाह्य ताकतों के हस्तक्षेप से ये अलगाववाद का रूप ले लेता है। तब यह राष्ट्रीय अखंडता और सामाजिक समरसता के लिए वास्तविक ख़तरा बन जाता है। इसे ठीक ढंग से समझने के लिए हम पृथकतावाद की प्रकृति और उससे उत्पन्न ख़तरे पर एक नजर डालेंगे।

पृथकतावाद

पृथकतावाद का साधारणतया अर्थ है देश से अलग होकर एक स्वतंत्र राज्य का बनना। इसे क्षेत्रवाद की अति आक्रामक अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है जो प्राय: सीमावर्ती राज्यों में उभरती है। कुछ विचारकों का कहना है कि पृथकतावाद सीमावर्ती क्षेत्रों में धार्मिक, भाषायी और जातीय अल्पसंख्यकों के निवास तथा देश के प्रति उनकी निष्ठा में कमी का दुष्परिणाम है। भारत और बाहर के अनेक अध्ययनों ने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि धार्मिक और जातीय समूहों की उपस्थिति इस विवाद का स्वाभाविक कारण नहीं है। यह विमुख होने की एक भावना है जो किसी समूह में कई कारणों से हो सकती है और जो समूह को देश के भीतरी और बाहरी ताकतों के निहित स्वार्थों से प्रेरित अलगाववादी आंदोलनों के लिए प्रेरित करती है। ये कारण हैं : (i) भाषायी अथवा धार्मिक योग्यताओं के कारण रोज़गार के अवसरों से वंचित रखना; (ii) भूमि स्वामित्व अथवा पारंपरिक भू-स्वामित्व से मनाही; (iii) अल्पसंख्यक क्षेत्रों में आर्थिक विकास के कार्य जिनसे अल्पसंख्यकों के स्थान पर बहुसंख्यकों को लाभ पहुँचता हो; (iv) विकास गतिविधियों की कमी और रोज़गार के अवसरों की अनुपस्थिति; (v) प्रशासन और सार्वजनिक विद्यालयों में अल्पसंख्यकों की भाषा के प्रयोग से इंकार; (vi) लोकतांत्रिक इच्छाओं और शिकायतों को अभिव्यक्त करने वाले आंदोलनों को दबाना; तथा (vii) सीमा पार के लोगों के साथ संस्कृति, भाषा, संस्कारों और परम्पराओं की समानता का होना।

इनमें से कोई भी कारण लोगों में उपेक्षा और वंचित रखने की भावना पैदा कर सकता है। इस भावना को सामरिक, सैनिक, वैचारिक अथवा आर्थिक कारणों से देश की अस्थिरता में रुचि रखने वाली बाहरी ताकतों द्वारा भड़काया जाता है। आंतरिक निहित स्वार्थ भी इन भावनाओं का प्रयोग, नेता बनने या बने रहने और सरकार से सौदेबाज़ी करने के लिए करते हैं। इन समुदायों के छोटे समूह जिन्हें बाह्य ताकतों की सहायता एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता है, हिंसक साधनों और आतंकवादी तरीकों तक का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार बहुसंख्यकों में उग्रराष्ट्रवादी समूह पूरे समुदायों को राष्ट्र विरोधी और कट्टरपंथी होने की दृष्टि से देखते हैं; और इस प्रकार अल्पसंख्यकों को और विलग कर देते हैं। इस वास्तविक या कल्पित अलगाव और भेदभाव की भावना का राजनीतिज्ञों तथा बाँटने वाली ताकतों द्वारा दुरूपयोग किया जाता है। लोग सोचने लगते हैं कि तथाकथित उनके अपने नए देश में उनके लिए सब कुछ होगा। वे नहीं समझ पाते कि विशिष्ट वर्ग के लोग अपने निहित स्वार्थों के लिए उनका प्रयोग कर रहे हैं। उदाहरण के लिए जिन्ना जैसे पाकिस्तान के समर्थक भारत के सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व न कर के केवल विशिष्ट वर्ग के मुसलमानों का ही प्रतिनिधित्व करते थे।

पाकिस्तान बनने के बाद उस देश में अधिकांश मुसलमान वैसे ही निर्धन, शोषित और विशिष्ट वर्ग द्वारा भेदभाव के शिकार रहे जैसे विभाजन से पहले थे।

सांप्रदायिकता और क्षेत्रवाद के चरम रूप पृथकतावाद को समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि कोई भी धार्मिक, सांस्कृतिक या जातीय समुदाय इतना एकरूप नहीं होता जितना कि संप्रदायवादी या अलगाववादी बनाना चाहते हैं। प्रत्येक समुदाय जाति, संस्कृति, भाषा, व्यवसाय, इत्यादि के आधार पर कई भागों में बँटा होता है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि विभिन्न अध्ययन यह दर्शाते हैं कि सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, पृथकतावाद को बढ़ावा देने वाले लोग शिक्षित मध्यम वर्ग से संबंधित होते हैं, और इन मध्यम वर्गीय लोगों में से अधिकांश धर्म और परंपराओं के प्रति इतने उत्साहित नहीं होते। परंतु उनके पास विरोध करने के कारण होते हैं क्योंकि वे प्रचलित व्यवस्था को अपने हितों और विकास की संभावनाओं के लिए एक बड़ा बाधक मानते हैं। इसलिए वे अपने लिए स्थान चाहते हैं और अपने समुदायों से सहयोग की अपेक्षा भी करते हैं। अल्पसंख्यकों के भीतर भी बहुसंख्यकों के कुछ उन वर्गों के व्यवहार के कारण भय व्याप्त होता है जो अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को पूरे देश और समाज का मानकर राष्ट्रवाद और देश भक्ति की गलत समझ के कारण थोपने का प्रयास करते हैं।

पृथकतावाद विभिन्न कारणों से उभरता है जिनमें असंतुलित विकास, उच्च वर्गीय प्रतियोगिता, निहित स्वार्थों द्वारा धर्म एवं संस्कृति का प्रयोग, पंथ निरपेक्षता को कमजोर करना, अपराध को बढ़ाना, बाहरी ताकतों व शक्तियों द्वारा सहयोग एवं प्रोत्साहन सम्मिलित हैं। अलगाववाद की प्रक्रिया प्राय: शिकायतों की अभिव्यक्ति, स्वायत्तता अथवा बेहतर व्यवहार के लिए आंदोलन, चरम क्षेत्रवाद अथवा कट्टरवादिता और पृथकतावाद की ओर बढ़ने से प्रारंभ होती है। पूरे विश्व में हुए अध्ययनों ने दो बातें बिल्कुल स्पष्ट कर दी हैं। एक, अलगाव या देश से अलग होना, अन्याय, वंचित रखने और भेदभाव संबंधी शिकायतों को सुलझाने का सही तरीका नहीं है। वास्तव में अलगाव के अधिकांश मामलों में समस्याएँ कई गुणा बढ़ी हैं। दूसरे, क्षेत्रीय और जातीय आंदोलनों को प्रशासनिक सुविधा अथवा कानून और व्यवस्था के नाम पर दबाने के उल्टे परिणाम निकलते हैं। इसके लिए आवश्यक है एक ओर संतुलित विकास के लिए सही दृष्टिकोण, सामाजिक न्याय, अनेकताएँ, विकेंद्रीकरण और समायोजन, तो दूसरी ओर आतंकवादियों, कट्टरपंथियों और सांप्रदायिक लोगों के साथ धर्म, जाति, राजनैतिक प्रश्रय अथवा वैचारिक पसंद का भेदभाव किए बिना पूरी सख्ती से निपटना परम आवश्यक है।

भारत विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं, धर्मों, जातियों और जनजातियों का एक विशाल देश है। ये सब शताब्दियों से मैत्रीपूर्ण ढंग से साथ-साथ रहे हैं जिसने भारत को मिली-जुली संस्कृति और अनेकता में एकता की भावना प्रदान की है। औपनिवेशिक काल के दौरान प्राय: देश के विभिन्न समुदायों में देश के प्रति निष्ठा की सशक्त भावना उभरी थी। ठीक उसी समय 'फूट डालो और राज करो' की औपनिवेशिक नीति के कारण आधुनिक अर्थव्यवस्था में संसाधनों और नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा, नई सामाजिक व्यवस्था में अपनी पहचान खो जाने का भय और विभिन्न समुदायों में सामूहिक चेतना भी उभर रही थी। स्वतंत्रता के पश्चात् क्षेत्रीय असंतुलन, विकास लक्ष्यों के रूप में लोगों की आशाओं का पूरा न होना, स्पष्ट भाषा नीति का अभाव, चुनावी उद्देश्य के लिए लोगों की भावनाओं का राजनीतिक समूहों द्वारा प्रयोग, निहित हितों द्वारा यथास्थिति बनाए रखने के लिए भटकाने और बाँटने वाले तरीकों का प्रयोग तथा बाहरी शक्तियों द्वारा भारत को अस्थिर, अल्पविकसित

और कमजोर बनाए रखने की साजिश जैसे — विभिन्न कारकों के कारण क्षेत्रवाद, भाषावाद, सांप्रदायिकता और पृथकवाद उभर रहा था। भारत जैसे विविधता वाले विशाल देश में क्षेत्रवाद न तो चौंकाने वाला है और न ही राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए अपने आप में कोई ख़तरा। किसी भी समाज में क्षेत्रवाद के अच्छे और बुरे दोनों पहलू हो सकते हैं जो इसके उभरने के कारणों तथा इससे निपटने के ढंग पर निर्भर करते हैं। भारत में भी हमें ये दोनों अनुभव उपलब्ध हैं। बहुत से मामलों में क्षेत्रवाद ने लोगों को अपनी शिकायतें अभिव्यक्त कर सरकार से रियायतें प्राप्त करने और अखंडता की प्रक्रिया को सुदृढ़ करने में सहायता की है। कुछ मामलों में निहित स्वार्थो के हाथों की कठपुतली बन और बाहरी ताकतों से अपराध करने का प्रोत्साहन पाकर इसने आतंकवादी तरीकों के द्वारा अलगाववाद का रूप ले लिया है। इसलिए, भारतीय समाज को क्षेत्रवाद और भाषावाद के मुद्दों को वस्तुनिष्ठ और शांतिपूर्ण ढंग से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं को देखते हुए समझना होगा। सांस्कृतिक अनेकता के चरित्र वाले समाज में विवाद अंतर्निहित होते हैं आवश्यक नहीं कि वे विघटनवादी ही हों। भारत का एक लंबा इतिहास है जो इसे शक्ति और सामर्थ्य देता है। मानव स्वतंत्रताओं को पूरा सम्मान, बहुलवाद, सब के लिए बेहतर सामाजिक व्यवहार पर आधारित एक आधुनिक समाज बनाने के प्रयासों की आवश्यकता है जो किसी भी प्रकार के संप्रदायवाद, कट्टरवाद और आतंकवाद के सामने न झुके।

अभ्यास

1. क्षेत्रीय असमानता से आप क्या समझते हैं? औपनिवेशिक प्रशासन इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है?
2. भारत में क्षेत्रीय असंतुलन को मिटाने के लिए उठाए गए कदमों का परीक्षण कीजिए।
3. क्षेत्रवाद से क्या अभिप्राय है? क्षेत्रीय असंतुलन क्षेत्रवाद उभारने के लिए कहाँ तक उत्तरदायी हैं?
4. भारत की राजभाषा संबंधी नीति का वर्णन कीजिए।
5. पृथकतावाद से आप क्या समझते हैं? भारत में इसके पनपने के कारण स्पष्ट कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) भाषावाद

   (ii) भाषायी राज्य

अध्याय

सांप्रदायिकता, जातीयता और राजनीतिक हिंसा

भारतीय लोकतंत्र के समक्ष, न केवल व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अपितु लोगों को भी एक समुदाय के रूप में बचाए रखने के लिए, जो चुनौतियाँ हैं उनमें सांप्रदायिकता और जातीयता सबसे गंभीर हैं। वे हमारे राष्ट्रीय जीवन और सामाजिक संबंधों को छिन्न-भिन्न कर रही हैं, लोगों के बीच एकता के बंधनों में बाधक सिद्ध हो रही हैं और विकास की प्रक्रिया को प्रभावित कर रही हैं। सांप्रदायिक और जातीय तनाव सामाजिक शांति और व्यवस्था को भंग कर रहे हैं तथा राज्य के संसाधनों को विकास गतिविधियों से कानून व्यवस्था बनाने के गैर-उत्पादक खर्च की ओर मुड़ रहे हैं। यह तथ्य और भी चिंताजनक है कि यह स्थिति समाज की उन श्रेणियों को भी प्रभावित करती हैं जिन्हें प्रायः आधुनिक, सहनशील तथा उदार माना जाता है। साधारणतया यह माना जाता है कि तकनीकी और आर्थिक विकास पारंपरिक अंधविश्वासों और व्यवहारों के ह्रास की ओर ले जाता है। सामाजिक आर्थिक भूमिकाओं के नए बंधनों का उभरना सांप्रदायिक और जातीय पहचान को धूमिल करता है। लेकिन भारत में, स्वतंत्रता के पाँच दशकों के बाद भी, आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार और शहरीकरण के बावजूद जातीय और सांप्रदायिक निष्ठा न केवल जारी रही है अपितु सामुदायिक ध्रुवीकरण और गंभीर हिंसा का रूप भी ले रही है। इसलिए इन चुनौतियों का सामना करना आवश्यक है। अतः हमें यह समझना आवश्यक है कि ये समस्याएँ क्या हैं, उनके उभरने और बढ़ने के कारण क्या हैं, और उन्हें रोकने के लिए क्या किया जा सकता है?

सांप्रदायिकता

सांप्रदायिकता शब्द संप्रदाय शब्द से बना है जिसका साधारण शब्दों में अर्थ है — व्यक्ति का अपने संप्रदाय से आबद्धता अथवा पहचान। इस भाव में 'सांप्रदायिकता' एक सकारात्मक शब्द है।

इसके आधुनिक प्रयोग में सांप्रदायिकता, सामाजिक धार्मिक समूहों द्वारा सामाजिक परंपराओं को राजनीतिक सक्रियता का माध्यम बना कर वर्गीय शोषण तथा एक समूह के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक हितों को दूसरे समूह की कीमत पर अथवा विरोधी परिस्थितियों मे बढ़ावा देने की प्रक्रिया को सांप्रदायिकता कहते हैं। ऐसा करने में धार्मिक समूह दूसरे धार्मिक समुदायों को अपना विरोधी अथवा शत्रु के रूप में देखने लगते हैं।

इस संदर्भ में सांप्रदायिकता की दो प्रकार से व्याख्या की गई है : (i) विचारधारा अथवा विश्वास

के रूप में; (ii) एक सामाजिक तथ्य के रूप में। एक विचारधारा के रूप में इसका अर्थ है : एक विश्वास अर्थात् जो लोग एक धर्म का अनुसरण करते हैं उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित समान होते हैं। इसलिए व्यक्ति की अपने धार्मिक समूह के प्रति मूल सामाजिक व राजनीतिक आस्था होनी चाहिए। समय के साथ यह विश्वास एक सामाजिक आस्था बन जाता है। इसका अर्थ है अपनी पहचान को दूसरे धर्मों के विपरीत और विरुद्ध संगठित व आक्रामक रूप से प्रस्तुत करना। इस प्रस्तुति का धार्मिक आधार पर मताधिकार माँगने तथा विरोधी समूह का हिंसक ढंग से प्रतिरोध करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किसी धर्म को मानना सांप्रदायिकता नहीं है। रशीदुदीन खान के अनुसार कर्मकांड में लिप्त होना, अंधविश्वास, अज्ञानता, जादू-टोना पर विश्वास आदि सांप्रदायिकता में नहीं आते। सांप्रदायिकता, अज्ञात भय अथवा पक्की परंपराओं के कारण अपने व्यवहार और अपने संबंध में व्यक्ति की अतार्किक, अवैज्ञानिक और पुरानी सोच मात्र है। सांप्रदायिकता का अर्थ, धर्म का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग तथा एक धार्मिक समुदाय को दूसरे समुदाय के विरुद्ध सक्रिय करना है। इस अर्थ में सांप्रदायिकता एक आधुनिक तथ्य है।

यह समझना भी आवश्यक है कि सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक हिंसा या झगड़े-फसाद दो अलग अवस्थाएँ हैं। सांप्रदायिकता सांप्रदायिक हिंसा की ओर प्रेरित करे, यह आवश्यक नहीं है। सांप्रदायिकता के बढ़ने का मूल कारण, एक समुदाय का दूसरे समुदाय के विरुद्ध कुछ पूर्वाग्रहों का पैदा होना और उनका पक्का होना है। यह आवश्यक नहीं कि पूर्वाग्रह सदैव हिंसा के रूप में दिखाई दें लेकिन यह किसी भी प्रकार कम ख़तरनाक नहीं है और जब भी हिंसा होती है उसका अपना एक कारण होता है। अत: यह महत्त्वपूर्ण है कि न केवल सांप्रदायिक हिंसा अथवा सांप्रदायिक झगड़े-फसाद ही लोकतंत्र और सामाजिक समरसता के लिए चुनौती बन कर रह जाते हैं अपितु सांप्रदायिकता का विचार अथवा व्यवस्था ही स्वयं मे एक चुनौती है।

सांप्रदायिकता के कारक एवं कारण

सांप्रदायिकता एक अत्याधिक जटिल सामाजिक समस्या है। सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक हिंसा की उत्पत्ति के लिए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारक उत्तरदायी हैं। साधारणतया यह देखा गया है कि सांप्रदायिकता फैलाने में मुख्य भूमिका धार्मिक नहीं अपितु गैर-धार्मिक तत्त्वों द्वारा निभाई जाती है। सांप्रदायिक नेताओं द्वारा की गई अथवा की जा रही माँगों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण, उनके असली चरित्र तथा धर्म, परंपरा और संस्कृति के नाम पर की जा रही सांप्रदायिक राजनीति को भी उजागर करता है। ऐतिहासिक संदर्भ में ब्रिटिश साम्राज्य ने इसका प्रयोग 'बाँटो और राज करो' नीति के अंतर्गत किया। निहित स्वार्थों द्वारा स्वतंत्रता उपरांत इसका प्रयोग विभिन्न तरीकों से बना हुआ है। आइए हम इस पर एक दृष्टि डालें।

औपनिवेशिक देन

यह एक प्रस्थापित सत्य है कि ब्रिटिश शासन का प्रमुख उद्देश्य भारत का केवल शोषण करना था, न कि उसका कल्याण। इस क्रिया की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता का उदय एवं विकास हुआ जो ब्रिटिश शासन के लिए गंभीर ख़तरा बनता जा रहा था। इसलिए उन्होंने धार्मिक विभेदों (अंतरों) का पोषण किया और बढ़ावा दिया। उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिक और सांस्कृतिक भेदों को उछाला और फिर हिंदू-मुस्लिम, जनजातीय और पिछड़ी जातियों के परस्पर विरोधी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

दावों का प्रयोग कर राजनीतिक विभाजन की कुटिल प्रक्रिया को बढ़ाया। सांप्रदायिक निर्णय, अलग निर्वाचक मंडल तथा सांप्रदायिक माँगों को मानना इस नीति के उदाहरणों के रूप में देखे जा सकते हैं।

वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा जिस प्रकार की राजनीति चलाई और बढ़ाई जा रही थी वह मात्र सांप्रदायिक राजनीति ही बनकर रह गई। इसी ऐतिहासिक संदर्भ में सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय पहचान का विरोध, पंथनिरपेक्षता की प्रक्रिया का विरोध तथा अपने धार्मिक समुदाय से ऋणात्मक और अति संकुचित जुड़ाव और धर्म का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग का अर्थ ले लिया।

औपनिवेशिक शासन का प्रत्युत्तर था राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आंदोलन। दुर्भाग्य से यह अंग्रेज़ों की 'बाँटो और राज करो' नीति का सफलता पूर्वक मुकाबला नहीं कर पाए। अपितु अनजाने में ये भी इस प्रकार से सांप्रदायिक पहचान को पक्का करने के साधन बन गए।

निःसन्देह राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रदूत महान व्यक्ति थे, और उन्हें आशा थी कि धार्मिक असमानताओं के बावजूद अपने राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वे एक सुदृढ़ राष्ट्रवाद को विकसित कर सकेंगे। तर्क, जागरूकता और सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलन के युग में वे धर्म को व्यक्तिगत स्तर पर रखने और धर्म को राजनीति से परे रखने के पक्षधर थे। किन्तु कुछ लोग यह नहीं समझ पाए कि लोगों को एकजुट करने के अपने उत्साह में वह जिस तरीके का प्रयोग कर रहे हैं वह साम्प्रदयिकता को बढ़ावा दे सकता है। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद ने एक ऐसा ऐतिहासिक आयाम प्राप्त किया जो हिन्दुत्व के नवीन दृष्टिकोण पर आधारित था। बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपतराय सरीखे नेताओं द्वारा समर्थित गरम-पंथी राष्ट्रीय धारा का उदय हुआ। औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध जनसाधारण को आंदोलित करने के लिए तिलक द्वारा प्रारंभ किए गए गणपति उत्सव और शिवाजी-उत्सव का उद्देश्य यद्यपि मुसलमानों के विरुद्ध नहीं था परंतु ऐतिहासिक संदर्भ में ये इससे विमुख हो गए क्योंकि मुसलमानों की सहभागिता इन उत्सवों में नहीं के बराबर थी।

राष्ट्रीय नेताओं द्वारा उपरी तौर से एकता बनाने की नीति को थोपना भी सांप्रदायिकता का एक अन्य कारण सिद्ध हुआ। जब कभी धर्म से संबंधित विशेष मुद्दों पर मत भेद का प्रश्न उठता था तब शीर्ष नेताओं, जो आवश्यक नहीं कि समुदायों के प्रतिनिधि हों, से विचार-विमर्श किया जाता था। राष्ट्रीय नेताओं का विचार था कि भारत में प्रत्येक समुदाय एक जुट और एकरूप है तथा सांप्रदायिक नेतृत्व अपने समुदाय की समस्याओं का अधिकृत प्रवक्ता है। जनसाधारण को कभी विश्वास में नहीं लिया गया। इस नीति ने सांप्रदायिक नेताओं को अपने सामुदायिक समूहों को लड़ने मरने के लिए तैयार रहने तथा अपने स्वार्थ हेतु उनका प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया। इन नेताओं की वास्तविक चिंता अपने समुदाय का कल्याण नहीं, अपितु अपनी निहित शक्ति और राजनीतिक हितों की रक्षा थी।

इस प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशवादी प्रशासन की नीतियाँ तथा राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा इनका सामाजिक और पंथ निरपेक्ष आधार पर दृढ़ता से मुकाबला करने में असफलता, दोनों ही सांप्रदायिक, जातीय, जनजातीय और भाषायी अलगाववाद को मजबूत करने में सहायक रहीं। इसका सबसे गम्भीर परिणाम भारत का विभाजन और उसके बाद स्वतंत्र भारत में घटी घटनाएँ थीं।

स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिकता

स्वतंत्रता के समय, ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों तथा अन्य उपरोक्त कारणों के परिणामस्वरूप, विभिन्न धार्मिक, भाषायी, जातीय और सांस्कृतिक समूहों में

संकुचित वर्गीय निष्ठा का वातावरण व्याप्त था। इस स्थिति में, धर्म के आधार पर देश के विभाजन तथा बाद की हिंसक घटनाओं ने देश के सांप्रदायिक वातावरण को गर्मा दिया था। विभिन्न अल्पसंख्यक समूह स्वतंत्र भारत में अपने भविष्य को लेकर चिंतित एवं असुरक्षित अनुभव कर रहे थे। नई सरकार और संविधान के निर्माता देश की एकता और अखंडता, सभी नागरिकों के लिए में सुरक्षा की भावना तथा सामाजिक समरसता को बनाए रखने के प्रति अत्याधिक चिंताशील थे। राष्ट्रीय आंदोलन इन्हीं मूल्यों के प्रति वचनबद्ध था। ये लोकतंत्र को मज़बूत करने तथा तीव्र विकास के लिए भी आवश्यक थे। इसीलिए संविधान निर्माताओं ने भारत को एक पंथनिरपेक्ष राज्य बनाने का सही निर्णय लिया। इसका अर्थ है सभी धर्मों के प्रति सम्मान तथा सभी पंथों के प्रति सहनशीलता। पंथनिरपेक्षता का यह भी तात्पर्य है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता और न ही राज्य किसी धर्म की सहायता अथवा समर्थन करता है। पंथनिरपेक्षता के साथ लोकतंत्र तथा आर्थिक विकास के प्रति वचनबद्धता को अपनाया गया। ऐसी आशा थी कि पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक परिवेश में सरकार और लोग सामूहिक रूप से आर्थिक विकास में जुट जाएँगे और एक नए भारतीय समाज का निर्माण होगा और मानवीय स्वतंत्रता, न्याय और समानता के प्रति पूर्ण सम्मान पर आधारित एक नई राजनीतिक संस्कृति का उदय होगा।

सामाजिक आर्थिक कारण

जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि स्वतंत्रता के समय हमारे संसाधन सीमित थे और अपेक्षाएँ अत्याधिक थीं। ऐसी स्थिति में संतुलित विकास के लिए नियोजन प्रारंभ किया गया। यद्यपि समग्र रूप से नियोजन वांछित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सका। शीघ्र ही सीमित संसाधनों के लिए होड़ लग गई। इस होड़ में निहित स्वार्थों को जाति, संप्रदाय और क्षेत्रीय आधार पर यथेष्ट भाग माँगने के लिए लोगों को सक्रिय करने का एक आसान तरीका मिल गया। धनाढ्य एवं शासक वर्गों को अपना वर्चस्व, वैचारिक प्रधानता तथा सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने के लिए 'धर्म' और 'धार्मिकता' एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में मिल गए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोई भी धार्मिक समुदाय समांगी समुदाय नहीं होता। प्रत्येक समुदाय में अमीर और गरीब, बेरोज़गार अथवा अल्प रोज़गार लोग होते हैं। वास्तव में, प्रत्येक समुदाय में निर्धन, अल्प रोज़गार, बेरोज़गार तथा दलित वर्गों की संयुक्त शिकायतें अमीर और शक्तिशाली लोगों के विरूद्ध होती हैं। इसलिए अमीर और शक्तिशाली लोगों का निहित स्वार्थ वर्ग अथवा आर्थिक आधार पर एकता बनाने के बजाय धार्मिक आधार पर विभक्त करने में होता है।

इसी प्रकार, राजनीतिक दल और सरकारें लोगों की आशाओं को पूरा करने में असफल हो जाने पर, उनका ध्यान बाँटने के लिए धर्म और परंपराओं का प्रयोग करती हैं। लगभग सभी राजनीतिक दल असमानता और गरीबी हटाने के वायदे पूरा न कर पाने के कारण चुनावों में लोगों के आक्रोष से बचने के लिए सांप्रदायिक मुद्दों को उछालते हैं। कुछ पार्टियाँ अल्पसंख्यकों को बताती हैं कि बहुसंख्यकों की सरकार होने के कारण उनके साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार किया जा रहा है, तो कुछ दल बहुसंख्यकों को बताते हैं कि सरकार अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण में जुटी है और उनके हितों की अवहेलना कर रही है। कुछ भी कर गुज़रने की ऊर्जा वाले हताश शिक्षित बेरोज़गार अथवा अल्प रोज़गार वाले युवकों को विभाजन की राजनीति में व्यस्त रखने के लिए लक्ष्य बनाया जाता है। इसी कारण भारत में आज का युवक सांप्रदायिक नेतृत्व का शिकार बन गया है और पहले से कहीं अधिक धार्मिक उत्तेजना, कट्टरपंथी व्यवहार

तथा सांप्रदायिक पहचान के प्रति निकटता दर्शाता है। यह कोई संयोग नहीं है कि 1980 और 90 का दशक जो आर्थिक संकट का युग था, वह सांप्रदायिक हिंसा का भी सबसे बुरा युग था।

इसके साथ यह भी सत्य है कि राज्य पंथ-निरपेक्षता को सुदृढ़ करने और बहुलवादी समाज में बहुसांस्कृतिक नीतियाँ बनाने में असफल रहा। भारत एक बहुधर्मी देश है। सभी धर्मावलंबी अपने धर्म पर गर्व करते हैं तथा अपनी धार्मिक पहचान बनाए रखने के इच्छुक हैं। इस सामाजिक-धार्मिक संदर्भ में पंथनिरपेक्ष राज्य के कर्मचारियों को सभी धर्मों से समान दूरी रखनी पड़ती है, और साथ ही साथ अंतरधार्मिक और सामाजिक संबंधों को सौहार्दयपूर्ण बनाए रखना होता है। यद्यपि सांविधानिक ढाँचा लोकतंत्र और धर्म को अलग रखने का एक दृढ़ आधार प्रदान करता है तथापि लोकतंत्र को व्यावहारिक बनाने के लिए राजनीतिक दल और सरकारी कर्मचारी सांविधानिक ढाँचे को आत्मसात करने में असमर्थ रहे हैं।

चुनावी राजनीत्ति और सांप्रदायिकता

नि:संदेह भारतीय संविधान निर्माताओं द्वारा सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार लागू करना एक सशक्त और क्रांतिकारी कदम था। परंतु दुर्भाग्य से स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात् ही राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों ने कार्यक्रमों और विचारधाराओं की परंपराओं को मज़बूत करने के बजाय मतदाताओं को लुभाने के आसान तरीके ढूँढने शुरू कर दिए। उन्हें धर्म और जाति में अपने वोट बैंकों को मज़बूत करने के सरल कारक दिखाई देने लगे। भारत में कानून राजनीतिक दलों को जातीय और धार्मिक आधार पर निर्माण करने से नहीं रोकता। 17 जुलाई 1995 को उच्चतम न्यायालय ने भी अपने एक निर्णय में कहा कि ऐसे राजनीतिक दल जिनकी पहचान किसी विशेष जाति, समुदाय, धर्म अथवा भाषा से जुड़ी है, वे अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए, अपने विरोधियों के प्रति घृणा फैलाए बिना, वोट माँग सकती हैं। इस स्थिति में राजनीतिक दल और नेता ऐसी रणनीतियाँ बनाते हैं जो न्यूनतम संभव समय में उन्हें आसानी से सत्ता दिला सकें। अतः अधिकांश राजनीतिक दलों ने सावधानी से अपने समर्थकों का एक मिश्रित आधार तैयार किया है जिनमें एकत्रीकरण की इकाईयाँ मुख्यत: समुदाय, जाति, भाषा और धर्म ही है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि लोगों की सामाजिक आर्थिक अपेक्षाओं को पूरा करने में निरंतर असफल रहने के कारण जनसाधारण व्यवस्था से विमुख होता जा रहा है। राजनीतिक दल इस विलगाव की भावना का भी लाभ उठा रहे हैं। परिणामस्वरूप चुनावी राजनीति उम्मीदवारों के नामांकन तथा सांप्रदायिक भावना से चुनाव प्रचार में सांप्रदायिकता की प्रक्रिया को गंभीर स्तर तक बढ़ा दिया है।

इसका यह परिणाम है कि आज राजनीति और धर्म के गठजोड़ ने सांप्रदायिक हिंसा की घटनाओं में वृद्धि कर दी है। मस्ज़िदों, गुरुद्वारों और मंदिरों का प्रयोग न केवल राजनीतिक अभियान के लिए अपितु हथियार इक्ट्ठा करने के लिए किया जा रहा है। सांप्रदायिक और अर्द्ध-धार्मिक समुदाय राजनीतिक दलों के रूप में उभर रहे हैं तथा धार्मिक भावनाओं को राजनीतिक सत्ता के लिए भड़काया जा रहा है। सांप्रदायिक मुद्दों को महत्त्व दिया जा रहा है और सामाजिक-आर्थिक विकास व बदलाव के असली मुद्दों को गौण बनाया जा रहा है।

समय की माँग है कि लोकतंत्र, विकास और सामाजिक समरसता के समक्ष इस चुनौती का मुकाबला एक हो कर किया जाए। सचेत, शिक्षित और संबद्ध नागरिकों को आगे बढ़ कर लोगों को शिक्षित करना होगा। सामान्य लोगों की भावनाओं, उनके धार्मिक विश्वासों तथा अज्ञानता का लाभ उठाने वालों के असली रूप को सामने लाना आवश्यक है। धर्म

व्यक्ति को दूसरों के प्रति आदर व सहिष्णुता सिखाता है, हिंसा नहीं। इसलिए विभिन्न धर्मों का होना सांप्रदायिकता नहीं फैलाता है। यह कट्टरवाद और सांप्रदायिकता ही है जो इसका स्वरूप बिगाड़ रही है।

सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष

अब राज्य और सरकार को समझना होगा कि असामाजिक तत्त्वों, सांप्रदायिक ताकतों और अपराधियों ने राजनीतिक दलों का समर्थन केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए तथा सत्ता प्राप्त करने के लिए करना प्रारंभ कर दिया है। इसलिए सांप्रदायिकता के साथ सख्ती से निपटना होगा। सरकार को सांप्रदायिक दबाव के सामने नहीं, झुकना चाहिए। सांप्रदायिक आधार पर राजनीतिक दलों के गठन को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। राजनीतिक दलों को चुनावी प्रचार में धर्म का प्रयोग न करने के लिए एक आचार संहिता बनानी चाहिए या फिर संसद अथवा चुनाव आयोग को ऐसी ही संहिता का निर्माण करना होगा । हमें एक ऐसे राज्य तंत्र की आवश्यकता है जो सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक हिंसा को समाप्त करने में सक्षम, सबल और निष्पक्ष हो तथा समाज को सभी श्रेणियों राजनीतिक, धार्मिक और अन्य विवशताओं को इसके रास्ते में आने से रोक सके। युवा छात्रों में पंथनिरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने तथा अपनी मिश्रित संस्कृति पर ज़ोर देने के लिए शिक्षा व्यवस्था को पुनर्गठित किया जाना चाहिए। हमें अनुभव करना चाहिए कि सांप्रदायिकता सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों में बाधक है। इसलिए, यदि राजनीतिक प्रक्रिया को सांप्रदायिकता से मुक्त नहीं किया गया तो हमारा लोकतंत्र स्वयं मिट जाएगा । लोकतंत्र का विकल्प तानाशाही या फासीवाद है। बहुत से देशों का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि फासीवाद और तानाशाही किसी के लिए भी हितकर नहीं है।

जातिवाद

इस अध्याय के प्रारंभ में ही यह कहा गया था कि इस समय भारतीय लोकतंत्र सांप्रदायिकता के साथ-साथ जातिवाद जैसी गंभीर चुनौती का भी सामना कर रहा है। हम प्राय: समाचारों में जातीय संघर्षों और हिंसा के विषय में सुनते-पढ़ते हैं। नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में जातीय आधार पर आरक्षण यदा-कदा तूफान खड़ा कर देता है। चुनावी दिनों में समाचार पत्र क्षेत्रों के जातीय विश्लेषणों से भरे होते हैं, दल जातीय आधार पर उम्मीदवार चुनते हैं तथा जातियाँ दलों को समर्थन आधार प्रदान करती हैं। सत्य यह है कि भारतीय राजनीति में जातिवाद विभिन्न स्तरों और विभिन्न साधनों से एक नकारात्मक किंतु महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। सांप्रदायिकता के अनुरूप ही स्वतंत्रता के समय यह समझा गया था कि संसदीय लोकतंत्र अपनाने तथा औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के साथ समाज से जाति का संकुचित प्रभाव जाता रहेगा। लेकिन सांप्रदायिकता की भाँति व्यवहार में जातीय निवेदन, जातीय सक्रियता, जातीय हिंसा और जातिगत पार्टियाँ बढ़ी हैं। ऐसा क्यों और कैसे हुआ और इसका हमारी सामाजिक राजनीतिक प्रकिया पर क्या प्रभाव है? इस समस्या को समझने से पूर्व 'जाति' का अभिप्राय समझना आवश्यक होगा।

जाति और जातीय व्यवस्था

यद्यपि जाति हिंदू समाज का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है परंतु इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती। यद्यपि जाति का वर्ण व्यवस्था से कुछ संबंध है, तथापि दोनों समान नहीं हैं। जाति एक स्थानीय समूह होता है जो एक पारंपरिक पैतृक व्यवसाय से जुड़ा होता है। एक जाति समूह की सदस्यता का आधार मात्र जन्म का सिद्धांत ही होता है। इसके अनुसार उसका पेशा या व्यवसाय एक जाति में जन्म के आधार पर निर्धारित होता है न कि उसकी पसंद के

आधार पर जाति समूह के भोजन और विवाह के संबंध में भी सीमित नियम होते हैं। एक व्यवसाय में एक ही जाति के सभी सदस्यों के साथ एक जैसा व्यवहार होना चाहिए। एक व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह अथवा निकट संबंध रख सकता है। इसका अर्थ है जातियों में श्रेष्ठता और निकृष्ठता के आधार पर वंशावली का होना है। कुछ जातियाँ नीची और अस्पृश्यता की हद तक प्रदूषित समझी जाती हैं। श्रम विभाजन पर आधारित वंशानुगत समाज में जाति प्रथा में असमानता तथा शोषण के तत्त्व भी सम्मिलित हैं। यह व्यवस्था उपजातियों में भी विभक्त की गई हैं। इस प्रकार इस में जातियाँ और उपजातियाँ हैं।

जाति और राजनीति

जैसा कि आपने धर्म के विषय में पढ़ा, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का हित भारतीयों को समुदायों और जातियों के रूप में देने में निहित था। उन्होंने इन पहचानों का प्रयोग राजनीतिक विभाजन के उद्देश्य से किया। तदापि पश्चिमी उदारवादी समाज से संबंधित अंग्रेज स्वनियंत्रित सेवाओं और शैक्षिक संस्थाओं को विशेष जातियों अथवा धर्मों के लिए सीमित न कर सके। अत: शिक्षा और नौकरियों के अवसर पाकर कई जातियों में शिक्षित मध्यम वर्ग उभरा। सरकार से और अधिक रियायतें प्राप्त करने के लिए जातिगत जातीय संस्थाओं का निर्माण करना शुरु कर दिया। समाज सुधारकों ने भी जातीय व्यवस्था में दमन और विभाजन की प्रवृति पर ध्यान दिया और सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। शिक्षा के द्वारा उभरी जागृति तथा सरकार से सहयोग की आशा से समाज सुधारकों, उदारवादी नेताओं और कुछ निम्न जाति के लोगों ने स्वयं अपने स्तर को उठाने तथा अपने हितों एवं अधिकारों की रक्षा हेतु प्रयास प्रारंभ कर दिए।

इस प्रकार औपनिवेशिक काल के दौरान जाति व्यवस्था ने नई पहचान और अपना विस्तार करना प्रारंभ कर दिया। इसने जाति के व्यवसायिक आधार को, इसकी आर्थिक तर्कसंगता को, दूसरों के साथ व्यवहारिक पाबंदियों को तथा इसके स्थैतिक एवं राजनीतिक अलगाव को भारी क्षति पहुँचाई। तथापि जाति व्यवस्था की समाज पर जकड़ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। हिंदू समाज में जाति पहचान का एक मुख्य चिह्न बनी रही। जाति आधारित समाज के इस दोहरे सन्दर्भ में तथा स्वतंत्र भारत में जाति गतिशीलता के बदलते परिवेश में जाति एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संसाधन बन गई।

स्वतंत्र भारत में जाति

स्वतंत्र भारत में सार्वभौम वयस्क मताधिकार के लागू होने तथा सामाजिक आर्थिक विकास तथा बदलाव की प्रक्रिया के प्रारंभ होने से जाति ने एक नई भूमिका प्राप्त कर ली है। नई व्यवस्था में जाति की दोनों सकारात्मक तथा नकारात्मक भूमिकाएँ हैं। सरकार द्वारा जाति को आरक्षण की एक श्रेणी के रूप में मान्यता ने जातिगत राजनीति को नया विस्तार दिया है। सार्वभौम वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के लागू होने से पहले तक, ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषत: राजनीति में सक्रिय लोग ऊँची जातियों के होते थे। मताधिकार ने संख्या को महत्त्व दिया। इसने निम्न जातियों तथा वंचितों को स्वयं को सगठित करने तथा अपनी संख्या के आधार पर ताकत जतलाने और न्याय प्राप्त करने का अवसर दिया। इस स्थिति में जातीय अभियान न्याय प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण साधन बन गए।

जातीय संस्थाएँ संवाद के मार्ग खोलती हैं तथा नेतृत्व और संगठन को आधार प्रदान करती हैं। पारंपरिक समाज और संस्कृति में दबे हुए लोगों को तकनीकी और राजनीतिक शिक्षा के माध्यम से योग्य बनाती हैं। जिसके बिना लोकतांत्रिक राजनीति में उन की सहभागिता अधूरी रह जाएगी। इसका अब एक परिणाम यह है कि सभी राजनीतिक दल निम्न

जातियों के कल्याण और विकास की बात करते हैं।

दूसरी ओर राजनीति में जाति के प्रयोग को सामाजिक विभाजन तथा व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाता है। इसका पहला प्रभाव यह था कि लोकतंत्र, चुनाव और परिवर्तन की प्रक्रियाएँ ग्रामीण क्षेत्रों के पारंपरिक शक्तिशाली वर्ग के लिए, जो प्रायः उच्च वर्ग के होते थे, ख़तरा बनने लगी। इसलिए उन्होंने अपनी तत्कालीन स्थिति की वैधता को ठहराने के लिए, जनसाधारण की अज्ञानता का लाभ उठाकर जाति व्यवस्था को स्थायी बनाने में ही हित समझा। शासक वर्गों के मध्य भी मतभेद उभरे, विशेषतः धनाढ्य कृषकों और शहरी औद्योगिक वर्गों के मध्य। भूमिहीनों तथा छोटे कृषकों के मुकाबले भू-स्वामी के रूप में अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ऊँची और मध्यम जातियाँ एकीकृत होने लगी। इससे उन्हें भूमि पर अपना नियंत्रण बनाए रखने में सफलता मिली। भूमि पर नियंत्रण के माध्यम से आर्थिक प्रभुत्व ने गाँव के धनाढ्य वर्ग को वहाँ के राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाओं पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान किया। इसी से सत्ताधारी वर्ग इस प्रकार धनाढ्य और मध्यम वर्गीय भू-स्वामियों की जाति संबद्धता राजनीतिक दलों के लिए अति महत्त्वपूर्ण बन गई। निम्नजातियों पर प्रभाव में निर्वाचन के समय वृद्धि हो जाती है।

सत्तासीन वर्गों को जाति का एक अन्य उपयोग, मतदाताओं को जाति के आधार पर विभाजित किए रखना है। धर्म की भाँति जाति का प्रयोग करके वे मतदाताओं का ध्यान सामाजिक-आर्थिक मुद्दों और विकास योजनाओं की असफलताओं से हटा सकते हैं। लोकतांत्रिक समाज में चुनावों में संख्या अधिक महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश भारतीय गरीब और अभावग्रस्त हैं। यदि वे सभी आपस में मिल जाएँ तो संभ्रांत वर्गों का पक्ष लेने वाले दलों के लिए चुनाव जीतना अत्यंत कठिन हो जाएगा। इसी प्रकार समुदाय बनाने की स्वतंत्रता के कारण कामगर, भूमिहीन मज़दूर, किसान और न्यूनतम स्तर के वर्गों के पास समुदाय बनाने तथा मज़दूर संघ बनाने के अवसर उपलब्ध हैं। एकता होने पर इन संस्थाओं के पास सौदेबाज़ी की बड़ी ताकत आ सकती है। आंदोलित तथा आशावान लोगों की चुनौती के समक्ष सत्तासीन वर्गों की पारंपरिक जातीय पहचान, धर्म और क्षेत्र इत्यादि के आधार पर लोगों को बाँट कर रखने के महत्त्वपूर्ण साधन लगते हैं। सर्वाधिक व्यापक और गहराई से जुड़ी पहचान के कारण जाति उन्हें अत्याधिक सुलभ हो जाती है। इस प्रकार मुद्दों और विचारधाराओं पर आधारित राजनीतिक मुकाबला एक जातिगत घृणित खेल के रूप में परिणत होकर रह जाता है।

जाति और चुनाव

इस प्रकार, जाति चुनावी राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गई है। अब निम्न जाति के लोग जानते हैं कि वोट उनके हाथ में एक सशक्त हथियार है। उनकी स्थिति सुधारने में सरकार के असफल होने के कारण ये जातियाँ चुनावी परिणामों को प्रभावित कर अपना अस्तित्व दर्शाने के प्रयास में लगी हैं। 1989 में हुए बिहार के चुनावों पर एक रिपोर्ट के अनुसार एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हज़ारों दलित पहली बार अपने जीवन पर मंडराते ख़तरों से जूझते हुए वोट डालने में सक्षम रहे। इसने उन्हें एक नई इज्ज़त दी है और इस प्रकिया के दौरान बिहार में पहले से चरमराती सामंती व्यवस्था को एक और तगड़ा झटका मिला। साथ ही ऊँची जाति के भू-स्वामी अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए तथा व्यवस्था में निरंतरता बनाए रखने के लिए हर संभव साधन का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार, चुनावी गणना में जातीय सोच इतनी हावी हो गई है कि बूथ लूटना और मतपत्रों में धोखाधड़ी करना एक आम बात हो गई है। चुनाव क्षेत्रों के कई भागों में जहाँ अनुसूचित जाति

आतंकवादी अत्याधुनिक हथियार प्राप्त करने में सफल हो रहे हैं। जब राजनीति में बंदूक निर्णायक तत्त्व बन जाता है तब लोकतंत्र एक बड़े ख़तरे में पड़ जाता है। लोकतांत्रिक संस्थाओं का क्रमिक ह्रास हो जाता है। पिछले दशकों में हिंसा में हुई वृद्धि भारतीय समाज और लोकतंत्र के समक्ष एक बड़ी चुनौती है।

कुल मिला कर, जब अपराधी, गुंडे और बदमाश राजनीति की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग बन जाते हैं, तो लोकतांत्रिक संस्थाओं का विनाश होने लगता है। गत कुछ वर्षों में हिंसा के बढ़ते हुए चलन ने भारतीय लोकतंत्र व समाज के मार्ग में एक प्रमुख चुनौती उत्पन्न की है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय समाज और लोकतंत्र अन्य चुनौतियों के अतिरिक्त सांप्रदायिकता, जातिवाद और हिंसा का गंभीर मुकाबला कर रहा है। औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार और संसदीय लोकतंत्र अपनाने के साथ यह अपेक्षा की गई थी कि धर्म, जाति और वंश के संकुचित प्रभाव समाप्त हो जाएँगे। लेकिन इसके ठीक विपरीत हुआ। इस स्थिति के लिए कई कारण उत्तरदायी हैं। भारत एक प्राचीन समाज है और इसके अधिकांश लोगों के जीवन में धर्म की प्रधान भूमिका है। लेकिन धर्म और धार्मिक अनेकता स्वयं में सांप्रदायिकता के कारण नहीं हैं। निहित स्वार्थों द्वारा समाज को विभाजित रखने के लिए धर्म का प्रयोग सांप्रदायिकता का कारण बन जाता है। ठीक यही स्थिति जातिवाद के लिए भी है। दुर्भाग्यवश अधिकांश राजनीतिक दल सांप्रदायिक और जातीय राजनीति से समझौता कर रहे हैं और चुनावी सफलता के लिए अपराधियों से भी हाथ मिलाने लगे हैं। परिणामस्वरूप सांप्रदायिकता की विचारधारा केवल संगठित सांप्रदायिक संगठनों तक ही सीमित नहीं है। इसने व्यवस्था में भी जड़ें जमा ली हैं। सांप्रदायिकता और जातिवाद की वर्गीय ताकतें एक दूसरे से संघर्षरत रहती है, और अपनी विचारधारा थोपने के लिए आक्रामक रूख अपनाती हैं।

सांप्रदायिक और जातीय राजनीति में हिंसा के प्रयोग ने राजनीति में अपराध और हिंसा को वैधता प्रदान की है। चुनाव आयुक्त सी.वी.जी. कृष्णमूर्ति ने कहा था कि यह स्थिति **अपराधियों की सरकार, अपराधियों के द्वारा, अपराधियों के लिए**, की हद तक पहुँचने का गंभीर ख़तरा उत्पन्न कर रही है।

ऐसी निराशाजनक स्थिति को अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता है। संविधान में समाहित सिद्धांतों — स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृभाव, सामाजिक न्याय, पंथनिरपेक्षता और कानून के शासन को जीवन मे उतरना होगा, सरकार, राजनीतिक दलों और नागरिकों को मिलकर इन चुनौतियों के विरूद्ध लड़ना होगा। सरकार को सांप्रदायिक और बाँटने वाली ताकतों के साथ सख़्ती से निपटना होगा, राजनीतिक दलों को भारत में विभिन्न समुदायों के सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषायी हितों का ध्यान रखते हुए विचारधारा के परिपेक्ष्य में चुनाव लड़ने होंगे, तथा राज्य तंत्र में सांप्रदायिक एवं जातीय भावनाओं के समावेश को रोकना होगा ।

हमें समझना होगा कि सांप्रदायिक और जातीय राजनीति का वास्तविक उद्देश्य हम में विभाजन की प्रवृति उत्पन्न करना है। जनसाधारण धार्मिक हैं लेकिन सांप्रदायिक नहीं। अत: शिक्षित एवं जागरूक लोगों को उन्हें सांप्रदायिक ताकतों का शिकार होने से बचाना होगा। भारत में लोकतांत्रिक और मानवीय मूल्यों के संवर्धन के साथ सांप्रदायिक और जातीय भावनाओं की शक्ति क्षीण होना अवश्यंभावी है। भारत में एक नए उदय की नितांतावश्यकता है और दृढ़ निश्चय के साथ हम ऐसा कर भी सकते हैं।

अभ्यास

1. भारत मे सांप्रदायिकता के उभार एवं विकास के कारक एवं कारणों का वर्णन कीजिए।
2. भारत की चुनावी राजनीति में जातीयता की भूमिका का वर्णन कीजिए ।
3. भारतीय राजनीति में हिंसा के प्रवेश के लिए कौन से तत्त्व उत्तरदायी हैं? लोकतन्त्र के लिए यह किस प्रकार का ख़तरा उत्पन्न करते हैं?
4. सांप्रदायिकता को कैसे समाप्त किया जा सकता है?
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) जातिवाद

   (ii) आतंकवाद

इकाई V

भारत और विश्व

अध्याय 16

भारत की विदेश नीति : नीति-निर्णायक तत्त्व एवं आधारभूत सिद्धांत

सामान्यतः विदेश नीति का अर्थ दूसरे देशों के साथ संबंध रखना और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में भाग लेना है। यह उन नीतियों, हितों और उद्देश्यों का समूह है जिनके द्वारा एक देश अन्य देशों के साथ अपना संबंध बनाता और संचालित करता है। पारंपरिक रूप में ऐसा माना जाता है कि कोई भी देश जब किसी दूसरे देश के साथ संपर्क बनाता है या अंतर्राष्ट्रीय विषयों में हिस्सा लेता है तो उसकी मुख्य रुचि अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना होता है। किंतु, केवल राष्ट्रीय हित ही केवल किसी देश की विदेश नीति के प्रतिपादन में एक मात्र निर्धारक नहीं होता। राष्ट्रीय हितों को किसी देश का एक मात्र कारण ठहराना बहुत कठिन है। वास्तव में, विदेश नीति दो बड़े उद्देश्यों की पूर्ति करता है। राष्ट्रीय हितों की रक्षा और बढ़ावा तथा भूमंडलीय विषयों जैसे — शांति, निरस्त्रीकरण, विकास, न्याय, उपनिवेशवाद उन्मूलन, आदि में सहभागिता। इसलिए एक देश की विदेश नीति साधारणतया चार कारणों के पारस्परिक प्रभावों द्वारा निर्धारित की जाती है। ये कारण हैं : (i) राष्ट्रीय हित; (ii) भौगोलिक एवं राजनीतिक स्थान एवं परिस्थिति; (iii) पड़ोसी देशों से संबंधों का स्वरूप एवं प्रकार; और (iv) अंतर्राष्ट्रीय वातावरण। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साधारणतया विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व के दो कारण हैं पहला घरेलू वातावरण जो तत्त्व (i) और (ii) से प्रभावित होते हैं; और दूसरा अंतर्राष्ट्रीय वातावरण जो तत्त्व (iii) और (iv) से प्रभावित होते हैं। किंतु ध्यान में यह रखना जरूरी है ये दोनों ही वातावरण, गतिशील और परिवर्तनशील हैं। सभी देशों को इसके अनुसार कदम मिलाकर चलना और समय-समय पर अपनी नीतियों का पुनर्मूल्यांकन करना होता है। इसके अलावा इन वातावरणों के कुछ दीर्घकालीन पहलू भी हैं जो किसी देश की विदेश नीति की कतिपय मौलिक विशेषताएँ निर्धारित करते हैं। भारत की विदेश नीति आंतरिक और बाह्य दोनों वातावरणों से प्रभावित होती आ रही है तथा इसमें हमेशा निरंतरता और परिवर्तनशीलता रही है। दूसरे शब्दों में हमारी विदेश नीति की कुछ मूल विशेषताएँ हैं जिन्हें हम प्रारंभ से ही अपनाते आए हैं और समय-समय पर उनमें समन्वय और परिवर्तन भी करते रहे हैं, विशेषकर कुछ विशिष्ट देशों के साथ अपने संबंधों के विषयों में। सर्वप्रथम हम भारत की विदेश नीति को निरूपित करने वाले कारणों या तत्त्वों की विवेचना करेंगे। साथ ही इस नीति की मुख्य विशेषताएँ एवं उनमें परिवर्तन और समन्वय की भी चर्चा करेंगे। अगले अध्याय में हम भारत के कुछ विशेष देशों के साथ संबंधों के बारे में पढ़ेंगे।

आंतरिक वातावरण

भारत की विदेश नीति निर्धारण करने वाले आंतरिक वातावरण के निर्धारक तत्त्वों में इसका इतिहास एवं संस्कृति, भौगोलिक स्थिति, राष्ट्रीय दर्शन एवं पहचान, आर्थिक विकास एवं राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षाएँ हैं।

इतिहास एवं संस्कृति

भारत का इतिहास अति प्राचीन ही नहीं बल्कि जटिल भी है। इस इतिहास ने भारत को एक बहुलवादी समाज एवं मूल्य आधारित व्यवस्था भी दी है। प्रसिद्ध आधुनिक विचारकों के लेखों से पता चलता है कि आधुनिक भारत में अभी भी प्राचीन सामाजिक मूल्य जीवित हैं, चाहे वे व्यवहार में हों अथवा न हों। कुछ महत्त्वपूर्ण पारंपरिक मूल्य जिनका भारत की विदेश नीति पर प्रभाव पड़ा वे हैं — सहनशीलता, साधन और लक्ष्यों में समरूपता और अहिंसा।

अपने गुणों एवं अवगुणों सहित ब्रिटिश शासन की विशिष्टता तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का भी भारत की विदेश नीति के निर्धारण पर प्रभाव पड़ा। प्रोफेसर अप्पादोराई के अनुसार इसके तीन प्रकार हैं : (i) इसने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक नई प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप पराधीन देशों को स्वतंत्रता के लिए भारत का समर्थन मिला; (ii) प्रजातीय असमानता ब्रिटिश शासन के दौरान स्पष्ट रूप से विद्यमान थी जिसने भारत को प्रजातीय भेदभाव की असमानता महसूस करने पर बाध्य किया और बदले में अपनी विदेश नीति में भी भारत ने प्रजातीय समानता पर बल दिया; तथा (iii) भारत स्वतंत्र होने के बाद भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहा। साथ ही यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि 1947 के पहले भारत को विदेश नीति निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में भाग नहीं लेने दिया गया जिसके फलस्वरूप भारत आधुनिक युग की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ रहा।

भारत के इतिहास ने भी भारत को एक बहुलवादी समाज दिया है। हिंदू, बौद्ध, जैन तथा सिक्ख आस्थाओं का जन्म इस देश में हुआ है। ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम का आगमन बाद में हुआ है। ये सभी धर्म यहाँ सहनशीलता एवं श्रद्धा के वातावरण में फले-फूले। भारत के अनेक धार्मिक और प्रजातीय समुदायों का भारत के बाहर के सहधर्मी और सांस्कृतिक समुदायों के प्रति संवेदनशीलता है। इसलिए कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेते समय सरकार इन बातों को अनदेखी नहीं कर सकती। उदाहरणस्वरूप श्रीलंका में रह रहे तमिल लोगों की बड़ी जनसंख्या के प्रति भारत में रह रहे तमिलों के लगाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विदेश नीति के ऐसे मामलों में भारत को सावधानी रखनी पड़ेगी।

भौगोलिक स्थिति

दक्षिण एशिया के मध्य में भारत की अवस्थिति इसे अंतर्राष्ट्रीय समुदाय एवं भारत दोनों के दृष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण भू-राजनीतिक स्थिति प्रदान करती है। भारत का आकार और इसकी जनसंख्या का भी विशेष महत्त्व है। दक्षेस (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ) के सभी सदस्य देशों जैसे — बांग्लादेश, मालदीव, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका की सीमाएँ भारत के साथ जुड़ी हुई हैं जो इन देशों में सबसे बड़ा और विशाल है। इसलिए भारत से उन्हें आशाएँ हैं और साथ ही उसके वर्चस्व की आशंका भी। उसी तरह भारत और चीन न केवल विश्व के सबसे बड़ी जनसंख्या वाले दो देश हैं, बल्कि उनमें मध्य स्तर की शक्तियों के रूप में उभरने की क्षमता भी है। दोनों सीमांत देश अपने सामान्य हितों को देखते हुए आपस में सहयोग करते हैं या संघर्ष यह दोनों देशों के नेतृत्व के निर्णयों के साथ ही विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ऐसी भौगोलिक स्थिति में होने के कारण भारत एवं पड़ोसी देशों के साथ उसके संबंधों में महान शक्तियों की भी रुचि है।

राष्ट्रीय दर्शन एवं पहचान

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उभरे कुछ मूल्य और प्रतिबद्धताएँ भारत के राष्ट्रीय दर्शन के अंग बन गए हैं। भारत का स्वतंत्रता संग्राम इस अर्थ में अनूठा था कि एक ओर यह स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था और दूसरी ओर यह अंतर्राष्ट्रीय धाराओं और प्रतिधाराओं के प्रति भी अनुक्रियाशील था। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विश्व समस्याओं पर अपना मत व्यक्त करते हुए अनेक प्रकार के प्रस्ताव पारित किए। विश्व शांति, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, प्रजातिवाद का विरोध, लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्धता, स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के प्रति भारत की प्रतिबद्धता कुछ ऐसे मूल्य हैं जो स्वतंत्रता संग्राम के समय में सामने आए। इन मूल्यों को बढ़ावा देना और इनकी सुरक्षा हमारी विदेश नीति का अभिन्न अंग होना ही चाहिए। स्वतंत्रता संग्राम के समय भारत में अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से संबंधित राष्ट्रीय पहचान का बोध विकसित हुआ। भारत की प्रादेशिक सीमाओं की सुरक्षा अर्थात् भारत की एकता और अखंडता हमारे लिए सर्वोपरि महत्त्व का विषय है।

आर्थिक विकास की माँगे

भारत के आर्थिक विकास की ऐसी तत्काल आवश्यकता रही है कि नीति निर्धारकों को विकास संबंधी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए विदेश नीति को एक साधन के रूप में प्रयोग करना पड़ा। कम विकसित देशों के आर्थिक विकास पर विदेश नीति का प्रभाव पड़ता है। विदेश नीति से आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करने में मदद मिलती है। यह विदेश की निजी पूँजी को देश में आने को प्रोत्साहन दे सकती है या निरुत्साहित कर सकती है। विदेश नीति अपनी विदेश व्यापार नीतियों एवं व्यापार समझौतों द्वारा निर्यात को बढ़ावा दे सकती है या गतिरोध उत्पन्न कर सकती है। इसका प्रभाव आर्थिक प्रगति के साथ-साथ भुगतान के संतुलन पर भी पड़ता है। यह दूसरे विकासशील देशों के उद्यमियों के साथ संयुक्त औद्योगिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देकर औद्योगिक एकता स्थापित करने की दृष्टि से उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दे सकती है।

इस संदर्भ में विश्व शांति के लिए कार्य करना और संघर्षों से बचना भारत के आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक था। युद्ध न केवल विकास की ओर से कोष को हटाकर प्रतिरक्षा की ओर ले जाता है बल्कि पड़ोसी देशों के साथ विदेश व्यापार एवं विदेशी सहायता दोनों को प्रभावित करता है। विकास के लिए धन आवश्यक है। फिर, इस द्विध्रुवीय (दो गुटों में विभक्त विश्व में अपनी प्रभुसत्ता कायम रखते हुए अन्य देशों से सहायता पाने के लिए भारत को एक ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करना था जो शक्ति संतुलन बनाए रखने में सक्षम हो। आत्म निर्भरता होने के लिए विदेशी सहायता पर आश्रित होने के बजाय अनुकूल विदेश व्यापार का मार्ग विकसित करना अत्यंत आवश्यक था । इसलिए विदेश नीति को क्षेत्रीय सहयोग हासिल करने के लिए इस पक्ष पर ज़ोर देना भी आवश्यक था। इस तरह, आर्थिक विकास की ये अपेक्षाएँ भारत की गुटनिरपेक्ष विदेश नीति की उत्पत्ति के साथ-साथ सभी देशों के साथ दोस्ती में एक महत्त्वपूर्ण कारण रही हैं।

राजनीतिक व्यवस्था

भारत के संसदीय लोकतंत्र में नीति निर्धारण और सरकारी गतिविधियाँ उत्तरदायित्वपूर्ण होती हैं। यद्यपि राष्ट्र हित और रणनीति संबंधी विदेश नीति के मामलों में सरकार को संसद से थोड़ी सी स्वायत्तता की अपेक्षा रहती है, तथापि इसे पूर्ण रूप से गोपनीय नहीं रखा जा सकता क्योंकि विदेश नीति लोक नीति का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसका अर्थ यह है कि विदेश

नीति के निरूपण में जनता का हित निहित है। इस संदर्भ में जन प्रतिनिधि के रूप में संसद समय-समय पर विदेश नीति की उपयोगी संरक्षक रही है। प्रेस और मतदान द्वारा अभिव्यक्त जनमत को विदेश नीति निर्धारित तत्त्वों के द्वारा ध्यान में रखा जाना था। राजनीतिक दल, निःसंदेह विदेश नीति में गहरी अभिरुचि रखते रहे हैं और कोई भी सरकार, एक बड़े बहुमत के समर्पित रहते हुए भी, उनके दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं कर सकती।

बाह्य वातावरण

आंतरिक निर्धारक तत्त्व किसी देश की बाह्य विदेश नीति को मूल्य और महत्त्व प्रदान करते हैं। बाह्य वातावरण, कार्य क्षेत्र एवं व्यापक भूमंडलीय विषयों के प्रति चिंता एवं रूझान प्रदान करता है। भारत की आज़ादी का समय द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर का समय था जो 1945 में समाप्त हुआ। विश्व दो गुटों में विभक्त था—एक संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में उदारवादी लोकतांत्रिक पूँजीवादी विश्व, और दूसरा सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी विश्व। विश्व केवल दो विपक्षी गुटों में ही नहीं बँटा था बल्कि अपना-अपना वर्चस्व सिद्ध करने के लिए दोनों के बीच शीत युद्ध भी चल रहा था। शस्त्रीकरण की होड़, विशेषतः परमाणु शस्त्रों की बहुतायत, इसी से संबंधित है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समय में उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया एवं तत्संबंधित वैचारिक सिद्धांतों का आविर्भाव हो चुका था। इस प्रक्रिया में एशिया, अफ्रिका और लैटिन अमेरिका के नव स्वतंत्र देश अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नए प्रवेशक के रूप में उभरे थे। वे देश, जिन्हें अभी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हुई थी, अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत थे तथा भारत जैसे पूर्व उपनिवेशों से समर्थन माँग रहे थे। वे नए स्थापित संयुक्त राष्ट्र एवं अमेरिका जैसे उन विकसित देशों से भी, जो युद्ध में तथाकथित लोकतंत्र के सिद्धांतों और आत्म निर्णय के लिए लड़े थे, समर्थन माँग रहे थे।

भारत की आज़ादी के पहले से ही राष्ट्रीय आंदोलन ने विश्व के कई भागों में व्यापक स्तर पर हो रही घटनाओं की ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया था, जैसे—एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद का पुनरूत्थान, चीन और जापान में राष्ट्रीयता का आविर्भाव, यूरोप में फासीवाद का उदय, विश्व के कार्यकलापों में अमेरिका की भूमिका, साम्यवादी राज्य की स्थापना करने वाली रूस की अक्तूबर क्रांति और उपनिवेश उन्मूलन की प्रक्रिया का प्रारंभ। 1920 के दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने 1926, 1927 और 1928 के अधिवेशन में साम्राज्यवाद का विरोध करने, मुक्ति संग्राम का समर्थन करने और एशिया एवं अफ्रीका के लोगों के साथ भाईचारे का बंधन मज़बूत करने से संबंधित प्रस्तावों को अपनाया था। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए भारत से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने आकार और इतिहास की पृष्ठभूमि में औपनिवेशिक देशों एवं स्वतंत्र नवोदित देशों से संबंधित समस्याओं के लिए नेतृत्व प्रदान करेगा। भारत की विदेश नीति का निर्धारण उन्हीं के आधार पर होना था।

भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्त्वों के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत की विदेश नीति में उन मूल्यों की अभिव्यक्ति होनी थी जो हमें शताब्दियों से और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विरासत में मिले थे। साथ ही यह हमारी वर्तमान चिंता और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखती है। औपनिवेशिक शक्तियों और विकसित देशों की तरह भारत की विदेश नीति की अवधारणा समुद्रपार संपत्ति की सुरक्षा, निवेश, प्रभाव क्षेत्र का निर्माण और दूसरों पर आधिपत्य जमाने से संलग्न नहीं थी। भारत की पहली चिंता स्वतंत्रता की रक्षा थी। भारत की अंतर्राष्ट्रीय

शांति बनाए रखने एवं सुरक्षित रखने में बराबर रुचि थी जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास के लिए अनिवार्य स्थिति के रूप में आज भी विद्यमान हैं। साथ ही पिछले 55 वर्षों के अंतराल में कई आमूल परिवर्तन आए हैं और कई नए विकास हुए हैं। इस तरह भारत ने स्वतंत्रता के बाद अपनी विदेश नीति की कुछ आधारभूत विशेषताएँ निश्चित की थीं जो अब भी विद्यमान हैं। इसके साथ ही समय-समय पर इसमें परिवर्तन होता रहा है। 1990 के दशक के प्रारंभ में सोवियत संघ के विघटन एवं पूर्वी यूरोप में साम्यवाद की समाप्ति के रूप में अंतर्राष्ट्रीय विषय में एक आमूल परिवर्तन आया। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया इसी के साथ जुड़ी हुई है। इन घटनाओं ने लगभग सभी देशों को, विशेषकर विकसित देशों को, अपनी विदेश नीतियों और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर नए सिरे से सोचने पर विवश किया है। हम भारत की विदेश नीति की मूलभूत विशेषताओं तथा इसकी निरंतरता एवं इसमें बदलाव दोनों पर दृष्टिपात कर सकते हैं।

भारत की विदेश नीति : मूलभूत सिद्धांत

उपरोक्त विवेचना के अनुसार, भारत की स्वतंत्रता के पहले ही राष्ट्रीय आंदोलन में जुटे नेतागणों ने भारत की विदेश नीति में रुचि लेना और उसका भविष्य निरूपण प्रस्तुत करना प्रारंभ कर दिया था। विशेषकर जवाहरलाल नेहरू की सक्रिय रुचि दिखाई देती है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1927 में जवाहरलाल नेहरू को अपना मुख्य प्रवक्ता बनाकर विदेश नीति विभाग की स्थापना कर ली थी। 1946 में प्रधान मंत्री का पदभार ग्रहण करने और अंतरिम सरकार में विदेश नीति विभाग का प्रभारी होने के बाद उन्होंने अपनी विदेश नीति के बारे में स्पष्ट घोषणा की। उन्होंने कहा "हम लोग दूसरे देश के अनुगामी के रूप में नहीं बल्कि एक स्वतंत्र देश के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पूर्ण रूप से भागीदारी करेंगे। हम आशा करते हैं कि दूसरे देशों के साथ हम सीधा संबंध विकसित करके विश्व शांति और स्वतंत्रता बढ़ावा देने हेतु इन देशों से सहयोग करेंगे। हम प्रस्तावित करते हैं कि जहाँ तक संभव हो हमें विरोधी गुटों में शामिल न होते हुए शक्ति की राजनीति से दूर रहना है जो भूतकाल में दो विश्वयुद्धों का कारण बना और जो पुन: इससे भी बड़े पैमाने पर विध्वंसकारी हो सकता है। हमारा विश्वास है कि शांति एवं स्वतंत्रता अविभाज्य हैं यदि कहीं भी स्वतंत्रता की अस्वीकृति होती है तो अन्यत्र भी स्वतंत्रता ख़तरे में पड़ जाएगी और उसका परिणाम होगा संघर्ष तथा युद्ध....।"

उपर्युक्त वक्तव्य के संदर्भ में भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने, क्षेत्रीय अखंडता बनाए रखने एवं आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए भारत की विदेश नीति के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

- नीति-निर्माण में स्वतंत्रता बनाए रखना;
- अंतर्राष्ट्रीय शांति को बढ़ावा देना;
- संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग करना;
- निरस्त्रीकरण;
- उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा प्रजातिवाद का विरोध करना;
- विकासशील देशों के मध्य सहयोग स्थापित करना।

नीति-निर्माण में स्वतंत्रता को बनाए रखना

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इतिहास, भूगोल, पुराने अनुभव तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का भारत की विदेश नीति के निर्माण पर रचनात्मक प्रभाव था। इसके अतिरिक्त इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि भारत के आकार, उसकी क्षमता एवं उसके नेताओं के विचारों ने विश्व मामलों में गहरी अभिरुचि उत्पन्न की। भारतीय नेतृत्व अपनी आवश्यकताओं एवं शक्तियों के प्रति काफी जागरूक था। इस जागरूकता को सशक्त राष्ट्रीय भावना से बल मिला, जिसके फलस्वरूप

भारत अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपना स्वतंत्र मार्ग निर्धारित कर पाया। इसलिए, भारत की विदेश नीति निर्माण का मूलभूत सिद्धांत बाह्य दबाव से तथा शक्ति-गुटों से मुक्त रहना था। इसके लिए गुटनिरपेक्षता ने भारत की विदेश नीति का तर्कसंगत स्वरूप धारण कर लिया। गुटनिरपेक्षता की मूल विशेषताएँ एवं लक्षणों की चर्चा हम विस्तार से आगे करेंगे। यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस स्वतंत्र विदेश नीति ने लोगों की चेतन और अवचेतन आकांक्षाओ का ध्यान रखा, उन्हें गर्व और स्वत्व का बोध कराया, और देश की एकता को सुदृढ़ करने में सहायता दी।

अंतर्राष्ट्रीय शांति

भारत की विदेश नीति के अविभावी उद्देश्यों में से एक अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना एवं बढ़ावा देना है। प्रारंभ से ही भारत न केवल आदर्श के रूप में अपितु अपनी सुरक्षा के लिए भी एक अनिवार्य शर्त समझकर शांति की कामना करता रहा है। हालाँकि, भारत जिस शांति को बढ़ावा देने का प्रयास करता रहा है, उसका अर्थ 'शांतिवादी तटस्थता' नहीं है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया था, — 'शांति सिर्फ युद्ध का परित्याग ही नहीं है, बल्कि यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों एवं समस्याओं के प्रति एक सक्रिय सकारात्मक दृष्टिकोण है जिसके फलस्वरूप आमने-सामने बैठकर बातचीत के माध्यम से समस्याओं का हल ढूंढकर, विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक संपर्क बनाना, व्यापार एवं कारोबार बढ़ाकर, विचारों, अनुभव एवं सूचना का आदान-प्रदान करके तनाव कम करना है।'' तद्नुकूल भारत सभी समस्याओं के शांतिपूर्ण ढंग से समाधान पर बल देता रहा है। इसने सैद्धांतिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में विभेद किए बिना सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। इसने ''शांति'', ''शांतिपूर्ण विकास'', ''शांतिपूर्ण सहयोग'', ''शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व'' और ''शांति के लिए संघर्ष'' का संदेश दिया है।

संयुक्त राष्ट्र को समर्थन

जैसा कि ऊपर बताया गया है भारत का अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए लगाव नकारात्मक या निष्क्रिय नहीं था बल्कि सकारात्मक और रचनात्मक है। इसलिए शांति का अर्थ केवल युद्ध को टालना ही नहीं है बल्कि तनाव में कमी लाना भी है और यदि संभव हो तो शीत युद्ध की समाप्ति भी है। इसके लिए भारत ने संयुक्त राष्ट्र को प्रभावशाली और वांछनीय अभिकरण माना है। यही कारण है कि भारत ने संयुक्त राष्ट्र को सक्रिय समर्थन देने एवं निष्ठा व्यक्त करने का निर्णय लिया। भारत संयुक्त राष्ट्र और इसके विभिन्न कार्यकलापों में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है इसकी बाद के अध्याय में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

भारत की विदेश नीति में शांति के लिए दूसरा चिंतनशील विषय शस्त्र नियंत्रण, निरस्त्रीकरण और उससे संबंधित समस्याएँ रही हैं। शस्त्रों की होड़ के संदर्भ में जो द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर शीत युद्ध के दौरान तीव्र गति से प्रारंभ हुआ था, उसके बारे में यह महत्त्वपूर्ण था कि शस्त्रों की होड़ से संसाधनों की बर्बादी, मानवतावादी लक्ष्यों से हटकर अर्थव्यवस्था का विचलन, राष्ट्रीय विकास में बाधा और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को ख़तरा उत्पन्न हो जाता है। यह देशों के बीच आदान-प्रदान की मात्रा और दिशा को प्रभावित करते हुए उनके बीच के संबंधों को बाधित करता है एवं विभिन्न देशों के बीच सहयोग की भूमिका में ह्रास करता है और न्यायोचित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण की दिशा में प्रयासों को कमज़ोर बनाता है। इसीलिए प्रारंभ में ही भारत संयुक्त राष्ट्र एवं अन्य मंचों से परमाणु शस्त्र निषेध और सभी प्रकार के शस्त्रों के प्रसार पर नियंत्रण करने

का पक्षधर रहा है। सामान्यत: भारतीय विदेश नीति का एक मुख्य उद्देश्य व्यापक निरस्त्रीकरण रहा है। बाद के अध्याय में हम विस्तार से भारत की स्थिति और शस्त्र-नियंत्रण एवं निरस्त्रीकरण में भारत की भूमिका की विवेचना करेंगे।

उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और प्रजातिभेद का विरोध

जैसा कि कहा जा चुका है कि विदेश नीति और विश्व के क्रियाकलापों के विषय में भारत का दृष्टिकोण औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध मुक्ति संघर्ष के ही एक भाग के रूप में उभर कर आया। इसमें नेतृत्व ने अपने आंदोलन को औपनिवेशिक आधिपत्य और दमन तथा भेदभाव युक्त संपूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष के एक हिस्से के रूप में देखा। पराधीन जनता की मुक्ति तथा प्रजातीय भेदभाव का उन्मूलन भारत की विदेश नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गया। वास्तव में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करना भारतीय विदेश नीति की निष्ठा का विषय रहा है। इसी प्रकार, इसका उद्देश्य प्रत्येक प्रकार के प्रजाति विभेद का विरोध करना है ; भारत का दृढ़ विश्वास है कि विश्व में संघर्ष के कारणों में से एक प्रमुख स्रोत प्रजातिवाद है और अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए ख़तरा है। इसलिए भारत ने विभिन्न मंचों से सभी के लिए स्वतंत्रता के आदर्श, प्रजातिवाद और जातीय भेदभाव की समाप्ति और हर प्रकार के साम्राज्यवाद के विरोध को ज़ोरदार ढंग से प्रतिपादित किया है। इन सभी में भारत के योगदान की चर्चा हम विस्तार से, ''भारत और संयुक्त राष्ट्र'' नामक अध्याय में करेंगे। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि लगातार भारत द्वारा इस विषय को जिस निरंतरता एवं सुसंगति से समर्थन दिया गया है, इससे भारत को अभूतपूर्व सम्मान और प्रतिष्ठा मिली है विशेष कर विकासशील देशों में।

विकासशील देशों के बीच सहयोग

भारत तथा अन्य नव स्वतंत्र देशों का भी मुख्य कार्य राष्ट्र निर्माण एवं विकास था। उस समय की परिस्थिति में एवं उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित असहनीय असमानता और शोषण के अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में किसी भी देश के लिए यह कार्य अकेले करना बहुत कठिन था। इसके अतिरिक्त विकसित पश्चिमी विश्व के देश अपने प्रभुत्व को नहीं गँवाना चाहते थे। इसलिए भारत को उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष और आर्थिक विकास की दृष्टि से एशिया-अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसे विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग एवं एकता की अनिवार्यता में दृढ़ विश्वास था। भारत ने यह धारणा स्वतंत्रता के पूर्व ही बना ली थी। इसलिए कोई अचरज की बात नहीं कि भारत मुक्त राष्ट्रों के सम्मेलन का प्रथम मंच का स्थान बना। मार्च 1947 में नई दिल्ली में एशियाई राष्ट्रों के मध्य क्षेत्रीय सहयोग के लिए 28 देशों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन आयोजित हुआ। स्वतंत्र देशों का एक अन्य सम्मेलन भी 1949 में नई दिल्ली में हुआ। नव स्वतंत्र देशों के मंच के रूप में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में भारत के नेतृत्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस आंदोलन का उद्देश्य शक्ति गुटों से स्वतंत्र रहकर अपनी विदेश नीति का स्वतंत्र रूप से संचालन करते हुए आपस में सहयोग बढ़ाना था। भारत विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए निरंतर काम करता रहा है। हम इसके बारे में विस्तार से ''भारत और संयुक्त राष्ट्र'' नामक अध्याय में अध्ययन करेंगे।

भारतीय विदेश नीति के तीन सिद्धांतो में यह सभी उद्देश्य समाहित है: गुटनिरपेक्षता, शांति और सभी देशों के साथ मित्रता। भारत को पूर्वी और पश्चिमी दोनों शक्तियों से मित्रता की आवश्यकता थी। इसे किसी भी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप पसंद नहीं था। राजनीतिक स्वायत्तता और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

के लिए अपने क्षेत्रों से बड़ी शक्तियों को बाहर रखना एक महत्त्वपूर्ण पूर्व-शर्त थी। इस मार्ग का अनुसरण करते हुए नेहरू की दिलचस्पी भारत की आर्थिक प्रगति, विश्व के धनी देशों से समर्थन और सहायता प्राप्त करने में थी। साथ ही वे महान शक्तियों के साथ किसी भी संघर्ष से बचना चाहते थे। नवोदित देशों के साथ दोस्ती बढ़ाने पर वो ज़ोर देते थे और विश्व की विभिन्न परिषदों में उनकी ओर से आधिकारिक रूप से उनकी भावनाएँ व्यक्त करते थे।

गुटनिरपेक्षता

शांति, उपनिवेशवाद से मुक्ति, प्रजातीय समानता एवं सैन्य गुटों से निरपेक्षता स्वतंत्र भारत की विदेश नीति के मुख्य पहलू थे। गुटनिरपेक्षता के निर्माता नेहरू ने स्वयं कहा था, ''मैंने गुटनिरपेक्षता को उत्पन्न नहीं किया है, यह भारतीय परिस्थितियों में, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीयों के स्वभाव के अनुकूल में तथा वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में अंतर्निहित नीति है।''

जब हम कहते हैं कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति को अनुसरण करता है तो इसका अर्थ है कि (i) भारत का किसी भी गुट के देशों के साथ सैन्य संधि नहीं है; (ii) विदेश नीति के प्रति भारत का एक स्वतंत्र विचार है; (iii) और भारत सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध रखने का प्रयास करता है।

गुटनिरपेक्षता एवं तटस्थता

प्रारंभ में कुछ पर्यवेक्षकों ने गुटनिरपेक्षता को तटस्थता का रूप समझा। जवाहरलाल नेहरू ने इस दुविधा को दूर करते हुए कहा कि, "तटस्थता का नीति के रूप में युद्ध के समय के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है।

जब हम कहते हैं कि गुटनिरपेक्षता का अर्थ शक्ति गुटों से स्वतंत्र रहना है तो इससे तटस्थ रहने की भावना निकलती है। वास्तव में तटस्थता एवं गुटनिरपेक्षता दो अलग-अलग धारणाएँ हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून में तटस्थता एक ऐसी स्थिति को इंगित करता है जहाँ कोई भी देश युद्ध में किसी का पक्ष नहीं लेता। तटस्थ देश सामान्यत: अन्य देशों के बीच मत वैभिन्य होने एवं विवाद होने की स्थिति में भी किसी का पक्ष नहीं लेते। इसलिए तटस्थता मूलरूप से युद्ध या युद्ध जैसी स्थिति से जुड़ा हुआ है। दूसरी ओर गुटनिरपेक्षता युद्ध और शांति दोनों ही अवस्थाओं से जुड़ा हुआ है और वास्तव में यह शांति के समय ज्यादा प्रासंगिक है।

गुटनिरपेक्षता सैनिक संधियों एवं शक्ति गुटों के बीच तनावों एवं संभावित संघर्षों से अपने को दूर रखने की स्थिति है। तटस्थता का आविर्भाव एक धारणा, एक पारिभाषिक शब्द और एक स्थिति के रूप में 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में हुआ है। एशिया और अफ्रीका के नव स्वतंत्र देशों ने भारत, मिस्र, सीरिया, इंडोनेशिया, घाना और यूगोस्लाविया के सम्मिलित नेतृत्व में किसी भी शक्ति-गुट में शामिल होने से इंकार कर दिया। वे द्विध्रुवीयकरण (दो गुटों में विभक्त होने) की स्थिति को अपने आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए असंगत मानते थे। उन्होनें बड़ी शक्तियों के अनावश्यक संघर्षों से जुड़ना स्वीकार नहीं किया। इसीलिए वे, किसी एक या दूसरी महान शक्ति से संलग्न हुए बिना संयुक्त राष्ट्र में विश्व की अनेक समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से विचार व्यक्त करने लगे।

इसलिए जहाँ तटस्थता इस अर्थ में एक ऐसी नकारात्मक धारणा है जो यह युद्ध में किसी का भी पक्ष नहीं लेता है, वहीं गुटनिरपेक्षता एक सकारात्मक धारणा है जो एक ओर गुटबंदी और बड़ी शक्तियों के अधीन रहने की स्थिति का विरोध करता है तथा दूसरी ओर यह स्वतंत्र विदेश नीति एवं विश्व शांति देशों के बीच न्याय और समानता पर आधारित सहयोग तथा व्यापक जन कल्याण के लिए आर्थिक

विकास के प्रति सकारात्मक प्रतिबद्धता जैसे मुख्य विषयों पर ज़ोर देता है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत की विदेश नीति के तीन आवश्यक विशेषताएँ या तत्त्व हैं। जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं यह कल्पना की थी कि भारत की विदेश नीति निर्धारण में तत्त्वों का समावेश है : यथा, स्वतंत्रता की सुरक्षा करना, भारत के लिए कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान सुनिश्चित करना, तथा राष्ट्रों के समुदाय में भारत के महत्त्व को उजागर करना तथा महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर उसके विचारों की ओर ध्यान आकृष्ट करवाना । यह भारत की विदेश नीति का मौलिक और प्रधान तत्त्व था।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व था कि भारत को अपने समान दूसरे उभरते विकासशील देशों के साथ पारस्परिक लाभ के लिए सहयोग करना। यह विश्वास किया जाता था कि इन नवोदित राष्ट्रों की स्वतंत्रता को सुदृढ़ बनाकर भारत अपनी स्वयं की स्वतंत्रता को सुदृढ़ बनाएगा। भारत की विदेश नीति का तीसरा तत्त्व था विश्व स्तर पर सहयोग। इसका अर्थ है कि भारत एक गुटनिरपेक्ष देश के रूप में किसी भी बड़ी शक्तियों की राजनीति से जुड़े बिना और अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता का उत्सर्ग किए बिना सभी देशों के साथ अच्छे व्यवहारिक संबंध स्थापित करना चाहता था।

निरंतरता एवं नीति में बदलाव

भारत ने केवल अपने लिए ही गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण नहीं किया बल्कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन का संस्थापक सदस्य भी बना। इसकी विदेश नीति के तीनों मूल तत्त्व अखंड बने रहे। लेकिन समय-समय पर गुटनिरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण सह-आस्तित्व पर बल दिए जाने के कारण विदेश नीति में शांतिवाद की भावना जाग्रत हुई। इसके परिणामस्वरूप प्रतिरक्षा एवं सैन्य क्षमताओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यह दुर्बलता 1962 में चीन के साथ अल्पकालीन सीमा युद्ध में दृष्टिगोचर हुई। साथ ही परमाणु शस्त्रों के प्रसार के बावजूद निरस्त्रीकरण का प्रयास जारी था। 1966 में चीन ने भारत की सीमा पर परमाणु शस्त्र परीक्षण किया। इन सभी घटनाओं ने भारत का आत्मविश्वास हिला दिया। चीन के आक्रमण के बाद प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं कहा, "आखिरकार किसी देश की विदेश नीति का काम उसकी अखंडता की रक्षा करना है। यह किसी भी देश की विदेश नीति की सर्वप्रथम परीक्षा है और अगर इस परीक्षा में वह उसको प्राप्त नहीं कर सकता तो यह उसकी असफलता है।"

चीन के आक्रमण को ध्यान में रखते हुए भारत को अपनी प्रतिरक्षा संबंधी बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पश्चिमी देशों से सहायता लेनी पड़ी। इसने अमेरिका एवं ब्रिटेन के साथ शस्त्रों के खरीद एवं उत्पादन के लिए द्विपक्षीय समझौते किए। यद्यपि इसने गुटनिरपेक्षता को नहीं त्यागा परंतु इसके सैद्धांतिक प्रतिबद्धता के बारे में सवाल उठने लगे। 1964 में नेहरूजी की मृत्यु, 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध, चीन एवं पाकिस्तान के बीच बढ़ती दोस्ती, चीन में परमाणु विकास, आदि के पश्चात् विदेश नीति की आदर्शवादिता शिथिल पड़ने लगी।

1960 और 1970 के दशक के दौरान अमेरिका-चीन पाकिस्तान के बीच बढ़ती घनिष्ठता, शस्त्रों की बढ़ती होड़, पूर्वी पाकिस्तान (बांग्लादेश) की घटनाएँ, मध्यपूर्व में महान शक्तियों द्वारा शस्त्रों का जमावड़ा, विश्व व्यापी सैन्य संधि और हिंद महासागर में अमेरिका एवं सोवियत संघ के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप भारत की युद्धनीतिक स्थिति और भी दबाव में आ गई। पाकिस्तान का चीन के साथ समझौता एवं इसे अपनी सीमा में सड़क बनाने की अनुमति देना, इन बाह्य वातावरणों एवं आंतरिक घटनाओं ने भारत को अपनी युद्धनीतिक आवश्यकताओं

के लिए सोवियत संघ की ओर झुकने को बाध्य किया। अगस्त 1971 में भारत ने सोवियत संघ के साथ 20 वर्ष के लिए मित्रता एवं सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर किए। यद्यपि यह एक पारस्परिक सुरक्षा संधि नहीं थी बल्कि परामर्श के लिए समझौता था, किंतु आंतरिक एवं बाह्य जगत में गुटनिरपेक्षता की सच्चाई के बारे में काफी शंकाएँ उभर कर आईं। इसका कारण यह था कि तत्कालीन परिस्थितियों में यह आरोपित किया गया कि इसका उद्देश्य पाकिस्तान और चीन के मध्य निरोधक के रूप में कार्य करना था।

1977 में केंद्र में नई जनता दल की सरकार बनने के बाद भी हमारी विदेश नीति के मूल सिद्धांत बिना किसी मौलिक परिवर्तन के जारी रहे। जनता सरकार ने अपने को वास्तविक गुटनिरपेक्षता, अच्छे पड़ोसी संबंध, सभी के साथ मित्रता, अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण निपटारा और निरस्त्रीकरण के पक्ष में घोषित किया।

1980 के दशक के दौरान भारत ने लगभग सभी देशों के साथ, प्रभुसत्तासंपन्न समानता, पारस्परिक सम्मान एवं आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप के संबंध की नीति को जारी रखा। हालाँकि अब भारत की गरिमा, आत्म सम्मान एवं राष्ट्रीय हित को बनाए रखने पर अधिक बल दिया जाने लगा। यह कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता को यथार्थता के बीच संतुलन के रूप में देखा गया। भारत अन्य दूसरे देशों के समान केवल अफ्रीकी-एशियाई भाईचारे का राग ही नहीं अलाप रहा था बल्कि उसने अन्य देशों की तरह द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय समझौते भी किए। क्षेत्रीय सहयोग की ओर भी प्रयास था जिसके फलस्वरूप दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ की स्थापना हुई। सामान्यत: 1980 के दशक में भारत की ओर से गुटनिरपेक्षता और मित्रता की मौलिक नीति को मानते रहने के पर्याप्त संकेत थे। साथ ही देश के विकास और सुरक्षा संबंधी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप व्यावहारिक निर्णय लेना भी भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धांत थे।

भूमंडलीकरण का युग

1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से विश्व में तेज़ी से बदलाव आने लगा। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में यह अत्यधिक विषम परिस्थितियों का युग था। यह वह समय था जब बड़ी शक्तियों के बीच वैमनस्य लगभग समाप्त हो गया था। सोवियत संघ के विघटन एवं समाप्ति तथा पूर्वी यूरोपीय देशों के बिखराव से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विषयों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक बदलाव आ गए थे। संयुक्त जर्मनी की स्थापना, यूरोपीय संघ का आविर्भाव दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद की समाप्ति और सारी दुनियाँ में शांति और पर्यावरण संबंधी आंदोलनों का प्रारम्भ होने से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों एवं राजनीति में नए नेतृत्व एवं उनकी भूमिकाएँ उभरीं। यद्यपि शीत युद्ध की लगभग समाप्ति हो चुकी है, किंतु संघर्ष एवं तनाव के नए क्षेत्र उभरकर सामने आए हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कारण राज्य के मध्य संबंधों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका पर नए आयाम दृष्टिगोचर होने लगे हैं। श्रम का विभाजन एवं बढ़ते विश्व व्यापार के लिए राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय बाजारों मे अभिवृद्धि तथा निवेशों और प्रौद्योगिकी का आदान-प्रदान आदि, विदेश नीति के संदर्भ मे नवीन दिशाएँ प्रस्तुत कर रही हैं। इस स्थिति में यह स्पष्ट था कि कोई अतीत के दलदल में फंसा नहीं रह सकता था।

विभिन्न पर्यवेक्षकों द्वारा उभरती हुई नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा रहा है। एक दृष्टिकोण यह है कि विश्व एक-ध्रुवीय हो गया है, जिसमें अमेरिका एकमात्र सर्वशक्तिमान देश है। किसी प्रकार की चुनौती का सामना किए बिना वह कोई भी काम स्वेच्छा से कर सकता है। दूसरा

दृष्टिकोण यह है कि द्विध्रुवीकृत विश्व की समाप्ति के बाद एक बहुकेंद्रीय विश्व का उद्भव हुआ है, जिसमें अमेरिका, यूरोपीय संघ, जापान, चीन और रूस की सक्रीय भूमिका है। अनुमान लगाया जा रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निर्णय प्रक्रिया में भारत की कोई मुख्य भूमिका होगी अथवा नहीं।

इस तरह विश्व का एक पृथक प्रकार का विभाजन स्पष्ट रूप से सामने आया है। पहले इसका विभाजन पूँजीवादी पश्चिम एवं साम्यवादी/समाजवादी पूर्व के बीच मुख्यतया वैचारिक आधार पर था, लेकिन अब विभाजन समृद्ध उत्तर और निर्धन दक्षिण के बीच है। तत्कालीन सोवियत संघ के विघटन के कारण एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जहाँ सहायता एवं व्यापार का अधिकांश हिस्सा पूर्वी यूरोप में केंद्रित हो रहा है। अत: भारत जैसे देश को सहायता एवं विकास के लिए अन्य विकल्प को ढूंढना होगा। इसलिए विदेश नीति को व्यापार एवं वाणिज्य, बहुपक्षीय अभिकरणों के साथ बातचीत, विश्व व्यापार संगठन जैसे नए संगठनों में भागीदारी, इत्यादि को ध्यान में रखना है। इस बदलते युग में विचारधारा की महत्ता कम होती जा रही है।

पिछले दो दशकों से विश्व के समक्ष दूसरी नई समस्या है — उपराष्ट्रीयता का पुनरुत्थान, धार्मिक एवं प्रजातीय कट्टरवादिता और आतंकवाद। भारत इन चुनौतियों का सामना राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तर पर कर रहा है। ये घटनाएँ विश्वव्यापी हो गई हैं। 11 सितंबर 2001 को अमेरिका में आतंकवादी हमलों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नए आयाम उत्पन्न हो गए हैं। इन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से लड़ने के लिए अथवा अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नवीन समीकरण एवं गठबंधन उभर रहे हैं। भारत की विदेश नीति को प्रभावित करने के लिए ये सभी बहुत महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

बदली हुई परिस्थिति में भारत ने अधिक व्यावहारिक एवं व्यापक क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंध बढ़ाने की मान्यता दी है। भारत की मुख्य रणनीति अपने पड़ोसी देशों विशेषकर चीन और पाकिस्तान पर केंद्रित रही है। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् आर्थिक सुधारों का प्रारंभ करने तथा विदेशी पूँजी निवेश की खोज में भारत अमेरिका के साथ संबंध सुधारने की प्रबल इच्छा व्यक्त कर रहा है। साथ ही अब भारत अपने आकार और क्षमता के आधार पर अपने देश को विश्व में समुचित स्थान दिलाने का भी इच्छुक दिखलाई पड़ता है। भारत ने न केवल परमाणु शस्त्रों का परीक्षण किया है अपितु व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि पर भी कड़ा रूख अपनाया है। भारत ने विश्वव्यापक परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए उसे एक समयबद्ध रूप रेखा से संबद्ध करने पर भी बल दिया है। भारत ने व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि तथा परमाणु अप्रसार संधि पर उसके वर्तमान रूप मे हस्ताक्षर करने में यह तर्क देते हुए इंकार कर दिया कि ये संधियाँ उसके विरुद्ध भेदभाव पूर्ण हैं और मुख्य रूप से स्वीकार्य पश्चिमी परमाणु देशों के हितों का संरक्षण करती हैं। यह उल्लेखनीय है कि भूमंडलीकरण के इस युग में नई विश्व व्यवस्था के अंतर्गत भारत की विदेश नीति की मुख्य आकांक्षा है कि वह अपने आस पास के विश्व में हुए परिवर्तनों से बिना अभिभूत हुए और उन्हें ध्यान में रखते हुए कार्य करे।

साथ ही भारतीय नीति निर्धारक अनेक चुनौतियों का सामना कर रहे हैं जिनका उन्हें ध्यान रखना है। केवल इतना ही नहीं कि शीतयुद्धोत्तर काल में नए शक्ति केंद्र उभर रहे हैं, अपितु गुटनिरपेक्षता के पक्ष में जो दर्शन व उद्देश्य था वह अब पहले के समान नहीं दिखाई देते। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के तेल उत्पादक गुटनिरपेक्ष देश एक अलग विशिष्ट हित समूह बन चुके थे।

एशिया-प्रशांत क्षेत्र के बहुत से गुटनिरपेक्ष सदस्यों ने अपने प्रयासों द्वारा उच्च विकास दर प्राप्त कर ली है। ऐसे ही अन्य क्षेत्रीय संघ एवं समुदाय, अपेक्षाकृत विश्वव्यापी संगठनों एवं आंदोलनों से अधिक महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। कट्टरवादिता आतंकवाद, विश्व व्यापी पृथकतावादी आंदोलन की प्रवृति में वृद्धि चिंता के अंतर्राष्ट्रीय मुद्दे, जैसे — मानव अधिकार, पर्यावरण, जीविकोपार्जक विकास आदि, वर्तमान विश्व में विदेश नीति के नए निर्धारक तत्व हैं जिसके साथ भारत को भी निबटना है।

भारत ने अपने राष्ट्रीय हितों को विशेषतया अपनी एकता और अखंडता को अक्षुण्ण रखते हुए औपनिवेशिक शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उपजे मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता प्रदर्शित की। इसी परंपरा पर आधारित अनेकत्व और सहिष्णुता की भावना, सामाजिक-आर्थिक विकास और परिवर्तन को भारत ने ध्यान में रखा। इस परिप्रेक्ष्य में ही भारत ने गुटनिरपेक्षता, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और सभी के साथ मैत्री के सिद्धांतों को अपनाते हुए अपनी विदेश नीति का निर्धारण किया।

गुटनिरपेक्षता की नीति मोटे तौर पर इसके सर्वाधिक हित में रहा। इसलिए सरकार में हुए विभिन्न परिवर्तनों के बावजूद मूल विशेषताओं के साथ भारत इस नीति का निरंतर अनुसरण करता रहा। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर इस नीति में बदलाव और सामंजस्य होते आए हैं। परंतु ये बदलाव कुछ विशेष देशों के साथ भारतीय विदेश नीति के मूल तत्त्वों की अपेक्षा उसके संबंधों में अधिक हुए हैं। प्रारंभ से ही यह स्पष्ट था कि गुटनिरपेक्षता अपने आप में साध्य नहीं था। यह देश के हितों की सुरक्षा के लिए बनाई गई नीति के क्रियान्वयन का माध्यम था। इसलिए यह एक स्थिर नीति नहीं थी बल्कि आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तनशील थी।

1990 के दशक में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए अकस्मात एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने भारत की विदेश नीति को और गुटनिरपेक्षता आंदोलन को अनिश्चितता के मोड़ पर खड़ा कर दिया। एक समय तो ऐसा लगता था जैसे गुटनिरपेक्षता ने अपना आधार ही खो दिया है। परंतु जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन कई प्रकार से जैसे — अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का लोकतंत्रीकरण, नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना, छोटे देशों की सुरक्षा और कल्याण, क्षेत्रीय विवादों का निपटारा एवं विकास आदि के क्षेत्रों में, अभी भी प्रासंगिक है। इसलिए भारत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अपनी मान्य आदर्शवादिता तथा नैतिक सिद्धांतों का परित्याग कर दे। लेकिन साथ ही यह भी याद रखना महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था, "जो भी नीति हम निर्धारित करें, किसी भी देश के विदेशी मामलों को संचालित करने की कला यह पता करने में निहित है कि देश का सर्वाधिक लाभ किसमें है।" इसलिए भारत को अपनी विदेश नीति निर्धारित करते समय एवं दूसरे देशों के साथ संबंध रखते समय अति सावधान होना चाहिए। हमारी प्रथम चिंता का विषय हमारी स्वतंत्रता को विलुप्त होने से रोकना है। किंतु, सामाजिक आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक दशा के रूप में हमारा हित अंतर्राष्ट्रीय शांति की सुरक्षा और अनुरक्षण में अभी तक सन्निहित है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि गुटनिरपेक्षता एक धर्म-सिद्धांत नहीं है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। भारत ने भूतकाल से ही अपने हितों के लिए एक प्रबुद्ध और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। इस तरह अपने राष्ट्रीय हितों के तत्त्व विकसित करते समय

भारत ने राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता का संश्लेषण करने का प्रयास किया है, जिसने गुटनिरपेक्षता को एक सकारात्मक रूप प्रदान किया। प्रबुद्ध आत्महित भारत की विदेश नीति एवं गुटनिरपेक्षिता का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। यह सर्वविदित है कि गुटनिरपेक्षता अपने आप में एक साधन है, न कि एक साध्य। साध्य तो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति है। इसलिए भारत को उसके अनुसार ही अपनी विदेश नीति का निर्माण करना है। इस संबंध में यह याद रखना आवश्यक है कि बिना स्वप्नों, आस्थाओं, आदर्शों, सिद्धांतों और बिना मूल्यों के राजनीति मानवीय गरिमा विहीन एवं राष्ट्रीय उद्देश्य रहित हो जाएगी।

अभ्यास

1. भारत की विदेश नीति के आंतरिक और बाह्य निर्धारक तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धांत क्या हैं? व्याख्या कीजिए।
3. गुटनिरपेक्षता के अर्थ की व्याख्या कीजिए तथा तटस्थता से इसका अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. भारत की विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता की महत्ता का वर्णन कीजिए।
5. भारत की विदेश नीति में भूमंडलीकरण के महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व
   (ii) संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका
   (iii) भारत और विश्व शांति

अध्याय 17

भारत और उसके पड़ोसी देश : नेपाल, श्रीलंका, चीन, बांग्लादेश, पाकिस्तान

आप पढ़ चुके हैं कि गुटनिरपेक्षता, विश्व शांति, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, निरस्त्रीकरण, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और रंगभेद के विभिन्न अन्यायपूर्ण रूपों के विरूद्ध संघर्ष, भारत की विदेश नीति के मूल सिद्धांत है। इन सिद्धांतों को भारत के प्रबुद्ध राष्ट्रीय हितों के अतिरिक्त मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता और प्राथमिकता के कारण अपनाया गया है। राष्ट्रीय हित और मूल्यों के प्रति वचनबद्धता, दोनों ही सबसे पहले पड़ोसियों से संबंध बनाए रखने को आवश्यक मानते हैं। भारत के पड़ोसियों की संख्या बहुत अधिक है। यह दक्षिण एशिया क्षेत्र में सबसे बड़ा देश है और इसकी सीमाएँ इस क्षेत्र के सभी देशों नेपाल, बांग्लादेश, भूटान, मालदीव, श्रीलंका और पाकिस्तान से लगी हुई हैं। इसके अतिरिक्त चीन, म्यांमार, अफगानिस्तान की सीमाएँ लंबी दूरी तक भारत से जुड़ी हैं। अपनी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के अनुसार भारत ने अपने सभी पड़ोसी देशों के साथ निरंतर शांतिपूर्ण, मधुर एवं मैत्रीपूर्ण संबंध चाहे हैं। पड़ोसी होने के नाते, ऐतिहासिक तथ्यों, गलत व्याख्याओं, बाह्य हस्तक्षेप और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हुई घटनाओं के कारण समस्याएँ भी रही हैं, इसलिए भारत के सभी पड़ोसियों के साथ संबंध एक जैसे नहीं रहे। उतार-चढ़ाव, अंतर, समायोजन और परिवर्तन आते रहे हैं और यह प्रक्रिया निरंतर जारी है। इस अध्याय में हम, इस क्षेत्र की पूरी स्थिति समझने के लिए भारत के कुछ पड़ोसी देशों के साथ संबंधों का संक्षिप्त विवरण पढ़ेंगे।

भारत और नेपाल

विश्व के अन्य किन्हीं दो देशों के बीच इतने विस्तृत और घनिष्ठ संबंध नहीं है जितने भारत और नेपाल के बीच हैं। इन दो दक्षिण एशियाई पड़ोसियों की 1.700 किलोमीटर पूर्णतया खुली, भौगोलिक रूप से स्पर्श करती, आसान पहुँच वाली सीमा है। विशाल हिमालय ने विगत कई शताब्दियों से उत्तर से होने वाले सैनिक दुस्साहसों तथा प्रभावों को रोकने का कार्य किया है। नेपाल और भारत के लोगों के बीच निकट धार्मिक और भाषाई संबंध हैं, वे एकसे सांस्कृतिक उत्सव मनाते हैं, एक जैसे रीति-रिवाज और संस्कार विधियाँ हैं, और समान श्रेणीबद्ध सामाजिक ढाँचे में ढला जीवन जीते हैं।

शताब्दियों तक दोनों देशों के बीच खुली सीमा थी और पारंपरिक सीमाओं के दोनों ओर से सामान और लोगों का बेरोक-टोक आना-जाना था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ने इसे कब्ज़े में नहीं लिया। उन्होंने इसकी आधीनता के लिए बातचीत की। तदानुसार नेपाल के राणा शासकों ने गोरखा सिपाहियों को अंग्रेज़ी सेना में भेजना तथा उपनिवेशों में रेलवे

और सड़कें बनाने के लिए नेपाली मज़दूर भेजना स्वीकार किया।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो संयुक्त सांस्कृतिक मूल्यों के अतिरिक्त भारत और नेपाल के बीच संयुक्त सुरक्षा के प्रति चिंताएँ भी उभरीं। दोनों ने जुलाई 1950 में परस्पर मैत्रीपूर्ण संबंधों की संधि पर हस्ताक्षर किए। इसके पश्चात् से दोनों के बीच संबंध इसी संधि के आधार पर चल रहे हैं।

संधि के दो मुख्य पक्ष हैं; एक तो पारस्परिक सुरक्षा संबंध तथा दूसरा सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आदान-प्रदान। दोनों सरकारों ने न केवल सदैव पारस्परिक शांति और मित्रता रखना स्वीकार किया अपितु दोनों ने देश की सुरक्षा में किसी बाह्य आक्रामक ख़तरे को सहन न करने का संकल्प भी लिया। संधि में नेपाल को भारत से अथवा भारत के माध्यम से रक्षा सामग्री आयात करने की अनुमति थी। दोनों सरकारों ने एक दूसरे के नागरिकों के साथ आवास, संपत्ति के स्वामित्व, व्यापार और वाणिज्य में भागीदारी के विषय में अपने नागरिकों जैसा व्यवहार करने का निर्णय लिया। तदानुसार दोनों संप्रभु देशों के लोग पासपोर्ट और परमिट के बिना बेरोक-टोक, एक दूसरे देश में आ-जा सकते हैं। वास्तव में नेपाली नागरिकों को भारत की मात्र तीन उच्च लोक सेवाओं, भारतीय प्रशासनिक सेवा; भारतीय पुलिस सेवा; भारतीय विदेश सेवा (आई.ए.एस.; आई.पी.एस., आइ.एफ.एस.) को छोड़कर सभी सरकारी सेवाओं में काम करने का अधिकार था। भारतीय व्यापारियों, शिक्षकों और दूसरे व्यवसायियों ने नेपाल के निर्माण में सहायता की तो नेपाली मज़दूरों ने भारत के कई क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था में योगदान दिया।

संबंधों में दुराव

1960 और 1970 के दशकों ने दोनों देशों के बीच के संबंधों में कुछ कड़वाहट देखी। इसके कई कारण थे। नेपाल में लोकतंत्र के लिए आंदोलन बढ़ रहा था। नेपाली कांग्रेस के नेतृत्व में लोकतांत्रिक शक्तियों ने 1959 के चुनाव में विजय प्राप्त की। लेकिन दिसंबर 1960 में राजा महेंद्र ने चुनी हुई सरकार को निरस्त कर दिया और प्रधान मंत्री बी.पी. कोइराला सहित नेपाली कांग्रेस के कई नेताओं को कैद कर लिया। भारत, राजा महेन्द्र की इच्छा के विरूद्ध लोकतंत्र के पक्ष में था। ठीक उसी समय चीन, नेपाल को प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा था। राजा महेंद्र ने इसे नेपाली कांग्रेस से निपटने और नेपाल को भारत से दूर करने में उपयोगी पाया।

1962 में चीन के भारत पर आक्रमण ने इस कड़वाहट को अल्पकाल के लिए कम किया। युद्ध तथा इसके परिणाम के दबाव में नेपाल की लोकतांत्रिक शक्तियों के साथ सहानुभूति के मुद्दे पर भारत को झुकना पड़ा और राजा के साथ संबंध सुधारने के लिए तुरंत प्रभावी कदम उठाए। राजा ने भी उपमहाद्वीप में सुरक्षा के प्रति दीर्घकालिक दुष्प्रभावों का अनुभव किया। इसलिए उसने भारत की सुरक्षा की संवेदनशीलता को स्वीकार किया। जनवरी 1965 में पत्रों के आदान-प्रदान से नेपाली सरकार ने भारत से नेपाली सेना को प्रशिक्षण, सामग्री और आधुनिकीकरण के लिए विस्तृत सहयोग माँगा।

यह समझौता थोड़े दिन चला। चीन, नेपाल को भली-भाँति तुष्ट कर रहा था और राजा महेंद्र नेपाल को भारत से दूर करने के पक्ष में दीखते थे। वर्ष 1971-72 में चीन ने नेपाल के तराई क्षेत्र की विकास योजनाओं में दखल दिया और 1950 की भारत-नेपाल संधि के प्रावधानों की उपेक्षा की तथा 1965 में नेपाल द्वारा दिए आश्वासनों के प्रति भी पूर्ण निरादर भाव दिखलाया। चीन तथा कुछ पश्चिमी देश भारत में अपने उत्पाद भेजने में वृद्धि के लिए नेपाल का प्रयोग कर रहे थे। नेपाल इस व्यापार को कानूनी बनाना चाहता था, लेकिन भारत ने यह स्पष्ट

कर दिया कि केवल नेपाल के मूल उत्पादों को ही, कोई सीमा शुल्क दिए बिना भारत के बाज़ारों में प्रवेश करने पर कोई पाबंदी नहीं होगी।

जनवरी 1972 में अपने पिता की मृत्यु के उपरांत नेपाल के सिंहासन पर बैठे राजा वीरेंद्र ने भी भारत के विषय में अपने पिता की भारत के साथ दूरी रखने की नीति को आगे बढ़ाया। बांग्लादेश की स्वतंत्रता के लिए युद्ध और सिक्किम को अपनी सीमा में मिलाने की घटना को नेपाल ने ख़तरे के रूप में देखा। 1975 में नेपाल ने स्वयं को शांति क्षेत्र घोषित कराने के लिए प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव विश्व के सभी देशों के साथ तथा विशेषतः अपने पड़ोसी देशों के साथ नेपाल अपने संबंधों को समानता के आधार पर स्थापित करना चाहता था। नेपाल यह आश्वासन भी चाहता था कि इस व्यवस्था के विरोधियों को किसी भी देश से सहायता अथवा सुरक्षा न मिल पाए।

भारत ने दोनों देशों में अच्छे संबंधों का सदैव समर्थन किया। 1973 में प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी ने नेपाल की यात्रा की और अगले वर्ष राजा वीरेंद्र भारत आए। दोनों ने परिपक्व और सौहार्दपूर्ण पारस्परिक संबंधों पर बल दिया।

पुनर्स्थापना

1978 में सत्ता में आई जनता सरकार ने नेपाल के साथ संबंध सुधारने के लिए विशेष उपाय किए। 1978 में सरकार ने व्यापार और परिगमन के लिए दो संधियाँ करना स्वीकार किया जो अब तक एक ही संधि द्वारा चल रहे थे। परिगमन संधि के अंतर्गत भारत ने नेपाल को कोलकाता बंदरगाह पर रियायती माल गोदाम की सुविधाएँ प्रदान की। इस व्यापार संधि के अंतर्गत दोनों देश आपस में तय मूल वस्तुओं पर सीमा शुल्क माफ करने तथा परिमाण संबंधी पाबंदियाँ हटाने पर सहमत थे। भारत, नेपाली औद्योगिक उत्पादों, जिनमें कम से कम 50 प्रतिशत कच्चा माल भारतीय अथवा नेपाली हो, पर से सीमा शुल्क हटाने को भी सहमत हो गया। ये संधियाँ 1989 तक चलीं। उस वर्ष नई व्यापार संधि कर पाने में असफलता ने एक बार फिर दोनों देशों में कड़वाहट पैदा कर दी।

अप्रैल 1990 में नेपाल में बहुदलीय लोकतंत्र की पुनर्स्थापना ने भारत और नेपाल के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों के नए युग का सूत्रपात किया। व्यापार और परिगमन की दो संधियों, जो 1989 में समाप्त हो गई थीं, को 1991 में हस्ताक्षरित किया गया। दिसंबर 1991 में प्रधान मंत्री बी.पी. कोइराला ने अपने भारत दौरे पर आश्वासन दिया कि नेपाल अब अपनी सुरक्षा के लिए चीन पर निर्भर नहीं है। व्यापार और परिगमन की संधियों को 1993 में संशोधित किया गया और मार्च 2002 में पाँच वर्ष के लिए विस्तार दिया गया।

1994 में नेपाल के राजा भारत आए और भारत के प्रधान मंत्री ने काठमांडू का दौरा किया। नेपाल के प्रथम साम्यवादी प्रधान मंत्री मनमोहन अधिकारी ने 1995 में छः मास की अवधि में भारत का दो बार दौरा किया। फरवरी 1996 में दोनों सरकारों ने नेपाल में नदी परियोजनाओं के एकीकृत विकास के संबंध में एक संधि पर हस्ताक्षर किए। भारत और नेपाल 'दक्षेस' में भी भली-भाँति सहयोग कर रहे हैं।

सामान्यतः भारत नेपाल के संबंध मैत्रीपूर्ण रहे हैं। नेपाल की आंतरिक घरेलू स्थिति, विशेषतः लोकतंत्र और राजशाही का समर्थन करने वाली ताकतों के बीच मतभेद के कारण और चीन जैसे बाह्य दबावों के कारण मापदंडों में यदा कदा परिवर्तन होते रहे हैं। 1960 के प्रारंभिक वर्षों के कटु अनुभवों से सीख ले कर भारत ने राजा की राजनीतिक संवेदनशीलता के विरोध से बचने के लिए भरपूर सतर्कता बरती है। भारत ने नेपाल के प्रति अपना दायित्व निभाने में कभी हिचकिचाहट अथवा संकोच नहीं किया।

दोनों देशों के बीच खुली सीमा का शासन पूरे विश्व में अद्वितीय है। अनुमान लगाया जाता है कि आज भारत में 60 लाख नेपाली हैं और लाखों भारतीय नेपाल में बस गए हैं। कभी-कभी खुली सीमा का दुरूपयोग अपराधियों, स्मगलरों और भूमिगत गिरोहों द्वारा भी किया जाता है। नेपाल की सरकार ने ऐसी उत्तेजित करने वाली गतिविधियों को भारत के साथ सहयोग कर भारत की इच्छानुसार दबाने में, भरसक सहायता की है। निकटता परंतु आकार और जनसंख्या के आधार पर विशाल अंतर के दृष्टिगत संबंधो में कुछ तनाव समय-समय पर अवश्य उभर आते हैं। 2002 के पूर्वार्द्ध में राजा वीरेंद्र और उनके परिजनों की हत्या कर दी गई। भारत विरोधी प्रदर्शन और अन्य उकसावों से तनाव पैदा हो सकता था लेकिन दोनों सरकारों ने उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य किया। दोबारा अक्तूबर 2002 में राजा ज्ञानेंद्र द्वारा लोकतांत्रिक सरकार को निरस्त करने पर भारत ने लोकतंत्र के प्रति प्राथमिकता रखते हुए भी, नेपाल के आंतरिक मामलों में दखल नहीं दिया। दोनों को एक दूसरे की प्राथमिकताओं तथा घरेलू विवशताओं को बेहतर संबंधों के लिए ध्यान में रखना ही होगा।

भारत और श्रीलंका संबंध

हिंद महासागर के मध्य स्थित छोटा सा द्वीप श्रीलंका एक ऐसा अन्य देश है जिसके भारत के साथ, भौगोलिक निकटता के अतिरिक्त चार हजार वर्षों से सांस्कृतिक एवं परंपरागत संबंध हैं। दो मुख्य जातीय समूह सिंहली और तमिलों सहित श्रीलंका की समस्त जनसंख्या किसी न किसी समय भारत से ही गई थी। सिंहली, जो कुल जनसंख्या का 74 प्रतिशत हैं, अपने पूर्वज़ों का मूल, पूर्वी भारत के आर्यों में मानते हैं। लगभग उन सभी ने बौद्ध धर्म को अपना लिया और धीरे-धीरे द्वीप के विभिन्न भागों में अपनी जड़े जमा लीं और स्थानीय निवासियों के साथ घुल मिल गए। तमिल, जो जनसंख्या का लगभग 18 प्रतिशत हैं, सभी हिंदू हैं और अपने को तमिलनाडू के द्रविड़ मूल का मानते हैं। वास्तव में तमिलों के दो समूह हैं। एक वे जो श्रीलंका में बहुत समय से हैं और उसके उतने ही देशज हैं जितने कि सिंहली हैं। दूसरे वे हैं जिन्हें भारतीय तमिल कहा जाता है। ये उस समय के ब्रिटिश संरक्षण वाली श्रीलंका में कॉफी, चाय और रबड़ की बागवानी के लिए आवश्यक मज़दूरी करने गए मज़दूरों के वंशज हैं।

श्रीलंका 17 वीं शताब्दी से ही एक उपनिवेश रहा है –– पहले पुर्तगाल, फिर डच और अंत में ब्रिटेन का। इसे 4 फरवरी 1948 को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। समरनीति की दृष्टि से श्रीलंका का काफी महत्त्व है। पश्चिमी एशिया से आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और पूर्वी एशिया के बीच हवाई मार्ग को जोड़ने वाला यह एक मुख्य मार्ग है। हवाई और समुद्री व्यापार मार्गों के मुख्य मार्ग पर इसकी स्थिति और भारत से इसकी भौगोलिक निकटता, इसे विश्व शक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण बना देती है। विरोधी शक्तियों के हाथ में होने पर श्रीलंका भारत की सुरक्षा को गंभीर ख़तरे में डाल सकता है। इसलिए भारत की श्रीलंका में रुचि आर्थिक और समरनीति, दोनों दृष्टियों से है।

छोटा, कमज़ोर, सीमित सैन्य शक्ति और भारत के सीमावर्ती क्षेत्र में होने के कारण श्रीलंका के लिए भारतीय हितों के विरूद्ध कोई विदेश नीति अपनाना कठिन है। लेकिन तब भी पश्चिमी शक्तियों और चीन की श्रीलंका में रुचि, इसके भारत के साथ संबंधों को प्रभावित करती रही है। यद्यपि दक्षिण एशियाई क्षेत्र का भाग, श्रीलंका, भौगोलिक दृष्टि से केवल भारत के निकट है, इसलिए अन्य देशों के साथ आपसी संबंधों के कारण यह अधिक प्रभावित नहीं होता।

उपरोक्त कारणों से भारत-श्रीलंका संबंध सामान्यत: मैत्रीपूर्ण रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद भारत की भाँति श्रीलंका ने भी गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाया और विदेश नीति के छ: मुख्य सिद्धांत घोषित किए : (i) सभी देशों से मित्रता; (ii) शांतिपूर्ण सह अस्तित्व; (iii) क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाना; (iv) राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर निर्णय लेने में स्वतंत्रता; (v) औपनिवेशिक प्रभाव और प्रभुत्व वाले देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों को सहयोग देना; और (vi) निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करना।

अत: प्रारंभिक वर्षों में भारत और श्रीलंका के दृष्टिकोण और हितों में समरूपता थी। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संकटों पर दोनों देशों ने एक से विचार व्यक्त किए। यद्यपि 1960 और 70 के दशकों की घटनाएँ दृष्टिकोणों में कुछ परिवर्तन अवश्य लाई। चीन के भारत आक्रमण के समय तथा भारत पाकिस्तान के 1965 तथा 1971 के युद्ध के समय श्रीलंका ने अधिक तटस्थ रुख अपनाया। 1971 में पूर्वी पाकिस्तान से आने जाने वाले पाकिस्तानी जहाज़ों को अपने यहाँ उतरने एवं तेल लेने की सुविधा देकर श्रीलंका ने भारत के मन में गहन संदेह उत्पन्न किया। वास्तव में, क्षेत्रीय शक्ति संतुलन में बदलाव तथा बांग्लादेश निर्माण से श्रीलंका में भारत के प्रति कुछ शंकाएँ उभरीं। 1971 के भारत-सोवियत मैत्री संधि के परिप्रेक्ष्य में श्रीलंका, भारत और सोवियत संघ के निकट आने से भयभीत था। श्रीलंका ने अमेरिका, चीन और पाकिस्तान के साथ अधिक मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने शुरू किए, लेकिन भारत के विरुद्ध कोई विशेष शत्रुतापूर्ण रुख नहीं अपनाया। 1980 के प्रारंभ में श्रीलंका में फैली जातीय हिंसा ने भारत-श्रीलंका संबंधों को बुरी तरह बिगाड़ दिया।

जातीय संघर्ष और भारत-श्रीलंका संबंध

जैसा प्रारंभ में कहा गया है कि श्रीलंका की जनसंख्या का लगभग 18 प्रतिशत भाग भारतीय मूल के तमिल है। तमिल जनसंख्या विशेषत: श्रीलंका के उत्तरी और पूर्वी प्रांतों तथा जिलों में बसी हुई है। स्वतंत्रता उपरांत श्रीलंका ने बहुसंख्यक सिंहलियों के धर्म और भाषा के आधार पर एक नए राज्य के निर्माण के प्रयास शुरू किए। स्वाभाविक रूप से तमिल लोगों ने इसका विरोध किया। वे श्रीलंका में संघवाद के पक्षधर थे। 1970 से श्रीलंका सरकार ने सिंहलियों के लिए विश्वविद्यालयों में प्रवेश तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण भी प्रारंभ किया। भेद-भाव का एक अन्य पहलू पूर्वी प्रांतों में तमिलों के पारंपरिक गृहभूमि पर सिंहलियों द्वारा औपनिवेशीकरण था। उपरोक्त कारणों से तमिलों ने संघीय राज्य की माँग की। इसके लिए उन्होंने शांतिपूर्ण आन्दोलन किए। 1977 तक यह माँग बदल कर पृथकता की माँग तक पहुँच गई। पृथकता के लिए आंदोलन धीरे-धीरे उग्रवादी रूप लेने लगा। उग्रवाद का बढ़ना, विशेषत: युवकों में, कई कारणों से था। ये कारण थे : (i) श्रीलंका में अपनाया गया संसदीय लोकतंत्र, जिसका अर्थ था बहुसंख्यक सिंहलियों द्वारा शासन और इससे तमिल युवकों का मोहभंग; (ii) अपनी तमिल भाषा और संस्कृति पर भरपूर गर्व; (iii) रोज़गार अवसरों में कमी तथा शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश, नौकरियों के लिए भर्ती में भेद-भाव; (iv) उनका पारंपरिक नेतृत्व में मोहभंग जो तमिल लोगों के अधिकारों पर समझौता करने को इच्छुक थे; (v) उनका विश्वास तथा निष्ठा कि केवल हिंसक संघर्ष ही उन्हें लक्ष्य प्राप्त करने में सक्षम बनाएगा; और (vi) यह विश्वास कि केवल अलग तमिल राज्य ही तमिल लोगों को सुरक्षा प्रदान करेगा।

इन विचारों से प्रेरित 1980 के प्रारंभ में तमिल उग्रवादियों की छोटी सी संख्या खूब बढ़ने लगी और 1983 में वे तमिल लिबरेशन टाइगर्स के अंतर्गत संगठित हो गए। तमिलनाडू की भौगोलिक अति निकटता तथा तमिलों के प्रति सहानुभूति के कारण लिबरेशन टाइगर्स को भारत के कुछ तमिल समूहों से सहयोग प्राप्त हो गया। भारत की सरकार श्रीलंका की

एकता और अखंडता के प्रति वचनबद्ध होने के कारण शांतिपूर्ण समाधान के पक्ष में थी और श्रीलंका से आए तमिल शरणार्थियों के कारण चिंतित भी थी।

1983 के तुरंत बाद हिंसक वारदातों के कारण भारत श्रीलंका संबंधों में कटुता आ गई। श्रीलंका ने इग्लैंड, अमेरिका, इज़रायल, पाकिस्तान जैसे देशों से सहायता माँगी। यद्यपि पश्चिमी देशों ने श्रीलंका को भारत की सहायता से ही मैत्रीपूर्ण समाधान खोजने की सलाह दी। इसके परिणामस्वरूप जुलाई 1987 में दोनों देशों ने भारत-श्रीलंका समझौते पर हस्ताक्षर किए। श्रीलंका में स्थिति को सामान्य बनाने के लिए भारतीय शांति सेना भेजी गई। यद्यपि यह काफी विवादास्पद बन गई और भारतीय सेना को दोनों ओर से निंदा मिली। कुछ का यह आरोप था कि वे तमिलों के विरूद्ध लड़ रहे हैं जबकि श्रीलंका में कुछ अन्य इसे श्रीलंका के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप मानते थे। सामान्यत: भारतीय शांति सेना को श्रीलंका भेजना उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। उसे वापस बुलाना पड़ा और मार्च 1990 तक वह पूरी तरह श्रीलंका से बाहर आ गई। 1991 में लोक सभा चुनाव प्रचार के दौरान लिबरेशन टाइगर्स के आतंकवादियों ने भारत के पूर्व प्रधान मंत्री राजीव गांधी की हत्या कर दी। यद्यपि भारत ने श्रीलंका विरोधी ताकतों द्वारा भारतीय क्षेत्र का प्रयोग न किए जाने को सुनिश्चित करने के लिए कुछ समुचित उपाय किए परंतु फिर भी संदेह बना रहा। भारत ने लिट्टे को आतंकवादी संगठन घोषित कर उस पर प्रतिबंध भी लगा दिया।

भारत में राजीव गांधी व श्रीलंका के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार दसनायके की हत्या के बाद 1991 से जातीय हिंसा और आतंकवाद से निपटने के लिए दोनों देशों के बीच बेहतर समझ बनने लगी। श्रीलंका के लिए इस भारतीय नीति में तिहरी प्रतिबद्धता थी : (i) श्रीलंका की अखंडता, संप्रभुता और एकता के प्रति; (ii) श्रीलंका में स्थायी शांति बहाल करने के प्रति; (iii) स्थायी शांति प्राप्त करने को शांतिपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया के एक मात्र हल के प्रति।

अब काफी समय से दोनों देश आपसी हितों के क्षेत्र में, विशेषत: आर्थिक क्षेत्र में, पारस्परिक संबंधों को प्रगाढ़ बनाने की दिशा में भरपूर प्रयास कर रहे हैं। गत वर्षों में भारत के कई बड़े नेता और श्रीलंका के राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री कई बार भारत के दौरे पर आ चुके हैं। सितम्बर 2002 में श्रीलंका ने लिबरेशन टाइगर्स के साथ शांति समझौते के लिए बातचीत शुरू की। इसके लिए भारत को भी विश्वास में लिया गया।

संयुक्त वक्तव्यों में भारत और श्रीलंका ने स्वीकार किया कि आतंकवाद अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा है। उनका मत है कि आतंकवादी कृत्यों को राजनीतिक, जातीय, धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत और श्रीलंका ऐतिहासिक संबंधों की विरासत, संयुक्त संस्कृति, लोकतंत्र में विश्वास और गुटनिपेक्षता के प्रति सामान्य सोच पर आधारित निकट, मैत्रीपूर्ण, सहयोग के संबंधों को लक्ष्य बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं।

भारत और चीन

भारत के पड़ोसियों में चीन एक विशाल देश और बड़ी शक्ति है। भारत और चीन की न केवल 4,000 किलोमीटर से अधिक संयुक्त सीमा है अपितु दोनों प्राचीन सभ्यताएँ हैं और हज़ारों बरसों से आपस में संबंध रहे हैं। 65 ईस्वी में बौद्ध धर्म भारत से चीन गया। अगले चार-पाँच सौ साल, सैकड़ों चीनी विद्वान भारत में बौद्ध धर्म की शिक्षा लेने आए। भारत दर्शन करने वाले अति प्रसिद्ध चीनी विद्वानों में फाह्यान, ह्यूनसांग और वायी सिंग हैं। कई भारतीय विद्वानों विशेषत: कश्मीरी विद्वानों ने भी इस अवधि में चीन का भ्रमण किया। 18वीं और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दोनों देशों में राष्ट्रीय आंदोलनों ने औपनिवेशिक दमन के विरूद्ध नए संबंधों को जन्म

दिया। चीनी नेता सन यत सेन ने कुछ क्रांतिकारियों जैसे रास बिहारी बोस, एम.एन. राय इत्यादि से संबंध बनाए रखे। 1924 में रवींद्रनाथ टैगोर ने भी चीन का भ्रमण किया।

1947 से भारत-चीन संबंध

1 अक्तूबर 1949 को जनवादी गणतंत्र चीन अर्थात् साम्यवादी चीन के निर्माण की घोषणा की गई। 30 दिसंबर 1949 को चीन को मान्यता देने वाले देशों में भारत प्रथम था। भारत ने संयुक्त राष्ट्र में चीन के प्रतिनिधित्व के दावे का कई गैर साम्यवादी देशों, विशेषत: अमेरिका से, नाराज़गी मोल ले कर भी समर्थन किया।

इस प्रकार भारत और चीन ने मधुर और मैत्रीपूर्ण संबंधों से शुरूआत की। दोनों के बीच राजनयिक संबंध 1 अप्रैल 1950 को स्थापित किए गए। 29 अप्रैल 1954 को भारत और चीन के बीच एक व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। 1954 में चीनी प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई ने भारत का दौरा किया। दोनों प्रधान मंत्रियों ने शांति पूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धांतों, जिन्हें पंचशील के नाम से जाना गया, का प्रतिपादन किया। ये सिद्धांत थे : (i) प्रत्येक देश द्वारा एक दूसरे देश की संप्रभुता और अखंडता का सम्मान; (ii) एक दूसरे पर आक्रमण न करना ; (iii) एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना; (iv) समानता और आपसी हित; और (v) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व ।

भारत और चीन के बीच एक अन्य व्यापार समझौता 14 अक्तूबर 1954 को हस्ताक्षरित किया गया। भारत के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू अक्तूबर 1954 में चीन गए और चीन के प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई दोबारा नवंबर 1956 में भारत आए। दोनों देशों के बीच मैत्री 1955 में अफ्रीकी-एशियाई देशों के बांडुंग सम्मेलन में शिखर पर पहुँची। इस सम्मेलन के बाद भारत ने चीन को पूर्ण नैतिक और राजनायिक समर्थन दिया। चीन ने पुर्तगाल अधिकृत गोवा पर भारत के दावे का समर्थन किया। इस प्रकार 1957 तक दोनों देशों के बीच अटूट मित्रता बनी रही। 1957 के बाद इन संबंधों में कटुता आना प्रारंभ हुई। यह मूलत: दो कारणों से हुआ; एक भारतीय भू-भाग पर चीन का दावा और दूसरा तिब्बत के कारण उत्पन्न विवाद।

सीमा विवाद और तिब्बत

यद्यपि साधारणतया भारत ने तिब्बत पर चीनी दावे का विरोध नहीं किया, फिर भी दोनों देशों के बीच चीन की कुछ कारवाई के संबंध में मतभेद थे। चीन ने इस मतभेद को सही भावना से नहीं लिया। चीन का एक प्रदेश तिब्बत, भारत की उत्तरी सीमा पर है। पहले तिब्बत एक स्वतंत्र राज्य था। ऐतिहासिक कारणों से 18वीं शताब्दी से इसे चीन का एक भाग माना जा रहा है। यद्यपि लोगों द्वारा दलाई लामा को स्वायत तिब्बत का वैध शासक माना जाता था। 1911 के बाद चीन, तिब्बत पर प्रभावी नियंत्रण नहीं रख पाया। जनवादी गणतंत्र चीन की स्थापना के बाद चीनी सरकार ने वार्ता के माध्यम से तिब्बत पर अपना पक्का नियंत्रण स्थापित करने की इच्छा जताई। 1950 में चीन ने तिब्बत पर पूर्ण रूप से युद्ध छेड़ दिया। भारत ने इस सशस्त्र कारवाई के प्रति विरोध जताया। चीन ने भारत को साम्राज्यवादी शक्तियों से प्रभावित बताया। यद्यपि भारत ने स्पष्ट किया कि वह चीन के अधिराज्य को स्वीकार करता है और चीन के आंतरिक मामलों में दखल देने का कोई इरादा नहीं रखता।

1959 में तिब्बत की राजधानी में अचानक विद्रोह भड़क उठा। चीन ने इस विद्रोह को सख्ती से कुचल दिया। दलाई लामा तिब्बत से भाग निकले और भारत से शरण माँगी। उसे हजारों तिब्बतियों के साथ भारत में राजनीतिक शरण दी गई परंतु भारतीय भूमि

पर चीन के विरूद्ध कोई गतिविधि न चलाने की सलाह दी। चीन ने भारत की तिब्बत के प्रति सहानुभूति को पसंद नहीं किया और दलाई लामा को शरण देने को शत्रुतापूर्ण कार्य बताया। भारत को विस्तारवादी भी कहा गया।

तिब्बत की घटनाओं के अनुरूप ही चीन भारत के कुछ क्षेत्रों पर भी अपना दावा जता रहा था। 1957 में उसने लद्दाख में घुसपैठ शुरू की। सितंबर 1959 में चीन ने भारत के लद्दाख और नेफा (अब अरूणाचल प्रदेश) के 12,800 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर अपना औपचारिक दावा प्रस्तुत किया। 1960 में भारत और चीन के प्रधान मंत्री दिल्ली में सीमा मुद्दे पर बात करने के लिए मिले। इसके बाद दोनों देशों के अधिकारियों के बीच कई बैठकें हुईं। लेकिन 8 सितंबर 1962 को चीन ने भारत के नेफा क्षेत्र में भारत-चीन सीमा के पूर्वी क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। चीनी फौज़ों ने 20 अक्तूबर 1962 को पूरे भारत चीन सीमा पर तैनात भारतीय फौज़ों पर आक्रमण किया। 21 नवंबर को चीन ने एक तरफा युद्ध विराम घोषित कर दिया और आक्रमण से पूर्व की स्थिति को बहाल करने से साफ इंकार कर दिया। चीन का अभी तक भारतीय क्षेत्र के बड़े भू-भाग पर कब्ज़ा है और भारत चीन सीमा पर स्थित अरूणाचल प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र में लगभग 90,000 वर्ग किलोमीटर पर भी दावा है।

तत्पश्चात् 1970 के दशक के मध्य तक चीन का भारत के प्रति आक्रामक रुख रहा। 1965 में भारत पाकिस्तान संघर्ष के दौरान चीन ने पाकिस्तान को सैन्य सामग्री देकर सहायता की और अपने आधिकारिक वक्तव्य में भारत को पाकिस्तान पर अपराधिक आक्रमणकारी बताया। 1971 के भारत पाकिस्तान संघर्ष के दौरान चीन ने दोबारा भारत की, पाकिस्तान के आंतरिक मामलों में दखल देने के लिए निंदा की। 1975 में सिक्किम के भारत विलय के अवसर पर चीन ने इसे अवैध कब्ज़ा बताया। चीन ने अब तक सिक्किम को भारत का अभिन्न अंग नहीं माना है। इससे पूर्व 1974 में भारत के परमाणु परीक्षण से चीन खुश नहीं था, जबकि भारत ने घोषित कर दिया था कि उसका परमाणु कार्यक्रम शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही है। इससे प्रतीत होता है कि 1958 से 1975 तक चीन भारत को इस भू-क्षेत्र में अपने मुख्य प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखता रहा और उसे नीचा दिखाने में तुला रहा।

सामान्य स्थिति की ओर

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चीन और भारत के संबंध अस्पष्ट बने रहे। एक ओर तो दोनों देश शीत युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में नव विकासशील और निर्गुट देश, महाशक्तियों की राजनीति से दूरी बनाए रखने के पक्ष में थे तथा आपस में अच्छे संबंधों की इच्छा रखते थे। दूसरी ओर दोनों, भारत और चीन, क्षेत्र की एक मात्र बड़ी शक्तियाँ शत्रु प्रतीत होती थीं। चीन का पश्चिमी शक्तियों और सोवियत संघ दोनों से विरोध था और अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपना कड़ा रुख रख कर विचार प्रकट करता रहा। 1975 के बाद जगत एस. मेहता के अनुसार बांग्लादेश के संघर्ष के दौरान, अमेरिका और चीन के पाकिस्तान की ओर झुकाव के बावजूद भी चीन ने यह अनुभव किया कि भारत, आर्थिक रूप से सशक्त और राजनीतिक रूप से आत्म विश्वासी देश के रूप में उभर रहा है। इसके साथ ही चीन की स्थिति को अंतर्राष्ट्रीय जगत में पहचान प्राप्त हो रही थी। 1971 में इसे ताईवान के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र और सुरक्षा परिषदों की आधिकारिक रूप से सदस्यता प्राप्त हुई। यह पहले ही बताया जा चुका है कि आपसी संबंधों में उतार-चढ़ाव के बावजूद भारत ने चीन के प्रति एक निरंतर नीति का पालन किया। भारत और चीन दोनों ने अपने पारंपरिक संबंधों के

विषय में बात-चीत करना शुरू कर दिया है। इसका तत्कालिक परिणाम यह हुआ कि 14 वर्षों बाद दोनों देशों ने पुन: राजनयिक संबंध स्थापित किए।

1976-77 में दोनों देशों में घटी घटनाओं ने संबंधों के सामान्य होने का मार्ग और अधिक प्रशस्त कर दिया था । 1976 में चीन के कट्टरपंथी नेता मांओत्सेतुंग का निधन हो गया। 1977 में भारत में पहली बार केंद्र में, गैर-कांग्रेसी पार्टी, जनता पार्टी सत्ता में आई। जैसा कि अन्यत्र वर्णन किया गया है कि अपनी विश्वसनीयता को स्थापित करने के लिए जनता सरकार ने पड़ोसी देशों से संबंध सुधारने की नीति को अपनाया। फरवरी 1979 में विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने चीन का दौरा किया। 1978 में भारत और चीन ने आपस में व्यापार संबंध प्रारंभ किए। 1980 में इंदिरा गांधी जब दोबारा सत्ता में आईं तो उन्होंने जनता सरकार द्वारा शुरू किए गए प्रयासों को जारी रखा। वह मई 1980 में राष्ट्रपति टीटो की अंतिम यात्रा के समय बेलग्रेड में तत्कालीन चीनी प्रधान मंत्री हयू क्यू-फेंग से मिलीं। 1961 के बाद दोनों देशों के बीच यह इस स्तर की पहली भेंट थी। इसके बाद विभिन्न स्तरों पर दोनों देशों के बीच कई वार्ताएँ हुईं तथापि सीमा मुद्दे पर मतभेद बना रहा।

1988 में प्रधान मंत्री राजीव गांधी की चीन यात्रा से उच्च स्तरीय राजनीतिक वार्ता का पुन: प्रारंभ हुआ। दोनों पक्षों ने सीमा विवाद पर बातचीत के लिए संयुक्त कार्य दल बनाने का निर्णय लिया। तत्पश्चात् 1992 में राष्ट्रपति वेकंटरमन, 1993 में नरसिम्हा राव और 1994 में उप-राष्ट्रपति के.आर. नारायणन चीन की यात्रा कर चुके हैं। चीन की तरफ से 1991 में प्रधान मंत्री लीपेंग और 1996 में राष्ट्रपति ज़ियांग जेमिन भारत यात्रा कर चुके हैं।

एक बार फिर 1998 में थोड़ी देर के लिए धक्का लगा जब भारत ने नाभिकीय बम का परीक्षण किया और उसका एक कारण चीन से ख़तरा बताया। चीन ने परीक्षण की निंदा में जी-8 देशों तथा सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के साथ सहमति व्यक्त की। वास्तव में चीन भारत की परमाणु नीति का कटु आलोचक रहा था। जून 1999 में भारतीय विदेश मंत्री की चीन यात्रा से कड़वाहट कुछ कम हुई। चीन का भारतीय परीक्षण के प्रति गुस्सा कुछ कम हुआ। उच्च स्तरीय यात्राएँ फिर से होने लगीं और दोनों पक्ष और अच्छे संबंधों के लिए कार्य करने को दृढ़ संकल्प से ओत-प्रोत लगते थे। अत: दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंधों की स्थापना की स्वर्णजयंती (50वीं वर्ष गाँठ) के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति के.आर नारायणन ने मई-जून 2000 में चीन की यात्रा की और नेशनल पीपुल्स कांग्रेस की स्थायी समिति के अध्यक्ष लीपेंग ने जनवरी 2001 में भारत की यात्रा की। जनवरी 2002 में चीनी प्रधान मंत्री ज़्यू रौग़जी रांगजी ने भारत की सरकारी यात्रा की।

इन यात्राओं के दौरान दोनों देशों के नेताओं ने इस बात पर बल दिया कि भारत और चीन एक दूसरे को ख़तरा नहीं मानते और मैत्रीपूर्ण एवं अच्छे पड़ोसियों के संबंध बनाए रखने के इच्छुक हैं। चीन के लिए अपने आर्थिक सुधारों एवं विकास के चलते भारत का तेज़ी से बढ़ता घरेलू बाज़ार बहुत महत्त्वपूर्ण है। विश्व में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव को संतुलित करने के लिए भारत जैसा शक्तिशाली साथी क्षेत्रीय धुरी भी बन सकता है। भारत को भी चीन के साथ सहयोग से बहुत लाभ हैं। चीन के साथ सीमा विवाद समाप्त होने से भारत की घरेलू राजनीति में समस्या ग्रस्त उत्तर पूर्वी क्षेत्र में स्थिरता लाने में सहायता मिलेगी और भूटान तथा नेपाल के साथ उसके बुरे संबंधों के अवसर घटेंगे। इससे भारत-पाक संबंधों में सुधार के अवसर बढ़ेंगे। यहाँ उल्लेखनीय है कि 1999 में कारगिल में पाकिस्तानी घुसपैठ से चीन खुश नहीं था।

नई ऐतिहासिक एवं वस्तुपरक स्थिति में भारत और चीन संबंधों ने नए युग में प्रवेश किया है। भारत

के पूर्व राष्ट्रपति के.आर. नारायणन के शब्दों में "हमारे पास विचारों और वस्तुओं के आदान-प्रदान के अवसर हैं, हमारे पास तकनीकी सामग्री को अपनी प्राचीन सांस्कृतिक मैत्री में ढालने का सही अवसर है।" चीन के प्रधान मंत्री ज़्यू के शब्दों में, "विश्व के दो सबसे बड़े विकासशील देश होने के नाते भारत और चीन के कंधो पर एशिया में शांति स्थापित करने और खुशहाली बनाए रखने का दायित्व है।" इसी भावना से भारत और चीन पारस्परिक संबंधों के विभिन्न क्षेत्रों जैसे -- व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, सुरक्षा, विदेश वार्ताएँ, विज्ञान और तकनीकी सहयोग तथा सीमा-विवाद सुलझाने की दिशा में भी आगे बढ़ रहे हैं। भारत ने स्पष्ट कर दिया है कि वह चीन के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धांतों 'पंचशील', जिसे दोनों देशों ने संयुक्त रूप से स्वीकार किया था, के आधार पर मैत्रीपूर्ण, सहयोगी, अच्छे पड़ोसियों वाले और पारस्परिक लाभकारी संबंध बनाए रखना चाहता है। दोनों में दीर्घ-कालिक स्थायी संबंध, भारत और चीन के आपसी हित एवं क्षेत्र में शांति के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत और बांग्लादेश

बांग्लादेश का उदय 1971 में हुआ था। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके है कि बांग्लादेश के निर्माण में भारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और यह उसे एक संप्रभु राष्ट्र के रूप में मान्यता देने वाला पहला देश था। बांग्लादेश के पाकिस्तान से पृथक होने के कारणों में से एक कारण इसकी भौगोलिक स्थिति भी थी जो इसे पश्चिमी क्षेत्र से अधिक पूर्वी क्षेत्र का भाग बनाती है। उप-महाद्वीप में बांग्लादेश की स्थिति इसे समरनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण बना देती है। यह पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी दिशाओं में तीन तरफ से भारत से घिरा हुआ है। इसके दक्षिणी-पूर्व के तरफ म्यांमार की सीमा है। इसके दक्षिण में बंगाल की खाड़ी है।

बांग्लादेश के स्वतंत्रता संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के परिप्रेक्ष्य में तथा बांग्लादेश की भौगोलिक स्थिति के कारण भारत की इसके साथ संबंधों में विशेष रुचि है। बांग्लादेश की स्वतंत्रता में भारत के योगदान ने कई पक्के दोस्त और दुश्मन पैदा किए हैं। दोनों देशों के संबंधों के निर्माण में दोनों देश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इन संबंधों के विकास में कुछ बाध्यकारी कारकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनमें से चीन और इस्लामी ताकतें महत्त्वपूर्ण रही हैं। इसलिए विशिष्ट समय और विशिष्ट संदर्भों में भारत-बांग्लादेश संबंधों में उतार-चढ़ाव, माधुर्य और कटुता आती रही है।

प्रारंभिक चरण

बांग्लादेश के अस्तित्व में आने के प्रारंभिक वर्षों में, भारत की बांग्लादेश की स्वतंत्रता में सहायता एवं भूमिका के दृष्टिगत बांग्लादेश में भारत के प्रति कृतज्ञता का भाव था। अपनी आर्थिक स्थिति एवं विकास की आवश्यकताओं के लिए भी यह भारत से सहायता की अपेक्षा कर रहा था। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि बांग्लादेश जनसंख्या की दृष्टि से विश्व का आठवाँ बड़ा देश है और साथ ही बहुत गरीब देशों में से एक है। इसके दृष्टिगत प्रारंभिक वर्षों में शेख मुजीबुर्रहमान के प्रधान मंत्री काल में बांग्लादेश के भारत के साथ बहुत मैत्रीपूर्ण संबंध थे। मुजीबुर्रहमान की बांग्लादेश के प्रधान मंत्री के रूप में पहली यात्रा भारत की थी। इस यात्रा के दौरान निर्णय लिया गया कि भारत-बांग्लादेश संबंध लोकतंत्र, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता, गुटनिरपेक्षता तथा रंग भेद और उपनिवेशवाद के सभी रूपों और प्रकारों के विरोध के सिद्धांतों से निर्देशित होंगे। भारत ने बांग्लादेश को आश्वस्त किया

कि यह कभी उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। शेख मुजीबुर्रहमान की यात्रा के बाद मार्च 1972 में इंदिरा गांधी ने बांग्लादेश की सरकारी यात्रा की। इस यात्रा के समापन पर दोनों देशों के बीच मैत्री एवं शांति के लिए संधि पर हस्ताक्षर किए गए। भारत–बांग्लादेश व्यापार समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए। यद्यपि भारत के साथ कुछ मतभेद थे लेकिन उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया।

बांग्लादेश में स्वतंत्रता विरोधी ताकतें भी थी। स्वतंत्रता के शीघ्र बाद ही उन्होंने भारत विरोधी अभियान चलाना शुरू किया। शेख मुजीबुर्रहमान ने भारत विरोधी प्रचार रोकने के लिए कुछ उपाय किए। गंगा जल विवाद तथा हुगली नदी में पानी बढ़ाने की दृष्टि से बने फरक्का बाँध से संबंधित विवाद सुलझाने के लिए भी कदम उठाए गए। पानी की साझेदारी पर एक अंतरिम समझौता किया गया। एक दूसरे की सीमा में क्षेत्रों की अदलाबदली पर भी चर्चा शुरू की गई। इस प्रकार दोनों देशों के बीच आपसी समस्याओं पर, भारत विरोधी ताकतों द्वारा इन समस्याओं को लेकर भारत विरोधी उन्माद फैलाने के प्रयासों के बावजूद, अति मित्रतापूर्ण वातावरण में चर्चा की गई तथा इसे नियंत्रण से बाहर नहीं जाने दिया गया।

15 अगस्त 1975 को बांग्लादेश के निर्माता शेख मुजीबुर्रहमान की पूरे परिवार सहित, दो पुत्रियों को छोड़कर जो उस समय विदेश में थीं, कुछ सैनिक अधिकारियों द्वारा किए गए विद्रोह में हत्या कर दी गई। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि बांग्लादेश में भारत विरोधी ताकतें विद्यमान थीं। मुजीबुर्रहमान की हत्या के साथ यह ताकतें मुखर हो गई और कुछ मामलों में तो उन्माद से भर गई। ज़नरल ज़ियाउर्रहमान, जिसने सत्ता संभाली थी, को अपनी स्थिति मजबूत करनी थी। स्वाभाविक रूप से उसे प्रतिक्रियावादी सांप्रदायिक ताकतों से सहायता मिली जो प्रारंभ में बांग्लादेश की स्वतंत्रता के विरूद्ध थे और पाकिस्तानी सैनिकों के समर्थक थे तथा बांग्लादेश की स्वतंत्रता में भारत की भूमिका के कटु आलोचक थे। इन विरोधी दलों ने भारत को बांग्लादेश हड़पने के लिए विस्तारवादी तक कहा। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बांग्लादेश को इस्लामी दुनिया, पश्चिमी शक्तियों और चीन से सहायता प्राप्त हुई, जो उस समय भारत के आलोचक थे। ऐसी स्थिति में जियाउर्रहमान ने भारत को स्वतंत्रता तथा बांग्लादेश की क्षेत्रीय अखंडता के शत्रु के रूप में प्रस्तुत एवं प्रचारित किया।

जियाउर्रहमान के कार्यकाल में भारत के साथ आपसी समस्याएँ उलझ गई और उत्तेजना ने वैचारिक मतभेद को सुलझाने में मदद नहीं की। 1977 में जनता पार्टी की सरकार आने पर कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। जनता सरकार ने नेपाल और पाकिस्तान की भाँति बांग्लादेश के सैन्य–शासन के प्रति भी नरम रवैया अपनाया। कमी के महीनों में गंगा के पानी की हिस्सेदारी पर दोनों देशों के बीच एक आंतरिक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। यद्यपि अब दूसरे विवाद उभरने लगे थे।

1981 में जियाउर्रहमान की भी हत्या कर दी गई। कुछ महीनों के अल्प अंतराल के बाद ले. जनरल एच.एम. एरशाद ने रक्त हीन क्रांति के माध्यम से देश में अपनी सैनिक तानाशाही स्थापित कर ली। एरशाद के समय में भी भारत और सोवियत विरोधी रवैया बना रहा। भारत में राजनीतिक परिवर्तन और इंदिरा गांधी का पुनः सत्ता में लौटना सैनिक शासन को अच्छा नहीं लगा। परंतु उसके भारत विरोधी अभियान में कमी अवश्य आई और क्षेत्रीय सहयोग का विचार जोर–शोर से आगे बढ़ाया गया। इसमें भारत एवं पाकिस्तान सहित दक्षिण भारतीय देशों से सहयोग मिला, और फिर 1985 में दक्षेस की बैठक हुई। इससे क्षेत्र में बहुपक्षीय और द्विपक्षीय संबंधों में सुधार आया। भारत द्वारा तीन बीघा को स्थायी लीज़ पर

देने के समझौते से संबंधों के सुधार में एक कदम और बढ़ गया।

1990 में बांग्लादेश में लोकतंत्र की वापसी से भारत के साथ संबंध सुधारने की दिशा में प्रयास शुरू हुआ। 26 जून 1992 को तीन बीघा का भाग औपचारिक रूप से बांग्लादेश को दे दिया गया। भारत और बांग्लादेश के बीच जल संसाधानों की हिस्सेदारी को लेकर एक व्यापक योजना बनाने की सहमति हुई। 1994 की वार्ताओं से चकमा शरणार्थियों की त्रिपुरा से बांग्लादेश की चिटगांग की पहाड़ियों में वापसी हुई। मुजीबुर्रहमान की बेटी शेख हसीना वाजेद ने प्रधान मंत्री के रूप में भारत से संबंध सुधारने के लिए कड़ी मेहनत की। उसने दिसंबर 1996 में भारत की यात्रा की और अगले 30 वर्षों के लिए गंगा के पानी के बटवारे पर हुए एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। उसने 1998 और 1999 में दोबारा भारत की यात्रा की। हर प्रकार से भारत बांग्लादेश के साथ अच्छे संबंध बनाने के प्रति दृढ़ संकल्प रहा।

यद्यपि कुछ अन्य समस्याएँ सामने आ रही हैं। बांग्लादेश से भारत में अवैध अप्रवासियों की घुसपैठ इनमें से एक है। विशेषतः 1990 के दशक से कट्टरपंथी इस्लामी ताकतों का उदय एक अन्य गंभीर समस्या है। पाकिस्तान की आई.एस.आई. द्वारा इन ताकतों को भारत विरोधी गतिविधियों के लिए प्रयोग करने की सूचना है। 2002 में जनरल जियाउर्रहमान की पत्नी की पार्टी कुछ मुखर भारत विरोधियों के सहयोग से सत्ता में आई हैं, जो उन्मादी तो है परंतु स्वभाव से कुछ कम गरम है। गैर-इस्लामी शक्तियाँ पाकिस्तान के साथ साजिश करके बांग्लादेश में इस्लामीकरण को मजबूत करने में रुचि ले रही हैं। जुलाई 2002 के अंत में पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ ने अपने बांग्लादेश के दौरे के दौरान, 32 साल पहले बांग्लादेश के स्वतंत्रता संग्राम में अपने देश के सैनिकों द्वारा की गई ज्यादतियों के लिए क्षमा माँगने तक से परहेज नहीं किया। पाकिस्तान के राष्ट्रपति द्वारा बिना शर्त खेद प्रकट करना, निःसंदेह पाकिस्तान बांग्लादेश के बीच संबंधों की एक नई शुरूआत है जिस पर भारत को ध्यान देना होगा।

भारत और पाकिस्तान

भारत अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसियों में से केवल पाकिस्तान के साथ वांछित स्तर तक संबंध नहीं सुधार सका। भारत और पाकिस्तान दोनों एक ही भूमि के भाग हैं जिनकी साँझी ऐतिहासिक विरासत है और कोई प्राकृतिक अवरोध नहीं है। दोनों की एक ही सभ्यता है। दोनों में बहुत कुछ साँझा है जो उन्हें निकट लाता है। पिछले 55 वर्षों से दोनों एक दूसरे को घूरते रहे हैं। भारत निरंतर पाकिस्तान के साथ शांति, मधुर और मैत्रीपूर्ण संबंध बनाना चाहता रहा है। कभी-कभी कुछ पाकिस्तानी नेताओं ने भी ऐसे संबंधों के लिए इच्छा एवं प्रयास किए, परंतु कुछ ऐतिहासिक कारणों जैसे — दोनों देशों की राजनीतिक व्यवस्था में अंतर, भौगोलिक राजनीतिक अवस्था तथा वैचारिक मतभेद के कारण अब तक दोनों तरफ तलवारें खिची रहीं हैं। भारत पाकिस्तान संबंधों की प्रकृति को समझने के लिए दोनों देशों के बीच संबंध निर्धारित करने वाले कुछ ऐतिहासिक-भौगोलिक कारणों से अवगत होना आवश्यक है।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारण

भारत का एक समाज एवं राज्य के रूप में हजारों वर्ष पुराना इतिहास है जबकि पाकिस्तान का अस्तित्व मात्र 1947 से है। इसकी भारत से अलग कोई स्मारकीय और राजनीतिक विरासत नहीं है। भारत से पृथक होने के कारण पाकिस्तान की समस्त भूमि का आधा भाग भारत के सीमा से लगा हुआ है। स्वतंत्रता से पूर्व विदेश नीति की सोच से जब भारत अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में अपनी भावी भूमिका की कल्पना कर रहा

था तब पाकिस्तान के पास 1906 से बनी मुस्लिम लीग की इच्छाओं और विचारों की ही विरासत थी। इसमें द्विराष्ट्र का सिद्धांत तथा सांप्रदायिक संदेह सम्मिलित था। इन ऐतिहासिक कारणों के साथ भारत-पाक संबंधों को कटु बनाने में बँटवारे के समय सांप्रदायिक आधार पर जनसंख्या का विस्थापन, संपत्तियों के बँटवारे तथा कश्मीर सहित अन्य रियासतों को मिलाने के विवाद आदि अन्य कारण भी मौजूद थे।

एक लंबे इतिहास और राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत वाले भारत ने गुटनिरपेक्षता, मैत्री एवं सहयोग पर आधारित विदेश नीति को अपनाया। पाकिस्तान के भारत के साथ कोई सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर नहीं थे तथा सबसे पहले उसे अलग राज्य के रूप में अपनी स्थापना को न्यायोचित ठहराना था। इसके लिए उसने अपने राजनीतिक ढाँचे के आधार के रूप में इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। पाकिस्तानी शासकों ने अनुभव किया कि उसके अस्तित्व के लिए अन्य कारण, संभवतः इस्लाम से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इस लिए पाकिस्तान की विदेश नीति मुख्यतः इस्लामवाद पर आधारित थी। पाकिस्तान के शासकों की यह भी मान्यता रही है कि भारत ने विभाजन की सच्चाई को स्वीकार नहीं किया है। इसलिए वे भारत के प्रत्येक कदम को संदेह और पाकिस्तान के अस्तित्व के विरूद्ध साजिश के रूप में देखते थे। इस दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रमाण भारत विरोध रहा है। पाकिस्तानी शासक उच्च वर्ग ने अपने भारत विरोध का दुष्प्रचार अपने देश की घरेलू राजनीति में अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए किया है।

भारत में लोकतंत्र का मजबूत होना तथा पाकिस्तान में सेना की प्रमुख भूमिका भारत और पाकिस्तान के बीच अंतर का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण है। पाकिस्तान की भारत से स्वनिर्मित शत्रुता को स्थायी, वैध तथा मान्य बनाने एवं इस्लामी देशों को नेतृत्व प्रदान करने की इच्छा ने पाकिस्तान में शक्ति संग्रह करने और इसे प्रदर्शित करने की इच्छा पैदा की। इससे शक्ति केंद्र लोगों से हटकर सैनिक संस्थापनाओं की ओर चला गया। देश में न तो संसदीय और न ही अध्यक्षीय सरकार के प्रयोग स्थायित्व ला सके। 1953 के बाद सेना देश की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाती रही है और सैनिक तानाशाही को वैधता प्रदान करने के लिए कई नए-नए प्रयोग होते रहे हैं।

विभाजन और भारत-पाक संबंध

विभाजन के तुरंत पश्चात् दोनों देशों के बीच सैनिक परिसंपत्तियों का तबादला, सिंध नदी के पानी के बटवारे, अविभाजित भारत की शेष नगदी का बटवारा, इत्यादि मुद्दे तनाव का कारण बने।

नदियों के पानी के संबंध में, भारत के बटवारे से पंजाब में अधिक बहने वाली तीन नदियाँ रावी, सतलुज और व्यास बच गई जबकि पाकिस्तान में अधिक बहने वाली नदियाँ सिंध, जेहलम और चेनाब थीं। भारत इन सभी नदियों के पानी का प्रयोग कर सकता था और पाकिस्तान के लिए समस्या उत्पन्न कर सकता था। लेकिन उसने इन नदियों से पाकिस्तान को पानी देना स्वीकार किया। 19 सितंबर 1961 को प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू और राष्ट्रपति अयूबखान ने नदियों के पानी के बँटवारे पर एक समझौता किया था जिसे दोनों देशों के बीच संबंध सुधारने की दिशा में एक यादगार घटना कहा गया था।

कश्मीर समस्या

भारत और पाकिस्तान के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने के विभिन्न प्रयास अंततः कश्मीर विवाद के

कारण असफल रहे। इस विवाद की पृष्ठभूमि को जानना हमारे लिए उपयुक्त होगा।

स्वतंत्रता से पूर्व, जम्मू-कश्मीर 584 रियासतों में से एक था। महाराजा हरी सिंह इसके शासक थे। ब्रिटिश भारत के विभाजन की शर्तों के अनुसार, रियासतों के शासकों को भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने अथवा स्वतंत्र बने रहने का निर्णय लेने का अधिकार था। कश्मीर के महाराजा ने स्वतंत्र रहने का निर्णय लिया। द्विराष्ट्र के सिद्धांत से प्रेरित पाकिस्तानी नेताओं का मत था कि जम्मू-कश्मीर की जनसंख्या का 77 प्रतिशत मुस्लिम होने के कारण जम्मू-कश्मीर को पाकिस्तान में मिल जाना चाहिए। महाराजा द्वारा 3 सितंबर 1947 को स्वतंत्रता घोषित किए जाने के बाद पाकिस्तान की ओर से सीमा पर हमले एवं कबाइली घुसपैठ शुरू हो गई। कश्मीर की सरकार ने पाकिस्तान के प्रधान मंत्री को विरोध प्रकट किया। शिकायत के चार दिन बाद 20-21 अक्तूबर 1947 की रात भारत ने पाकिस्तान की स्थिति का आकलन किया और उसे कश्मीर हथियाने के उद्देश्य को लेकर उकसाने वाला तथा हमलों को सीधे सहायता देने वाला माना। 24 अक्तूबर को कश्मीर के महाराजा ने स्वयं भारत से सहायता के लिए निवेदन किया। भारतीय नेतृत्व ने कहा कि ऐसी सहायता कश्मीर के भारत से जुड़ने की शर्त पर ही की जा सकती है। 26 अक्तूबर को महाराजा हरी सिंह ने तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड माउंटबैटन को एक पत्र भेज कर भारत में शामिल होने के अपने निर्णय के विषय में लिखा। भारतीय सैनिकों को हवाई जहाज से कश्मीर भेजा गया। भारत की सैनिक टुकड़ियों ने पाकिस्तानी घुसपैठियों को बढ़ने से रोका परंतु 14 महीने तक लड़ाई चलती रही।

इसी बीच 1 जनवरी 1948 को भारत ने संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को जम्मू-कश्मीर पर हमला करने से रोकने के लिए एक शिकायत दर्ज की। 17 जनवरी 1948 को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित कर आपसी विवाद को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने तथा कानून-व्यवस्था बनाने और तत्पश्चात् राज्य के भविष्य को तय करने के लिए जनमत संग्रह करवाने का सुझाव दिया।

13 अगस्त 1948 को सुरक्षा परिषद् द्वारा एक नया प्रस्ताव पारित कर युद्ध विराम लागू किया गया। भारत और पाकिस्तान ने प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके परिणामस्वरूप जम्मू कश्मीर में युद्ध समाप्त हो गया। इस संबंध में एक अन्य प्रस्ताव द्वारा 5 जनवरी 1949 को युद्ध विराम रेखा पर भारत पाकिस्तान ने औपचारिक रूप से अपनी सहमति प्रकट कर दी। इस प्रकार, 1 जनवरी 1949 के प्रस्ताव के पहले भाग को व्यवहारिक रूप देने से चौदह महीने तक चली आ रही लड़ाई समाप्त हो गई, किंतु संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव के दूसरे भाग को मानने से पाकिस्तान ने न केवल इंकार किया अपितु अपने सैनिकों को भी पीछे नहीं भेजा। वे सब 'आज़ाद कश्मीर सैनिकों' के रूप में समय-समय पर छुट-पुट लड़ाईयाँ लड़ते रहे। जनमत संग्रह करवाने के लिए यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण शर्त थी। भारत ने इस संबंध में संयुवत राष्ट्र संघ से स्पष्टीकरण माँगते हुए कहा कि अगर पाकिस्तान जनवरी 1949 के प्रस्ताव को 13 अगस्त तक लागू नहीं करता तो जनमत संग्रह का सुझाव भारत के लिए मानना आवश्यक नहीं होगा। संयुक्त राष्ट्र ने इसका स्पष्ट आश्वासन दिया था।

आगामी कुछ वर्षों में पाकिस्तान ने पश्चिम के देशों को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति को अमेरिका और उसके मित्र देश ठीक नहीं मानते थे। 1954 में पाकिस्तान अपना तटस्थ मार्ग छोड़ कर अमेरिका के साथ सैन्य-राजनीतिक संगठन में शामिल हो गया। पहले वह दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन में और बाद में 1955 में बगदाद समझौते के माध्यम से

सम्मिलित हुआ। पाकिस्तान के अमेरिका और उसके सैन्य मित्रों से निकटता के संबंधों तथा भारत की सोवियत संघ के साथ बहुमुखी सहयोग और आपसी समझ ने कश्मीर मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र में विशुद्ध राजनीतिक मुद्दा बना दिया।

संयुक्त राष्ट्र में चर्चा के बावजूद जम्मू और कश्मीर की रियासत तब से ही भारत का एक अभिन्न भाग रहा है और चुनावों सहित इसकी गतिविधियों में भाग लेता रहा है। दूसरी ओर, पाकिस्तान संप्रदायवादी विचारधारा के पोषक के रूप में अपनी बात पर अड़ा रहा है। यही नहीं, अपनी आंतरिक अस्थिरता तथा नागरिक-सैनिक झगड़ों के कारण पाकिस्तान के लिए कश्मीर विवाद को एक ज्वलंत मामला बनाए रखना और इस संदर्भ में जनता की भावनाओं को विमुख दिशा में ले जाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी रहा है।

अगस्त 1965 में पाकिस्तान ने कश्मीर विवाद को अंतर्राष्ट्रीय विषय बनाए रखने के उद्देश्य से, अपनी सेनाओं को नागरिकों के पहनावे में, युद्ध विराम रेखा के दूसरी ओर भेजा। इन घुसपैठियों को न केवल बड़े स्तर पर हिंसात्मक झगड़ों के लिए अपितु कश्मीर को अपने भू-भाग में मिलाने के लिए कश्मीरियों को भड़काने के लिए भेजा गया ताकि वे विद्रोह कर स्वतंत्र कश्मीर के लिए युद्ध का वातावरण बना दें। परिणामस्वरूप, भारत और पाकिस्तान में जमकर युद्ध हुआ जिसमें पाकिस्तान को मुंह की खानी पड़ी। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् ने 20 सितंबर 1965 को एक प्रस्ताव पास करके भारत और पाकिस्तान को युद्ध विराम लागू करने के लिए कहा।

युद्ध के पश्चात्, सोवियत संघ के ताशकंद नामक स्थान पर 3 जनवरी से 10 जनवरी 1966 तक दोनों देशों के बीच शांति स्थापना के लिए वार्ता हुई। यह शिखर वार्ता सोवियत प्रधान मंत्री अलैक्सी कोसिगन के प्रयास से हुई जिसमें प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री और राष्ट्रपति अयूब खान ने भाग लिया।

इस वार्ता की उपलब्धि नौ सूत्री ताशकंद घोषणा थी जिसमें दोनों देशों द्वारा सामान्य और शांतिपूर्ण संबंध पुनर्स्थापित करने तथा लोगों के बीच मैत्री पूर्ण संबंध बढ़ाने का संकल्प था। इस बात पर भी सहमति हुई कि भारत तथा पाकिस्तान एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। वे बल प्रयोग के स्थान पर अपने झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से ही सुलझाएँगें।

ताशकंद घोषणा का समस्त विश्व द्वारा स्वागत किया गया और यह आशा प्रकट की गई कि अब दोनों देश झगड़ों का मार्ग छोड़कर शांतिपूर्ण ढंग से अच्छे पड़ोसियों की भाँति रहेंगे। किंतु पाकिस्तानी सशक्त वर्ग ने इस आशा में आस्था नहीं दिखाई। उनके मत में, उपमहाद्वीप में शांति तभी स्थापित हो सकती है जब कश्मीर समस्या का समाधान पाकिस्तान के दृष्टिकोण के अनुरूप हो। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों तथा पाकिस्तान की आंतरिक राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पाकिस्तान ने कश्मीर संबंधी अपनी नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया और कश्मीर को भारत-पाक संबंधों का मुख्य मुद्दा बनाए रखा।

1987 से पाकिस्तान ने कश्मीर में घुसपैठियों को प्रोत्साहित करना, भड़काना और उनकी हर प्रकार से सहायता करना जारी रखा। 1999 में कारगिल में घटी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय भू-भाग पर पाकिस्तानी सैनिकों तथा इस्लामी उग्रवादियों का बने रहना किसी भी प्रकार से वहाँ के स्थानीय निवासियों की तत्कालिक कारवाई नहीं थी। कारगिल में नियोजित ढंग से कारवाई कर पाकिस्तान के नीति निर्धारकों की यह आशा बनी कि कश्मीर में तथाकथित स्वतंत्रता संग्राम से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का और भारत द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन

संबंधी दोषारोपण की घटनाओं की ओर ध्यान आकर्षित हो जाएगा। सितंबर-अक्तूबर 2002 में हुए स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनावों, जिनमें उग्रवादियों की धमकियों के बावजूद मतदाताओं के एक महत्त्वपूर्ण प्रतिशत ने भाग लिया जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि कश्मीर की जनता हिंसा में विश्वास नहीं रखती और शांतिपूर्ण जीवन बिताना चाहती है। जिन दलों का जनता ने समर्थन किया है वे भी पाकिस्तानी प्रचार से किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं हैं, लेकिन इन सब सच्चाईयों के बावजूद पाकिस्तान के लिए कश्मीर संबंधी विवाद एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बना रहा है।

यह कहना गलत न होगा कि कश्मीर के मुद्दे को लेकर भारत और पाकिस्तान अपने-अपने दृष्टिकोण में कोई प्रमुख परिवर्तन नहीं कर पाए हैं। आज भी भारतवासी यही कह रहे हैं कि यह समस्या पूर्णतया सुलझ चुकी है क्योंकि कश्मीर के महाराजा हरी सिंह ने हस्ताक्षर करके कश्मीर को भारत का एक अभिन्न और अटूट अंग बना दिया है और 1954 में कश्मीर राज्य की संविधान सभा ने भी इस पर अपनी मोहर लगा दी थी।

विचारधारा के स्तर पर पाकिस्तान, मुस्लिम लीग के द्वारा भारत की स्वतंत्रता से पूर्व द्विराष्ट्र के प्रतिपादित सिंद्धांत पर अड़ा हुआ है। भारत का यह मत है कि भारत एक बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक पंथनिरपेक्ष राज्य है जबकि पाकिस्तान अपने आपको मुसलमानों के बहुमत वाला राज्य कहता है। सच्चाई तो यह है कि भारत में भी मुसलमानों की जनसंख्या कम नहीं है क्योंकि भारत में 12 करोड़ से अधिक मुसलमान रहते हैं जिस संख्या से बढ़कर (इंडोनेशिया को छोड़कर) किसी और देश में इतने मुसलमान नहीं हैं। सच तो यह है कि यह संख्या पाकिस्तान में बसे मुसलमानों से अधिक है। विश्व में कश्मीर ही एक ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ गैर-हिंदू धर्मी बहुत बड़ी संख्या में हैं ऐसे अनेक अन्य राज्य और भी हैं। संभवतः इसलिए भारत ने कभी भी धार्मिक आधार पर राज्य के विचार को उचित नहीं माना। भारत विभाजन के समय भी भारत ने द्विराष्ट्र के सिंद्धांत को पूर्णतया अस्वीकार किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपनी आंतरिक अस्थिरता और अपने आप को इस्लामिक जगत का नेता बनाए रखने की इच्छा ही वे मुख्य कारण हैं जो पाकिस्तान को बाध्य करते हैं कि वह कश्मीर विवाद को एक सांप्रदायिक आवरण पहनाए रखे या फिर इसे किसी दूसरे रूप में जीवित रखे। दुर्भाग्यवश, यह विवाद इतना गंभीर रूप धारण कर चुका है कि शांतिपूर्ण ढंग से दो देशों के बीच में व्यापार, वाणिज्य और विकास को लेकर जो प्रयास आवश्यक हैं वे भी पूर्णतया विफल हो चुके हैं। कुछ प्रमुख प्रयासों का विवरण यहाँ देना श्रेयस्कर होगा।

बांग्लादेश युद्ध तथा शिमला समझौता

1947 में पाकिस्तान के जन्म के पश्चात् जिस महत्त्वपूर्ण आंतरिक विवाद ने इस देश को आ घेरा वह था पूर्वी पाकिस्तान (आज का बांग्लादेश) का मामला जिसने मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती दी। भारत पाक संबंधों में इस संकट ने एक अत्यंत विकराल और गंभीर कारक के रूप में भूमिका निभाई। जिस समय भारत का धर्म के आधार पर विभाजन हुआ, बंगाल में से पूर्वी भाग का पाकिस्तान में विलय कर दिया गया। पाकिस्तान के इन दोनों भागों में 1,500 किलोमीटर की दूरी थी।

यद्यपि पाकिस्तान और पूर्वी बंगाल दोनों के निवासी मुसलमान थे किंतु दोनों में सांस्कृतिक और भाषायी आधार पर विभेद था। यह विभेद लगभग तीन-चार दशकों तक चलता रहा और पूर्वी पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) के लोग अपने आपको अलग-थलग

महसूस करते थे। दिसंबर 1971 के चुनावों में शेख मुज़ीबुर्रहमान के नेतृत्व में आवामी लीग दल को बहुमत प्राप्त हुआ। लोकतांत्रिक सिद्धांतों के अनुरूप चाहिए तो यह था कि जनता के विचारों को सम्मान देते हुए शेख मुजीबुर्रहमान को वहाँ का प्रधान मंत्री बना दिया जाता किंतु इसके विपरीत राष्ट्रपति याहया खां ने उन्हें बंदी बनाकर जेल में डाल दिया। परिणामस्वरूप, पूर्वी पाकिस्तान में हिंसात्मक प्रदर्शन हुए। पाकिस्तान के सुरक्षा बलों ने कड़े कदम उठाकर आतंक की लहर फैला दी तथा लोग डर कर भारत की ओर भागने लगे। मार्च 1971 तक लगभग 1 करोड़ पूर्वी पाकिस्तानी (बांग्लादेशी) भारत में शरणार्थियों के रूप में प्रवेश कर चुके थे।

पाकिस्तान के सुरक्षा बलों ने दमन चक्र भीषण रूप से जारी रखा और पूर्वी पाकिस्तान के लोगो के सामने स्वतंत्रता की घोषणा करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। 12 अप्रैल 1971 को आवामी लीग के नेतृत्व में जनता द्वारा स्वयं को पाकिस्तान से स्वतंत्र होने की घोषणा एवं बांग्लादेश की रचना कर दी गई। उस समय भारत के अतिरिक्त किसी और देश ने बांग्लादेश को मान्यता प्रदान नहीं की। जहाँ एक ओर पाकिस्तान पूर्वी बंगाल की जनता की नृशंस हत्याएँ कर रहा था तो दूसरी ओर शरणार्थी भाग कर भारत में घुसते जा रहे थे। कहीं परिस्थितियाँ बिगड़ कर बेकाबू न हो जाए, भारत ने 4 दिसम्बर 1971 को बाध्य होकर हस्तक्षेप किया और पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया पाकिस्तान को एक बार फिर सभी क्षेत्रों में मुंह की खानी पड़ी। 16 दिसंबर 1971 को उसने बिना किसी शर्त के भारत के सामने हथियार डाल दिए। लगभग 93,000 पाकिस्तानी सैनिक युद्ध बंदी के रूप में कैद कर लिए गए। इस समस्त घटना चक्र का एक ही परिणाम निकला और वह था पाकिस्तान का विभाजन और बांग्लादेश के रूप में एक संप्रभु राज्य का उद्गम।

भारत के साथ अपने संबंधों को सुधारने के लिए पाकिस्तान के राष्ट्रपति जुल्फ़ीकार अली भुट्टो ने दोनों देशों के राज्याध्यक्षों के बीच एक वार्ता की इच्छा व्यक्त की। दोनों देशों के बीच शिखर वार्ता करने के लिए जून 1972 में शिमला में एक बैठक आयोजित की गई। अत्यधिक विस्तार से बातचीत करने के पश्चात् दोनों देशों के बीच समझौता हुआ, जिसके अनुसार दोनों देशों में स्थायी शांति एवं मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने का प्रयास किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, दोनों देश एक दूसरे की स्वतंत्रता, संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता की रक्षा करेंगे। वे सभी प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर एक दूसरे से संपर्क बनाए रखेंगे। यही नहीं, उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की कि वे अर्थव्यवस्था, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आपसी सहयोग से कार्य करेंगे तथा व्यापार, यातायात और संचार का विकास करेंगे। दोनों देश 17 दिसंबर, 1971 में युद्ध विराम को व्यवहारिक रूप देने के पश्चात् नियंत्रण रेखा को मान्यता भी प्रदान करेंगे।

उपरोक्त घटनाक्रम को देखने के पश्चात् पर्यवेक्षको ने अनुभव किया था कि पाकिस्तान तथा भारत के बीच एक वास्तविक समझौता हो गया है। यद्यपि कहीं पर भी यह घोषणा सार्वजनिक रूप से नहीं की गई थी परंतु ऐसा माना जाने लगा था कि दोनों देशों ने कश्मीर संबंधी वास्तविक सत्यता को स्वीकार कर लिया है। अत: दोनों देशों ने शिमला समझौते के आधीन एक दूसरे के हितों को ध्यान में रखते हुए सहयोग पूर्ण वातावरण बनाए रखने के प्रयास पर बल दिया।

शिमला समझौते के पश्चात् भारत-पाक संबंध

शिमला समझौते के पश्चात् कुछ समय तक दोनों देशों ने सभी विवादों को सहयोगपूर्ण वातावरण से निपटाने का प्रयास किया परंतु पाकिस्तान के

कट्टरपंथियों को कश्मीर संबंधी समझौते की अंतर्निहित भावनाओं से संतुष्टि नहीं मिल सकी थी। पाकिस्तान की सरकार ने अपने विरोधियों के दबाव में आकर कश्मीर विवाद को प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाने का प्रयास किया, यद्यपि शिमला समझौते के अंतर्गत यह कहा गया था कि सभी विवादों को आपसी बातचीत के द्वारा निपटाया जाएगा। 1974 में भारत ने परमाणु परीक्षण किया जिसने पाकिस्तान के लोगों के बीच में अनेक प्रकार की आशंकाओं को उजागर किया, लेकिन इसके बावजूद संबंधों को सुधारने के प्रयास जारी रहे। 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार ने विशेष प्रयासों पर बल देते हुए पाकिस्तान के साथ संबंधों को सुधारने का प्रयास किया। 1978 में भारत के विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी पाकिस्तान गए और ऐसा आभास हुआ कि भारत और पाकिस्तान मधुर संबंधों की ओर बढ़ेंगे। लेकिन पाकिस्तान की आंतरिक परिस्थितियाँ अधिक समय तक ऐसे वातावरण को बनाए नहीं रख सकीं। 1977 में भुट्टो को सत्ता से हटाकर जनरल जिया-उल-हक पाकिस्तान के राष्ट्रपति बन गए। अपनी स्थिति को सशक्त बनाने के लिए ज़िया ने जनता की भावनाओं के साथ खेलना प्रारंभ कर दिया। 1980 में यह बात स्पष्ट हो गई कि जिया के पास भारत-विरोधी प्रचार के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। सच्चाई तो यह है कि जिया बांग्लादेश के उद्भव का बदला लेना चाहता था। अत: उसने भारत में तोड़-फोड़ की राजनीति को अपनाकर आतंकवादियों और पृथकतावादियों को प्रोत्साहन देना आरंभ कर दिया। सामयिक अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में जिसमें सोवियत संघ का अफगानिस्तान में हस्तक्षेप भी सम्मिलित था, पाकिस्तान एक बार फिर पाश्चात्य शक्तियों और चीन के बीच सामीप्य बनाने में सफल हुआ और उसने सोचा कि इस अवसर का लाभ उठाकर वह कश्मीर विवाद को एक बार फिर से अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाए। परिणामस्वरूप अचानक जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद फैलने लगा और देश की सुरक्षा को गंभीर ख़तरा उत्पन्न हो गया।

गुजराल सिद्धांत तथा वाजपेयी के प्रयास

अगस्त 1988 में राष्ट्रपति जिया-उल-हक का एक हवाई दुर्घटना में निधन हो गया। कुछ समय पश्चात् पाकिस्तान में एक बार फिर लोकतंत्र स्थापित हुआ। बेनजीर भुट्टो पाकिस्तान की प्रधान मंत्री बनीं। यद्यपि उसने भारत के साथ संबंधों को सुधारने की इच्छा व्यक्त की किंतु वह पाकिस्तान की संस्थापित परिसीमाओं से बाहर नहीं जा सकती थी। फिर भी, उसने प्रधान मंत्री राजीव गांधी से वार्तालाप किया जिसमें शिमला समझौते का विवरण बार-बार आया और आपसी बातचीत से समस्याओं को सुलझाने में अपना विश्वास प्रकट किया गया किंतु आधारभूत मुद्दे का कोई हल नहीं निकला और पाकिस्तान के विशिष्ट वर्गीय शासकों ने भारत विरोधी रुख जारी रखा। 1990 में नवाज़ शरीफ की सरकार और 1993 में बेनज़ीर भुट्टो की दुबारा बनी सरकार ने भारत पाक संबंधों के बारे में आशाएँ जगाई किंतु कोई मनोकूल सफलता नहीं मिल पाई। नई दिल्ली ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए किंतु पाकिस्तान ने कश्मीर समस्या के समाधान के संबंध में अपनी पहले वाली जिद तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के 1948-49 के प्रस्ताव को बार-बार दोहराया। पाकिस्तानी सेना और आई. एस. आई. (पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था) अपने देश की निर्वाचित असैनिक सरकार के निर्देशों को नहीं मान रहे थे। अत: आतंकवादियों के लिए सहयोग और प्रोत्साहन बढ़ता रहा।

भारत पाकिस्तान के संबंधों को सुधारने में 1977 में विदेश मंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने एक बार फिर पहल की और अपने पड़ोसियों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण नीति की घोषणा

की। गुजराल की यह धारणा थी कि हमारे उपमहाद्वीप में एक तो वैसे ही स्रोतों की कमी है और उनका इस शत्रुतापूर्ण वातावरण में निरंतर दुरुपयोग हो रहा है। उनका मत था कि एक बड़े पड़ोसी होने के कारण वे विशाल हृदय से शांतिपूर्ण वातावरण स्थापित करने के लिए तत्पर हैं। मार्च 1977 में उन्होंने कहा मैं, भारत की संप्रभुता और पंथनिरपेक्षता जो कि वार्ता रहित विषय है, किसी भी क्षेत्र में सुविधाएँ देने के लिए तैयार हूँ। एक बार सबको ऐसा लगा कि अब पाकिस्तान भी सकारात्मक ढंग से संबंध सुधारने के क़दम उठाएगा।

गुजराल द्वारा की गई पहल को आगे बढ़ाने का श्रेय प्रधान मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को जाता है जो फरवरी 1999 में बस द्वारा लाहौर गए, परंतु पाकिस्तान की आंतरिक परिस्थितियाँ एक बार फिर मधुर संबंधों की स्थापना में बाधक बनीं। जहाँ प्रधान मंत्री नवाज़ शरीफ बातचीत द्वारा भारत के साथ संबंध सुधारने के लिए इच्छुक थे, वहीं पाकिस्तानी सैनिक कारगिल क्षेत्र में युद्ध संबंधी तैयारियाँ ही नहीं कर रहे थे अपितु आई. एस. आई के कार्यकर्ता कश्मीर सीमा पर आतंकवादियों एवं उग्रवादियों को व्यापक ढंग से सीमा पार करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। अंततः एक बार फिर लोकतंत्रीय शासन को समाप्त कर जनरल परवेज़ मुशर्रफ के नेतृत्व में सैनिक शासन स्थापित हो गया। अपने सैनिक शासन को स्थायित्व प्रदान करने तथा जनता में लोकप्रिय बने रहने के लिए उसने कश्मीर विवाद को फिर से उछाला। उसके साथ ही कारगिल क्षेत्र में पराजय तथा अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के बीच अपना बढ़ता हुआ प्राथक्य अनुभव कर उसने भारत के साथ एक बार फिर वार्ता करने की इच्छा व्यक्त की। इस उद्देश्य से वह भारत में आगरा में प्रधान मंत्री वाजपेयी के साथ शिखर सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए। समस्त विश्व आगरा शिखर सम्मेलन की ओर आशाएँ लगाए देख रहा था किंतु शिखर सम्मेलन असफल हो गया। क्योंकि पाकिस्तान के लिए कश्मीर बातचीत का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय था। भारत, कश्मीर विवाद पर भी बात करने के लिए तैयार था, यदि पाकिस्तान उग्रवादियों को समर्थन व प्रोत्साहन न देने का विश्वास दिलाए।

आगरा शिखर सम्मेलन की असफलता के पश्चात् भारत तथा पाकिस्तान के बीच पारस्परिक संबंध बिगड़ते चले गए। भारत की संसद पर दिसंबर 2001 में पाकिस्तानी आतंकवादियों तथा कश्मीर में उनके बढ़ती हुई हिंसात्मक गतिविधियों के फलस्वरूप भारत ने पाकिस्तान के साथ वार्ता करने से इंकार कर दिया। अमरीका में 11 सितंबर 2001 की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं तथा विश्व द्वारा आतंकवाद के विरुद्ध छेड़े गए अभियान के परिणामस्वरूप पाकिस्तान ने यह तो मान लिया है कि आतंकवादी उनके भू-भाग पर अपनी गतिविधियाँ तो चला रहे हैं लेकिन इस बात से इंकार किया है कि वह उन्हें किसी प्रकार की सहायता दे रहा है। यही नहीं, पाकिस्तान ने विश्व के समस्त देशों को यह वायदा किया है कि वह न तो आतंकवाद को प्रोत्साहन देगा और न ही उन्हें किसी प्रकार की सहायता देगा लेकिन सच्चाई यह है कि कश्मीर में वह आतंकवादियों, जो तथाकथित कश्मीर की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, को नैतिक तथा राजनीतिक समर्थन दे रहा है। ऐसा लगता है कि पाकिस्तान में व्याप्त आंतरिक राजनीतिक विरोधाभास इतने उलझे हुए हैं कि वहाँ के राजनीतिक नेताओं को हमेशा भारत को नीचा दिखाने वाली राजनीति में संलग्न रहना अनिवार्य सा हो गया है।

दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण संबंधों को लेकर मौलिक समस्या यह है कि जहाँ पिछले 55 वर्षों में भारत एक लोकतांत्रिक राज्य की कार्य पद्धति में यथोचित योगदान देता रहा है वहीं दूसरी ओर, पाकिस्तान अपनी पहचान बनाने के लिए किसी निश्चित राजनीतिक

व्यवस्था की खोज में व्यस्त है। भारत में सेना पूर्णतया नागरिक और राजनीतिक सत्ता के नियंत्रण में है, इसके विपरीत पाकिस्तान के भीतर सेना निर्णयकारी एवं स्वायत्त साम्राज्य के रूप में बने रहना चाहती है। अतः भारत और पाकिस्तान को आपस में छोटे-मोटे झगड़ों को भुलाकर अपने-अपने भू-भाग पर बसी मानव जाति के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए परंतु इसकी आशा धूमिल ही है।

भारत की विदेश नीति में सामान्य दृष्टिकोणों के अतिरिक्त अपने निकटतम पड़ोसियों के साथ संबंधों ने महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया हुआ है। नेपाल, श्रीलंका, चीन, बांग्लादेश और पाकिस्तान के साथ संबंध सर्वोपरि महत्त्व रखते हैं। भारत की सुरक्षा, इसके मुख्य हित और यहाँ की जनता का सुखमय जीवन बिताना, इस क्षेत्र के भविष्य और भाग्य के साथ गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। इसीलिए भारत ने अपने निकटतम पड़ोसियों के साथ मधुरतम संबंध बनाने के प्रयास जारी रखे हैं। हालाँकि भू-भाग क्षेत्र, विचारधारा संबंधी वरीयताएँ तथा क्षमताएँ, पड़ोसियों के साथ संबंधों को लेकर मनमुटाव पैदा करती हैं और प्रमुख रूप से चीन एवं पाकिस्तान के संबंधों को लेकर वैमनस्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। हाल के कुछ वर्षों में भारत और चीन के बीच संबंधों में महत्त्वपूर्ण सुधार आया है परंतु पाकिस्तान के साथ संबंध बिगड़ते चले गए हैं। भारत सदा ही शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और अपने क्षेत्र के विकास में रुचि दिखाता रहा है। लेकिन इसे छोटे देशों, उनके हितों तथा चीन के साथ उनके संबंधों के संदर्भ में उनके भय और संवेदनशीलताओं का ध्यान रखना होगा। उत्तर शीत युद्ध के युग में तथा क्षेत्रीय सहयोग के नए परिप्रेक्ष्य में, भारत तथा उसके पड़ोसी देशों के संबंधों में और अधिक सुधार होने की आशा की जा सकती है।

अभ्यास

1. भारत तथा पाकिस्तान के संबंधों का परीक्षण कीजिए।
2. भारत तथा बांग्लादेश के बीच मधुर एवं तनावपूर्ण संबंधों की व्याख्या कीजिए।
3. भारत और श्रीलंका के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
4. भारत और चीन के पारस्परिक संबंधों का वर्णन कीजिए।
5. भारत और नेपाल के पारस्परिक संबंधों का मूल्यांकन कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   - (i) शिमला समझौता
   - (ii) पंचशील
   - (iii) कश्मीर-समस्या
   - (iv) भारत-चीन सीमा विवाद
   - (v) श्रीलंका में जातीय संघर्ष

अध्याय 18

अमेरिका और रूस के साथ भारत के संबंध

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गुट वैमनस्य और शीत युद्ध की स्थिति में भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने सोचा कि स्वतंत्र भारत को अन्य देशों के साथ अपने संबंध के सिलसिले में समझौता करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यद्यपि भारत के लिए उसका राष्ट्रीय हित अधिक महत्त्वपूर्ण था। द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद तत्कालीन स्थिति जटिल और नाजुक थी। यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी ताकतों और भूतपूर्व सोवियत रूस ने सर्वमान्य दुश्मन नाज़ी जर्मनी से लड़ाई की थी किंतु युद्ध से पहले, युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद एक दूसरे के प्रति उनकी शंकाएँ काफी गहरी थीं। 1947 तक विभाजन रेखा बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी। अपनी नाजुक आर्थिक, राजनीतिक स्थिति के मद्देनज़र एशिया और अफ्रिका के नवस्वतंत्र देश दोनों बड़ी ताकतों के दबाव के प्रति संवेदनशील थे। दोनों बड़ी ताकतों ने विश्व के लिए व्यवस्था निर्माताओं के रूप में अपनी भूमिका की परिकल्पना की थी और वे चाहते थे कि अन्य देश उनका अनुसरण करें। दोनों ताकतों का पूर्वी और पश्चिमी गुटों के बीच संघर्ष में दृढ़ विश्वास था। उनका यह भी विचार था कि तीसरे गुट के लिए कोई जगह नहीं थी। विश्व का ध्रुवीकरण द्वितीय विश्व युद्ध के स्वाभाविक परिणाम के रूप में स्वीकार किया गया था।

इस परिस्थिति में भारत ने दोनों में से किसी भी शक्ति गुट में शामिल न होने का और गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का फैसला किया। उस समय भारत की मुख्य चिंता अपना विकास एवं बदलाव तथा लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना था न कि सैन्य शक्ति को बढ़ाना। इसके लिए भारत को निर्णय लेने की स्वतंत्रता और हर संभव स्रोतों से समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता थी। भारत को अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखने के लिए और दोनों शक्तियों से सहायता प्राप्त करने का एक मात्र रास्ता यही था कि किसी भी गुट के साथ घनिष्ठता और पहचान से परहेज़ रखे। साथ ही राष्ट्रीय आर्थिक विकास और राजनीतिक स्थायित्व का लक्ष्य प्राप्त करने, देश की एकता और सामाजिक व आर्थिक प्रगति सुनिश्चित करने, आक्रमण या स्वतंत्रता पर आक्रमण के ख़तरे से बचाव के लिए यह आवश्यक था कि भारत दोनों बड़ी ताकतों से मैत्रीपूर्ण संबंध रखे। दूसरी ओर, इस क्षेत्र में देशों से निपटने के लिए दोनों बड़ी ताकतों के अपने अलग दृष्टिकोण, हित और मापदंड थे। इस संदर्भ में अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत रूस (वर्तमान रूस) के साथ भारत के संबंध शीत युद्ध के दौरान गुट वैमनस्य की स्थिति में उभरे। इस अध्याय में हम संक्षेप में अमेरिका और रूस के साथ भारत के संबंधों की शुरूआत और उनके विकास की चर्चा करेंगे।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका

भारत और अमेरिका के संबंध जटिल और समय-समय पर विरोधाभासपूर्ण रहे हैं। यद्यपि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद, विशेषत: हाल के आतंकवादी चुनौतियों के युग में, दोनों देशों के बीच संबंधों में भारी बदलाव आया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि दोनों की दृष्टि में न तो पूर्णतया मतैक्य है और न ही विरोध।

अमेरिका का क्षेत्रफल भारत से तीन गुना बड़ा है लेकिन भारत की जनसंख्या अमेरिका से ढाई गुना अधिक है। औद्योगीकरण और आर्थिक दृष्टि से अमेरिका सबसे विकसित और धनी देशों में से एक है जबकि भारत एक विकासशील देश है। संस्कृति और धर्म के मामले में दोनों बहुलवादी देश हैं। दोनों पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र हैं, संविधानवाद, कानून का शासन एवं व्यक्ति और प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति वचनबद्ध हैं। किंतु रणनीति संबंधित आवश्यकताएँ, सैनिक महत्वाकांक्षा और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परिकल्पना के मामले में दोनों देशों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता है।

भारतीय-अमेरिकी संबंधों का उद्भव

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से ही भारत और अमेरिका के बीच संबंध है। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के प्रति अमेरिका का सहानुभूतिपूर्ण और सहयोगपूर्ण रवैया था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका ने विश्वभर के लोगों के आत्म निर्णय के अधिकार का समर्थन किया। इस तरह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब भारत अपनी विदेश नीति का निर्माण कर रहा था तो उसकी प्रबल इच्छा थी कि वह किसी भी शक्ति गुट से स्वतंत्र रहे, लेकिन उसे यह भी आशा थी कि अमेरिका भारत की गरीबी के खिलाफ संघर्ष एवं विकास हेतु अपनी स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक संस्थाओं के साथ आगे बढ़कर सहयोग देने को तत्पर रहेगा। अमेरिका की दक्षिणी एशियाई क्षेत्र में एक विशेष रुचि थी। उसकी मुख्य चिंता सोवियत रूस के प्रभाव एवं उसके साम्यवादी विचार को फैलने से रोकना था। अमेरिका को भय था कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद भारत में जो शक्ति शून्यता पैदा होगी उसका सोवियत रूस पूरा लाभ उठाएगा। उसकी यह भी सोच थी कि अफ्रीकी-एशियाई देशों की नाजुक आर्थिक स्थिति वामपंथी विचारों के पनपने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थी। 1949 में चीन के साम्यवादी गणतंत्र के रूप में उभरने से इन आशंकाओं को बढ़ावा मिला और इस क्षेत्र में लोगों की रुचि बढ़ी। साथ ही, अमेरिका स्वयं को एक मात्र भूमंडलीय शक्ति समझता था और उसे यह आशंका थी कि अपने आकार, आर्थिक एवं सैन्य क्षमता के कारण भारत क्षेत्रीय प्रधान होने की क्षमता रखता था। इस प्रकार भारत अमेरिकी सत्ता के लिए एक चुनौती बन सकता था।

इस तरह सोवियत संघ को रोकने और अपना प्रभाव बढ़ाने के इरादे से अमेरिका ने दोहरी नीति अपनाई। प्रथम, सोवियत संघ के प्रसार की आशंका का सैन्य शक्ति द्वारा सामना करना और द्वितीय, आर्थिक सुधार के लिए 'मार्शल योजना' का प्रारंभ। 1947 से 1955 के बीच बहुत सारे सैन्य गठजोड़ हुए और अमेरिकी योजना के साथ चलने को इच्छुक देशों को अमेरिकी आर्थिक सहायता उपलब्ध करवाई गई। यूरोप, अफ्रीका और एशिया के कुछ देशों ने अमेरिकी संरक्षण स्वीकार कर लिया जबकि कुछ अन्य देश सोवियत संघ के साथ हो गए। भारत ने अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति के अंतर्गत सभी देशों के साथ मित्रता, किसी के साथ वैमनस्य नहीं, बिना किसी शर्त के अपने आर्थिक विकास के लिए सहायता, तथा सभी मुद्दों को गुण-दोष के आधार पर परखने की स्वतंत्र नीति अपनाई। भारत ने अमेरिका द्वारा सोवियत संघ और चीन को सैन्य गठबंधनों द्वारा

रोकने की नीति को स्वीकार नहीं किया अपितु शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं सहयोगपूर्ण वातावरण बनाने का प्रयास किया। वास्तव में भारत साम्यवादी चीन को मान्यता देने वाले और राजनीतिक संबंध स्थापित करने वाले पहले देशों में से एक था।

अमेरिका के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध रखते हुए भी भारत स्वतंत्र रहना चाहता था। ठीक उसके विपरीत पाकिस्तान ने अमेरिका के प्रभुत्व को स्वीकार करना शुरू कर दिया। इसका मुख्य कारण पाकिस्तान की भारत से शत्रुता और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में मित्र तलाश करना था। पाकिस्तान की सुरक्षा, गरिमा और पहचान की तलाश अमेरिका की दक्षिण एशिया में अपने भूमंडलीय युद्धनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक मित्र देश ढूंढने की खोज से मेल खा गई। अमेरिका द्वारा प्रायोजित सेंटो तथा सीटो सैन्य संधियों का 1954 में पाकिस्तान सदस्य बन गया और उसने पेशावर को, जो सोवियत रूस के निकट स्थित है, अमेरिका के सैनिक जासूसी विमानों के लिए सुपुर्द कर दिया। पाकिस्तान की यह चाल मुख्य रूप से कश्मीर मुद्दे का अंतर्राष्ट्रीयकरण करना था। भारतीय नेताओं ने इन संधियों को भारत की गुटनिरपेक्षता और स्वतंत्र कार्य प्रणाली की नीति को रोकने की दिशा में एक कदम माना।

अमेरिका ने गुटनिरपेक्षता की खुल कर निंदा की। वह पहला देश था जिसने 1954 में कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया। पाकिस्तान को अमेरिका से भारी मात्रा में सैन्य सहायता भी मिली। पाकिस्तान के अमेरिका के साथ मिल जाने से भारत में निर्णय लेने वालों की आशाएँ धूमिल हो गईं। इसने भारत को दूसरी महान शक्ति, सोवियत संघ, के साथ मित्रता करने पर मजबूर कर दिया क्योंकि भारत को अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति के अंतर्गत कूटनीतिक लाभ और सैन्य शक्ति निर्माण भी करना था। सोवियत संघ ने भी नव स्वतंत्र एशियाई और अफ्रीकी देशों के मामलों में गहरी रुचि ली। अमेरिका द्वारा गुटनिरपेक्षता की आलोचना के विपरीत रूस ने इसकी सराहना की। दक्षिण एशिया में सोवियत संघ का सैन्य गठबंधन न होने के बावजूद भी उसे भारत के रूप में एक सहानुभूतिपूर्ण मित्र मिला।

भारत को एक उदार लोकतंत्र के रूप में प्रोत्साहित करने एवं किसी साम्यवादी शक्ति पर आश्रित होने से रोकने के लिए दूसरी ओर अमेरिका ने 1950 और 1960 के दशकों में भारत के साथ अनुकूल आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संबंध बनाए रखा। इसने 1951 के तकनीकी समझौते के अंतर्गत भारत को बहुमूल्य तकनीकी सहायता दी। इसने कमी के समय भारत को भारी मात्रा में खाद्य पदार्थ भी उपलब्ध कराए। लेकिन सैनिक सामरिक दृष्टि से अमेरिका की नीति पाकिस्तान के साथ सैनिक गठजोड़ को मज़बूत करके भारत को रोकने एवं क्षेत्रीय शक्ति संतुलन बनाने की थी। अमेरिका द्वारा भारत को रोकने की नीति के पीछे उसकी तीन आशंकाएँ थीं : (i) अमेरिका के विरोधी सोवियत संघ की ओर भारत का झुकाव; (ii) अपने आकार, आर्थिक और सैन्य शक्तियों के कारण भारत का क्षेत्रीय शक्ति बनने का लक्ष्य और क्षमता; (iii) अमेरिका की आशंका कि भारतीय उपमहाद्वीप में युद्ध की संभावना अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए ख़तरा हो सकता है। भारत द्वारा क्षेत्रीय आधिपत्य स्थापित करने की क्षमता को रोकने के लिए अमेरिका ने पाकिस्तान को उपमहाद्वीपीय सुरक्षा का स्तंभ बनाया। अमेरिका भारत की क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभरने की क्षमता से इतना आशंकित था कि उसने पुर्तगाल के उपनिवेश गोवा, दमन और दीव को भारत द्वारा मुक्त कराने की भी निंदा की जबकि आशा यह थी कि अमेरिका इस कारवाई की प्रशंसा करेगा। अमेरिका औपनिवेशिक शासन को समाप्त करने एवं आत्म निर्णय की वकालत करता

आ रहा था। भारत आश्चर्यचकित एवं क्षुब्ध था। उसे लगा कि अमेरिका औपनिवेशिक विरोध के प्रति वचनबद्धता व्यक्त करने के स्थान पर अपने (उत्तर एटलांटिक संधि संगठन) के मित्र पुर्तगाल के लिए ज्यादा चिंतित था।

इस दौरान अमेरिका केवल एक बार 1962 में चीनी आक्रमण के समय भारत की सहायता करने आया। उस समय अमेरिका ने भारत को उपयोगी नैतिक और भौतिक सहायता प्रदान की। गुटनिरपेक्षता के प्रति भी अमेरिकी दृष्टिकोण में थोड़ा बदलाव आया। जॉन एफ. कैनेडी प्रशासन का मानना था कि तृतीय विश्व के देशों की शीत युद्ध के प्रति तटस्थता साम्यवाद का स्वीकार्य विकल्प थी। चूँकि भारत एशिया में एक प्रमुख शक्ति था इसलिए भारत की सापेक्ष तटस्थता साम्यवाद अपनाने से बेहतर विकल्प था।

अमेरिका के लिए पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का यह औचित्य था कि यह सहायता सोवियत संघ और चीन के विरुद्ध दी गई थी। लेकिन वास्तविकता यह थी कि पाकिस्तान के लिए यह सहायता मुख्य रूप से भारत के खिलाफ प्रयुक्त होने वाली थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अमेरिकी राष्ट्रपति आइसेनहावर ने प्रधान मंत्री नेहरू को लिखित वचन दिया था कि अमेरिकी शस्त्रों का भारत के विरुद्ध प्रयोग करने की अनुमति पाकिस्तान को नहीं दी जाएगी।

1962 के बाद भारत-अमेरिकी संबंधों में जो भी सुधार हुआ वह 1965 के बाद समाप्त होने लगा। उस समय भारत में खाद्यान की भयंकर कमी थी और अमेरिकी प्रशासन ने खाद्यान भेजने की प्रक्रिया धीमी कर दी। परंतु इसके बावजूद भारत वियतनाम में अमेरिकी कारवाई के विरुद्ध बोलने से पीछे नहीं रहा। तदापि 1966-69 के दौरान दोनों देशों के बीच संबंध सुधारने के कुछ प्रयास किए गए जिनका कोई खास परिणाम नहीं निकला। दोनों देशों के संबंध 1969-71 के बीच निम्नतम स्तर पर आ गए।

इस समय तक सोवियत संघ और चीन के बीच भारी मतभेद पैदा हो चुका था। अमेरिकी प्रशासन ने चीन के साथ संबंध सुधारने के लिए जी-तोड़ प्रयास प्रारंभ कर दिए। भारत के लिए अमेरिका-पाकिस्तान-चीन संबंध चिंता का विषय था। फिर भी भारत ने अपना गुटनिरपेक्ष रुख कायम रखा। 1971 में पूर्वी पाकिस्तान (बांग्लादेश) की घटनाओं से स्थिति में आमूल परिवर्तन आया। पाकिस्तान पक्षीय अमेरिकी नीति ने अंततः भारत को भारत-सोवियत संधि के लिए विवश किया और इस तरह भारत को सोवियत संघ के और करीब ला खड़ा किया। 1971 के बांग्लादेश संकट ने भारत-पाक तनावपूर्ण संबंधों के बीच अमेरिका के पाकिस्तान के प्रति झुकाव और पाकिस्तान पर उसके निर्णायक प्रभाव को स्पष्ट कर दिया। अमेरिका ने 1974 में भारत के भूमिगत परमाणु परीक्षण की कड़ी आलोचना की, यद्यपि भारत ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका परमाणु कार्यक्रम पूर्णतया शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए था। 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के बाद भारत और अमेरिका के बीच मनमुटाव अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया क्योंकि भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत कारवाई की भर्त्सना नहीं की। इस परिस्थिति में अमेरिका ने पाकिस्तान को अग्रणी राज्य का दर्जा दिया और उसे भरपूर सैनिक सहायता प्रदान की। इस तरह अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को नए शस्त्रों की आपूर्ति और भारत द्वारा अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की भर्त्सना न करने के परिणामस्वरूप भारत अमेरिकी संबंध में नए तनाव पैदा हुए। हालाँकि 1974 में अमरीकी विदेश सचिव हेनरी किसिंजर की भारत यात्रा और दोनों देशों के बीच संबंध सुधारने के कूटनीतिक प्रयासों से सकारात्मक और प्रत्यक्ष बदलाव उजागर हुए।

संबंधों में सुधार

1970 के दशक के अंत तक सामान्य तौर पर अमेरिकी प्रशासन ने निश्चित रूप से भारतीय नीति को रूस के पक्ष में माना जबकि भारतीयों ने अपनी नीति को गुटनिरपेक्षता और अहस्तक्षेप की निरंतरता माना। अक्तूबर 1981 में प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी और राष्ट्रपति रीगन की कैनकन बैठक ने दोनों को अपनी-अपनी विदेश नीतियों के आधारभूत तत्त्वों के पुनरीक्षण के लिए प्रेरित किया। रीगन प्रशासन ने अमेरिकी-पाकिस्तानी सुरक्षा संबंधों को काफी महत्त्वपूर्ण मानते हुए पाकिस्तान को बड़ी सैनिक सहायता प्रदान की। साथ ही रीगन ने भारत के साथ सुधरते संबंधों के महत्त्व को भी समझा और एक समानांतर रवैया अपनाते हुए पाकिस्तान को तो शस्त्रों की आपूर्ति करता रहा तथा दूसरी ओर भारत को राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर सहायता करता रहा। इस तरह 1980 के दशक में अमेरिका और भारत के बीच उच्च प्रौद्योगिकी सहयोग का विस्तार हुआ। नवंबर 1984 में प्रतिरक्षा प्रौद्योगिकी के निर्यात को नियंत्रित करने के लिए दोनों देशों द्वारा आपसी समझौते पर हस्ताक्षर के बाद आपसी ताल-मेल के एक नए युग की शुरुआत हुई।

प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने अमेरिका के साथ संबंधों के सुधार में काफी अभिरुचि दिखलाई, प्रत्युत्तर में अमेरिका का रुख सकारात्मक रहा। दोनों देशों ने उच्च तकनीक के स्थानांतरण पर एक समझौता किया। अमेरिका ने वायुयानों के साथ-साथ विकसित सैन्य सामग्री और हथियार देने की पेशकश भी की। भारत द्वारा चिंता व्यक्त करने पर अमेरिका ने पाकिस्तान को जासूसी विमान बेचने की पेशकश वापस ले ली। कतिपय नए संबंधों का विकास बाधाओं और समस्याओं से रहित नहीं था। कई मुद्दों पर दोनों देशों के बीच मतभेद कायम रहे। इनमें से एक परमाणु नीति से संबंधित था। भारत की बढ़ती हुई आर्थिक, सैन्य और सामरिक महत्त्व के दृष्टिगत और उसके द्वारा अपनाई गई आर्थिक उदारवाद की नीतियों के परिणामस्वरूप संबंधों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया तेज़ हुई और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद इसे महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन मिला।

शीत युद्ध के बाद भारत-अमेरिकी संबंध

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद भारतीय उपमहाद्वीप के प्रति अमेरिकी रवैये में महत्त्वपूर्ण बदलाव आया। शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के टूटने और बिखरने के साथ पूर्व और पश्चिम के बीच सैद्धांतिक विरोध समाप्त हो गया। केंद्र नियंत्रित अर्थव्यवस्था, बाज़ार अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर होने लगी। अमेरिका अपने आपको एकमात्र महान शक्ति के रूप में देखने लगा। सोवियत संघ के विघटन और अफगानिस्तान से उसकी वापसी के साथ, दक्षिण एशिया में सोवियत संघ को रोकने की अमेरिकी रणनैतिक उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में पाकिस्तान की भूमिका महत्त्वहीन हो गई। पाकिस्तान की परमाणु क्षमता की अनवरत खोज ने भी अमेरिका को उससे दूर कर दिया। दूसरी तरफ भूमंडलीकरण के युग में अपने विशाल आकार, बड़ी आबादी, एक बड़े मध्यमवर्गीय समुदाय और आर्थिक क्षमता के कारण भारत की पहचान दुनिया के एक बड़े उभरते बाज़ार के रूप में होने लगी। अपनी आर्थिक समस्याओं का सामना करने के लिए भारत ने बाह्य निवेश, तकनीकी सहायता और व्यावसायिक संबंध खोजना शुरू कर दिया। पाकिस्तान द्वारा कश्मीर में लगातार आंतकवाद को बढ़ावा देना और कश्मीर मुद्दे का अंतर्राष्ट्रीयकरण करने का प्रयास भारत के लिए चिंता का विषय है। इस तरह भारत और अमेरिका दोनों ने शीत युद्ध के दौरान अपने हितों की रक्षा के लिए जो

सैद्धांतिक आवरण ओढ़ रखा था उसे उतार फेंका। उन्होंने एक दूसरे को नए सिरे से देखना शुरु किया। अब अमेरिका ने यह जान लिया है कि अपनी आर्थिक मज़बूती के कारण विश्व के इस क्षेत्र में भारत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में विकास क्षमता की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

उपरोक्त बदलाव के दृष्टिगत दोनों देशों के बीच आर्थिक और प्रतिरक्षा संबंधों ने नया रूप लेना शुरु कर दिया। दोनों देशों के बीच बातचीत ने भारत को अमेरिका के साथ सैनिक परामर्श के उस क्षेत्र में ला दिया जिसका भारत ने पहले कभी अनुभव नहीं किया था। दोनों देशों के बीच सबसे बड़ी बाधा परमाणु नीति को लेकर थी। भारत ने केवल भेदभावपूर्ण शस्त्र नियंत्रण समझौते में प्रवेश करने से ही इंकार नहीं किया बल्कि अपने प्रक्षेपात कार्यक्रम का भी विकास कर लिया। इस संदर्भ में भारत द्वारा 1998 में किए गए परमाणु परीक्षण ने अमेरिका के साथ इसके संबंध को कमज़ोर कर दिया। क्लिंटन प्रशासन ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर कई प्रतिबंध लगा दिए। अमेरिकी नीति निर्माताओं ने भारत के परमाणु एवं प्रक्षेपात विस्तार की सराहना नहीं की। भारत का परमाणु शक्ति धारक और संभावित परमाणु शक्ति धारक के साथ लंबी अवधि से क्षेत्रीय विवाद चले आ रहे हैं। अपने पड़ोसी देशों से अपनी रक्षा के लिए परमाणु शक्ति को अवरोधक के रूप में प्राप्त करने के अतिरिक्त भारत के पास कोई रास्ता नहीं था, ताकि एशिया-प्रशांत के विवादाग्रस्त सामरिक वातावरण में वह अपने लिए कूटनीतिक और सैनिक स्थान बना सके।

1998 के परमाणु परीक्षण के बाद अमेरिका द्वारा प्रतिबंध लागू करने के बावजूद भारत ने अपने संबंधों को कटु होने से रोकने का प्रयास किया। अपने व्यवहारिक दृष्टिकोण के लिए विख्यात अमेरिकी विदेश नीति प्रतिष्ठान भी भारत की परमाणु नीति को समायोजित करते हुए नज़र आए। इसका एक उदाहरण नवंबर 1998 में तब सामने आया जब पाकिस्तानी सेना की एक बड़ी टुकड़ी और पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों ने कारगिल की ऊँचाइयों पर नियंत्रण रेखा को पार किया। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के अन्य सदस्यों से स्वर मिलाते हुए अमेरिका ने इसके लिए पाकिस्तान की भर्त्सना की। कुछ आलोचकों का मानना है कि पाकिस्तान की आलोचना करते हुए अमेरिका ने अपने आप भारत-पाकिस्तान के बीच मध्यस्थ बनने की भूमिका अपने ऊपर ली । 11 सितंबर 2001 को अमेरिका में हुए आतंकवादी हमले ने भारत, पाकिस्तान और अमेरिका के बीच संबंधों में एक नए अध्याय का प्रारंभ किया है।

संपूर्ण विश्व में आतंकवादी गतिविधियों के बढ़ने से अमेरिका ने आतंकवाद के विरूद्ध अंतर्राष्ट्रीय युद्ध छेड़े जाने और गैर-पारंपरिक सहयोगियों के साथ संबंध बनाने की आवश्यकता को पहचाना। इस प्रयास में अमेरिकी प्रशासन भारत को आतंकवाद विरोधी विश्व व्यापी निगरानी के सक्षम अंग के रूप में देखना चाहता है। यह सर्वविदित है कि भारत को आंतरिक स्थायित्व के साथ-साथ सैन्य और आर्थिक शक्ति प्राप्त है और इसकी परिपक्व, अविस्तारवादी अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति है। भारत और अमेरिका दोनों सीमा पार आतंकवाद के निशाने पर हैं। इस तरह हम निकट भविष्य में आतंकवाद की समस्या से निपटने में भारत और अमेरिका के बीच बढ़ते सहयोग की आशा कर सकते हैं। इसका कतई यह मतलब नहीं है कि पाकिस्तान में अमेरिका की रुचि समाप्त हो गई है। वस्तुतः अमेरिका, विशेष रूप से कट्टरवादी ताकतों के विस्तार को रोकने के लिए भी, पाकिस्तान के साथ अपने संबंध सुधारने का प्रयास कर रहा है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, बदली हुई स्थिति में भारत और अमेरिका के बीच व्यापारिक संबंधों में विस्तार के कुछ बेहतर अवसर मौजूद हैं।

भारत को प्रौद्योगिक सहयोग की नितांत आवश्यकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारत और अमेरिका के बीच जो अविश्वास का इतिहास था और आर्थिक, रणनैतिक संवाद तथा सहयोग की भावना का जो अभाव था, उससे वे बाहर निकलने का प्रयास कर रहे हैं। यह सत्य है कि अमेरिका अभी भी अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति को ही अपना लक्ष्य मानता है। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ भारत को अमेरिका के साथ मैत्रीपूर्ण और सौहार्दपूर्ण संबंध बनाने का प्रयास करते रहना चाहिए, वहीं उसे अपने हितों विशेषतः संप्रभुता और स्वतंत्रता के प्रति भी जागरूक रहना चाहिए।

भारत और रूस

सोवियत संघ के विघटन के बाद 1991 में रूस का एक स्वतंत्र देश के रूप में उदय हुआ। किंतु रूस ने अपने को भूतपूर्व सोवियत संघ के निरंतरक राज्य के रूप में घोषित किया। भारत और अधिकांश दूसरे देशों ने भी रूस को भूतपूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी देश के रूप में मान्यता दी। फलस्वरूप भारत का रूस के साथ संबंध एक ओर तो नए गैर-साम्यवादी रूस के साथ संबंध है और दूसरी ओर भूतपूर्व सोवियत संघ के साथ संबंधों की निरंतरता है। पिछले दस सालों की प्रगति से भी स्पष्ट है कि भारत-रूस संबंध कई मामलों में निरंतरता पर आधारित है। सोवियत संघ के साथ भारत के संबंध का विशेष महत्त्व था। इन संबंधों का महत्त्व दलगत राजनीति से परे है। सोवियत संघ के साथ मज़बूत और स्थायी संबंध की आवश्यकता पर राष्ट्रीय आम सहमति थी। दोनों तरफ से यह प्रयास जारी है। यद्यपि उत्तर शीत युद्ध स्थिति में कुछ मामलों में थोड़ा परिवर्तन नज़र आता है। 10 जुलाई 2000 को रूसी संघ द्वारा जारी नई विदेश नीति अवधारणा में यह कहा गया है कि एशिया में रूसी विदेश नीति की एक निर्णायक दिशा भारत समेत अग्रणी देशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध कायम करना होगा। भारत और रूस के बीच इन संबंधों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि भूतपूर्व सोवियत संघ के साथ भारत के संबंधों की उत्पत्ति और विकास को जाना जाए।

भारत-सोवियत संबंध

मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा पर आधारित रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप 1917 में सोवियत संघ अस्तित्व में आया। समाजवादी विचारधारा के अनुसार प्रारंभ से ही सोवियत संघ ने उपनिवेशवाद की भर्त्सना की और भारत सहित अन्य देशों में चल रहे स्वतंत्रता संग्रामों को समर्थन दिया। सोवियत संघ द्वारा अपनाई गई योजना-प्रक्रिया ने इसे कुछ ही वर्षों में एक विकसित शक्तिशाली देश बना दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जूझ रहे और पूँजीवादी दमन के परिणामों को सह रहे भारतीय नेतागण स्पष्टतः अपने स्वतंत्रता संग्राम को मिल रहे सोवियत समर्थन और उस देश की उपलब्धियों के प्रशंसक थे। इसलिए वे लोग साम्यवादी विस्तार की साजिश संबंधी पाश्चात्य देशों की आशंका से सहमत नहीं थे।

स्वतंत्रता के समय सैद्धांतिक मतभेद के बावजूद दोनों देशों के बीच सहयोग संबंधों के विकास की आशा थी। स्वतंत्रता के चार महीने पहले ही अप्रैल 1947 में सोवियत संघ द्वारा भारत को एक संप्रभु देश के रूप में मान्यता प्रदान करने और कूटनीतिक संबंध स्थापित करने से यह आशा और भी मज़बूत हो गई। यद्यपि भारत की स्वतंत्रता के समय सोवियत संघ स्टालिन के नियंत्रण में था जिसकी कट्टर धारणा थी कि जो देश साम्यवादी नहीं थे वे सोवियत संघ के विरुद्ध थे। स्वतंत्रता के बाद भारत के राष्ट्रमंडल के सदस्य बने रहने को पश्चिमी देशों के प्रति भारत का झुकाव समझा गया। इसी प्रकार भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता को अपनाना एवं कुछ मुद्दों पर

उसके स्वतंत्र विचार सोवियत संघ को अच्छे नहीं लगे। यहाँ तक कि 1947 में सोवियत संघ भारत की स्वतंत्रता एवं उसके भविष्य के प्रति भी आश्वस्त नहीं था।

1953 के बाद स्थिति बदलने लगी। स्टालिन युग की समाप्ति के बाद सोवियत संघ का नया नेतृत्व नवस्वतंत्र अफ्रीकी-एशियाई देशों को अपने स्वाभाविक मित्र के रूप में देखने लगा। इसलिए सोवियत संघ ने भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति की सराहना की। सोवियत नेतृत्व को यह एहसास हो गया कि भारत साम्यवाद के प्रसार के ख़तरे से भय ग्रस्त नहीं था। वास्तव में भारत एशियाई क्षेत्र में आत्म-निर्णय के अधिकार को ख़तरा बनने वाले पाश्चात्य प्रभाव के प्रसार का विरोध कर रहा था। भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को सोवियत संघ के विरोध में नहीं अपितु अपनी सुरक्षा और राष्ट्रीय चिंताओं से निपटने के लिए अपनाया था। सबसे बड़ी बात यह थी कि सोवियत संघ ने रणनैतिक सहयोगी के रूप में भारत के महत्त्व को तब समझा जब 1954 में पाकिस्तान सीटो और सेंटो का सदस्य बना और रूसी सीमा पर अमेरिका को सैनिक आधार प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सोवियत संघ पाकिस्तान को अमेरिका का अनुयायी राज्य समझने लगा जो इस क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य और सामरिक हितों की वृद्धि एवं पोषण में लगा था। इसके बाद भारत और सोवियत संघ के बीच संबंध बहुत ही सौहार्दपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण ढंग से विकसित होने लगे। एक क्षेत्र जहाँ सोवियत संघ ने मज़बूती के साथ भारत का पक्ष लिया वह कश्मीर का मुद्दा था। 1955 तक सोवियत संघ ने बेहिचक भारत समर्थक रुख अपनाते हुए जम्मू-कश्मीर को भारत का एक अभिन्न अंग घोषित किया। भारत-अमेरिका संबंध की चर्चा में पहले बताया जा चुका है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ अन्य घटनाएँ और सोवियत संघ की उन पर प्रतिक्रिया ने पाकिस्तान और अमेरिका की तुलना में भारत और सोवियत संघ को अधिक निकट कर दिया।

सामरिक संबंधों के साथ-साथ व्यापार और आर्थिक संबंधों के द्वार भी खोल दिए गए। इसका प्रारंभ 1953 में भारत सोवियत व्यापार समझौते के साथ हुआ। इसके बाद 1955 में भिलाई इस्पात संयंत्र के निर्माण के लिए दूसरा समझौता हुआ। भारत को कम ब्याज दर पर और लंबी अवधि के लिए सोवियत संघ से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। व्यापार संबंध का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रुपए में व्यापार करना था। इस तरह रुपए समझौते के अंतर्गत व्यापार के संचालन के लिए भारत में आयात का भुगतान वस्तुओं के निर्यात के द्वारा होना था। विदेशी मुद्रा के मुक्त आदान-प्रदान को समाप्त कर रुपए को लेखा की एक इकाई बना दिया गया। भारत और सोवियत संघ के बीच व्यापारिक संबंध बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ने लगे।

शीत युद्ध के दौरान भारत का लक्ष्य महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्र से स्वयं को बचाना था। उसी समय, विशेषत: 1962 के चीनी आक्रमण के बाद, भारत को अपनी प्रतिरक्षा के लिए हथियारों की आवश्यकता थी। संसाधनों की कमी और विदेशी मुद्रा के अभाव के कारण भारत का सुरक्षा प्रबंध सीमित था। पाकिस्तानी दबाव के अंतर्गत और अपने सामरिक हितों के कारण अमेरिका ने चीनी आक्रमण के बाद उत्पन्न हुई स्थिति में भारत को सीमित हथियार दिए। लेकिन सोवियत संघ ने भारत को रियायती कीमत, कम ब्याज दर पर और लंबी अवधि के लिए हथियार बेचे। भारत-चीन युद्ध में सोवियत संघ ने प्राय: भारत का समर्थन किया। 1965 के भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान ने खुले तौर पर अमेरिकी हथियार, अत्याधुनिक टैंकों और कुछ चीनी हथियारों का भारत के विरूद्ध प्रयोग किया। अमेरिका द्वारा चीन के निकट आने के प्रयास एवं अमेरिका-चीन-पाकिस्तान गठजोड़ की संभावनाएँ भारत के लिए गंभीर चिंता का विषय बनी।

अमेरिका-चीन-पाकिस्तान धूरी का प्रभाव 1971 के बांग्लादेश संकट के दौरान स्पष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में अगस्त 1971 में भारत और भूतपूर्व सोवियत संघ के बीच मैत्री और सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर हुए। वह समझौता प्रतिरोधक सिद्ध हुआ और अमेरिका ने इस युद्ध में हस्तक्षेप नहीं किया। 1971 की संधि भारत द्वारा एक महान शक्ति के साथ की गई पहली राजनीतिक संधि थी। कुछ आलोचकों का मत है कि यह गुटनिरपेक्षता के रास्ते से भटकाव था किंतु उस परिस्थिति में तथा अमेरिका की सीधी धमकी को देखते हुए शायद यह आवश्यक भी था। भारत भर में इस संधि का सर्वत्र स्वागत हुआ। इसके बाद भारत-सोवियत संबंध भारत में बनने वाली सभी सरकारों के अधीन विकसित होते रहे। यहाँ तक कि जिस समय सोवियत संघ के टूटने के स्पष्ट संकेत मिल रहे थे, तब 1971 की 20 वर्षीय संधि को अगस्त 1991 में अगले दो दशकों के लिए आगे बढ़ा दिया गया।

साधारणतया भारत-सोवियत संबंध पारस्परिक लाभ और अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर एक जैसे दृष्टिकोण पर आधारित थे। दोनों राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक समानता, स्वतंत्रता आंदोलन को समर्थन तथा सिद्धांततः उपनिवेशवाद, जातीय भेदभाव और दमन के विरुद्ध संघर्ष में विश्वास रखते थे। निःसंदेह, दोनों देशों के बीच संबंधो के निर्धारण में सैन्य एवं सामरिक हितों ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत-रूस संबंधों में ये अब भी कई प्रकार से विद्यमान हैं।

भारत-रूसी संबंध

दिसंबर 1991 तक न केवल सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था समाप्त हो गई बल्कि यह पंद्रह स्वतंत्र गणराज्यों में विघटित हो गया। इन सभी राज्यों को संप्रभु राज्य के रूप में मान्यता मिल चुकी है। रूसी संघ को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के द्वारा सोवियत संघ के उत्तराधिकारी राज्य के रूप में मान्यता दी जा चुकी है। इसका तात्पर्य यह है कि सोवियत संघ के अधिकार तथा प्रतिबद्धताएँ अब रूस की हैं। भारत भी इन पंद्रह गणराज्यों को संप्रभु देशों के रूप में मान्यता दे चुका है और इन सभी के साथ मैत्रीपूर्ण एवं सहयोगपूर्ण संबंध बनाए रखने की इच्छा प्रकट की है। हालाँकि इसके विशेष हित रूस के साथ जुड़े हैं।

भारत और रूसी संघ दोनों ने समय की कसौटी पर खरे उतरने, पारंपरिक संबंधों को कायम रखने की आशा एवं प्रतिबद्धता व्यक्त की है। यद्यपि 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में कुछ बाधाएँ थीं, 1992 में भारत-रूसी संबंध के सिलसिले में रूसी नेतृत्व के सामने तीन मुख्य धाराएँ थीं : (i) पारंपरिक संबंधों के प्रवर्तक निरंतरता पर आधारित नीति की वकालत कर रहे थे; (ii) कुछ सैद्धांतिक पूर्वाग्रहों से परे नए तरह के संबंधों के समर्थक थे; (iii) अमेरिकी मार्ग के कट्टर समर्थक भारत-रूसी संबंधों के महत्त्व को अनदेखा कर अमेरिकी-रूसी संबंधो को सामरिक स्वरूप देने के इच्छुक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों देशों का नेतृत्व और अभिजात वर्ग, इन तीनों धाराओं से अंशतः प्रभावित था। इसलिए रूस की स्थापना के पहले दो वर्षों में दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय संबंधों की गर्मजोशी दृष्टिगोचर नहीं हुई। 1993 में रूसी राष्ट्रपति येल्तसिन की भारत यात्रा के साथ पुराने संबंधों का नवीकरण नए उत्साह के साथ हुआ।

1994-96 की अवधि के दौरान दोनों देशों के बीच कई उच्च स्तरीय यात्राओं का आदान-प्रदान हुआ। भारत को कश्मीर मुद्दे पर रूसी समर्थन और प्रतिरक्षा औजारों के लिए कल-पुर्जों की आपूर्ति जारी रखने का आश्वासन दिया गया। साथ ही शीत युद्ध के पश्चात् बदले हुए वातावरण एवं अर्थव्यवस्था पर

बाज़ार के हावी होने से दोनों रूस और भारत व्यापक विकल्प की तलाश में थे। रूस यूरोपीय एशियाई पहचान के बजाय अपनी यूरोपीय पहचान बनाने का इच्छुक था। इसका विश्वास था कि भविष्य में इसकी समृद्धि और प्रभाव अमेरिका और पश्चिमी यूरोप से निकट संबंध कायम करने में निहित है। वह जी-7 विश्व के अति औद्योगिक और विकसित सात देशों के समूह में शामिल होना चाहता था। दूसरी ओर भारत भी बदली हुई स्थिति में और अति परिष्कृत हथियारों की आवश्यकता के कारण रूस के अतिरिक्त अन्य विकल्पों की तलाश में था। जैसा कि हम भारत-अमेरिका संबंध की विवेचना में देख चुके हैं कि अमेरिका ऐसा विकल्प भारत को दे रहा था। साथ ही भारत में विदेशी निवेश की आवश्यकता इसे व्यापार और आर्थिक संबंधों के लिए पश्चिम की ओर अग्रसर कर रही थी, तथापि भारत और रूस दोनों ने विभिन्न स्तरों पर एक दूसरे के साथ संबंध बनाए रखा।

1997 के प्रारंभ से रूस को पाश्चात्य पश्चिमी ताकतों से वितृष्णा होने लगी। जी-7 में इसके सम्मिलित होने के प्रयासों को सफलता नहीं मिली। अमेरिका कई भूतपूर्व साम्यवादी पूर्वी यूरोपीय देशों को शामिल करने के लिए उत्तरी एटलांटिक संधि संगठन (नेटो) का विस्तार कर रहा था। यद्यपि रूस को यह पसंद नहीं था तथापि अंततः रूस ने स्वयं नेटो-रूस समझौते पर हस्ताक्षर किए। इन सारी घटनाओं ने रूस को अपनी प्राथमिकताओं के पुनरीक्षण के लिए मजबूर किया। यद्यपि रूसी विदेश नीति में मौलिक रूप से पश्चिमी-पक्षीय झुकाव जारी रहा फिर भी रूस, भारत, चीन और जापान के और निकट आने लगा।

मार्च 1997 में भारत के प्रधान मंत्री एच. डी. देवगौडा की मास्को यात्रा से संबंधों में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई। दोनों देशों के बीच कई समझौते किए गए। दोनों देशों के बीच के संबंध जो उच्च स्तरीय राजनीतिक गतिविधियों के कारण से मज़बूत हुए थे वे 3 अक्तूबर 2000 में राष्ट्रपति व्लादीमीर पुतिन की भारत यात्रा से अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए। इस संबंध में सामरिक सहयोग को स्वीकृति देकर राष्ट्रपति पुतिन और प्रधान मंत्री वाजपेयी ने संयुक्त कार्य दल के गठन द्वारा निरंतर राजनीतिक संबद्धता एवं सुरक्षा विषयों पर वार्ता के क्षेत्र का विस्तार किया। राष्ट्रपति पुतिन और प्रधान मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा रणनैतिक साझेदारी पर हस्ताक्षर ने निरंतर राजनीतिक गतिविधियों और प्रतिरक्षा संबंधी मामलों में बातचीत का क्षेत्र व्यापक कर दिया जो संयुक्त कार्यदल के गठन से संभव हुआ। 5 नवंबर 2001 में रूसी राष्ट्रपति व्लादीमीर पुतिन और भारतीय प्रधान मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा मास्को घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करना भारत और रूसी संघ को निकट लाने और मैत्रीपूर्ण संबंध को मजबूत बनाने में एक और मील का पत्थर सिद्ध हुआ। पिछले एक दशक से अधिक से दोनों देश अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की विभीषिका के शिकार (रूस चेचेन्या के मामले में और भारत कश्मीर के मामले में) रहे हैं, इसलिए आतंकवाद को रोकने और समाप्त करने की आवश्यकता और सहयोग के संबंध में दोनों देशों के विचार समान है। आतंकवाद के उन्मूलन के लिए विश्वव्यापी प्रयासों, और विशेषकर अमेरिका की पहल को, भारत और रूस समर्थन दे रहे हैं, साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि आतंकवाद को पहचानने और उससे निपटने के लिए दोहरे मापदंड नहीं होने चाहिए।

मास्को उद्घोषणा दोनों देशों के बीच भावी आर्थिक संबंधों के विस्तार की इच्छा पर बल भी देता है। इस तरह दोनों देश व्यापार और वाणिज्य संबंधी गतिविधियों में व्यापक विस्तार की अपेक्षा कर सकते हैं। दोनों देश के नेतृत्व ने स्पष्ट संकेत दिया है कि वे अपने संबंधों को पहले की तरह ऊँचाइयों तक ले जाना चाहते हैं। तेज़ी से बदल रही अंतर्राष्ट्रीय स्थिति

में कोई निश्चितता नहीं है; फिर भी वर्तमान में ऐसा लगता है कि भारत-रूस संबंध पारंपरिक भारत-सोवियत मैत्री को पुनर्जीवित करने की तैयारी में है।

निष्कर्ष के तौर पर हम भारत और रूस (भूतपूर्व सोवियत संघ) के संबंधों के विकास को सिद्धार्थ वरदराजन द्वारा वर्णित निम्न चरणों में विभक्त कर सकते हैं। भारत और रूस (भूतपूर्व सोवियत संघ) के बीच संबंध तीन चरणों से गुजरे हैं – स्टालिन युग में सोवियत संघ ने भारत से दूरी रखी क्योंकि इसके अनुसार नेहरू का भारत प्रतिक्रियावादी था और उसे ब्रिटेन और अमेरिका से ज्यादा लगाव था। दूसरी ओर ख्रुश्चेव से लेकर गोर्बाच्योव के आरंभिक वर्षों तक आर्थिक और सैन्य मामलों में निकटता के साथ दोनों देशों के संबंधों में काफी गर्मजोशी थी। शीत युद्ध की समाप्ति और आर्थिक अराजकता की लंबी अवधि के बाद येल्तसिन ने अमेरिकी पथ के अनुसरण का प्रयास किया तो भारत-रूसी संबंधों में थोड़ी ठंडक आ गई। लेकिन अब रूस-अमेरिका संबंधों के एक नए और अस्थायी दौर में प्रवेश के साथ, मास्को भारत के साथ अपनी मैत्री के नवीकरण हेतु तत्पर है।

अभ्यास

1. भारत-अमेरिकी संबंधों का परीक्षण कीजिए।
2. संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत के बीच संबंध के सामान्यीकरण का वर्णन कीजिए।
3. 1990 तक भारत-सोवियत संबंध की व्याख्या कीजिए।
4. भारत-रूस संबंध के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) पाकिस्तान की ओर अमेरिकी झुकाव
   (ii) 1971 की भारत-सोवियत संधि
   (iii) 1971 के भारत-पाक युद्ध के समय अमेरिका और रूस का भारत के प्रति रवैया
   (iv) भारत और अमेरिका के बीच उत्तरार्द्ध शीत युद्ध संबंध

अध्याय 19

भारत एवं संयुक्त राष्ट्र

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्तूबर 1945 में की गई। इसका उद्देश्य विश्व को अगले युद्ध के भय से बचाना, मानवाधिकारों में आस्था की पुष्टि, मानव की गरिमा, महिला और पुरुष के लिए समान अधिकार और राष्ट्रो के बीच समानता स्थापित करना था। यह विश्व में ऐसा वातावरण निर्मित करना चाहता है जिसके अंतर्गत न्याय एवं संधियों और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति सम्मान सुनिश्चित हो सके। संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य और संगठन का उल्लेख 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' में किया गया है, जो सैन फ्रांसिस्को में 25 जून 1945 में अंगीकृत किया गया था। संयुक्त राष्ट्र चार्टर का प्रारूप तैयार करने वाले सैन फ्रांसिस्को अधिवेशन में भारत ने भाग लिया और उसे संगठन की मौलिक सदस्यता प्राप्त होने का सम्मान मिला। हम सब भली-भाँति जानते हैं कि उस समय भारत एक स्वतंत्र देश नहीं था।

संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्य, सिद्धांत और संगठन

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के मुख्य उद्देश्य हैं : (i) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम करना; (ii) राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित करना; (iii) अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताओं को बढ़ावा देना; और (iv) इन आम उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए केंद्र का काम करना। संयुक्त राष्ट्र के आधारभूत सिद्धांत हैं : (i) सभी सदस्यों के बीच समानता; (ii) घोषणा पत्र (चार्टर) के अनुसार सदस्य राष्ट्रों द्वारा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन; (iii) अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और न्याय की रक्षा करते हुए अंतर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा; (iv) अन्य देशों की प्रादेशिक अखंडता विनष्ट करने हेतु किसी प्रकार की धमकी या बल प्रयोग से सदस्यों को बचाना; (v) सदस्यों द्वारा संयुक्त राष्ट्र को प्रत्येक प्रकार की सहायता प्रदान करना; (vi) यह सुनिश्चित करना कि गैर-सदस्य भी 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के अनुकूल काम करे; और (vii) किसी देश के आंतरिक मामले में संयुक्त राष्ट्र का हस्तक्षेप न करना।

संयुक्त राष्ट्र अपने मुख्य अंगो और विशिष्ट अभिकरणों (एजेन्सियो) द्वारा अपने कार्यों का संपादन करता है। 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के छः मुख्य अंग – महा सभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यास समिति, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय हैं। महा सभा संयुक्त राष्ट्र का एक परिपूर्ण अंग है। प्रत्येक सदस्य देश को इसमें प्रभुता संपन्न समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त है। आकार या शक्ति के भेदभाव के

बिना ऐसे प्रत्येक देश को एक ही मत का अधिकार प्राप्त है। इसकी बैठक वर्ष में कम-से-कम एक बार होती है। 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के अंतर्गत यह किसी भी विषय पर विचार-विमर्श कर सकती है और अपनी अनुशंसा दे सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने की प्राथमिक जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् को सौंपी गई है। इसके पाँच स्थायी और दस अस्थायी सदस्य होते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्राँस, रूस और चीन इसके स्थायी सदस्य हैं। कोई भी निर्णय लेने के लिए इन पाँचों स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। किसी भी स्थायी सदस्य के नकारात्मक मत का अर्थ है प्रस्ताव की अस्वीकृति। स्थायी सदस्यों द्वारा प्रस्ताव को अस्वीकृत करने के अधिकार को 'वीटो' शक्ति कहते हैं। दस अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन आम सभा द्वारा दो वर्ष की अवधि के लिए होता हैं। उनके पास वीटो का अधिकार नहीं है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के 54 सदस्य हैं जिनका निर्वाचन महा सभा द्वारा किया जाता है। इसका उत्तरदायित्व सदस्यों के बीच सामाजिक-आर्थिक कार्यकलापों में सहयोग सुनिश्चित करना है।

न्यास समिति की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जापान और इटली से अलग हुए भू-भाग या ऐसे भू-भाग जो उस समय किसी देश के अधीन नहीं थे, उनके प्रशासन के लिए हुई थी। लगभग सभी उपनिवेशों के स्वतंत्र हो जाने के बाद न्यास परिषद् के पास कोई विशेष कार्य नहीं बचा है।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका निर्वाचन सदस्य देशों में से होता है। यह अंतर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करता है और महा सभा तथा सुरक्षा परिषद् को कानूनी विषयों पर सलाह देता है।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का स्थायी कार्यालय है। इसका प्रधान महासचिव होता है। महासचिव का निर्वाचन महा सभा द्वारा पाँच वर्ष की अवधि के लिए होता है। वह संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख कार्यपालक होता है। इस प्रकार वह महा सभा और सुरक्षा परिषद् के महासचिव के रूप में भी कार्य करती है।

विकासात्मक कार्यों में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरणों (एजेन्सियों) का गठन हुआ है। इनमें मुख्य हैं : अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन, विश्व मौसम संगठन, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, खाद्य और कृषि संगठन, संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन तथा संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष, इत्यादि। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद से ही भारत इसके अधिकांश अभिकरणों (एजेन्सियों) में सक्रिय रहा है।

संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि भारत संयुक्त राष्ट्र के संस्थापक सदस्यों में से एक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही भारतीय नेतृत्व ने 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' के सामूहिक लक्ष्यों से पूर्णतया सामंजस्य रखते हुए अपनी विदेश नीति के सिद्धांतों का निर्धारण किया है। अतः मज़बूत और प्रभावशाली संयुक्त राष्ट्र भारत के राष्ट्रीय और वृहद् हित के लिए उपयुक्त रहा है। भारत ने स्वतंत्रता के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के संस्थापक सदस्य के रूप में एक लंबी यात्रा तय की है और संयुक्त राष्ट्र के कार्यकलापों में अपने विविध अनुभवों एवं योगदान के कारण अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित की है।

हम यह पढ़ चुके हैं कि न केवल भारत की विदेश नीति की संकल्पना संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्यों के अनुरूप है, बल्कि भारत का संविधान भी अपने राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों के अंतर्गत सरकार को अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करने और अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण निबटारे का निर्देश देता है। प्रारंभिक

दशकों में संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका यह दर्शाती है कि सभी महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर भारत द्वारा उठाए कदमों ने संयुक्त राष्ट्र को एक ऐसे निष्पक्ष और प्रभावशाली संगठन के रूप में उभारा है जो किसी शक्ति या शक्ति समूह के प्रभाव से मुक्त रह सके। विगत वर्षों की लंबी अवधि में संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख कार्यकलापों में भारत की विशिष्ट भूमिका के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है।

उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष

'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' में निहित मानव अधिकार और सभी के लिए मौलिक स्वतंत्रता के निर्धारित लक्ष्यों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र उपनिवेशवाद तथा जाति भेद मिटाने में भी प्रयासरत है। सन् 1945 में जब 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' पर हस्ताक्षर हुए थे, उस समय 75 करोड़ लोग औपनिवेशिक शासन के अधीन थे, जो कि अब लगभग समाप्त हो चुका है। उपनिवेशवाद, रंग भेद तथा जाति भेद के विरूद्ध संघर्ष करने वालों में भारत अग्रणी था। यह एक ऐसा संघर्ष था जिसने अफ्रीका और एशिया के करोड़ों लोगों का जीवन परिवर्तित कर दिया।

गैर-स्वशासित क्षेत्रों से संबधित घोषणा पत्र के प्रावधानों को एक नया बल उस समय मिला जब संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1960 में औपनिवेशिक देशों और वहाँ बसे लोगों को स्वतंत्र किए जाने के विषय में एक ऐतिहासिक उद्घोषणा की गई। उस उद्घोषणा का एकमात्र उद्देश्य किसी भी प्रकार के उपनिवेशवाद को बिना किसी शर्त के जड़ से खत्म करना था। अगले वर्ष अनौपनिवेशिक उद्घोषणा के कार्यान्वयन के लिए एक विशेष समिति गठित की गई जिसका उद्देश्य उपनिवेशवाद का अध्ययन, जाँच और उसे समाप्त करने के लिए सुझाव देना था। भारत को इस उपनिवेश समाप्ति समिति का पहला अध्यक्ष नियुक्त किया गया। 24 सदस्यीय समिति के सदस्य के रूप में भारत ने उपनिवेशवाद को समाप्त करने के लिए अनवरत संघर्ष किया है। भारत ने इस विषय को न्यास समिति एवं गैर-स्वशासित क्षेत्रों की विशेष समिति के समक्ष भी रखा। भारत ने इस विषय को गुटनिरपेक्ष और राष्ट्रमंडल अधिवेशनों में भी उठाया। प्रारंभिक वर्षों में इंडोनेशिया को मुक्त करने का प्रश्न भी भारत ने उठाया था। इसने फिलिस्तीन के बँटवारे पर स्पष्ट रुख अपनाते हुए अरब हितों की रक्षा के प्रयास किए। भारत ने फ्रांसीसी उपनिवेशों तुनिशिया, अल्जीरिया और मोरक्को की आजादी में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अफ्रीका के विभिन्न देशों की मुक्ति और जाति भेद, विशेषतया रंग भेद के विरुद्ध संघर्ष में भारत की भूमिका सर्वविदित है।

1960 के दशक तक अधिकांश उपनिवेश स्वतंत्र हो गए थे। इन नए देशों के उदय के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र की न केवल सदस्यता में वृद्धि हुई बल्कि इससे अल्प विकास के मुद्दे, गरीबी और असमान विश्व व्यवस्था के विषय भी उभर कर सामने आए। इस परिस्थिति में भारत ने नव स्वतंत्र देशों को संगठित करके उन्हें गुटनिरपेक्ष आंदोलन में भागीदार बनाने में मुख्य भूमिका निभाई। साथ ही उनकी स्वतंत्रता, विकास और स्थायित्व के लिए सामूहिक रूप से कार्य किया। वर्तमान समय में भी भारत विकासशील देशों के हितों को बड़े जोरदार ढंग से संयुक्त राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसका एक पक्ष संयुक्त राष्ट्र के सुधार की माँग है जिसकी विवेचना हम इसी अध्याय में बाद में करेंगे।

भारत और निरस्त्रीकरण

द्वितीय विश्व युद्ध के विध्वंसकारी अनुभव, विशेषतः परमाणु शस्त्र के प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र की एक प्रमुख चिंता हथियारों की होड़ पर नियंत्रण रखना था। इस दिशा में भारत लगातार सार्वभौमिकता, गैर-भेदभाव एवं प्रभावकारी अनुसरण के सिद्धांतो

के आधार पर विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहा है। परमाणु शस्त्रों की विनाशकारी क्षमता को दृष्टिगत रखते हुए भारत की सदा से एक परमाणु शस्त्र रहित विश्व में आस्था रही है। संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत गठित 18वीं राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण समिति में, महा सभा के विशेष अधिवेशनों और निरस्त्रीकरण सम्मेलनों में भारत ने निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण का समर्थन किया है। निरस्त्रीकरण में भारत की स्थिति और भूमिका की चर्चा विस्तृत रूप में हम इस पुस्तक के एक अन्य अध्याय में करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र की शांति स्थापना प्रक्रिया में भारत की भूमिका

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है, संयुक्त राष्ट्र की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए की गई थी। इस परिपेक्ष्य में भारत का विश्वास है कि संयुक्त राष्ट्र को बल प्रयोग के बजाय विवादों के शांतिपूर्ण ढंग से निबटाने पर ज़ोर देना चाहिए। 1950 और 1960 के दशकों में विश्व के अनेक भागों में ऐसे कई विवाद उठ खड़े हुए थे। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में आयोजित शांति बहाली करने के लिए गंभीर स्थितियों को आसान बनाने में मुख्य भूमिका निभाई है। हालाँकि शांति बहाली का उल्लेख 'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' में नहीं है किंतु समय के अंतराल में संयुक्त राष्ट्र द्वारा विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास हुआ है । राष्ट्र संघ नियंत्रित बलों को राज्यों के बीच अथवा राज्यों के समुदायों के मध्य विवादों को नियंत्रित करने और सुलझाने के लिए भेजा जाता है। अब तक संयुक्त राष्ट्र द्वारा लगभग चालीस शांति स्थापना संबंधी कारवाई की जा चुकी हैं।

भारतीय सैन्य टुकड़ियों ने कुछ बहुत ही कठिन कारवाईयों में हिस्सा लिया है और संयुक्त राष्ट्र की सेवा करते हुए अनेक हताहत भी हुए हैं। भारतीय सेना की उत्कृष्ट सेवा की विश्वव्यापी सराहना हुई है। भारत ने पुनर्स्थापन कारवाईयों में चार महाद्विपों में हिस्सा लिया है। इसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान एशिया और अफ्रीका में शांति और स्थायित्व स्थापित करने में रहा है। लंबी अवधि तक इसने बड़ी टुकड़ी के साथ अपनी प्रतिबद्धता कायम रख कर अद्भुत क्षमता का प्रदर्शन किया है। संयुक्त राष्ट्र को सैनिक टुकड़ियाँ प्रदान करने वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है। भारत ने सेना का एक पूरा ब्रिगेड संयुक्त राष्ट्र के 'प्रतीक्षारत व्यवस्था' को समर्पित किया हुआ है।

भारत ने कोरिया में बीमार और घायलों की निकासी के लिए अपनी अर्द्धचिकित्सक टुकड़ी उपलब्ध कराई। 1953 में कोरिया में युद्ध विराम की घोषणा के बाद भारत को 'तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग' का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। संयुक्त राष्ट्र महा सभा द्वारा प्राधिकृत भारतीय सेना के एक ब्रिगेड ने कोरिया की सैनिक कारवाई में भी हिस्सा लिया।

भारत ने मध्य पूर्व की शांति स्थापना में भी योगदान दिया। 1956 में मिस्र और इज़्राईल के बीच हिंसात्मक घटनाओं की समाप्ति के बाद वहाँ संयुक्त राष्ट्र आपात् कालीन बल तैनात किया गया। इस बल का अधिकांश भाग भारत की पैदल सेना बटालियन का था। 1956 से 1967 तक अर्थात् लगभग 11 वर्ष तक 12,000 से अधिक भारतीय सैनिक संयुक्त राष्ट्र के इस आपातकालीन बल में थे।

इंदो-चाइना के लिए जेनेवा समझौते के पश्चात् एक 'अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग' की स्थापना 1954 में हुई। भारत इस आयोग का अध्यक्ष था जिसने वियतनाम, लाओस, कंबोडिया और फ्रांस के बीच युद्ध-विराम संधि को लागू किया। 1970 में अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग के भंग होने तक भारत ने इसे एक पूरी पैदल सेना बटालियन और सहायता कर्मचारी प्रदान किए।

संयुक्त राष्ट्र के समक्ष एक बहुत ही गंभीर संकट उस समय आया जब 1960 में कांगो में सरकार और अलगाववादी शक्तियों के बीच युद्ध छिड़ गया। कांगों में संयुक्त राष्ट्र की कारवाई कई दृष्टिकोणों ने अद्भुत थी। इस कारवाई में बहुत अधिक जानें गई। साथ ही पहली बार ऐसा हुआ कि संयुक्त राष्ट्र ने एक ऐसी कारवाई की थी जहाँ विवाद दो देशों के बीच न होकर देश के आंतरिक मामले को लेकर था। इस कारवाई ने कांगो की राष्ट्रीय एकता और प्रादेशिक अखंडता को बनाए रखा। अपने अनुशासन, आत्मसंयम और मानवीय सरोकार की दृष्टि से भारतीय सैनिकों का प्रदर्शन विशिष्ट था।

1960 में यमन में पर्यवेक्षक दल के लिए भारतीय सेना ने फोर्स कमांडर और पर्यवेक्षक प्रदान किए। भारत ने साइप्रस में भी संयुक्त राष्ट्र कारवाई में भाग लिया। संयुक्त राष्ट्र ने ईरान-ईराक सीमा पर स्थिति पर नजर रखने के लिए एक सैन्यदल का गठन किया था। खाड़ी युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र ने एक इराक-कुवैत पर्यवेक्षक दल का गठन किया। नामीबिया में भी संयुक्त राष्ट्र कारवाई उसकी महत्त्वपूर्ण सफल गाथाओं में से एक है। इस कारवाई में भी फोर्स कमांडर एक भारतीय अधिकारी था। नामीबिया में विदेशी सेना की निर्बाध वापसी, चुनाव और तत्पश्चात् सरकार को सत्ता सौंपने के लिए भारतीय सैनिक पर्यवेक्षक उत्तरदायी थे। मोजांबिक में संयुक्त राष्ट्र ने शांति स्थापना और चुनाव कराने में सहायता की। यहाँ भी भारत ने अधिकारियों का एक बड़ा जत्था, स्वतंत्र मुख्यालय और अभियंता-गण प्रदान किए। यह कारवाई भी सफलतापूर्वक समाप्त हुई।

वे देश, जो संयुक्त राष्ट्र शांति स्थापना कारवाई में हिस्सा लेते हैं, उन्हें न केवल सैनिक विशेषज्ञता प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए बल्कि उन्हें राजनीतिक रूप से भी स्वीकार्य होना चाहिए। भारत के संवेदनशील शांति संबंधी कारवाई का व्यापक क्षेत्र विश्व के सभी भागों में उसकी राजनीतिक छवि का प्रमाण है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के शांति संबंधी प्रयासों में अपने जवानों का जीवन किसी राष्ट्रीय लाभ के लिए नहीं, बल्कि इस विश्व संगठन जो अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करने और सुदृढ़ करने हेतु, ख़तरे में डाला था। इसलिए भारत ने शांति स्थापना की कारवाई में न केवल अपनी सशस्त्र सेना ही प्रदान की है बल्कि संयुक्त राष्ट्र में संधिवार्ता और कूटनीति की तकनीक में भी दक्षता प्राप्त की है। भारत का योगदान इतना बृहत् रहा है कि एक भूतपूर्व संयुक्त राष्ट्र महासचिव डैग हैमर्शोल्ड ने एक बार कहा था कि संयुक्त राष्ट्र किसी भी विवाद की कल्पना नहीं कर सकता जिसे भारत जैसे देशों के रचनात्मक सहयोग के बिना सुलझाया जा सके।

अफ्रीकी-एशियाई एकता

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के तुरंत बाद यह स्पष्ट हो गया कि इसे विभिन्न देशों तथा देश-समूहों के विविध विषयों एवं हितों का सामना करना पड़ेगा। इसकी सदस्यता भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति में संयुक्त राष्ट्र के भीतर कुछ अनौपचारिक गुटों का भी आविर्भाव हुआ। इन समूहों का गठन क्षेत्रीय, वैचारिक, व्यावहारिक तथा अन्य बातों को ध्यान में रखकर किया गया। जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं, स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले भी भारतीय नेता नवोदित स्वतंत्र अफ्रीकी-एशियाई देशों के बीच एकता पर जोर दे रहे थे। इसी संदर्भ में मार्च 1947 में भारत ने नई दिल्ली में एशियाई क्षेत्रीय सम्मेलन का आयोजन किया था। उसके बाद भारत ने बाडुंग सम्मेलन के आयोजन की अगवाई की जिसके परिणामस्वरूप गुटनिरपेक्ष आंदोलन का जन्म हुआ।

संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत भारत एक अनौपचारिक अफ्रिकी-एशियाई गुट संगठित करने में अग्रणी हुआ

और संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न मंचों पर इस गुट के विचारों को प्रस्तुत करता रहा है। प्रारंभिक वर्षों में कुछ नव स्वतंत्र अफ्रीकी-एशियाई देशों की संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्ति के प्रयास को एक या दूसरी महान शक्ति द्वारा रोक दिया गया था। भारत ने उनकी सदस्यता के विषय को केवल समर्थन ही नहीं दिया बल्कि उसकी सक्रिय रूप से वकालत भी की। इसके फलस्वरूप 16 देशों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त हुई। 1960 के दशक तक अधिकांश उपनिवेशों को स्वतंत्रता मिल गई थी। एक या दूसरी महान शक्ति द्वारा उन सभी देशों पर किसी एक गुट में शामिल होने के लिए दबाव डाला जा रहा था। उपनिवेशों के विकास के लिए सहायता की आवश्यकताओं की अत्यधिक माँग को किसी विशेष शक्ति के समर्थन या विरोध के साथ जोड़ा जा रहा था। ऐसी स्थिति में भारत ने मिस्र, युगोस्लाविया, इंडोनेशिया इत्यादि के साथ मिलकर नव स्वतंत्र अफ्रिकी-एशियाई देशों के लिए गुटनिरपेक्षता के स्वप्न को प्रस्तुत किया और उन्होंने संयुक्त राष्ट्र में स्वतंत्रता और विकास संबंधी मुद्दों पर अपने विचारों पर ज़ोर देने के लिए गुटनिरपेक्ष आंदोलन के रूप में काम किया।

भारत ने 77 का समूह और 15 का समूह के गठन में एक सक्रिय भूमिका अदा की है, तथा विकासशील अफ्रीकी-एशियाई देशों के हितों की रक्षा करने एवं उनको आगे बढ़ाने के लिए इन गुटों की गतिविधियों में नेतृत्व की भूमिका निभाई है। हाल के वर्षो में अफ्रीकी और एशियाई वर्गों ने विभिन्न विषयों पर अलग-अलग मिलना और काम करना शुरू कर दिया है। कुछ विषयों पर वे अभी भी साथ रहे हैं। भूमंडलीकरण के संदर्भ में भी ये देश विकसित औद्योगिक देशों के साथ द्विपक्षीय समझौता चाहते हैं। लेकिन यह स्पष्ट होता जा रहा है कि भूमंडलीकरण की विभिन्न प्रक्रियाओं को, वर्तमान समय में, विकसित देशों के द्वारा अपनी आर्थिक और राजनीतिक हितों की दिशा में मोड़ा जा रहा है। जुलाई 2002 में दोहा में आयोजित विश्व व्यापार संगठन वार्ता में विकासशील और विकसित देशों के बीच विचारों की भिन्नता और भी स्पष्ट हो गई है। यही स्थिति संयुक्त राष्ट्र के लोकतंत्रीकरण और उसके सुधार के विषय में भी है। इसीलिए अफ्रीकी-एशियाई एकता और संयुक्त राष्ट्र में उनकी सामूहिक अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। भारत इस बात को समझने के साथ एक नेता के रूप में अपनी सर्वमान्य भूमिका को भी समझता है।

सुधार प्रक्रिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के समय इसके 51 संस्थापक सदस्यों में अधिकांशतः यूरोप, उत्तरी अमेरिका और दूसरे स्वतंत्र देश थे। उस समय राष्ट्र संघ का मुख्य ध्येय शांति बनाए रखना, सामूहिक सुरक्षा और ऐसी स्थितियों को रोकना था जो विध्वंसकारी विश्वयुद्ध को जन्म देती हैं। इनके अलावा संयुक्त राष्ट्र को उपनिवेशवाद तथा रंग, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित भेदभाव को खत्म करने आदि परिस्थितियों का भी सामना करना था। जैसा कि सामान्यतया देखा जाता है कि प्राथमिक रूप से संयुक्त राष्ट्र विकसित स्वतंत्र देशों का संगठन था। परंतु समय के अंतराल में अनौपनिवेशवाद के फलस्वरूप नवोदित देशों के कारण संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता बढ़ती गई। वर्तमान में इसकी संख्या 191 है। संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त करने वाले अंतिम देश स्विट्जरलैंड और पूर्वी तिमोर हैं। नए अविकसित, गरीब और सदियों से सताए देशों के संयुक्त राष्ट्र में शामिल होने से नई समस्याएँ, चुनौतियाँ और आकांक्षाएँ सामने आई हैं। इसलिए यह महसूस किया जा रहा है कि संयुक्त राष्ट्र की कार्यप्रणाली में सुधार की आवश्यकता है।

यहाँ एक माँग यह भी है कि संयुक्त राष्ट्र को अपेक्षाकृत अधिक लोकतंत्रीय होना चाहिए। आज की भूमंडलीय आर्थिक विकास की चुनौतियों और नई राजनीतिक वास्तविकताओं और चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र को सभी लोगों और सभी देशों के मंच के रूप में कार्य करना चाहिए। इसे विश्व के विभिन्न देशों की विविधताओं एवं उभरती आकांक्षाओं का अधिक प्रतिनिधित्व करना चाहिए। सुधार प्रक्रियाएँ किसी भी संगठन का अभिन्न अंग होती हैं, जिससे कि बदलते परिवेश में उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। संयुक्त राष्ट्र भी इसका अपवाद नहीं है।

'संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र' में कार्यरत विभिन्न अवयवों सहित एक सुदृढ़ और संशोधित संयुक्त राष्ट्र के लिए भारत अपना समर्थन देता है। विविध क्षेत्र के विकास की दिशा में संयुक्त राष्ट्र की बढ़ती हुई भूमिका में भी भारत उसको सहयोग देता है। भारत का यह दृढ़ विश्वास है कि यह विकास संयुक्त राष्ट्र के कार्यक्रमों की सूची के अनुरूप होना चाहिए जो कि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रखने की अनिवार्य शर्त है।

भारत ने संयुक्त राष्ट्र के विकास कार्यक्रम के गठन, उसके आर्थिक कार्यक्रम की स्थापना और उसके सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र के उत्तरदायित्वों के निवर्हन में सक्रिय रूप से समर्थन दिया है। भारत ने 90 के दशक के मध्य में संयुक्त राष्ट्र की वित्तीय स्थिति पर विचारार्थ उसके महासचिव द्वारा गठित 'उच्चस्तरीय विशेषज्ञ समिति' में भी प्रतिनिधित्व किया है। इसने 'शांति और विकास कार्यसूची' की परिचर्चा में एक रचनात्मक भूमिका निभाई। संयुक्त राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए गठित कार्यदल का भी भारत एक सह-अध्यक्ष है।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव कोफी अन्नान के सुधार प्रस्तावों का भी भारत समर्थक रहा है। इनमें से कुछ प्रस्तावों पर सहमति हो गई है और लागू भी हो गए है, अन्य कुछ पर चर्चा चल रही है। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव मिलीनियम एसेंबली आयोजित करने का है। भारत का यह मानना है कि इस मिलीनियम एसेम्बली को विकास, सहयोग, निरस्त्रीकरण इत्यादि के लक्ष्यों को पहचानना चाहिए और इन चुनौतियों से प्रभावी ढंग से निबटने के लिए विकासशील देशों को आवश्यक संसाधन प्रदान करने चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र की संपूर्ण कार्यप्रणाली में कार्यक्षमता बढ़ाने, पुनरावृत्ति रोकने और नौकरशाही के न्यूनतम प्रयोग जैसे विषयों को लेकर भारत चिंतित है। यद्यपि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयासों को तीव्र करने की आवश्यकता है तथापि भारत का मानना है कि सदस्य देशों को बिना किसी शर्त के पूर्णरूप से और समय पर अपनी सहयोग राशि देनी चाहिए। भुगतान में विलंब होने से संयुक्त राष्ट्र प्रणाली में कई बार अभूतपूर्व वित्तीय संकट उत्पन्न हो गया है। वित्तीय सुधार इस विश्व संगठन के भविष्य की सफलता की कुंजी है, क्योंकि पर्याप्त साधनों के अभाव में संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियाँ और भूमिका बाधित होंगी।

विश्वव्यापी मंच के रूप में संयुक्त राष्ट्र को सभी व्यक्तियों, समाज और देशों की गरिमा के लिए पारदर्शिता, गैर-भेदभाव, मतैक्य और समान आदर को अपना मार्गदर्शक सिद्धांत मानना चाहिए। विश्व व्यापार, पर्यावरण और विकास, विश्वव्यापी ऋण समस्या का समाधान अथवा विश्व समुदाय के सबसे गरीब सदस्यों को आर्थिक सहायता आदि कुछ ऐसे मूल्य हैं जिन्हें नई विश्वव्यवस्था की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र सुधार कार्यसूची में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् से संबंधित है। सुरक्षा परिषद् का गठन अधिकांशतया अपरिवर्तित है वहीं संयुक्त राष्ट्र महा सभा की सदस्यता में पर्याप्त बढ़ोत्तरी हुई है। इसने सुरक्षा परिषद् के प्रतिनिधिक स्वरूप की उपेक्षा की है। इसलिए सुरक्षा परिषद् के

विस्तार की सतत् माँग चली आ रही है। इस सुझाव का विरोध भी है। विरोधियों का मत है कि यदि संयुक्त राष्ट्र को विश्व शांति सुनिश्चित करने में प्रभावकारी भूमिका निभानी है तो सुरक्षा परिषद् को निर्विघ्न रूप से काम करने देना चाहिए। निषेधाधिकार शक्ति वाले स्थायी सदस्यों की इस पर सहिमति के बिना यह संभव नहीं है। स्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि, सहमति को और भी अधिक जटिल बना देगी। सुरक्षा परिषद् के विस्तार के पक्ष में यह तर्क है कि संयुक्त राष्ट्र की भूमिका तब तक सशक्त नहीं हो सकती जब तक यह कुछ देशों, चाहे वे कितने भी शक्तिवान क्यों न हों, के हाथों का यंत्र मात्र न बन कर, सभी देशों के हितों पर ध्यान दें।

भारत का मत है कि विश्वशांति की स्थापना में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका सशक्त करने के लिए सुरक्षा परिषद् का पुनर्गठन कुछ इस प्रकार हो कि एक ओर इसका व्यापक प्रतिनिधिक स्वरूप उजागर हो और दूसरी ओर इसमें बदली हुई परिस्थितियाँ परिलक्षित हों।

1965 में सुरक्षा परिषद् की सदस्यता 11 से बढ़ाकर 15 कर दी गई। स्थायी सदस्यों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। तब से परिषद् का आकार यथावत् है। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों की संख्या में वृद्धि से अधिक महत्त्वपूर्ण महा सभा के गठन में बदलाव लाना है। वर्तमान में महा सभा में भारी बहुमत अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों का है। बहुधा ये देश परिषद् की कारवाई के निशाने पर होते हैं। सुरक्षा परिषद् (विशेषत: स्थायी सदस्यों की श्रेणी) का वर्तमान गठन औद्योगिक रूप से विकसित देशों के पक्ष में है। इस असंतुलन को सही करने के लिए आवश्यक है कि परिषद् का विस्तार करके विकासशील देशों का प्रतिनिधित्व स्थायी और अस्थायी दोनों श्रेणियों में सदस्यता के रूप में बढ़ाया जाए।

भारत का दृढ़ मत है कि स्थायी सदस्यों की श्रेणी का विस्तार पारदर्शी विचार-विमर्श पर आधारित हो। परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ाने और उसमें उचित प्रतिनिधित्व संबंधित भारत का प्रस्ताव महा सभा में दिसंबर, 1992 में पारित हुआ। 1993 के अंत तक अमेरिका अनिच्छुक स्थिति में, दो उभरती हुई आर्थिक शक्तियों जर्मनी और जापान को स्थायी सदस्यता देने के लिए तैयार हुआ। किंतु भारत, ब्राजील और नाइजीरिया के भी काफी समर्थक हैं। अभी तक किसी भी देश को स्थायी सदस्य का दर्जा नहीं दिया गया है। भारत ने हमेशा सदस्यता के रूप में एक सार्वभौमिक संयुक्त राष्ट्र में अपनी आस्था व्यक्त की है। इस दिशा में दूसरा सुझाव यह है कि निषेधाधिकार की शक्ति को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। भारत इस प्रस्ताव के भी पक्ष में है। सुरक्षा परिषद् के विस्तार पर भारत का रवैया सिद्धांतो पर आधारित है न कि अपने को स्थायी सदस्यता के लिए उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से।

संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका की उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत प्रारंभ से ही संयुक्त राष्ट्र के सभी क्षेत्रों और गतिविधियों में सक्रिय भूमिका अदा करता रहा है। कोरिया से कांगो तक भारत ने कई विषम परिस्थितियों के समाधान में मुख्य भूमिका निभाई है। मध्यस्थता और नियंत्रण संबंधी गतिविधियों में भाग लेकर अनेक प्रकार से भारत ने अपनी छवि ऐसी बनाई है जो अधिकांश ताकतवर देशों की छवि से बढ़कर है। भारत ने एक शक्ति गुट द्वारा दूसरे शक्ति गुट के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र के मंच के प्रयोग किए जाने का विरोध किया है क्योंकि इससे विश्वसंस्था के अस्तित्व को ख़तरा था। आवश्यकता पड़ने पर संयुक्त राष्ट्र के बुलावे पर भारत अपनी सर्वश्रेष्ठ क्षमता के साथ बढ़-चढ़ कर आगे आया है। भारत का हमेशा से यह विश्वास रहा है कि अगर विश्व में ऐसी व्यवस्था लानी है, जो

विवादों को कम करे और अंतर्राष्ट्रीय न्याय को बढ़ावा दे सके तो वह मात्र संयुक्त राष्ट्र द्वारा पुनर्गठन प्रयासों में निहित है। इसके साथ-साथ भारत का यह भी दृढ़ विश्वास है कि बदलती हुई स्थिति एवं परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्र में सुधारों की आवश्यकता है और ये सुधार अविलंब और जनसहमति से होने चाहिए।

अभ्यास

1. उन मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए जिन पर संयुक्त राष्ट्र आधारित है। कहाँ तक उनकी प्राप्ति हो सकी है?
2. संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. शांति स्थापना कारवाई से आप क्या समझते हैं? उसमें भारत की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. सुरक्षा परिषद् में सुधारों की माँग क्यों की जा रही है? किस तरह के सुधारों का सुझाव दिया जा रहा है? वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) निषेधाधिकार

   (ii) अफ्रीकी-एशियाई एकता

   (iii) सुरक्षा परिषद्

   (iv) संयुक्त राष्ट्र महासचिव

   (v) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

अध्याय 20

भारत और दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस)

'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' दक्षिण एशिया के सात देशों का संगठन है -- भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका। इसकी स्थापना आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग और पारस्परिक सहायता द्वारा इस क्षेत्र के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए 8 दिसंबर 1985 को हुई थी। अपेक्षाकृत एक साधारण शुरुआत करके दक्षेस के सदस्य-देश समान हित के नए क्षेत्रों को शामिल करते हुए क्रमश: आपसी सहयोग का विस्तार करते रहे हैं। इस क्षेत्र का सबसे बड़ा और सबसे बड़ी आबादी वाला देश होने के नाते, भारत दक्षेस की गतिविधियों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है और सहयोग एवं विकास के लिए आवश्यक निर्देश देने का इच्छुक है। भारत का स्थान प्रमुख होने के कारण क्षेत्र के कुछ देश इसे कभी-कभी शंका की दृष्टि से देखते हैं। हालाँकि भारत दक्षेस सहयोग को पड़ोसी देशों के साथ अपने द्विपक्षीय संबंध में संपूरक के रूप में महत्त्व देता है। दक्षेस के साथ भारत का संबंध एवं उसमें भारत की भूमिका को समझने के लिए दक्षेस की स्थापना, रूपरेखा और संगठन के लक्ष्यों को समझना आवश्यक है।

'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' (दक्षेस) की स्थापना

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद आर्थिक सहयोग और सुरक्षा के उद्देश्यों से क्षेत्रीय सहयोग के गठन की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। यह आंदोलन यूरोप से शुरू होकर सारी दुनिया में फैल गया। क्षेत्रीय आर्थिक समूहीकरण का विस्तार मुख्यत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधाओं को दूर करने और संसाधनों के बेहतर आबंटन के लिए हुआ था। स्वतंत्र देशों के बीच पारस्परिक निर्भरता के प्रति बढ़ती जागरूकता तथा यह एहसास कि उनका व्यक्तिगत हित समान परिस्थितियों वाले देशों के साथ जुड़ा है जिसने क्षेत्रीय सहयोग की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया है।

विकासशील देशों में क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का कार्य काफी देर से शुरू हुआ। यह 1950 के दशक के अंत में मध्य और लैटिन अमेरिका में सहयोग योजनाओं के साथ प्रारंभ हुआ। जहाँ तक एशिया का सवाल है इसकी शुरुआत 'दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के संघ' के आविर्भाव से 1976 में हुई। इसके सदस्य देश थे : ब्रुनेई, इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपिंस, सिंगापुर, थाइलैंड तथा कंबोडिया। पाकिस्तान, तुर्की और इरान ने भी

'विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग' नाम से एक संस्था स्थापित की। 'बेंगकॉक समझौते' के नाम से बांग्लादेश, भारत, लाओस, फिलिपिंस, कोरिया गणराज्य, श्रीलंका और थाइलैंड ने जुलाई 1975 में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसका सरोकार अधिमानिक व्यापारिक व्यवस्था से था।

दक्षिण एशिया में, यद्यपि देशों के बीच उनके सामाजिक, जातीय, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपराओं से जुड़े हुए कई समान मूल्य थे तथा उनके समक्ष तेज़ी से विकास की समान चुनौती थी, किंतु प्रारंभ में उनमें आपसी विश्वास की कमी थी। इसके कई कारण थे जैसे — देशों के अलग-अलग सुरक्षा हित, विविध राजनीतिक संस्कृतियाँ, भारत-पाक विवाद और इस क्षेत्र में भारत की विशिष्ट स्थिति। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में बांग्लादेश के तत्कालीन राष्ट्रपति स्वर्गीय जियाउर्रहमान ने यह विचार दिया कि दक्षिण एशिया के सातों देश क्षेत्र की भयंकर आर्थिक समस्याओं को सुधारने के लिए एक सहकारी व्यवस्था स्थापित करें। इस प्रक्रिया की शुरूआत 'दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग पर बांग्लादेश कारवाई पत्र' नामक दस्तावेज़ से हुई जिसमें सहयोग के ग्यारह व्यापक क्षेत्रों की चर्चा की गई थी : दूरसंचार, मौसम विभाग, परिवहन, जहाजरानी, पर्यटन, कृषि अनुसंधान, संयुक्त परियोजनाएँ, बाज़ार को प्रोत्साहन, वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग एवं शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक सहयोग। परिपत्र में यह आशा व्यक्त की गई कि सहयोग का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र और गुटनिरपेक्षता के सिद्धांतों का पालन करते हुए क्षेत्र में शांति एवं स्थायित्व को बढ़ावा देना, प्रत्येक देश की संप्रभुता का सम्मान करना, एक दूसरे के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप एवं बलप्रयोग न करना और विवादों के शांतिपूर्ण निबटारे जैसे सिद्धांतों का आदर करना है।

इस क्षेत्र के सात देशों के बीच विभिन्न स्तरों पर बैठकों और अध्ययनों के बाद मार्च 1983 में यह तय किया गया कि विदेश मंत्रियों की बैठक दिल्ली में बुलाई जाए। दिल्ली की बैठक में सात देशों के विदेश मंत्रियों ने दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग के समझौते पर हस्ताक्षर किए। घोषणा में कहा गया कि दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग लाभदायक, वांछनीय एवं आवश्यक है तथा इससे क्षेत्र के लोगों के कल्याण को बढ़ावा और जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में मदद मिलेगी। अंततः राज्याध्यक्षों का प्रथम शिखर सम्मेलन ढाका में आयोजित हुआ। इसमे 8 दिसंबर 1985 को दक्षेस का घोषणा पत्र अपनाया गया। इस तरह दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस) की स्थापना हुई। इस संघ के विकास में भारत ने व्यापक भूमिका निभाई।

फरवरी, 1987 में एक महासचिव और चार निदेशकों समेत दक्षेस सचिवालय अस्तित्व में आया। दक्षेस का संगठन चार-स्तरीय है। सबसे निचले स्तर पर विशेषज्ञों और अधिकारियों की तकनीकी समितियाँ हैं जिनका काम कार्य योजना तैयार करना और गोष्ठी एवं कार्यशाला आयोजित करना है। उससे ऊपर विदेश-सचिवों की स्थायी समिति होती है जो तकनीकी समितियों के सुझावों का पुनरावलोकन और समन्वय करती है। इसकी बैठक साल में कम-से-कम एक बार होती है। उससे ऊपर विदेश मंत्रियों का अधिवेशन भी साल में कम-से-कम एक बार स्थायी समिति के सुझावों के राजनीतिक अनुमोदन के लिए होता है। सबसे ऊपर शिखर सम्मेलन है, जो दक्षेस को राजनीतिक महत्त्व प्रदान करने के लिए प्रतिवर्ष आयोजित किया जाता है। दक्षेस सचिवालय की स्थापना नेपाल की राजधानी काठमांडु में की गई है।

दक्षेस के उद्देश्य

संगठन के उद्देश्य के रूप में दक्षेस घोषणा पत्र में निम्नलिखित बातों की चर्चा की गई है :

(i) दक्षिण ऐशियाई देशों के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देना एवं उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाना;
(ii) आर्थिक उन्नति, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक विकास की गति तेज़ करना;
(iii) सामूहिक आत्म-निर्भरता को बढ़ावा देना और मज़बूत करना;
(iv) आपसी विश्वास, समझ और एक दूसरे की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखना;
(v) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी एवं वैज्ञानिक क्षेत्रों में आपसी सहायता को बढ़ावा देना;
(vi) अन्य विकासशील देशों के साथ सहयोग को मज़बूत करना;
(vii) अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग को मज़बूत करना;
(viii) अन्य क्षेत्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना।

दक्षेस घोषणा पत्र के अनुसार, संगठन के कार्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

(i) दक्षेस के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग के आधार बिंदु होंगे — संप्रभुता के सिद्धांत के लिए पारस्परिक सम्मान, समानता, क्षेत्रीय अखंडता, राजनीतिक स्वतंत्रता, दूसरे देशों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप तथा पारस्परिक लाभ;
(ii) ऐसा सहयोग द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सहयोग का प्रतिस्थापन नहीं बल्कि उनका संपूरक होगा; और
(iii) ऐसा सहयोग द्विपक्षीय और बहुपक्षीय दायित्व से असंगत नहीं होगा।

दक्षेस के उद्घोषित उद्देश्यों और सिद्धांतों से स्पष्ट है कि यह द्विपक्षीय या बहुपक्षीय दायित्वों में हस्तक्षेप किए बिना, एवं सदस्य देशों की समानता और स्वतंत्रता एवं क्षेत्रीय अखंडता का हनन किए बिना, क्षेत्रीय सहयोग पर बल देता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दक्षेस केवल विकास एवं कल्याण में सहयोग करने वाला संगठन है। यह कोई रणनैतिक, प्रतिरक्षात्मक या सैनिक संधि नहीं है। इसके संस्थापक दक्षेस को राजनीतिक मुद्दों से परे रखना चाहते थे। इसलिए घोषणा पत्र में इस बात का समावेश किया गया था कि दक्षेस मंचों पर द्विपक्षीय मुद्दे या विवाद न तो उठाए जाएँगे और न ही उन पर बहस होगी। इसके बावजूद दो या अधिक देशों के बीच विवाद या राजनीतिक मत भिन्नता के मुद्दे समय-समय पर दक्षेस की बैठकों में उछालने का प्रयास किया गया है। वे लोग जो दक्षेस में इन मुद्दों को लाने के पक्ष में हैं, उनका कहना है कि इससे बेहतर क्षेत्रीय विश्वास और समझ पैदा होगी। भारत कोई भी द्विपक्षीय और विवादास्पद राजनीतिक विषय दक्षेस का बैठकों में लाने का कट्टर विरोधी है। हालाँकि दक्षेस की बैठके अनौपचारिक राजनीतिक विचार-विमर्श के अवसर प्रदान करती हैं। स्वभाविक है कि ऐसे अनौपचारिक विचार-विमर्श बिना किसी रूपरेखा के होते हैं। शिखर सम्मेलनों में दक्षेस नेताओं को पारस्परिक मामलों पर, अनौपचारिक विचार-विमर्श का भी अवसर मिल जाता है। किंतु, राजनीतिक मुद्दों पर संगठन की कार्य सूची के विस्तार के संबंध में सदस्य देशों के मध्य मतभेद हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा से संबंधित परस्पर विरोधी समझ तथा कुछ देशों के बीच जारी संघर्ष की स्थिति भी संगठन के कार्य में गंभीर समस्याएँ पैदा करती हैं। फिर भी अपने दो दशक के अस्तित्व में, दक्षेस ने क्षेत्रीय नेताओं को नियमित अंतराल पर मिल बैठने का और विकास गतिविधियों में कुछ

सहयोग हासिल करने का अवसर प्रदान किया है। अब हम कुछ ऐसे ही मुद्दों पर नज़र डालेंगे।

दक्षेस के कार्य और भारत

जैसा कि हम बता चुके हैं, दक्षेस की स्थापना मोटेतौर पर कृषि, ग्रामीण विकास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, संस्कृति, स्वास्थ्य, जनसंख्या नियंत्रण, नशीले पदार्थों की रोकथाम और आतंकवाद निवारण के क्षेत्र में सहयोग के लिए हुई थी। एक मामूली शुरूआत से, दक्षेस के सदस्य-देशों ने क्रमश: समान हित के नए क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देने की परिधि का विस्तार किया है।

प्रारंभ में दक्षेस ने बुनियादी तौर पर सामान्य आधार तैयार करने के उद्‌देश्य से तकनीकी सहयोग पर ज़ोर दिया। दक्षेस के अंतर्गत ग्यारह तकनीकी समितियों का गठन किया गया जिनमें कृषि, दूर संचार, शिक्षा, संस्कृति एवं खेलकूद, पर्यावरण और मौसम शास्त्र स्वास्थ्य एवं जनसंख्या संबंधी गतिविधियाँ नशीली दवाओं के अवैध व्यापार और उसके दुरुपयोग पर रोक, ग्रामीण विकास, विज्ञान और तकनीकी, पर्यटन, परिवहन तथा नारी विकास शामिल थे। ये तकनीकी समितियाँ सूचना के आदान-प्रदान, कार्यक्रम का प्रतिपादन एवं अलग-अलग क्षेत्रों में परियोजनाओं की तैयारी के लिए गतिविधियों की वार्षिक सूची तैयार करती हैं। इनमें सहयोग के विशिष्ट क्षेत्र शामिल नहीं होते एवं दक्षेस की गतिविधियाँ और बैठकें समान हित के विशिष्ट विषयों पर जब आवश्यक हो तो बुलाई जाती हैं। दक्षेस के चार क्षेत्रीय केंद्रों की भी स्थापना की गई है : कृषि सूचना (ढाका); क्षयरोग निवारण (काठमांडु); मौसम अनुसंधान (ढाका); एवं दक्षेस हितों का प्रलेखन केंद्र (भारत)। मानव संसाधन विकास पर पाँचवे क्षेत्रीय केंद्र की स्थापना इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में प्रस्तावित है।

1990 में दक्षेस के अंतर्गत सहयोग के दूसरे चरण की शुरूआत हुई जिसमें सामाजिक कार्य सूची पर विशेष ज़ोर था। सामाजिक मुद्‌दों पर महत्त्वपूर्ण पहल हुई जैसे — गरीबी उन्मूलन, साक्षरता को बढ़ावा एवं महिलाओं और बच्चों का विकास। यह तय हुआ कि 2001-10 के दशक को "दक्षेस के शिशु अधिकार दशक" के रूप में मनाया जाएगा। महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार जैसी बुराई पर भी दक्षेस विशेष ध्यान देगा। 'महिलाओं और शिशुओं के अवैध व्यापार पर प्रतिबंध' विषय पर एक क्षेत्रीय सम्मेलन में समझौता हो चुका है जिस पर हस्ताक्षर काठमांडु में होने वाले ग्यारहवें शिखर सम्मेलन में होंगे। अवैध व्यापार में फँसे हुए व्यक्ति के खिलाफ देशी कानून के अंतर्गत प्रत्यार्पण और मुकदमा चलाने की सिफारिश इस सम्मेलन में की गई। जाँच-पड़ताल में सहायता और अवैध व्यापार के शिकार लोगों के व्यवस्थित देश प्रत्यावर्त्तन की भी बात इस सम्मेलन में की गई है।

इस क्षेत्र में गरीबी की निरंतर समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया है और दक्षेस देशों के राज्याध्यक्षों ने 2002 तक दक्षिण एशिया में गरीबी उन्मूलन की शपथ ली।

1987 में दक्षेस खाद्‌य संरक्षण भंडार की स्थापना करने हेतु एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसे 12 अगस्त 1988 को लागू किया गया। इससे सदस्य देशों में आपातकालीन स्थिति में खाद्‌यान के भंडारण की व्यवस्था को सुरक्षित रखना निश्चित हुआ जिसमें कम-से-कम 2,00,000 टन अनाज सुरक्षित रखा जाना निश्चित हुआ जिसमें भारत को 1,53,000 टन की आपूर्ति करनी है।

दक्षेस में पर्यावरण का मुद्‌दा भी शामिल किया गया है। अब तक पर्यावरण पर चार मंत्री स्तरीय बैठकें हो चुकी हैं। दक्षस में पर्यावरण मंत्रियों की तीसरी बैठक अक्तूबर 1997 में मालदीव में हुई

जिसमें प्राकृतिक और ग्रीन हाउस प्रभावित आपदाओं के कारणों और परिणामों तथा इस क्षेत्र पर उसके प्रभाव पर दक्षेस द्वारा किए गए दो अध्ययनों के सुझावों के आधार पर विचार हुआ। इस बैठक में एक पर्यावरण कार्य योजना अपनाई गई जिसका केंद्र बिंदु पर्यावरण के प्रभावों का मूल्याँकन, सूचना का आदान-प्रदान तथा प्रशिक्षण के माध्यम से मानव संसाधन का विकास था। सूचना एवं मीडिया के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भी सहयोग विकसित करने की शुरूआत की गई है। दक्षेस सूचना मंत्रियों की पहली बैठक अप्रैल 1998 में ढाका में हुई जिसमें मीडिया कर्मियों के बीच व्यापक पारस्परिक संबंध, समाचार एजेंसियों के बीच सहयोग, क्षेत्र में समाचार पत्रों, पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के निर्बाध प्रसार तथा विद्वेषपूर्ण प्रचार में कमी के द्वारा पारस्परिक सहयोग बढ़ाने के लिए एक कार्य योजना अपनाई गई।

आतंकवाद पर काबू पाने के लिए और नशीली दवाओं के अवैध व्यापार पर रोक लगाने के लिए आपसी सहयोग के दृष्टिकोण से दक्षेस ने कुछ संस्थागत प्रबंध किए हैं। नि:संदेह, इनके कार्यन्वयन को लेकर कुछ समस्याएँ हैं। आतंकवाद उन्मूलन के दक्षेस समझौते पर नवंबर 1987 में हस्ताक्षर हुए। जो सदस्य-देशों की स्वीकृति मिलने के बाद 22 अगस्त 1988 को लागू हुआ। इसके प्रावधानों के अंतर्गत आरोपी आतंकवादियों को सुरक्षित आश्रय न देते हुए, उनके प्रत्यार्पण (वापसी) तथा उन पर मुकदमा चलाने के लिए सदस्य देश वचनबद्ध हैं। आतंकवाद रोकने के लिए निवारक कार्यों पर भी क्षेत्रीय सहयोग की कल्पना की गई है, परंतु पाकिस्तान और बांग्लादेश ने अब तक इस समझौते को लागू करने के लिए आवश्यक आंतरिक कानूनों का निर्माण नहीं किया है। आतंकवादी घटनाओं की सूचनाएँ एकत्रित करने, विश्लेषण तथा प्रचार करने के लिए कोलंबों में 'दक्षेस आतंकवादी अपराध मौनिटरिंग डेस्क' की स्थापना की गई है। नवंबर 1990 में नशीली दवाओं और उत्तेजक पदार्थों संबंधी दक्षेस समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसे सदस्य देशों द्वारा स्वीकृति मिलने पर 15 सितंबर 1993 को लागू किया गया। दक्षेस की कार्य सूची में व्यापार और अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सहयोग का मुद्दा सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में, दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था के संचालन ने काफी दिलचस्पी पैदा की है। अब हम दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जिसकी चर्चा आगे विस्तारपूर्वक की जाएगी। पहले हम दक्षेस में भारत की भूमिका पर नज़र डालेंगे।

दक्षेस की सभी गतिविधियों में भारत की भागीदारी और योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। उपमहाद्वीप के अंदर भारत के संबंधों के कुछ पक्षों का संचालन दक्षेस के माध्यम से होता है। कई अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ विकसित करने में भारत दक्षेस के साथ रहा है। इनमें से कुछ हैं — एंटारक्टिक संधि, जैविक विविधता, जलवायु परिवर्तन, संकटग्रस्त जीव-जंतु, पर्यावरण रूपांतरण, ख़तरनाक अवशेष अथवा कचरा समुद्रीय कानून, परमाणु परीक्षण प्रतिबंध, ओज़ोन लेयर की सुरक्षा, समुद्री जहाजों द्वारा प्रदूषण, उष्णाकटिबंधीय लकड़ी, दलदली भू-भाग, मरूस्थलीकरण इत्यादि से संबंधित संधियाँ। भारत के मार्गदर्शन में इन संधियों को कई अन्य देशों द्वारा भी लागू किया गया है। दक्षेस के दो महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम, कृषि कार्यक्रम (वानिकी सहित) तथा विज्ञान एवं तकनीकी कार्यक्रम (ऊर्जा विकास सहित) में भारतीय प्रतिनिधियों का अध्यक्ष चुन जाना, दक्षेस में भारत के महत्त्वपूर्ण योगदान को दर्शाता है। नई दिल्ली ने कई कार्यक्रमों जैसे — पर्यावरण (1992 तथा 1997) और वाणिज्य (1996) की बैठकों का आयोजन किया। साथ ही 17 नवंबर

1986 को बंगलौर में आयोजित दक्षेस का दूसरा शिखर सम्मेलन भारत के लिए एक बड़ी उपलब्धि थी। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव थे : राज्याध्यक्षों अथवा सरकारों द्वारा जनसंपर्क को बढ़ाना चाहिए, क्षेत्र में पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए तथा दक्षेस देशों के पर्यटकों को राष्ट्रीय मुद्रा की सीमित विनमयता की सुविधा भी उपलब्ध होनी चाहिए; रेडियो और टेलिविज़न दोनों के प्रसार के लिए एक दक्षिण एशियाई प्रसारण कार्यक्रम प्रारंभ किया जाना चाहिए; दक्षेस देशों के छात्रों, विद्वानों एवं शिक्षाविदों के बीच व्यापक मेल-मिलाप के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इसके लिए निर्देश दिए गए कि विद्वानों के आदान-प्रदान के लिए संयुक्त कार्यक्रम बनाए जाएँ और दक्षेस छात्रवृत्तियाँ, दक्षेस फेलोशिप और दक्षेस पीठ शीघ्र ही गठित करने के लिए कदम उठाए जाएँ। राज्याध्यक्षों अथवा सरकारों ने ज़ोर दिया कि युवाओं के आदर्शवाद को क्षेत्रीय सहकारी कार्यक्रमों की ओर प्रेरित करना होगा। इस बात पर बल दिया गया कि दक्षिण एशियाई चेतना के पुनरूत्थान के लिए प्रत्येक देश के युवा वर्ग को दूसरे देशों के विकास कार्यक्रमों में भागीदार बनाने से अधिक प्रेरक और कुछ नहीं होगा। यह भी कहा गया कि दक्षेस में एक संगठित स्वयं सेवी कार्यक्रम की स्थापना होनी चाहिए जिसके अंतर्गत एक देश के स्वयं सेवक कृषि तथा वन विस्तार कार्य के क्षेत्रों में दूसरे देशों में काम कर सकेंगे।

भारत में दक्षेस का आठवाँ शिखर सम्मेलन दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम था। यह 4 मई 1995 को नई दिल्ली में आयोजित किया गया। राज्याध्यक्षों ने दक्षेस के पहले दशक की उपलब्धियों पर संतोष व्यक्त किया तथा प्रथम दशक पूरा होने पर सदस्य देशों में अलग-अलग और सामूहिक रूप से इसे मनाने का फैसला किया गया। उन्होंने मंत्रियों की समिति के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया कि "दक्षेस — दूसरे दशक का स्वप्न" नामक विषय पर एक स्मारक अधिवेशन बुलाया जाए जिसमें उन क्षेत्रों की पहचान की जाए जिस पर दक्षेस दूसरे दशक में ध्यान देगा। उन्होंने दक्षिण एशिया से एक कार्य योजना के द्वारा 2002 तक गरीबी उन्मूलन के प्रति वचनबद्धता दोहराई। उन्होंने 1995 को "दक्षेस गरीबी उन्मूलन वर्ष" घोषित किया। दक्षेस सम्मेलन ने इस बात को स्वीकार किया कि अप्रैल 1993 में ढाका में सातवें शिखर सम्मेलन के दौरान दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था के समझौते पर हस्ताक्षर के पश्चात्, सदस्य देशों के बीच व्यापारिक छूट के आदान-प्रदान के लिए व्यापार वार्ता का पहला चक्र पूरा हो चुका है। उन्होंने निर्देश दिया कि सदस्य-देशों का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए एवं 1995 के अंत तक दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था को लागू किए जाने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाए जाएँ। आठवाँ शिखर सम्मेलन अब तक सबसे फलदायी था क्योंकि महिलाओं, बच्चों और अपंगों इत्यादि के अधिकारों सहित सभी बड़े विषयों पर इसमें चर्चा हुई। उसमें साक्षरता का विषय भी उठाया गया तथा कई नई बातें सम्मिलित की गईं।

दक्षेस विकास केंद्र मई 1994 में नई दिल्ली में प्रारंभ हुआ और इससे दक्षेस को भरपूर सहायता मिली। इस प्रकार भारत दक्षेस का प्रमुख सहायक सिद्ध हुआ। भारत के बिना इस संगठन को उतनी सहायता नहीं मिल सकती थी, जितनी उसे प्राप्त हुई।

दक्षेस आर्थिक सहयोग और भारत (साप्ता एवं साफ्ता)

दक्षेस देशों के बीच आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रों में सहायोग काफी नई बात है। दक्षिण एशिया

क्षेत्र आर्थिक रूप से काफी अविकसित है। विश्व की जनसंख्या का लगभग पाँचवा भाग दक्षिण एशिया में रहता है जो विश्व की भू-परत का केवल 2.7 प्रतिशत है। क्षेत्र की सभी अर्थव्यवस्थाएँ प्रधानतः ग्रामीण हैं और कृषि आधारित हैं। इस क्षेत्र के देश विश्व में सबसे गरीब देशों में हैं। विश्व व्यापार में दक्षिण एशिया का भाग महत्त्वहीन है। भारत प्रारंभ से ही दक्षेस देशों के बीच मुक्त व्यापार पर बल देता रहा है। इस दिशा में पहला कदम 1995 में लिया गया था जब दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था (साप्ता) के संगठन पर समझौता हुआ था।

दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था (साप्ता)

यद्यपि पड़ोसी देशों के बीच व्यापार के लिए सहयोग की आवश्यकता सदैव अनुभव की जाती रही है, परंतु 1990 के दशक ने इसके महत्त्व को और बढ़ा दिया। इस समय तक विश्व में कई नए क्षेत्रीय व्यापारिक गुटों की उत्पत्ति के साथ, दक्षिण एशियाई देश निर्यात के क्षेत्र में कठिन परिस्थिति का सामना कर रहे थे। साथ ही, इस क्षेत्र में सहायता प्रवाह के धीमा पड़ जाने से दक्षेस क्षेत्रों के बीच व्यापार आवश्यक हो गया। इस पृष्ठभूमि में, अधिमानिक व्यापार के लिए दिसंबर 1991 में कोलंबो शिखर सम्मेलन में पहल की गई। तत्पश्चात् 11 अप्रैल 1993 को ढाका शिखर सम्मेलन के दौरान सदस्य-देशों के मंत्रियों ने दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था की स्थापना करने के लिए दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर किए। अंततः अधिमानिक व्यापार व्यवस्था समझौता दक्षेस देशों द्वारा स्वीकृत हो जाने के बाद दिसंबर 1995 में लागू हुआ। जिसके फलस्वरूप, प्रत्येक देश ने रियायती दर पर व्यापार के लिए कुछ वस्तुएँ निश्चित कर दीं।

इस क्षेत्र में व्यापार को एक महत्त्वपूर्ण बढ़ावा भारत की एक साहसिक पहल से मिला जब भारत ने 1 अगस्त 1998 से दक्षेस देशों पर लगे सभी परिमाणात्मक प्रतिबंधों को हटाने का एक तरफा निर्णय लिया। दक्षेस देशों के लिए 2,000 से अधिक उत्पाद प्रतिबंधित सूची से हटाकर खुली सामान्य सूची में डाल दिए गए जिससे भारतीय बाजार में उनकी पैठ काफी आसान हो गई। व्यापार वार्ता का तीसरा दौर 23 नवंबर 1998 को समाप्त हुआ। रियायती दर के अंतर्गत कुल 34,556 वस्तुएँ सम्मिलित की गईं। आधे से अधिक रियायतें भारत ने प्रदान कीं। भारत ने उन सभी देशों के साथ द्विपक्षीय मुक्त व्यापार समझौता करने की पेशकश की है, जो इस दिशा में तीव्र गति से चलने को आतुर हैं।

श्रीलंका ने इसमें दिलचस्पी दिखाई है और भारत-श्रीलंका में द्विपक्षीय मुक्त व्यापार समझौते के लिए वार्ता चल रही है। भारत का नेपाल और भूटान के साथ पहले से ही मुक्त व्यापार समझौता है। वास्तव में साप्ता का अंतिम लक्ष्य संपूर्ण दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र की स्थापना है।

दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र (साफ्ता)

एक मुक्त व्यापार क्षेत्र का अर्थ, क्षेत्रीय देशों के बीच सीमा शुल्क और प्रतिबंधों से मुक्त व्यापार है। उसका तात्पर्य है वस्तुओं का निर्बाध प्रवाह। दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था ने इस उद्देश्य की प्राप्ति करनी थी। यह आशा की गई थी कि इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ के साथ ही साप्ता के स्थान पर दक्षिण एशिया मुक्त व्यापर क्षेत्र को लाने के लिए बातचीत जल्द ही शुरू की जाएगी। कोलंबो के दसवें शिखर सम्मेलन में नेताओं ने 2001 तक दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र (साफ्ता) संधि तैयार करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति के गठन का निर्णय किया। यद्यपि, अभी तक ऐसा नहीं हो

सका है। इस संधि के द्वारा व्यापार को मुक्त करने के लिए कानूनी रूप से बाध्य समयबद्ध कार्यक्रम निश्चित करना था तथा दक्षिण एशिया में मुक्त व्यापार क्षेत्र स्थापित करने के लिए एक पूर्वानुमानित और पारदर्शी रूपरेखा तैयार करनी थी। इसमें अति अल्प विकसित देशों के लिए विभिन्न विशेष सुविधाएँ भी शामिल की जानी थीं। जनवरी 2002 में काठमांडु में आयोजित ग्यारहवें शिखर सम्मेलन में इस समझौते के लिए आवश्यक उपाय किए जाने पर जोर दिया। यद्यपि देशों के बीच मतभेद दूर करना अभी बाकी है।

साप्ता एवं साफ्ता के अतिरिक्त, अन्य उपायों से भी आर्थिक सहयोग को संस्थागत किया जा रहा है। इनमें से एक उपाय दक्षेस देशों के वाणिज्य मंत्रियों की बैठक है। दक्षेस के वाणिज्य मंत्रियों की पहली बैठक जनवरी 1995 में उस समय नई दिल्ली में हुई थी जब भारत ने दक्षेस व्यापार मेले का नियमित आयोजन किया। प्रति वर्ष दक्षेस चैंबर ऑफ कॉमर्स द्वारा आयोजित सम्मेलन के साथ-साथ यह व्यापार मेला भी एक वार्षिक कार्यक्रम बन गया है।

अंतर्क्षेत्रीय निवेश, प्रोन्नति एवं संरक्षण, तथा दोहरी कर व्यवस्था को रोकने के लिए क्षेत्रीय प्रबंध भी किए जा रहे हैं। दक्षेस के लोगों के बीच निकट एवं निरंतर संपर्क को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1988 में एक दक्षेस 'प्रवेश पत्र छूट' योजना की पहल की गई जो 1 मार्च 1992 से लागू हुई। इस योजना के उत्तरोत्तर विस्तार द्वारा दक्षेस क्षेत्र में इक्कीस श्रेणियों के लोगों को प्रवेश पत्र के बिना यात्रा करने के योग्य घोषित किया गया। इस प्रकार यह संगठन कुछ अंतर्निहित समस्याओं एवं सदस्य देशों के हितों की विविधता के साथ अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अग्रसर है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से विश्व के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय सहयोग उल्लेखनीय ढंग से बढ़ रहा है, वहीं दक्षिण एशिया में यह काफी देर से शुरू हुआ। इस क्षेत्र में सहयोग के लिए 1985 में एक संगठन के रूप में दक्षेस की शुरूआत हुई। दक्षेस के उद्देश्य विकासोन्मुख रखे गए हैं। प्राय: विवादास्पद और द्विपक्षीय विषयों को छोड़कर इसके लक्ष्यों को संतुलित रखने का समुचित प्रयास किया गया है। दक्षेस विभिन्न देशों के बीच संघर्ष, समस्याओं की विविधता, सुरक्षा दृष्टिकोणों में अंतर तथा आवश्यक राजनीतिक प्रोत्साहन की कमी जैसे अंतर्निहित अंतर्विरोधों का शिकार है।

दक्षेस में भारत की स्थिति अद्वितीय है। इस क्षेत्र की कुल आबादी का 77 प्रतिशत, कुल क्षेत्रफल का 72 प्रतिशत तथा सकल घरेलू उत्पाद का 78 प्रतिशत भारत का है। भारत की सैनिक क्षमता क्षेत्र की कुल सैनिक क्षमता का 50 प्रतिशत है। भारत की सीमा दक्षेस के सभी 6 देशों की सीमाओं से जुड़ी है। इस तरह, अर्थव्यवस्था, क्षेत्रफल एवं जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा देश होने के नाते, भारत की संगठन को योगदान एवं नेतृत्व देने की क्षमता सबसे अधिक है। किंतु इस क्षेत्र में विवादो की प्रकृति, विशेषत: भारत-पाक संघर्ष से, छोटे देशों के मन में भारत के प्रभुत्व को लेकर आंशका बनी रहती है। उसके दृष्टिगत भारत काफी सतर्क भूमिका निभाता रहा है। दक्षेस की सारी गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए भी भारत संगठन का नेता होने का दावा नहीं करता। नि:संदेह भारत-पाक के विवादपूर्ण संबंध दक्षेस के विकास में बहुत बड़ी रूकावट हैं। भारत ने विकास गतिविधियों को राजनीति से अलग रखने के लिए कई सुझाव दिए हैं तथा इस ओर कई कदम भी उठाए हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बदलते राजनीतिक और आर्थिक हालात क्षेत्र के देशों के बीच अधिक सहयोग की माँग करते हैं। दक्षेस देशों के बीच

बेहतर सहयोग की दिशा में कई सकारात्मक प्रयास हुए हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण इस क्षेत्र के सभी देशों के लोगों के बीच इस अनुभूति का जागृत होना है। कि आज के प्रतिस्पर्धात्मक एवं तीव्रगामी विश्व में सम्मानपूर्वक जीने के लिए शांति, सद्भाव, सह-अस्तित्व एवं सहयोग परमावश्यक हैं।

अभ्यास

1. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ की पृष्ठभूमि एवं इसकी स्थापना के लिए किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
2. दक्षेस के लक्ष्यों एवं सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
3. दक्षेस की महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ क्या रही हैं? उनमें भारत की भूमिका क्या है?
4. केंद्रीय आर्थिक क्षेत्र में सहयोग का क्या महत्त्व है? इस क्षेत्र में सहयोग के लिए भारत ने किस प्रकार का नेतृत्व दिया है?
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

    (i) दक्षेस का दूसरा शिखर सम्मेलन (1986)

    (ii) दक्षेस का आठवाँ शिखर सम्मेलन (1995)

    (iii) दक्षिण एशियाई अधिमानिक व्यापार व्यवस्था (साप्ता)

    (iv) दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र (साफ्ता)

अध्याय 21

गुटनिरपेक्ष आंदोलन में भारत की भूमिका

हम पहले पढ़ चुके हैं कि हमारी विदेश नीति के मूल सिद्धांतों में से एक सिद्धांत 'गुटनिरपेक्षता' है। विदेश नीति के एक तत्त्व के रूप में गुटनिरपेक्षता का अर्थ है —शक्ति गुटों से स्वतंत्रता, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, भूमंडलीय शांति, निरस्त्रीकरण, अन्याय के किसी भी साधन जैसे — साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, रंग भेद आदि के विरुद्ध संघर्ष। गुटनिरपेक्षता को अपनी विदेश नीति के सारतत्व के रूप में अपनाने के बाद, यह दूसरे नव स्वतंत्र देशों के लिए भी एक आदर्श बन गया। उनमें से अधिकतर देशों ने इसे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतंत्रता के साधन के रूप में अपनाया। शीघ्र ही गुटनिरपेक्षता विदेश नीति की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा होने के साथ-साथ नए मुक्त हुए एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के देशों के बीच एकता एवं सहयोग का आंदोलन भी बन गई। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना, तृतीय विश्व के देशों के विचारों को महत्त्व देने के लिए एकता आंदोलन के रूप में की गई। इसके प्रस्ताव का उद्देश्य शीत युद्ध प्रतिद्वंद्वता में दोनों गुटों से समान दूरी रखना और विश्व शांति एवं सहयोग को बढ़ावा देने के सिद्धांतो की वकालत करना था। समय के साथ गुटनिरपेक्ष आंदोलन मानवीय इतिहास में अधिकतम सदस्यता वाले और सबसे बड़े शांति आंदोलन के रूप में उभरा। इसकी स्थापना और तत्पश्चात् सुदृढ़ीकरण एवं विकास में भारत की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वस्तुत: अनेक प्रकार से भारत को गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अनौपचारिक नेता माना गया है।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की उत्पत्ति

एक आंदोलन के रूप में गुटनिरपेक्षता की स्थापना औपचारिक रूप से बेलग्रेड (युगोस्लविया) में 1961 में हुई, जिसे गुटनिरपेक्ष देशों की पहली शिखर वार्ता सम्मेलन कहा जाता है। यह सम्मेलन मिस्र, भारत तथा युगोस्लाविया द्वारा प्रायोजित था जिसका उद्देश्य महान शक्तियों एवं तत्कालीन सैनिक गठबंधनों की तुलना में प्रतिभागी देशों के अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव को और अधिक बढ़ाना था। इस सम्मेलन में 25 सदस्य देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में आमंत्रण के लिए पाँच शर्तें थी जो निम्नलिखित हैं :

(i) उस देश ने भिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था वाले देशों के साथ सह-अस्तित्व पर आधारित स्वतंत्र नीति अपनाई हो तथा उसका रूझान गुटनिरपेक्ष नीति की ओर हो;

(ii) वह देश राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों को निरंतर समर्थन देता रहा हो;

(iii) वह देश बड़ी शक्तियों के संघर्ष के संदर्भ में हुए बहुपक्षीय सैनिक गठबंधनों का सदस्य न हो;

(iv) अगर उस देश का किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता हो या वह किसी क्षेत्रीय प्रतिरक्षा संधि का सदस्य हो और वह समझौता या संधि बड़ी शक्ति संघर्षों के संदर्भ में जानबूझकर न की गई हो;

(v) अगर इसने अपना सैनिक अड्डा किसी विदेशी शक्ति को प्रदान कर दिया हो और यह सुविधा महान शक्ति संघर्षों के संदर्भ में न दी गई हो।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की उत्पत्ति और भारत की भूमिका

यद्यपि गुटनिरपेक्ष आंदोलन एक संगठित औपचारिक आंदोलन के रूप में 1961 में गुटनिरपेक्ष देशों के बेलग्रेड सम्मेलन के साथ शुरु हुआ परंतु इसका बीजारोपण भारत ने विशेषत: पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा, स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले ही कर दिया था। अंतरिम सरकार के गठन के एक सप्ताह बाद 7 सितंबर 1946 को जवाहरलाल नेहरू के प्रसारित भाषण में इसकी चर्चा थी। नेहरू जी ने कहा :

"हम प्रस्तावित करते हैं कि जहाँ तक संभव हो हमें एक दूसरे के विरुद्ध खड़े समूहों की शक्ति — राजनीति से दूर रहना है, जो भूतकाल में दो विश्व युद्धों का कारण थी और जो पुन: इससे भी बड़े पैमाने पर विध्वंसकारी हो सकते हैं। हम दूसरों पर अपना वर्चस्व स्थापित नहीं करना चाहते और न हम दूसरे लोगों से किसी प्रकार की विशेष सुविधा की अपेक्षा करते हैं। परंतु हम अपने लोगों के लिए, वे जहाँ भी जाएँ सम्मानजनक और समान व्यवहार चाहते हैं तथा उनके विरुद्ध कोई भेदभाव स्वीकार नहीं कर सकते। हमारा विश्वास है कि शांति एवं स्वतंत्रता अविभाज्य हैं तथा कहीं भी स्वतंत्रता को नकारना अन्यत्र कहीं स्वतंत्रता के लिए संघर्ष एवं युद्ध का कारण बनेगा।"

यह स्पष्ट है कि नेहरू उपनिवेशवाद, राष्ट्रीय स्वतंत्रता, निर्गुट राजनीति, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, जातीय भेद का उन्मूलन तथा अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर विकासशील देशों द्वारा सक्रिय भूमिका निभाने की आवश्यकता की धारणा को प्रसारित कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू के पहल करने पर ही भारत मुक्त देशों की पहली बैठक का आयोजन स्थल बना; जिसमें नई दिल्ली में मार्च 1947 में (भारत की स्वतंत्रता के औपचारिक घोषणा से पहले) 28 देशों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। यह सम्मेलन एशियाई देशों के बीच क्षेत्रीय सहयोग के लिए था जो 'एशियाई संबंधों के सम्मेलन' के रूप में जाना गया। इस सम्मेलन में श्रीलंका के भंडार नायके ने अपने दृढ़ विश्वास के बल पर और नेहरू के विचारों से प्रभावित होकर घोषणा की "मैं आश्वस्त हूँ और हम सब आशा करते हैं कि यह सम्मेलन एशिया के स्वतंत्र और समान देशों के बीच एक व्यापक सहयोग की नींव रखेगा और न केवल उन देशों का भविष्य उज्जवल करेगा अपितु मानवता, शांति और उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त करेगा।"

इस तरह एशियाई संबंध सम्मेलन को सही अर्थों में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नींव का पत्थर माना जा सकता है। इस सम्मेलन के आयोजक नेहरू ने कहा, "हम एशिया के लोग लंबे समय से पश्चिमी दरबार और दूतावासों के प्रार्थी रहे हैं। इस कहानी का अब अंत होना चाहिए। हम स्वावलंबी होने तथा उन सभी देशों के साथ, जो हमारे साथ सहयोग के लिए तैयार हैं, सहयोग करने का प्रस्ताव रखते है। हम दूसरों के हाथों का खिलौना नहीं होना चाहते ।"

बांडुंग सम्मेलन

नेहरू के साथ-साथ विश्व के कुछ अन्य नेता भी नव स्वतंत्र देशों के इस भाव को उजागर कर रहे थे। इन नेताओं में युगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोसिप ब्रॉज टीटो, मिस्र (पूर्व संयुक्त अरब गणतंत्र) के राष्ट्रपति गैमेल अब्दुल नासिर, घाना के राष्ट्रपति क्वामे नकरुमाह तथा

इंडोनेशिया के राष्ट्रपति अहमद सुकार्नो मुख्य थे। नेहरू के साथ गुटनिरपेक्षता पर उनका एक सुसंगत दृष्टिकोण एवं रवैया सामने आया। ये नेता विश्व के लोगों की मुक्ति की ओर उभरते बदलावों और विश्व व्यवस्था की एक नई परिकल्पना विकसित करने को सही दिशा देने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। उन्होनें इस धारणा का कि केवल पूर्वी-पश्चिमी संबंध ही अंतर्राष्ट्रीय मामले हैं से पूर्णतया इंकार कर दिया और इन मामलों को रूप देने में अपनी भूमिका पर बल दिया।

इन नेताओं की पहल पर अप्रैल 1955 में बांडुंग (इंडोनेशिया) में अफ्रीकी-एशियाई देशों के सम्मेलन का आयोजन किया गया। 23 एशियाई और 6 अफ्रीकी देशों की हिस्सेदारी ने उन नवोदित देशों के लोगों का प्रतिनिधित्व किया जिनकी स्थापना, एक ओर लोकतंत्र एवं स्वतंत्र तथा दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत उपनिवेशवाद एवं दमन के बीच नए संतुलन का परिणाम था। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों का किसी सैन्य या राजनीतिक गुट से कोई संबंध नहीं था और मानवता के समक्ष समस्याओं पर उनका एक स्पष्ट और निश्चित दृष्टिकोण था। अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद बांडुंग सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने विश्व शांति के व्यापक हित में एक समान दृष्टिकोण अपनाया।

विश्व शांति एवं सहयोग की उद्घोषणा बांडुंग सम्मेलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस उद्घोषणा ने पंचशील के सिद्धांतों को मूर्तरूप दिया जिनकी चर्चा सर्वप्रथम अप्रैल 1954 में भारत और चीन के बीच हुए समझौते की प्रस्तावना में की गई थी। ये पाँच सिद्धांत थे : प्रादेशिक अखंडता एवं संप्रभुता के लिए पारस्परिक सम्मान, आक्रमण न करना, आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समानता और पारस्परिक लाभ तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

सम्मेलन की अंतिम विज्ञप्ति ने अपने को क्षेत्रीय समस्याओं तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि निरस्त्रीकरण और विश्व शांति सुरक्षा के लिए ठोस कदम भी उठाए। सम्मेलन ने अफ्रीकी-एशियाई, यूरोपीय एवं लैटिन अमेरिकी लोगों तथा नई विश्व व्यवस्था में उनकी इच्छित भूमिका के बीच खाई पाटने में पूर्ण सहयोग दिया। नेहरू जी ने बांडुंग में ज़ोर देकर कहा, "इसमें संदेह नहीं कि हमारा प्रभाव बढ़ेगा। वस्तुत: यह बढ़ भी रहा है और आज भी हम थोड़े बहुत प्रभाव का प्रयोग करते हैं। हमारा प्रभाव, अधिक हो या कम पर इसका प्रयोग सही दिशा में होना चाहिए।"

बांडुंग सम्मेलन के बाद जुलाई 1956 में एक त्रिपक्षीय बैठक नेहरू, टीटो एवं नासर के बीच ब्रायोनी में हुई। इस बैठक में बांडुंग सिद्धांतों की पुष्टि करते हुए तीनों नेताओं ने अपने संयुक्त वक्तव्य में विश्व के ऐसे विरोधी शक्ति गुटों में बँटने को अस्वीकार कर दिया जिसका परिणाम निरंतर संघर्ष को बढ़ावा देना था। उन्होंने दृढ विश्वास के साथ दावा किया कि गुटनिरपेक्षता की नीति ने कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने में योगदान दिया है तथा राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर संबंधों के विकास में सहायक की भूमिका निभाई है। उन्होंने अपनी इस नीति को आगे बढ़ाने पर ज़ोर दिया तथा इस उद्देश्य के लिए एक सामूहिक रूप रेखा प्रस्तुत की। उनकी अपने-अपने देश की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के अंतर ने शायद ही कोई बाधा उत्पन्न की हो। इस समय चल रही परामर्श प्रक्रिया में ब्रायोनी की बैठक एक ऐतिहासिक घटना थी जिसके फलस्वरूप 1961 में बेलग्रेड में पहले गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें गुटनिरपेक्ष आंदोलन के औपचारिक रूप से प्रारंभ होने की घोषणा की गई।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन में भारत की निर्णायक भूमिका

यह सुस्पष्ट है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में भारत ने न केवल सक्रिय भूमिका निभाई अपितु वह

आंदोलन का प्रवर्तक भी था। जैसा कि हम जान चुके हैं कि विश्वव्यापी राजनीति में, विदेश नीति के आधारभूत सिद्धांत के रूप में और नवोदित देश के राष्ट्रीय हितों को बढ़ावा देने की दृष्टि से, गुटनिरपेक्षता एक ऐसा स्वप्न था जिसे भारतीय नेताओं ने स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ही संजोया था। स्वतंत्रता के बाद यह स्वप्न भारत की विदेश नीति का सार तत्त्व बन गया था, और अन्य देशों ने भी अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसका अनुसरण किया। शीघ्र ही यह नवोदित देशों, जिन्हें कभी तृतीय विश्व का देश या फिर विकासशील देश कहा जाता है, के बीच भाईचारे, सहयोग एवं मेल-मिलाप का आंदोलन बन गया। इस तरह गुटनिरपेक्ष आंदोलन भारत द्वारा एक स्वतंत्र विदेश नीति निर्माण की पहल के रूप में विकसित हुआ। यह स्वतंत्र विदेश नीति एक ठोस, नैतिक और सशक्त राजनीतिक नींव पर आधारित था। यह एक पक्षपात रहित विदेश नीति थी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत के नैतिक दृष्टिकोण को 1954 में पंचशील के सिद्धांत के द्वारा अग्रसारित किया गया। तीन वर्षों के अंतराल में ही 18 देशों ने भारतीय नेताओं के साथ संयुक्त विज्ञप्ति में पंचशील के सिद्धांतों का अनुमोदन किया। इन सिद्धांतो को बांडुंग सम्मेलन में उद्घोषित दस सिद्धांतों में व्यावहारिक रूप से समाविष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त अपनी स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में भारत ने कुछ जटिल अंतर्राष्ट्रीय मुद्दो के शांतिपूर्ण समाधान में सक्रिय भूमिका निभाई और संयुक्त राष्ट्र में निरस्त्रीकरण के लिए निरंतर समर्थन जुटाने में संलग्न रहा। इन सबने गुटनिरपेक्षता की धारणा को भारत की विदेश नीति का मूल तत्त्व, साम्राज्य विरोधी और उपनिवेशवाद विरोधी ताकतों के समन्वित कार्यों को आपस में जोड़ने, विदेशी मुद्दों पर स्वतंत्रत विचारधारा, शक्ति गुटों को निर्बल बनाने की प्रक्रिया, बड़ी शक्तियों के प्रभुत्व को चुनौती देने का प्रतीक बनकर शीत युद्ध संघर्ष की राजनीति के दौर में नया कूटनीतिक व्यवहार बना दिया। गुटनिरपेक्ष आंदोलन अपने चालीस साल से अधिक के अस्तित्व के प्रारंभ से ही एक व्यापक राजनीतिक दर्शन, एक कार्य योजना तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनीतिक संबंधों की नई और सकारात्मक व्यवस्था विकसित करता आ रहा है। स्थापना के समय से ही भारत गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सबसे अधिक सक्रिय सदस्यों में से एक रहा है और इसके विभिन्न कार्यक्रमों एवं विकास में इसने निर्णायक भूमिका निभाई है।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भारत

जैसा कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि 1961 में बेलग्रेड में हुआ गुटनिरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन प्रेरणा से विचार, विचार से नीति और नीति से आंदोलन तक की विकास प्रक्रिया का चरम बिंदु था। यह शिखर सम्मेलन अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से विश्व शांति, सुरक्षा एवं लोगों के बीच शांतिपूर्ण सहयोग के कारगर योगदान के उद्देश्य से आयोजित किया गया था। यह एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी देशों के साथ-साथ एकमात्र यूरोपीय देश युगोस्लाविया के नेताओं के दूरदर्शी नेतृत्व के अधीन गुटनिरपेक्ष आंदोलन का पहला शिखर सम्मेलन था। शिखर वार्ता की कार्य सूची में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचारों का आदान-प्रदान, अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शांति की स्थापना एवं सुदृढ़ता, असमान आर्थिक विकास की समस्या, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और तकनीकी सहयोग आदि सम्मिलित थे, जो गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेताओं की गहरी सूझ-बूझ के परिचायक थे। अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की सुदृढ़ता संबंधी मामलों में नेताओं का सुस्पष्ट कार्यक्रम था जिसे इस तरह प्रस्तुत किया गया :

''लोगों और राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का सम्मान, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष, उपनिवेशवाद और नव उपनिवेशवाद की समाप्ति, देशों की संप्रभुता और

क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान, देशों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, जातीय भेदभाव एवं रंग भेद की समाप्ति, संपूर्ण निरस्त्रीकरण, परमाणु परीक्षण प्रतिबंध, विदेशी सैनिक अड्डों की समस्या, विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन एवं भूमिका तथा इसके प्रस्तावों का क्रियान्वयन।"

भारत ने प्रारंभ से ही अपनी विदेश नीति संबंधी घोषणाओं एवं व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया था कि गुटनिरपेक्षता को तटस्थता एवं अलगाव की निष्क्रिय धारणाओं से अलग होना चाहिए। गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय विश्व की जटिल समस्याओं से मुंह फेरना नहीं था। इसके विपरीत, यह नीति अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय भागीदारी के लिए बनाई गई थी। यह विश्व मुद्दों पर स्वतंत्र निर्णय को महत्त्व देता था। विचार और व्यवहार की स्वतंत्रता इसकी माँग थी। इसका बल शांति, समानता, न्याय और मानवीय गरिमा पक्ष पर था। पंडित नेहरू ने कहा था :

"युद्ध की संभावनाओं को लेकर जब भी कोई संकट आता है उस वक्त हमारा किसी गुट में शामिल न होना हमे यह एहसास दिलाता है कि पहले से कहीं ज्यादा हमारे ऊपर यह जिम्मेवारी है कि हम आने वाले इस संकट को जहाँ तक हो सके रोकने का प्रयास करें।"

विकास के क्रम में गुटनिरपेक्षता के दो आवश्यक लेकिन परस्पर संबद्ध अवयव : राष्ट्रीय स्वतंत्रता की महत्ता एवं सक्रिय शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, थे।

स्वतंत्रता की अदम्य लालसा के परिणाम थे : सैनिक संधियों का परित्याग, एक या दूसरी शक्ति का पिछलग्गू होने से इन्कार और औपनिवेशिक प्रभुत्व तथा जातीय भेदभाव के प्रत्येक रूप का विरोध। गुटनिरपेक्षता के दूसरे तत्त्व का संबंध एक ऐसे नए ढाँचे के लिए संघर्ष से है जो लोगों और देशों के बीच के संबंधों पर आधारित है — इन संबंधों की विशेषताएँ हैं — समानता, शांति और सहयोग हैं न कि संकटपूर्ण टकराव।

इसके अंतर्गत राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति इस आंदोलन का अंत नहीं थी बल्कि एक नए अध्याय की शुरुआत थी जिसका केंद्र बिंदु आर्थिक स्वावलंबन था। इस क्षेत्र में भी भारत ने अग्रणीय भूमिका निभाई है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने बिना समय गँवाए भारत के लिए पंचवर्षीय योजनाओं की रूपरेखा तैयार करने के लिए योजना आयोग की स्थापना की जिसने सार्वजनिक क्षेत्र पर पर्याप्त बल दिया है। कई अन्य नवोदित देशों ने भारतीय अनुभव का लाभ उठाने के लिए भारत के साथ संपर्क स्थापित किया। निजी क्षेत्र के लिए झुकाव के बावजूद विश्व बैंक ने विकासशील देशों को परामर्श देना शुरु किया जो भारत की योजना नीति की पद्धति पर विकास योजनाओं के लिए सहायता की तलाश में थे। इसके परिणामस्वरूप भारत और अन्य विकासशील देशों के बीच संपर्क और भी मजबूत हुए।

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास परिषद् (यु.एन.सी.टी.डी.) के अस्तित्व में आने के बाद विकासशील देशों ने संयुक्त राष्ट्र में उस वक्त अपनी कुल संख्या के आधार पर एक समूह का गठन किया, जिसे "77 का समूह" कहते हैं। ऐसे विकासशील देशों की संख्या संयुक्त राष्ट्र में उस समय 77 ही थी। ऐसे देशों की संख्या अब सौ से भी ऊपर है। लेकिन यह नाम (77 का समूह) अभी भी चल रहा है। इस समूह के कई रचनात्मक विचारों को संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास परिषद् द्वारा स्वीकृत कराने में निश्चित तौर पर सफलता मिली है।

1990 में बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने जी-15 के गठन का फैसला किया जो 'जी-7' (सात अति औद्योगिक विकसित देशों का समूह) का स्वरूप था। इस गठन के पीछे यह सोच काम कर रही थी कि आर्थिक मुद्दों ने राजनीतिक और

नीतिगत मुद्दों पर वर्चस्व प्राप्त कर लिया है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने सही अनुभव किया था कि इसकी नई भूमिका दक्षिण-दक्षिण में सहयोग की स्थापना करना होगा जिसका तात्पर्य था मुख्य रूप से गुटनिरपेक्ष देशों के बीच सहयोग और तेज़ी से फैलती हुई उत्तर के आर्थिक और प्रौद्योगिक शक्ति से इन देशों के हितों की रक्षा। भारत जी-77 और जी-15 दोनों का सदस्य रहा है और यह दोनों में ही नेतृत्व की भूमिका निभा रहा है।

1983 में नई दिल्ली में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सातवें शिखर सम्मेलन के आयोजक के रूप में भारत के योगदान की विशेष सराहना हुई। परमाणु युद्ध टालने, संघर्ष, शस्त्रों की होड़ की समाप्ति, जैसे मुद्दों की ओर प्रतियोगियों का ध्यान निरस्त्रीकरण की आवश्यकता तथा उपनिवेशवाद एवं जातिवाद की समाप्ति जैसे मुद्दों की ओर प्रतिभागियों का ध्यान आकर्षित करने में भारत ने अपने राजनीतिक प्रतिष्ठा और शक्ति का इस्तेमाल किया। इस सम्मेलन के बाद गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अध्यक्ष की क्षमता में भारत ने परमाणु हथियाँरों पर अवरोध लगाने और परमाणु अस्त्रों के इस्तेमाल पर रोक लगाने के ख्याल से अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का संयुक्त राष्ट्र में एक प्रस्ताव प्रेषित किया। भारत ने परमाणु शक्तियों पर अस्त्रों की होड़ रोकने के लिए दबाव डालने के उद्देश्य से 6 देशों के निरस्त्रीकरण समूह को भी संगठित किया। परमाणु ऊर्जा के प्रयोग करने की देशों की स्वतंत्रता की सुरक्षा में भारत ने काफी सक्रिय भूमिका निभाई है। इसने परमाणु शक्तियों के भेदभाव पूर्ण रवैए, खासतौर पर व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि और परमाणु अप्रसार संधि का ज़ोरदार ढंग से विरोध किया है। व्यापक रूप से दोष पूर्ण 'व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि' को संयुक्त राष्ट्र में जाने से रोकने में भारत की भूमिका ने अमेरिका और इसके मित्रों को सतर्क कर दिया कि वे दक्षिण की अग्रणी शक्तियों को आसानी से न लें। इसने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को और सशक्त किया।

प्रारंभ से ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सामने जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसमें खासतौर पर रंग भेद नीति के खिलाफ संघर्ष में भारत ने सर्वोत्कृष्ट भूमिका निभाई है। सितंबर 1986 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के हरारे शिखर सम्मेलन में भारतीय प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने सदस्य देशों के समक्ष आक्रमण प्रतिरोध कार्य, उपनिवेशवाद और रंग भेद नीति विरोधी कार्य के लिए प्रस्ताव रखा तथा इसके क्रियान्वयन के लिए एक कोष (अफ्रीका कोष) की स्थापना के लिए सदस्यों को राजी भी कर लिया। इस कोष का मुख्य उद्देश्य दक्षिणी अफ्रीका के रंग भेद शासन से मुकाबला करने के लिए अग्रिम पंक्ति के देशों की आर्थिक और वित्तीय क्षमताओं को मजबूत करना था। हरारे शिखर सम्मेलन ने अफ्रीका कोष की स्थापना की। नौ-देशीय अफ्रीका कोष समिति का अध्यक्ष भारत को नियुक्त किया गया। उसका उत्तरदायित्व धन एकत्रित करना था। जनवरी 1987 तक केवल भारत का योगदान 50 करोड़ रुपए था। मुख्यतया, यह भारत की प्रभावशाली भूमिका के साथ गुटनिरपेक्ष आंदोलन के प्रयासों का प्रभाव था कि 1994 में दक्षिणी अफ्रीका में अंतत: रंग भेद नीति समाप्त हो गई।

इस प्रकार गुटनिरपेक्ष आंदोलन को प्राप्त भारत के अटल समर्थन के कारण, भारत सदस्य देशों की शक्ति का निरंतर एक आधार स्तंभ रहा है। शीत युद्ध की समाप्ति और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत के साथ आज जब गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अस्तित्व पर सवालिया निशान लग गया है तो आवश्यकता इस बात की है कि इसे मजबूत किया जाए। इसमें भारत को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। विकासशील गुटनिरपेक्ष देशों के बीच एक विकसित देश के रूप में भारत को एक न्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय

व्यवस्था के विकास के लिए एवं इस आंदोलन के स्वतंत्र स्वरूप को बचाए रखने के लिए प्रयासरत रहना होगा।

उत्तरोत्तर शीत युद्ध काल गुटनिरपेक्ष आंदोलन और इसकी प्रासंगिकता

1955 में बांडुंग में इसके गठन की परिकल्पना तथा 1961 में बेलग्रेड में इसके प्रथम सम्मेलन के बाद अपने 40 वर्षों से भी अधिक के अस्तित्व के दौरान गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने एक लंबी और घटनापूर्ण यात्रा की है। 25 देशों की सदस्यता से बढ़कर इसकी सदस्यता 114 तक हो गई है। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में बदलाव के साथ गुटनिरपेक्ष आंदोलन के परिप्रेक्ष्य और पूर्वाग्रह में भी बदलाव आते रहे हैं । हालाँकि 1990 के दशक में बदली हुई परिस्थितियों ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को चौराहे पर ला खड़ा किया है।

तत्कालीन सोवियत संघ के विघटन और समाजवादी गुट के बिखरने के साथ नई विश्वव्यापी स्थिति और उद्देश्य उभरकर सामने आए हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया भी शुरु हो गई है। विकासशील देशों को मिलने वाली मानवतावादी सहायता में भारी कमी की जा रही है। दक्षिण को मिलने वाली सहायता के साथ कड़ी शर्तें लगाई जा रही है जैसे बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्रवेश की आज्ञा। अधिकांश विकसित और विकासशील देशों ने मुक्त बाज़ार नीति अपनाई है। इन देशों ने क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग का कार्यक्रम भी फिर से तैयार किया है। एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय सहयोग गुट के रूप में यूरोपीय संघ की स्थापना हुई है। दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ ने भी एक शक्तिशाली आर्थिक गुट के रूप में काफी सफलता हासिल की है। 'उत्तरी-अमेरिका मुक्त व्यापार समझौता' उत्तरी अमेरिका में एक शक्तिशाली आर्थिक गुट के रूप में उभरा है और 'एशिया-प्रशांत आर्थिक सहयोग' ने एशिया प्रशांत क्षेत्र में आर्थिक सहयोग के लिए आम सहमति तैयार करने में अच्छी प्रगति की है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्यों के साथ साथ अधिकांश देश निजी और व्यावहारिक रूप से अपने निर्णय लेने लगे हैं। इन दूरगामी प्रगति के संदर्भ में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता पर बहस छिड़ गई है। कुछ लोगों का मत है कि इस बदली परिस्थिति में गुटनिरपेक्षता और इससे जुड़ी नीतियाँ असंगत हो गई हैं।

एक अन्य विचारानुसार उत्तरोत्तर शीत युद्ध विश्वव्यवस्था में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता और भूमिका अभी भी महत्त्वपूर्ण है। भारत, गुटनिरपेक्ष आंदोलन का संस्थापक सदस्य होने के नाते गुटनिरपेक्षता को अपनी विदेश नीति का अवलंब घोषित करने में आगे ही नहीं है अपितु इसकी प्राथमिकता एवं धारणा में कुछ बदलावों के साथ गुटनिरपेक्ष आंदोलन की निरंतर भूमिका की वकालत भी करता है। 1990 के दशक की शुरुआत से ही आंदोलन ने स्पष्ट अनुभव किया कि संघर्ष के दृष्टिकोण से हटकर औद्योगिक देशों के साथ बातचीत और सहयोग की जरुरत ज्यादा है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के कई सदस्य देशों को परिस्थितियों ने महान शक्तियों एवं उसके मित्र देशों के साथ अनेक प्रकार के संबंध बढ़ाने पर विवश कर दिया। परंतु ये देश गुटनिरपेक्षता के बुनियादी मापदंड जैसे उनके अस्तित्व को स्वतंत्र संप्रभु देशों के रूप में मज़बूती प्रदान करने में सहायक नीतियाँ, विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं वाले देशों के सह-अस्तित्व में विश्वास और राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम तथा जातिवाद के विरुद्ध आंदोलनों को समर्थन देने से विमुख नहीं हुए।

शीत युद्ध की समाप्ति ने कई प्रकार से गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सिद्धांत एवं नीतियों को उचित ठहराया है। साथ ही यह भी सच है कि शीत युद्ध तो समाप्त हो गया है परंतु विश्व में शांति को चरम पंथ की ताकतें, कलह, आक्रमणकारी राष्ट्रवाद, आतंकवाद

और विध्वंसकारी अस्त्रों के जमावड़े से ख़तरा अब भी बना हुआ है। भूमंडलीकरण की गतिशीलता ने गुटनिरपेक्ष विकासशील देशों के लिए नई समस्याएँ पैदा की हैं। हालाँकि विकासशील विश्व परस्पर लाभकारी विश्वव्यापी एकीकरण का समर्थन कर रहा है किंतु इसकी कुछ चिंताओं को विश्वव्यापी कार्यसूची संबोधित नहीं करता। ये कार्यक्रम हैं : निवेशकों खासकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधिकारों और कर्तव्यों के बीच समतुल्य, घरेलू कानूनों का अपरदेशीय प्रयोग, मानवीय अधिकारों का अंतर्भेदीय एवं सुविचारित कार्यान्वयन, श्रम मानदंड और बौद्धिक संपत्ति अधिकार, पर्यावरण की रक्षा एवं संरक्षण की शर्तें तथा अनुदान सहायता एवं व्यापारिक छूट से बँधी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास। विकासशील देशों पर दूसरों द्वारा तैयार कार्यक्रमों को मानने का दबाव बढ़ता जा रहा है।

पिछड़े देशों की विचारधारा को व्यक्त करने की आवश्यकता यथावत बनी हुई है। इसलिए इन देशों को, आपसी विचार-विमर्श और समान रुख तथा समन्वित दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए जिससे उनके अधिकारों और हितों की रक्षा हो सके। इस उद्देश्य से गुटनिरपेक्ष आंदोलन एक श्रेष्ठ मंच और एक आदर्श आधार प्रदान करता है। इन आवश्यकताओं ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापकों को एक स्वर से बोलने, सामूहिक रूप से अपने लक्ष्य घोषित करने तथा अपने राजहितों के अनुकूल विश्वव्यापी मुद्दों पर निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में भागीदारी के अधिकार की माँग करने के लिए विवश किया। ये परिस्थितियाँ आज भी विद्यमान हैं।

अधिकांश गुटनिरपेक्ष देशों के सामने गरीबी, भूखमरी, बीमारी, अज्ञानता, निरक्षरता, विदेशी कर्ज़ का बोझ, व्यापार की बिगड़ती शर्तों, बढ़ती मुद्रा स्फीति और बेरोज़गारी की समस्याएँ खड़ी हैं। इसलिए आज गुटनिरपेक्ष आंदोलन के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती इन समस्याओं पर नियंत्रण पाने के लिए साधन ढूँढना है।

इन परिस्थितियों ने फिर से भारत को एक विशिष्ट स्थिति में ला खड़ा किया है। यद्यपि एक गरीब देश होने के नाते इसकी समस्याएँ विकराल हैं फिर भी इसकी अर्थव्यवस्था में उछाल देखा जा सकता है। इसकी खाद्यान्न की स्थिति संतोषजनक है और विदेशी मुद्रा भंडार के मामले में स्थिति सुखद है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उद्योग के क्षेत्र में इसकी प्रगति ने इसे ऐसी स्थिति प्रदान की है कि यह एशिया और अफ्रीका के कई देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता दे सकता है। इसकी अर्थव्यवस्था अब बाहरी झटकों और विपरीत आंतरिक परिस्थितियों से सुरक्षित है। इस तरह भारत काफी हद तक गुटनिरपेक्ष देशों के बीच सामूहिक आत्म निर्भरता के आदर्श को आगे बढ़ाने की स्थिति में है।

पूर्व प्रधान मंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने 1997 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के विदेश मंत्रियों की 12वीं बैठक में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखा था। उन्होंने पश्चिमी नए साम्राज्यवाद के अनर्थकारी पुनर्आगमन के उत्तरदायी कारकों को उजागर किया था। जी-7 के नए श्रम कानून, सामाजिक धाराएँ, चुनिंदा विश्वव्यापी निवेश साम्राज्य आदि विश्वव्यापी कार्यक्रम निश्चित कर रहे है तथा मानवाधिकार, पर्यावरण संबंधी शर्तों, संरक्षणवाद आदि का उपदेश दे रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्य अपना निषेधाधिकार त्यागने के पक्ष में नहीं है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का लोकतांत्रीकरण रोक दिया गया है। अधिक गुटनिरपेक्ष देश पश्चिमी सहायता पर जी रहे हैं। कई देशों ने सभ्य व्यवहार की धरोहर का परित्याग कर दिया है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन को भूमंडलीकरण की कट्टरवादिता एवं बाज़ार की भर्त्सना करनी चाहिए और कई जगहों

पर जिस प्रकार कट्टरवाद सिखाया और व्यवहार किया जाता है, उस पर चुप नहीं रहना चाहिए।

विकासशील देशों को कर कम करने के लिए और श्रम मानदंडों को अपनाने के लिए विश्व व्यापार संगठन द्वारा बल प्रयोग दूसरा मुद्दा है। यह उनकी अर्थव्यवस्था की मंदी के दौर में विकसित देशों के प्रभुत्व की ओर इशारा करता है। जब तक विकासशील देश, जो गुटनिरपेक्ष आंदोलन के भी सदस्य हैं, बड़ी शक्ति द्वारा हुए आक्रमणों का संयुक्त रूप से विरोध नहीं करते तब तक राष्ट्र-राज्यों के लिए विश्व सापेक्ष शांति, सुरक्षा तथा समानता का दर्जा तथा अल्पविकसित देशों के विकास के लिए विदेशी सहायता दूर का स्वप्न बनकर रह जाएगा। जून 2002 में दोहा में विश्व व्यापार संगठन की बैठक में भारत ने विकासशील देशों की तरफ से जोरदार तर्क प्रस्तुत किए।

शीत युद्ध एवं शक्ति गुटों की समाप्ति के बाद भी गुटनिरपेक्षता धारणा और आंदोलन के रूप में प्रासंगिक है क्योंकि विश्व अभी भी ऐसा शांतिपूर्ण एवं सुरक्षित स्थान नहीं हैं जहाँ स्वतंत्रता, समानता, न्याय और विकास के लिए संघर्ष करते लोगों की मौलिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रयास राजनीतिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सुरक्षा, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की ओर उन्मुख है और सभी प्रकार के प्रभुत्व, नवउपनिवेशवाद, आधिपत्य, रूढ़िवाद आदि का विरोध करना है। इन सब में भारत का अपना साझा हित है और वह पूर्ववत नेतृत्व की भूमिका निभाता रहेगा।

गुटनिरपेक्षता पहली बार एक अवधारणा के रूप में अपनी विदेश नीति में भारत द्वारा विश्व राजनीति के ध्रुवीकरण एवं शीत युद्ध की स्थिति के संदर्भ में अपने प्रबुद्ध राष्ट्रीय हितों के साधन के रूप में विकसित किया गया। आगे चलकर यह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकार हुए देशों का आंदोलन बन गया। भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो और मिस्र के राष्ट्रपति नासिर के सहयोग से इस आंदोलन को विश्व शांति और विकास के लिए राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु निदेशित किया। राजनीतिक स्तर पर इस आंदोलन का उद्देश्य नवोदित देशों की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखना और शेष उपनिवेशों की मुक्ति में सहायता करना था। विश्व स्तर पर इसका लक्ष्य उपनिवेशवाद विरोधी, जाति विरोधी ताकतों तथा मुक्ति आंदोलनों में एकता बनाए रखना और उन्हें अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता देना था।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का आर्थिक लक्ष्य विकासशील देशों के बाज़ार को पश्चिमी पूँजीवाद और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मुक्त बाज़ार के अधिपत्य से बचाना था।

भारत संस्थापक सदस्य के रूप में नेतृत्व की भूमिका निभाते हुए इस आंदोलन का अग्रणी बना रहा। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सभी गतिविधियों जैसे — उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष, निरस्त्रीकरण, विकास के लिए सहयोग, जातिवाद के विरूद्ध संघर्ष विकसित देशों के साथ बातचीत इत्यादि में भारत ने केवल नीति के स्तर पर ही नहीं बल्कि एक सक्रिय भूमिका भी निभाई है।

शीत युद्ध और गुटबंदी की समाप्ति के साथ ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन किसी भी रूप में असंगत नहीं हुआ है। यदि गुटनिरपेक्षता का सार स्वतंत्रता का समर्थन है तो यह कभी भी असंगत नहीं हो सकता। विकासशील राष्ट्र के सामने कोई विकल्प नहीं है सिवाय इसके कि वह गुटनिरपेक्ष आंदोलन के मंच से न्यायोचित विश्व व्यवस्था के लिए प्रयासरत रहे।

वर्तमान में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के महत्त्व के बारे में कोई संदेह नहीं है परंतु इसका उद्देश्य तब पूरा होगा जब ये विकासशील देशों की वर्तमान समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करेगा। अपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण में गुटनिरपेक्ष आंदोलन को पारंपरिक और नवीन उभरते हुए तत्वों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना होगा। इसके कार्यक्रम को विषय संगत और लचीला बनाना होगा, ताकि वह समय की माँग के अनुसार चल सके। शांति, सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए गुटनिरपेक्ष आंदोलन को एकमत होना होगा।

अभ्यास

1. गुटनिरपेक्ष आंदोलन की उत्पत्ति में भारत की क्या भूमिका थी?
2. गुटनिरपेक्ष आंदोलन द्वारा चलाई गई गतिविधियों में भारत की भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. उत्तरोत्तर शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
4. गुटनिरपेक्ष आंदोलन को जीवित रखने में भारत की भूमिका का मूल्याँकन कीजिए।
5. "वर्तमान एक ध्रुवीय विश्व में गुटनिरपेक्ष आंदोलन अप्रासंगिक हो गया है", क्या आप इस कथन में सहमत हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (i) बांडुंग सम्मेलन

   (ii) बेलग्रेड शिखर सम्मेलन

   (iii) नेहरू और गुटनिरपेक्ष आंदोलन

अध्याय 22

मुख्य विषयों पर भारत का दृष्टिकोण : निरस्त्रीकरण, मानवाधिकार और भूमंडलीकरण

विज्ञान और तकनीकी विकास की दृष्टि से पूरे विश्व ने नई आशाओं और समस्याओं के साथ इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश किया। जहाँ हमारा जीवन सुखमय, सहज और आशाओं से परिपूर्ण बना है वहीं हम बिगड़ते पर्यावरण, बढ़ते कट्टरवाद और आतंकवाद, मूल मानव अधिकार के उल्लंघन, घातक रासायनिक एवं परमाणु अस्त्रों के बढ़ते ख़तरे, एच. आई.वी. एड्स जैसी नई बीमारियों के प्रकोप तथा गरीब और अमीर देशों के बीच बढ़ती दूरियों आदि चुनौतियों का सामना भी कर रहे हैं। आज का विश्व इन चुनौतियों से स्थानीय और विश्व, दोनों स्तरों से प्रभावित है। विज्ञान और तकनीकी विकास ने विश्व को केवल निकट ही नहीं किया वरन् परस्पर निर्भर भी बना दिया है। परिणामस्वरूप विश्व के किसी भी कोने में घट रही घटनाओं और उनके परिणामों से सभी देश प्रभावित होते हैं। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए उभरते हुए भूमंडलीय विषयों अथवा मुद्दों पर ध्यान देना और प्रतिक्रिया व्यक्त करना आवश्यक है। यद्यपि विभिन्न देश अपने राष्ट्रीय हितों, वैचारिक दृष्टिकोणों तथा अवधारणाओं के आधार पर विभिन्न मुद्दों पर भिन्न-भिन्न ढंग से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं तथापि सदैव सामूहिक कारवाई पर बल दिया जाता रहा है। इस अध्याय में हम आज के विश्व के समक्ष उपस्थित कुछ मुद्दों तथा इस संदर्भ में भारत के विचार और भूमिका का अध्ययन करेंगे।

निरस्त्रीकरण

निरस्त्रीकरण व्यक्तियों और राष्ट्रों दोनों को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण भूमंडलीय समस्याओं में से एक है। हथियारों की इस दौड़ ने ख़तरनाक रूप धारण कर लिया है और समुद्रों तथा पृथ्वी पर हथियारों के भंडार से यह ख़तरा बाह्य अंतरिक्ष में भी बढ़ रहा है। इसलिए निरस्त्रीकरण का प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में केंद्र बिंदु बन चुका है।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण हथियारों की दौड़ प्रारंभ हुई। उसी समय शीत युद्ध का प्रारंभ हुआ जिसने पूरे विश्व को दो गुटों में बाँट दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के साथ जुड़े विध्वंस के अतिरिक्त, सर्वाधिक विध्वंसकारी शक्ति वाले परमाणु युग का भी सूत्रपात हुआ। दुर्भाग्य से युद्ध के बाद देशों में, विशेषत: शक्तिशाली देशों में, हथियारों के भंडार बनाने तथा दूसरों से आगे रहने की होड़ शुरू हो गई। तब से हथियारों की यह दौड़ बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। आज विश्व, परमाणु महाविनाश के ख़तरे से भयभीत है। हिरोशिमा को नष्ट करने वाले अकेले बम से 71,379 लोग मर गए थे और अगले पाँच वर्षों में

विकिरण तथा उसके बाद के प्रभावों के कारण यह संख्या बढ़कर 2 लाख तक पहुँच गई थी। आज उससे कई हज़ार गुणा शक्तिशाली बम अनेक देशों के परमाणु भंडारों में हैं।

वैज्ञानिक अध्ययनों ने परमाणु युद्ध की विभीषिका के दिल दहलाने वाले दृश्य की कल्पना की है। अनुमान बताते हैं कि विश्व परमाणु युद्ध की स्थिति में 150 करोड़ लोग मारे जाएँगे और सौ करोड़ से अधिक घायल हो जाएँगे। जो युद्ध में जीवित रह जाएँगे उनकी स्थिति और भी दयनीय होगी। मुख्यत: उन्हें पर्याप्त चिकित्सा सहायता भी उपलब्ध नहीं होगी। उनके पास पीने का पानी, गैस, बिजली नहीं होगी और लाखों घन मीटर सीवर का विषैला पानी शहरी क्षेत्रों, खेतों और चारागाहों को भर देगा और नदियों को दूषित करेगा। वर्षा से रेडियोधर्मी पदार्थों का संघनन होगा तथा कई महीनों तक पीने का पानी, पीने योग्य नहीं रहेगा। इस प्रकार मानवता के अस्तित्व को भी चुनौती है। हथियारों की दौड़ अपनी क्षमता, विध्वंसक शक्ति एवं तकनीकी उत्कृष्टता अपने कार्य क्षेत्र में मानव जाति के लिए महानतम् ख़तरा प्रस्तुत कर रही है। संयुक्त राष्ट्र विशेषज्ञों द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार विश्व में हथियारों की होड़ देशों के सीमित मानवीय एवं भौतिक संसाधनों पर भारी पड़ रही है। यह केवल आर्थिक रूप से ही नहीं अपितु सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी प्रहार है।

हथियारों पर रोक और निरस्त्रीकरण

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् शांति, मैत्रीपूर्ण सह-अस्तित्व और मानव कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र ने प्रारंभ से ही विश्व स्तर पर हथियारों को नियमित करने का दायित्व संभाला। इसका उल्लेख संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में ही कर दिया गया था। 24 जनवरी 1946 को संयुक्त राष्ट्र महा सभा के पारित हुए पहले ही प्रस्ताव में परमाणु हथियारों तथा जनसंहार से संबंधित हथियारों की समाप्ति की इच्छा व्यक्त की गई थी। लेकिन, प्रारंभिक वर्षों में इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। 1959 में महा सभा ने *प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत सामान्य* एवं पूर्ण निरस्त्रीकरण को संयुक्त राष्ट्र का लक्ष्य निर्धारित किया। तब से निरस्त्रीकरण के प्रति अनेक प्रयास किए गए। यह भी उल्लेखनीय है कि निरस्त्रीकरण का संबंध वर्तमान हथियारों के घटाने अथवा समाप्ति से जुड़ा है। यह भावी हथियारों पर लागू नहीं होता। भावी हथियारों पर नियंत्रण को 'हथियारों पर रोक' नाम से जाना जाता है। अत: शैक्षिक और नीतिगत् चर्चा के अनुसार निरस्त्रीकरण का अर्थ है — प्रचलित हथियारों पर रोक अथवा कटौती, जबकि 'हथियारों पर रोक' का अर्थ है — भावी हथियारों पर रोक। इस अध्याय में हम पूरे विषय की एक ही शीर्षक 'निरस्त्रीकरण' के अंतर्गत चर्चा कर रहे हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि संयुक्त राष्ट्र महा सभा ने अपने समक्ष पूर्ण निरस्त्रीकरण का लक्ष्य रखा है।

1961 में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के प्रयास से निरस्त्रीकरण संबंधी 18 देशों की एक समिति का वार्ता हेतु गठन किया गया जिसको 1969 में नया नाम 'कांफ्रेंस कमेटी ऑन डिस्आर्मामेंट' दिया गया। 1979 से जेनेवा स्थित 40 देशों की सदस्यता वाली यह संस्था 'निरस्त्रीकरण समिति' भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और विचारों को बेहतर प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से कार्य कर रही है।

संयुक्त राष्ट्र के इन प्रयासों के साथ-साथ विभिन्न देशों, विशेषत: परमाणु शक्ति वाले देशों, के बीच परमाणु हथियारों पर नियंत्रण के लिए वार्ताएँ भी चल रहीं थीं। 1963 में सीमित परीक्षण प्रतिबंध संधि पर एक समझौता हुआ। इसने भूमि,

वायु और पानी के नीचे सभी परीक्षण विस्फोटों पर प्रतिबंध लगा दिए। केवल सीमित भूमिगत परीक्षण ही किए जा सकते थे। संधि का तीन मूल हस्ताक्षरकर्ताओं सोवियत रूस, अमेरिका और ब्रिटेन के अतिरिक्त भारत सहित 98 संयुक्त राष्ट्र के अन्य राष्ट्रों और उन सात राष्ट्रों ने जो, संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं थे, अनुमोदन किया। एक अन्य संधि, परमाणु अप्रसार संधि 1968 में बनाई गई जिस पर अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन के साथ 50 अन्य देशों ने भी हस्ताक्षर किए। भारत ने इस संधि को पक्षपातपूर्ण बताते हुए इस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।

1963 की आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि और बाद के समझौतों ने भूमिगत् परीक्षणों पर रोक नहीं लगाई इस कारण भारत, जो 1954 से परीक्षण पर पूर्ण प्रतिबंध के लिए सक्रिय वकालत कर रहा था, पूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सहमत नहीं हो सका। इस पर इसी अध्याय में आगे चर्चा की जाएगी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि संयुक्त राष्ट्र पूर्ण निरस्त्रीकरण की सफलता का दावा नहीं कर सकता परंतु अपनी स्थापना के साथ ही इसने हथियारों की होड़ रोकने के कई सार्थक प्रयास किए हैं। काभनवैल्थ, गुटनिरपेक्ष आंदोलन तथा क्षेत्रीय संस्थाओं जैसे अनेक संगठनों द्वारा भी इस दिशा में प्रयास किए गए हैं। भारत, प्रारंभ से ही न केवल निरस्त्रीकरण का प्रबल समर्थक रहा है अपितु संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य संस्थाओं के माध्यम से इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुख्य भूमिका भी निभाता रहा है।

निरस्त्रीकरण और भारत

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही भारत सार्वभौमिकता, भेदभाव मुक्त और प्रभावशाली अनुपालन के सिद्धांतों पर आधारित भूमंडलीय निरस्त्रीकरण के उद्देश्य के लिए कार्य करता रहा है। भारत का सदैव विश्वास रहा है कि परमाणु हथियारों रहित विश्व, स्वयं भारत के हितों और भूमंडलीय सुरक्षा में अभिवृद्धि करेगा। इसीलिए भारत पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में परमाणु निरस्त्रीकरण को प्रथम प्रयास के रूप में सर्वोच्च प्राथमिकता देने की निरंतर वकालत करता रहा है। भारत ने 1948 में ही परमाणु ऊर्जा के केवल सीमित शांतिपूर्ण उपयोग एवं राष्ट्रीय हथियारों में परमाणु हथियारों की समप्ति के लिए आह्वान किया। परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने की आवाज़ उठाने वाला पहला देश भारत था जिसने संयुक्त राष्ट्र महा सभा में परमाणु परीक्षणों पर पूर्ण रोक लगाने हेतु औपचारिक प्रस्ताव रखा।

1961 में भारत तथा अन्य गुटनिरपेक्ष देशों ने संयुक्त राष्ट्र महा सभा में प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि परमाणु और उष्मीय नाभिकीय हथियारों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र का सीधा उल्लंघन होगा और इस प्रकार के हथियार का प्रयोग मानवीय कानूनों के विरूद्ध तथा मानव समाज और सभ्यता के विरूद्ध अपराध होगा। 1964 में भारत ने सुझाव दिया कि सभी प्रकार के परमाणु हथियारों के उत्पादन पर एक साथ एक ही समय में रोक लगानी चाहिए ताकि सर्वत्र नाभिकीय सुविधाएँ, शांतिपूर्ण प्रयोग के लिए हो जाएँ, तभी उपलब्ध परमाणु हथियारों के भंडारण की समस्या को अधिक प्रभावशाली ढंग से रोका और नियंत्रित किया जा सकेगा।

दिसंबर 1978 में संयुक्त राष्ट्र महा सभा के निरस्त्रीकरण पर प्रथम विशेष अधिवेशन में भारत ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि परमाणु हथियारों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र घोषण पत्र का उल्लंघन होगा और माँग की कि जब तक परमाणु निरस्त्रीकरण नहीं होता तब तक परमाणु

हथियारों के प्रयोग अथवा प्रयोग करने की धमकी पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। तदुपरांत यह प्रस्ताव 1978 में महा सभा द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। भारत ने परमाणु हथियारों के प्रयोग पर रोक लगाने हेतु वार्ता के लिए अंतर्राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाने का प्रस्ताव भी रखा। इसके बाद 1982 में परमाणु हथियार रहित विश्व के लिए, सभी प्रकार की अति तीव्र विखंडनीय सामग्री के उत्पादन, परमाणु हथियारों के उत्पादन एवं उनके प्रक्षेपण पर रोक लगाने के लिए आवाज़ उठाकर भारत ने एक और महत्त्वपूर्ण कदम उठाया।

मार्च 1983 में दिल्ली में हुए सातवें 'नाम' अधिवेशन में परमाणु युद्ध के ख़तरे से जूझने और शांति के लिए संघर्ष की आवश्यकता पर बल दिया गया। अधिवेशन ने परमाणु हथियारों पर तुरंत रोक, इसके बाद भंडारों से इन्हें कम करने और अंततः समाप्त करने, अंतरिक्ष को सैन्य प्रयोग से रोकनें तथा पूर्ण परमाणु परीक्षण प्रतिबंध को शीघ्रातिशीघ्र अंतिम रूप देने के लिए एक प्रस्ताव रखा।

उसी समय से भारत परमाणु हथियारों की दौड़ समाप्त करने के लिए निरंतर प्रयास करता रहा है। 1988 के 'महाविध्वंसकारी हथियारों की चरणबद्ध ढंग से पूर्ण समाप्ति' की समग्र योजना सहित भारत ने संयुक्त राष्ट्र महा सभा के निरस्त्रीकरण पर हुए विशेष अधिवेशन में कई गंभीर प्रस्ताव रखे। परंतु खेद की बात है कि भारत तथा अन्य कई देशों के प्रस्तावों को सकारात्मक समर्थन नहीं मिला अपितु इसके स्थान पर अप्रसार एक सीमित और विरूपित कार्यक्रम बनाया गया जिसका उद्देश्य परमाणु हथियारों को बनाए रखना था। इसके अंतर्गत भारत 'पूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि' पर हस्ताक्षर न करने पर विवश हुआ अपितु महाशक्तियों द्वारा परमाणु हथियारों की पूर्ण समाप्ति पर सहमति न हो पाने के कारण तथा अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए भारत स्वयं परमाणु शक्ति बनने के लिए बाध्य हुआ।

पूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी.टी.बी.टी.) और भारत का दृष्टिकोण

भारत का विश्वास है कि निरस्त्रीकरण प्रयासों का लक्ष्य, मात्र पूर्ण और सामान्य निरस्त्रीकरण की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ है व्यापक निरस्त्रीकरण अर्थात् सभी देशों में, संपूर्ण रूप से, सभी प्रकार के हथियारों पर कठोर तथा प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण होना चाहिए। भारत ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि वह परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के लिए विकल्प खुला रखना चाहता है।

इस पृष्ठभूमि में भारत ने 1968 में 'परमाणु उत्पादन विरोधी समझौते' पर हस्ताक्षर नहीं किए क्योंकि यह मूलतः असमान और भेदभाव पूर्ण समझौता था। जहाँ यह परमाणु हथियार रहित देशों पर कड़ी पाबंदियाँ और रोक लगाता है वहीं परमाणु शक्ति संपन्न देशों को प्रसार रोकने अथवा परमाणु हथियारों के भंडारों को कम करने के लिए किसी कानून अथवा समयबद्ध दायित्व से मुक्त रखता है। यह परमाणु हथियार रहित देशों पर शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए भी परमाणु परीक्षण करने पर रोक लगाता है। अतः भारत के विचारानुसार यह संधि भेदभाव पूर्ण, अव्यवहारिक और प्रभावहीन हैं, इसलिए भारत को अस्वीकार्य है।

भारत की चिंता के दो विषय रहे हैं। पहला तो परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग और दूसरा इसकी अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा। भारत न केवल समस्त विश्व में, वरन् अपने ही पड़ोसी देशों पहले चीन, फिर पाकिस्तान में, परमाणु हथियारों के प्रसार से राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ख़तरा महसूस कर रहा था। तब भी भारत, आणविक ऊर्जा के केवल शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग का नीति पर दृढ़तापूर्वक पालन करता रहा। चीन द्वारा प्रथम

परमाणु परीक्षण अक्तूबर 1964 में किया गया था। उससे पूर्व चीन भारत पर 1962 में आक्रमण कर चुका था। उसने परमाणु क्लब में शामिल होकर पाकिस्तान की परमाणु संबंधी कार्यक्रम में सहायता करनी आरंभ कर दी यद्यपि चीन ने पाकिस्तान को सहायता देने की बात को नकारा परंतु अंतर्राष्ट्रीय पर्वेक्षकों एवं अमेरिकी स्रोतों ने चीन की इस बात को सच नहीं माना। उस समय चीन और पाकिस्तान भारत के प्रतिद्वंद्वी थे तथा पाश्चात्य शक्तियों का झुकाव भी पाकिस्तान की ओर था। इन सब के कारण भारत की सुरक्षा को ख़तरा था। किंतु इन सब के बावजूद भारत ने परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग की नीति का समर्थन करना नहीं छोड़ा।

18 मई 1974 को भारत ने शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए एक भूमिगत परमाणु परीक्षण किया और पुनः स्पष्ट किया कि भारत शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु ऊर्जा के प्रयोग के प्रति दृढ़ संकल्प है, और उसका परमाणु हथियार बनाने का कोई विचार नहीं है। भारत ने पूर्ण परमाणु अस्त्रों की दौड़ को कम करने के लिए परमाणु अस्त्रों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने के लिए प्रयास किए। 1968 की परमाणु अप्रसार संधि जिस पर भारत ने हस्ताक्षर नहीं दिए, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने 1977 में इस पर वार्तालाप प्रारंभ हुई। वर्षों की वार्तालाप का कोई परिणाम नहीं निकला। भारत की स्थिति स्पष्ट थी कि वह पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण में विश्वास रखता है परंतु वह किसी ऐसे समझौते का जो पक्षपातपूर्ण है का विरोध करता है। भेदभाव विरुद्ध भारत के कड़े विरोध के बावजूद तथा भारत जैसे देशों के सुरक्षा हितों की परवाह किए बिना संपूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि लागू कर दी गई। भारत ने इस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। विशेषज्ञों के अनुसार वास्तव में इस संधि से एक नई गुणात्मक हथियारों की दौड़ को औचित्य प्राप्त होगा। यह संधि परमाणु अप्रसार संधि की भाँति समानांतर उत्पादन पर प्रभावशाली रोक लगाए बिना लंबवत् उत्पादन के लिए एक लाईसेंस होगा। इस प्रकार ढ़ाई वर्षों तक वार्ताओं में सक्रिय भागीदार रहने के बाद भी भारत संपूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि का सदस्य नहीं बन सका क्योंकि परमाणु अप्रसार भूमंडलीय निरस्त्रीकरण के मुद्दे तथा भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा और सामरिक स्वायत्ता की अवहेलना की गई थी।

मई 1998 में भारत ने तीन परमाणु परीक्षण किए तो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में इसकी निरस्त्रीकरण के प्रति वचनबद्धता पर संदेह व्यक्त किए गए। यद्यपि भारत ने यह स्पष्ट कर दिया था कि ये परीक्षण राष्ट्रीय सुरक्षा तथा तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के संदर्भ में किए गए थे। भारत ने यह घोषित किया कि वह न्यूनतम आवश्यक परमाणविक प्रतिरोधक शक्ति रखेगा और हथियारों की दौड़ में सम्मिलित नहीं होगा। भारत ने परमाणु हथियारों के प्रयोग के संबंध में कभी भी पहल न करने की भी घोषणा की।

इसका विश्वास है कि विश्व स्तर पर 'पहले प्रयोग न करने का समझौता' परमाणु हथियारों के औचित्य को नकारने की दिशा में प्रथम कदम होगा। यह ऐसी संपूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि के पक्ष में है जो भेदभाव रहित और सार्वभौमिक हो। दूसरे शब्दों में इसके तीन लक्षण होने चाहिए : (i) यह पाँच परमाणु हथियारों वाले देशों सहित सभी देशों के लिए होनी चाहिए; (ii) इस संधि का विस्तार करके परमाणु हथियारों के भूमिगत परीक्षणों पर प्रतिबंध भी लगना चाहिए; और (iii) यह सतत् समय लागू रहनी चाहिए। ऐसी जाँच व्यवस्था विकसित की जानी चाहिए जो भेदभाव रहित हो।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज का विश्व नए और अधिक विध्वंसकारी परंपरागत और परमाणु हथियारों के अंतहीन भंडारण, विकास और तैनात करने के कुप्रभावों के प्रति पहले से कहीं

अधिक सचेत हैं। निरस्त्रीकरण विश्व के विभिन्न मंचों पर कार्यसूची का एक विषय रहा है। इन सभी प्रयासों में भारत एक महत्त्वपूर्ण सक्रिय भूमिका निभाता रहा है।

मानवाधिकार

जनसाधारण का अधिकांश भाग चाहे वह विश्व के विकसित, विकासशील अथवा अविकसित देशों में रहता हो अधिकारों को प्रत्येक रूप में उपभोग करने में प्रसन्नता अनुभव करता है। सामान्यत: अधिकार मानव के वे दावें हैं जिन्हें समाज द्वारा मान्यता मिलती है तथा जो राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं। इन अधिकारों का स्वरूप नैतिक, कानूनी, राजनीतिक अथवा आर्थिक हो सकता है और इनका मिश्रित रूप ही मानव अधिकार कहलाता है जिसका सभी पुरुष और महिलाएँ उपभोग करते है। आधुनिक काल में, इन आधारभूत अधिकारों को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय भी मान्यता प्रदान करता है।

भारतीय संविधान जो 1950 में लागू किया गया, इसके निर्माताओं ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को पूरा सम्मान दिया और संविधान के तीसरे भाग में भारतीय नागरिकों के आधारभूत अधिकारों को अत्यधिक व्यापक स्वरूप देकर सम्मिलित किया। इस अध्याय के शेष भाग में हम मानव अधिकारों के विषय में भारत की भूमिका का अध्ययन करेंगे।

मानव अधिकार तथा भारत

हम ऊपर देख चुके हैं कि मानव अधिकारों का (जिनका जो स्वरूप आज दिखलाई देता है) उदय हाल ही में हुआ है। यह कहना गलत न होगा कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही इसे महत्त्वपूर्ण धारणा के रूप में देखा जाने लगा था। यह सत्य है कि भारत अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के अंतर्गत मानव की गरिमा का समर्थन एवं शोषण, अन्याय और असमानताओं का तिरस्कार करता रहा है। हमारी इस लंबी परंपरा में अनेक विरोधाभासी विचारों जैसे — दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णुता की भावना, अहिंसा, प्रेम तथा धार्मिक सार्वभौमिकतावाद तथा मानव के भ्रातृत्व पर बल देने की झलक दिखाई देती है। उपनिवेशवादी युग में व्याप्त दमन भरा वातावरण और इसका विरोध तथा आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों के साथ संपर्क ने भारत को मानव अधिकारों से संबंधित एक नई दिशा और समझ दी। भारत में अनेक सामाजिक सुधारकों द्वारा बौद्धिक आंदोलनों के अंतर्गत मानव अधिकारों संबंधी स्थिति को नया आवरण पहनाया गया। यही नहीं, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान मानव अधिकारों के स्वरूप को निखारने वाले अनेक अग्रणी नेता पैदा हुए। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत में रहने वाले पुरुषों, महिलाओं, बच्चों, श्रमिकों, कार्यकर्ताओं, कृषकों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। इस युग में, पुलिस तथा सुरक्षा बलों ने व्यक्ति के अधिकारों को दबाने में मूलभूत यंत्र के रूप में प्रयोग किया। इस संदर्भ में, भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में अनेक मुद्दों जैसे — लोकतंत्र, सार्वभौमिक मताधिकार, शिक्षा और प्रेस की स्वतंत्रता आदि पर विशेष बल दिया गया। इन मुद्दों को जनसाधारण तक पहुँचाया गया और राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के विषय में शिक्षा प्रदान की गई। वास्तव में राष्ट्रीय आंदोलन ने मानव अधिकारों की लड़ाई को अनेक प्रकार से उजागर करने में सहायता दी।

स्वतंत्रता के पश्चात् मानव अधिकारों संबंधी चिंता

राष्ट्रीय आंदोलन के नेता, जो संविधान सभा में, भारत के लिए एक नए संविधान की रचना करने के लिए प्रवेश पाए थे, मानव अधिकारों के प्रति प्रतिबद्ध थे। ऐसा मात्र इसलिए था क्योंकि औपनिवेशिक काल

में भारतीयों को इनसे वंचित रखा गया। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र संघ के संस्थापक सदस्य के रूप में भारत ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा संबंधी सिद्धांतों को बढ़-चढ़ कर स्वीकारा था।

जैसे कि हम पहले अध्ययन कर चुके हैं कि भारत में संविधान निर्माताओं ने जनसाधारण के लिए अधिकारों संबंधी एक व्यापक और विस्तृत व्यवस्था करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने एक ओर जनसाधारण के नागरिक और राजनैतिक अधिकारों तथा दूसरी ओर सामाजिक और आर्थिक अधिकारों में एक नाजुक संतुलन बनाए रखा। संविधान निर्माताओं ने इन दोनों प्रकार के अधिकारों के पीछे छिपी हुई विचारधारा और आधारभूत लक्षणों को ध्यान में रखते हुए इन्हें एक जैसा सम्मान एवं महत्त्व दिया। संविधान सभा में इन अधिकारों के पीछे एक प्रेरक तत्त्व मानव समानता और गरिमा की वचनबद्धता थी। संविधान के भाग तीन के प्रावधान में राजनीतिक और नागरिक अधिकारों को मौलिक बना दिया गया। यह भाग नागरिकों को समानता व स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। इस भाग में अधिकार न्याय संगत हैं चाहे उन पर तर्कसंगत सीमाएँ भी हैं। आर्थिक और सामाजिक अधिकार राज्य के व्यवस्थापन में आधारभूत बनाने हेतु इन्हें संविधान के चौथे अध्याय में नीति निदेशक सिद्धांतों के रूप में स्थान दिया गया है। यह भविष्य की सरकारों को इन अधिकारों को साकार रूप देने के लिए ऐसी सामाजिक और आर्थिक न्याय व्यवस्था लाने के लिए प्रेरित करता है।

सांविधानिक प्रावधानों तथा संविदाओं के अतिरिक्त संसद के द्वारा पारित कानूनों के आधार पर मानव अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिए बहुत सी संस्थाओं का गठन किया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' है।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

भारतीय सरकार ने 12 अक्तूबर 1993 में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया। इसके सदस्यों में एक अध्यक्ष (भारत का भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश), सर्वोच्च न्यायालय में कार्यरत या भूतपूर्व न्यायधीश, उच्च न्यायलय का एक वर्तमान अथवा भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश, दो ऐसे सदस्य जिन्हें मानव अधिकारों के क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त हो, राष्ट्रीय महिला आयोग का, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के सभापति सम्मिलित होते हैं। इस आयोग को विस्तृत अधिकार और कार्य सौंपे गए हैं। ये अपने में स्वयं या उत्पीड़ित व्यक्ति द्वारा आवेदन पत्र अथवा किसी निम्न परिस्थितियों में जाँच कर सकता है :

- मानव अधिकारों का उल्लंघन और उल्लंघन में सहायक;
- इस उल्लंघन को रोकने में सरकारी कर्मचारी द्वारा अवहेलना।

इन कार्यों को साकार करने के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए हैं:

- ये मानव अधिकार के उल्लंघन आरोप पर किसी अदालत में चल रही किसी भी मानव अधिकारों के उल्लंघन की कार्यवाही में उस अदालत की अनुमति से हस्तक्षेप कर सकता है;
- वे राज्य सरकार को सूचित करने के बाद संबंधित सरकार के नियंत्रण वाले ऐसे किसी कारावास अथवा ऐसी किसी संस्था का निरीक्षण कर सकता है जहाँ लोगों को उपचार, सुधार अथवा सुरक्षा की दृष्टि में रखा अथवा कैद किया गया हो। आयोग वहाँ रखे गए व्यक्ति की परिस्थितियों के विषय में सिफारिश भी कर सकता है;

- संविधान और उस समय के किसी भी कानून में सुरक्षा के सांविधानिक प्रावधानों की सुरक्षा कर सकता है और उसके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए विभिन्न उपायों की सिफारिश कर सकता है;
- आतंकवाद सहित मानव अधिकारों के कार्यान्वयन में बाधाओं को दूर करने हेतु समुचित उपायों की सिफारिश कर सकता है;
- मानव अधिकार संबंधित विभिन्न समझौतों एवं अंतर्राष्ट्रीय उपकरणों का अध्ययन कर, उनके प्रभावी कार्यान्वयन के लिए सिफारिश करता है।
- मानव अधिकार के क्षेत्र में शोध को प्रोत्साहित अथवा समाज में विभिन्न वर्गों को मानव अधिकारों के प्रति शिक्षित करने तथा मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपलब्ध साधनों के प्रति जागरूकता बढ़ाने का कार्य प्रकाशन, मीडिया, गोष्ठियों अथवा अन्य उपलब्ध साधनों से कर सकता है;
- यह मानव अधिकार के क्षेत्रों में कार्य कर रही गैर-सरकारी संस्थाओं अथवा संगठनों के प्रयासों को प्रोत्साहित कर सकता है। यह ऐसे अन्य सभी कार्य कर सकता है जिन्हें यह मानव अधिकारों को प्रोत्साहित करने में अनिवार्य है।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अतिरिक्त भारत में महिलाओं, अनुसूचित जाति एवं जनजातियों, अल्पसंख्यकों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए राष्ट्रीय आयोगों का गठन किया गया है। इनके कार्यों में इन विशिष्ट श्रेणियों के अधिकारों को प्रोत्साहन तथा इनकी प्रतिज्ञा सम्मलित है। नागरिकों के कल्याण हेतु सुझाव देता है जिनसे कि वह इन अधिकारों का सुव्यवस्थित ढंग से उपभोग कर सकें।

अंतर्राष्ट्रीय संविदाएँ और गतिविधियाँ

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि भारत मानव अधिकार के सार्वभौमिक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में है तथा वह दो अंतर्राष्ट्रीय संविदाओं जैसे नागरिक और राजनीतिक अधिकारों एवं सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय संविदा को अपनी सहमति प्रदान कर चुका है। यह अन्य सभी मुख्य संविदाओं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की संविदाओं तथा इसके विशिष्ट संगठनों जैसे — अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन को अपनी स्वीकृति अथवा अनुमोदन प्रदान कर चुका है। भारत, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग में एक सदस्य एवं पर्यवेक्षक के नाते भाग लेता रहा है। भारत ने वंश और रंग के आधार पर मानवाधिकार उल्लंघन के विरोध में मुख्य भूमिका निभाई है। हम पिछले अध्याय में उपनिवेशवाद, रंग भेद, प्रजातिय भेदभाव आदि द्वारा मानव अधिकारों के आधारभूत मूल्यों के उल्लंघन के विरूद्ध भारत के योगदान के विषय में पढ़ चुके हैं।

विशिष्ट मानव अधिकारों के महत्त्व के विषय पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बहस चलती रही है पश्चिम में यह सामान्य धारणा रही है कि सामाजिक और राजनीतिक अधिकार अधिक महत्वपूर्ण हैं, परंतु भारत के अनुसार सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार बराबर का महत्त्व रखते हैं। व्यक्तियों के समूह के रूप में तथा देशों के अधिकार भी समान महत्त्व रखते हैं जैसे विकास का अधिकार। भारत जहाँ मानव अधिकारों का पूरी निष्ठा से समर्थन करता रहा है वहीं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में मानव अधिकारों के राजनीतिकरण का विरोध भी करता रहा है। इसके विपरीत कुछ शक्तियाँ मानव अधिकार उल्लंघन के बहाने दूसरे देशों के आंतरिक मामलों में दखल देने का प्रयास करते रहे हैं।

उपरोक्त से यह स्पष्ट होता हैं कि मानव अधिकार के मुद्दे पर भारत का समर्थन, इसकी प्रतिबद्धता रही है। भारत के संविधान में मौलिक

अधिकार एवं राज्य के नीति निदेशक तत्वों में मानव अधिकार के सार्वभौमिक घोषणा पत्र के अनेक अधिकार सम्मिलित हैं। भारत इस घोषणा पत्र एवं अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय संविदाओं का हस्ताक्षरकर्ता है। इसने मानव अधिकारों की सुरक्षा एवं प्रसार के लिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से हाथ मिलाया है और विशेषत: उपनिवेशवाद, रंग भेद, वंशागत भेद और शोषण के विरूद्ध मूख्य भूमिका निभाई है।

मानव अधिकारों के कार्यान्वयन की वचनबद्धता का जहाँ तक प्रश्न है भारत की भूमिका अन्य विकासशील देशों से कहीं श्रेष्ठ रहीं है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व लोकतंत्र की निरंतरता और उसका सशक्त होना है। फिर भी सरकारी मशीनरी, पुलिस, सुरक्षा बलों आतंकवादियों और कट्टरपंथियों द्वारा कभी-कभी मानव अधिकारों का उल्लंघन हुआ है अत: आवश्यकता इस बात की है कि भारत को विकाशील देशों के समक्ष मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की दृष्टि स्थापित करने के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन कर उभरना होगा। मानव अधिकारों के उल्लंघन की व्यापक निंदा होती है।

भूमंडलीकरण

सोवियत संघ के विघटन के बाद शीत युद्ध राजनीति के समाप्त होने, पूर्वी यूरोप के देशों की पुनर्संरचना तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्यवाद के कमज़ोर पड़ने से एक नई विश्व व्यवस्था भूमंडलीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया 1970 के दशक सें विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में हुए विभिन्न विकास की घटनाओं के साथ प्रारंभ हुई। 1990 के दशक से भूमंडलीकरण शब्द का विस्तृत प्रचलन हो गया है। यद्यपि इसकी परिभाषा, उद्देश्य और भूमंडलीकरण के परिणामों को लेकर विचारकों में काफी मतभेद हैं।

भूमंडलीकरण : अर्थ

एन्थोनी गिड्डन्स के अनुसार 'भूमंडलीकरण का अर्थ है : "विश्व व्याप्त सामाजिक संबंधों की घनिष्टता जो दूरस्थ क्षेत्रों को इस प्रकार जोड़ती है कि स्थानीय घटनाओं का रूप मीलों दूर घटने वाली घटनाओं से परस्पर निर्धारित होता है" और इसके विपरीत भी इसी प्रकार एक अन्य विशेषज्ञ रोबर्टसन ने भूमंडलीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है : "भूमंडलीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसका संबंध विश्व के सिकुड़ने तथा पूरे विश्व की चेतना एवं घनिष्ठता से है।" साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें पृथ्वी ग्रह को एक इकाई समझा जाता है या एक भूमंडलीय गाँव समझा जाता हैं जहाँ लोगों के बीच सामाजिक और आर्थिक व्यवहार परस्पर निर्भरता पर आधारित हैं। विश्व को भूमंडलीय मुद्दों और समस्याओं के साथ एक भूमंडलीय समाज माना जाता है जहाँ इन मुद्दों और समस्याओं को भूमंडलीय प्रयास और सहयोग से सुलझाना है। निश्चित रूप से विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में हुई प्रगति ने दुनिया को निकट लाने में सहायता की है। इस घटना में आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी, सांस्कृतिक और पर्यावरण क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों और पारस्परिक क्रियाओं सहित समकालीन जीवन की विशिष्टताओं की विस्तृत शृंखला सम्मिलित है। सूचनाओं, पूँजी और वस्तुओं के तीव्र प्रवाह ने भूमंडलीकरण की धारणा को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। भूमंडलीकरण के अंतर्गत अब तक अलग दीखने वाली संस्कृतियाँ और समाज जो अब तक पृथक थे अब एक दूसरे के आमने-सामने आ गए हैं। विश्व अंर्तसंबंधित बन गया है।

विश्व के निकट आने का श्रेय जहाँ इलैक्ट्रॉनिक मीडिया एवं संचार के अन्य साधनों की पहुँच में

चमत्कारिक वृद्धि को दिया जा सकता है। वहीं आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि पारस्परिक क्रियाओं के लिए नीतिगत् ढाँचे के रूप में भूमंडलीकरण का उदय पश्चिमी उदारवादी पूँजीवादी देशों द्वारा पूरे विश्व को बाज़ार पर आधारित आर्थिक व्यवस्था में लाने की एक सोची-समझी चाल है। पर्यवेक्षकों का कहना है कि बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विश्व के सभी बाज़ारों तक स्वतंत्र पहुँच की सदैव इच्छा रही है। यद्यपि विभिन्न देशों की सुरक्षात्मक नीतियों के कारण उन पर कुछ रोक लगी है। वे अपनी शक्तिशाली सरकारों पर यह दबाव बनाती रहीं हैं कि वे इन कृत्रिम बाधाओं को हटवाएँ तथा पूँजी और सामान संबंधी स्वतंत्र आवागमन की सुविधा उपलब्ध करवाएँ। उनके प्रयासों को समाजवाद के टूटने, संचार तकनीक में क्रांति आने तथा विकासशील देशों की बिगड़ती आर्थिक स्थिति से काफी बड़ा उछाल मिला। संचार के क्षेत्र में नई प्रगति ने तथा विकासशील देशों में बढ़ते कर्ज़े और घटते उत्पादन ने, विकसित देशों को विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से इन देशों पर यह दबाव डालने में सहायता मिली कि वे अपनी अर्थव्यवस्था को बाज़ार आधारित विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ें तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों को समायोजित करके एवं अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाने के लिए ढाँचे में यथोचित परिवर्तन करें। तदुनुरूप अनेक विकासशील देशों ने या तो दबाब में या अपने विकास की आवश्यकताओं के कारण विश्व अर्थव्यवस्था से और अधिक जुड़ने के प्रयास किए हैं। भारत भी इन प्रक्रियाओं से अछूता नहीं रहा है। इसने भी आवश्यकता के अनुसार भूमंडलीय समुदाय का भाग होने के लिए कुछ कदम उठाए हैं तथा इस प्रक्रिया से उत्पन्न कुछ मुद्दों पर अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है।

भूमंडलीकरण और भारत

भारत ने 1980 के दशक के पूर्वार्ध से ही तकनीकी विकास का गर्मजोशी से स्वागत करने के साथ ही भूमंडलीकरण के साथ जुड़ना प्रारंभ कर दिया था। प्रारंभ में विश्व बाज़ार विश्व अर्थव्यवस्था, मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था जैसे विचारों के प्रति भारत की स्वीकृति काफी कमज़ोर थी। यद्यपि इसने 1980 के दशक के मध्य से उदारीकरण और भूमंडलीकरण की ओर कुछ प्रक्रियाएँ प्रारंभ कर दी थीं। यह 1991 के विदेशी ऋण अदायगी के संकट के कारण ही हुआ कि सरकार ने उदारीकरण की ओर गुणात्मक मोड़ लिया। इसने नीति में अधोलिखित मुख्य परिवर्तन किए :

(i) *व्यापार नीति सुधार :* इस सुधार ने पूर्ववर्ती आयात लाईसेंस व्यवस्था को समाप्त करने की दिशा में कार्य किया। उपभोक्ता वस्तुओं को छोड़कर अवरोधों को दूर किया गया।

(ii) *औद्योगिक नीति सुधार :* इसने कुछ विशिष्ट उद्योगों को छोड़ कर अन्य सभी उद्योगों के लिए औद्योगिक लाईसेंस व्यवस्था समाप्त करने का प्रयास किया। सार्वजानिक क्षेत्र के लिए आरक्षित वस्तुओं को काफी सीमित किया और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को अनुकूल व्यवहार प्रदान किया। बड़े औद्योगिक घरानों द्वारा निवेश पर लगी पाबंदियों को हटाया गया और चरणबद्ध विनिवेश के कार्यक्रम को प्रारंभ किया गया। अप्रवासी भारतीयों को निवेश के लिए अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया गया तथा भारतीय उद्यमियों द्वारा बाह्य निवेश को उदार बनाया गया।

(iii) *मुद्रा परिवर्तन की दरों में सुधार :* 1991 में रुपए का अवमूल्यन किया गया। रुपए की आंशिक विनियता 1992-93 में की गई तथा पूर्ण विनियता 1994 के चालू खातों पर की गई।

(iv) पूँजी बाज़ार में सुधार : इसे सेबी (भारतीय प्रतिभूति एवं विनियम बोर्ड) के गठन के माध्यम से प्रारंभ किया गया।

(v) वित्तीय सुधार : निजी बैंकों तथा संयुक्त क्षेत्र के विदेशी बैंकों को अपने कार्य क्षेत्र का विस्तार करने की अनुमति प्रदान की गई। निजी गैर-बैकिंग वित्तीय कंपनियों की स्थापना के लिए नीतियाँ बनीं।

उपरोक्त के अतिरिक्त सरकार ने उन क्षेत्रों में भी प्रतिस्पर्धा बनाने की कोशिश की है जहाँ अभी तक सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार था ; बाज़ार स्पर्धा के लिए बीमा क्षेत्र को भी खोल दिया है; विनिवेश के लिए कुछ निश्चित निर्देश देने का भी प्रयास किया गया। विश्व व्यापार संगठन को सहमति के अनुरूप बहुत सी वस्तुओं पर कर हटा दिया गया।

भूमंडलीकरण के संदर्भ में उपरोक्त उदारीकरण का मूलत: अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर नियंत्रण एवं विनियमों को हटा कर बाज़ार की ताकतों को अपना रास्ता और दिशा चुनने को सुविधाजनक बनाना। प्रतियोगी बाज़ार में यह आर्थिक मुद्दों के समाधान होने तथा वित्त प्रबंधन में सरकार की सीमित भूमिका का पक्षधर है। व्यापक अर्थ में भूमंडलीकरण शब्द का प्रयोग सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की उपलब्धता के लिए स्थितियाँ पैदा करना, कानून का शासन, सत्ता की जवाबदेही, बहुदलीय व्यवस्था और निष्पक्ष न्याय व्यवस्था बनाने के अर्थ में भी किया जाता है। ये स्थितियाँ सरकारी तंत्र में पारदर्शिता तथा दृष्टि बनाए रखने के रूप में देखी जाती हैं।

संक्षेप में उदारीकरण का अर्थ है : व्यापार और निवेश की स्वतंत्रता, मुक्त व्यापार के क्षेत्र बनाना, घरेलू अर्थव्यवस्था में संसाधन आबंटित करने में सरकारी नियंत्रण को समाप्त करना, विदेशी व्यापार और अदायगी पर लगे प्रतिबंधो को धीरे-धीरे हटाना, विदेशी निवेश ऋण और सहायता की व्यवस्था करना, और तीव्र तकनीकी विकास की व्यवस्था करना आदि। उदारीकरण एक संतुलित बजट, करों में कटौती, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण तथा वित्तीय प्रबंधन में राज्य की सीमित भूमिका का पक्षधर है। यह सब्सीडी और सरकारी सुरक्षा तथा संसाधन आबंटन का पक्षधर नहीं है। इसका सुझाव है कि राज्य के अधिक नियंत्रण से अक्षमता, भ्रष्टाचार और कुप्रबंधन बढ़ता है।

वैचारिक मतभेद

यह एक सामान्य विचार है कि भूमंडलीकरण एक वास्तविकता है और इसे नकारा नहीं जा सकता। तब भी दोनों अंतर्राष्ट्रीय और भारत के स्तर पर भूमंडलीकरण के प्रभाव और उपयोगिता को लेकर मतैक्य नहीं है। प्राथमिक रूप से दो प्रकार के विचार हैं : (i) आशावादी; (ii) निराशावादी। पहले वाले भूमंडलीकरण के लाभ बताते है। उनके अनुसार उदारीकरण से पहले आर्थिक नीतियों के सकारात्मक परिणाम नहीं निकल रहे थे। अमीर और गरीब के बीच फासला निरंतर बढ़ रहा था, प्रतियोगिता की कमी के कारण बड़े व्यापारिक घराने औसत सामान को अधिक दामों पर बेच रहे थे लेकिन भूमंडलीकरण और उदारीकरण ने पूँजी और माल की बाज़ारी क्षमता और परिमाप को बढ़ाया है। इसने बड़ी मात्रा में अप्रयुक्त साधनों को मुक्त किया है जिससे आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। भूमंडलीकारण ने अर्थ की आवाजाई को सुविधाजनक बनाया है और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक जैसी संस्थाओं पर जो निर्भरता थी उसको घटाया है। यह उनकी अपनी तकनीक को प्रोन्नत करने तथा भूमंडलीय बाज़ारों तक पहुँचने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया थी।

भूमंडलीकरण के समर्थकों द्वारा यह भी तर्क दिया जाता है कि सत्ता की जवाबदेही तथा पारदर्शिता को मज़बूत बना कर इसने उदारवादी लोकतंत्र के

प्रसार में सहायता की हैं। इसने भूमंडलीय इलैक्ट्रॉनिक संचार व्यवस्था का निर्माण किया है। वे विभिन्न प्रकार के विचारों को सुनते और समझते हैं। इनके कारण नए सामाजिक आंदोलन जैसे — महिलाओं, किसानों, प्रजातीय समुदायों, विस्थापित लोगों इत्यादि के आंदोलन हुए जिसके कारण अधिक लोग सक्रिय हुए। सांस्कृतिक क्षेत्र में भूमंडलीकरण ने सांस्कृतिक साज़ो-सामान के भूमंडलीय स्तर पर प्रसार और वृद्धि को संभव बनाया है। इसमें मुद्रित सामग्री, संगीत, दृश्य कलाएँ, सिनेमा और फोटोग्रा.फी, रेडियो और टेलिविज़न सम्मिलित हैं।

भूमंडलीकरण के आलोचक इसे विकसित पूँजीवादी देशों विशेषत: संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रभुता की दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार इसने असमानताओं एवं दूरियों को और बढ़ा दिया है। इस बात के प्रमाण हैं कि उदारीकरण,और भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं और नीतियों ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आय और संपत्ति को गरीब से अमीर की ओर पुनर्वितरण को बढ़ावा दिया है। विकसित देशों के आपस में — विकसित एवं विकासशील देशों के मध्य तथा विकासशील देशों में निरंतर अंतर बढ़ रहा है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप बेरोज़गारी काफी बढ़ गई है।

कल्याणकारी गतिविधियों में कटौती हुई है, जनसाधारण के उपयोग की वस्तुओं की सब्सीडी घटी है, और दिए जाने वाले वास्तविक वेतन में भी कमी आई है। विदेशी निवेशकों और ऋणदाताओं की शक्ति मे वृद्धि हुई है। जहाँ भूमंडलीय बाज़ारों के विस्तार और पूँजी प्रवाह के लिए नीतियाँ बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाता है वहीं मज़दूरी संबंधी मानक में, गरीबी घटाने और मानव अधिकारों की दिशा में बहुत कम ध्यान दिया गया है। यह कहना गलत न होगा कि भूमंडलीकरण ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव मे राष्ट्रीय राज्यों की शक्ति को बहुत हद तक अपने घेरे मे ले लिया है।

भूमंडलीकरण के अंतर्गत नव उदारवादी धारणा एक सशक्त विचारधारा के रूप में उभरी है जिसके अंतर्गत मुक्त बाज़ार, निजी संपत्ति एवं उसके इकट्ठे करने पर विशेष बल दिया जाता है। अन्य अवधारणाओं के संबंधों में इनके पास कोई अच्छे विकल्प नहीं है। इसके अंतर्गत संस्कृति को थोपने और प्रभुत्व स्थापना की प्रक्रिया निरंतर बढ़ रही है। केवल टी.वी. और इंटरनेट के माध्यम से बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उपभोगवाद तथा पाश्चात्य मूल्यों को बढ़ावा दे रही हैं। कोक, पेप्सी तथा अन्य प्रसिद्ध) पश्चिमी ब्रांडों के कपड़ों और प्रसाधनों के प्रति पागलपन, इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की ही उपज है। अंग्रेजी भाषा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के लिए ख़तरा बन कर ऐसी स्थिति में पहुँच चुकी है जहाँ से वापसी असंभव नज़र आती है। आलोचक भूमंडलीकरण के शिक्षा पर पड़ रहे गंभीर प्रभाव की ओर भी संकेत करते हैं। अब शिक्षा का तेज़ी से व्यवसायीकण हो रहा है तथा बाज़ार-आधारित कोर्सो पर अधिक ज़ोर दिया जा रहा है। सामाजिक विज्ञान और कला विषयों को कम महत्त्वपूर्ण समझने से समाज पर बुरा असर पड़ रहा है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दूरियाँ समाप्त हो रही हैं और विश्व सिमटता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था सिकुड़ रही है और धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अंग बन रही है । इसने देशों की संप्रभुता को भी सीमित किया है। भारत, इस प्रक्रिया का भाग बन चुका है और इन नई वास्तविकताओं में अपने आप को ढालने का प्रयास कर रहा है। भूमंडलीकरण के सामने सबसे बड़ी चुनौती लाभ कमाने पर बल और इसके दुष्प्रभावों से बचने की है। ऐसे कई गंभीर मुद्दे हैं

जिनके अंतर्गत विकसित देश विकासशील देशों पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय और व्यापार संगठनों जैसे विश्व व्यापार संगठन को थोप रहे हैं। भारत का मत है कि विकासशील देशों को ऐसे प्रयासों का विरोध करना चाहिए। लेकिन अभी तक विकासशील देशों में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक सहयोग की कमी है। विकासशील देशों में से कुछ तो विशेषकर अपनी विस्तृत ऋण देयता के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव में ही कार्य कर रहे हैं। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर विकासशील देशों के हितों की सुरक्षा के लिए व्यापार वार्ताओं, सब्सीडी तथा विभिन्न देशों के अधिकारों और दायित्वों के संबंधों में अनेक स्थानों पर पहल की है। इसके साथ-साथ उसने संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम स्वीकृत और कार्यान्वित किए, अपनी अर्थव्यवस्था को विश्व के लिए खोल दिया तथा अनेक विदेशी कंपनियों को अपने यहाँ कार्य करने की अनुमति दे दी है। विद्वानों और राजनीतिक दलों के नेताओं में भूमंडलीकरण की वांछनीयता और इसके परिणामों के संबंधों में गहरे मतभेद हैं। भूमंडलीकरण अब एक वास्तविकता बन गई है इसलिए अब चर्चा भूमंडलीकरण की वांछनीयता अथवा अन्यथा के स्थान पर भूमंडलीकरण के लाभों को बढ़ाने तथा इससे होने वाली हानियों से बचने पर केंद्रित हो गई है।

अभ्यास

1. निरस्त्रीकरण से आप क्या समझते हैं? संयुक्त राष्ट्र द्वारा निरस्त्रीकरण के लिए क्या प्रयास किए गए हैं?
2. भूमंडलीय निरस्त्रीकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने की दिशा में भारत की भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. भारत ने अप्रसार संधि और पूर्ण परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी.टी.बी.टी.) पर हस्ताक्षर क्यों नहीं किए?
4. भारत में मानव अधिकारों को लागू करने के लिए उठाए गए विभिन्न कदमों का वर्णन कीजिए।
5. भूमंडलीकरण के संदर्भ में भारत की क्या भूमिका रही है?
6. भूमंडलीकरण के प्रभावों के विषय में दो भिन्न विचारों का वर्णन कीजिए।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) हथियारों की होड़ और इसके प्रभाव
   (ii) छः राष्ट्रों की पहल
   (iii) राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग
   (iv) भूमंडलीकरण का अर्थ

पारिभाषिक शब्दावली

कार्यकर्ता (Activist) : ऐसा व्यक्ति जो राजनीतिक गतिविधियों के लिए लोगों को संगठित अथवा आंदोलित करता है।

वैकल्पिक मत (Alternative Vote) : इस विधि में मतदाताओं को उम्मीदवारों के प्रति अपनी वरीयता अंकित करनी होती है। प्रथम स्तर पर केवल पहली वरीयता को ही गिना जाता है। यदि किसी उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त नहीं होता तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को मिले द्वितीय वरीयता के मतों को शेष उम्मीदवार में बाँट दिया जाता है। मतों के हस्तांतरण का यह विकल्प किसी उम्मीदवार को न्यूनतम निश्चित मत प्राप्त होने तक चलता रहता है।

रंगभेद (Apartheid): दक्षिण अफ्रीका में गोरे, काले और भूरे रंग के आधार पर भेदभाव पूर्ण इस व्यवस्था में गोरों का कालों पर वर्चस्व है। इसका मूल पहलू यह है कि इसमें बहुसंख्यक लोगों को रंग के आधार पर सरकार में भागीदार होने से वंचित कर दिया गया है।

कुलीनतंत्र (Aristocarcy) : विशेषाधिकृत वर्ग अथवा कुलीन माने जाने वाले लोगों द्वारा शासित राज्य की शासन व्यवस्था।

सत्तावाद (Authoritarianism) : यह लोकतंत्र का विरोधी है। यह शासन का ऐसा रूप है जिसमें पूरी सत्ता तानाशाह, सेना के कुछ लोगों अथवा किसी निरंकुश राजा के हाथ में होती है। ऐसा शासन न तो लोगों के प्रति उत्तरदायी होता है और न ही किसी संविधान से बंधा होता है।

बुर्जुआ वर्ग (Bourgeoisie) : इसे पूँजीपती वर्ग भी कहा जाता है जिसके पास उत्पादन के साधन होते हैं, मजदूरों को काम पर लगाता है तथा जिसकी आय का स्रोत लाभ होता है।

पूँजीवाद (Capitalism) : एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था जिसमें निजी संपत्ति का स्वामित्व, तुलनात्मक दृष्टि से स्वतंत्र एवं प्रतिस्पर्धात्मक बाजार और यह मान्यता कि लाभ कमाने हेतु किसी भी वस्तु का उत्पादन करने के लिए अधिकांश लोगों को रोजगार प्रदान करना, पूँजीपतियों के हाथ में होता है।

नागरिक स्वतंत्रताएँ (Civil Liberties) : ये ऐसे अधिकार और स्वतंत्राएँ हैं जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं तथा उदार और लोकतांत्रिक समान के लिए आवश्यक हैं। अधिकांशतः नागरिक स्वतंत्राओं में भाषण की स्वतंत्रता,

धर्म और विचार की स्वतंत्रता, भ्रमण की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता, निष्पक्ष न्याय पाने का अधिकार तथा निजी स्वतंत्रता सम्मिलित हैं।

गठबंधन (Coalition): एक ही विरोधी के मुकाबले अनेक विरोधी राजनीतिक दलों का समूहीकरण गठबंधन कहलाता है। आधुनिक विधायिकाओं में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने की स्थिति में गठबंधन बनते हैं। दो या दो से अधिक राजनीतिक दल जिनके पास पर्याप्त बहुमत जुटाने के लिए सदस्य हैं और जो अपने दल की नीतियों में परिवर्तन किए बिना, किसी संयुक्त कार्यक्रम पर सहमत हो जाते हैं तो वे एक मिली-जुली अथवा गठबंधन सरकार बना सकते हैं।

सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism) : एक ही समाज में कई प्रकार की संस्कृतियों का साथ-साथ होना सांस्कृतिक बहुलवाद कहलाता है।

समतावादी समाज (Egalitarian Society) : स्वतंत्रता, समानता और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित समाज जिसमें सबको सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में निश्चित न्यूनतम समानता उपलब्ध होती है।

सामंतवाद (Feudalism) : ऐसी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था जिसमें बड़े-बड़े सामंतों की सेवा करने और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सेना देने के बदले में छोटे सामंतों के पास भूमि का स्वामित्व रहता था।

जी-15 (G-15) : परामर्श और सहयोग के लिए गठित 15 विकासशील देशों का समूह; सितंबर 1989 को बेलग्रेड के गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में आपसी सहयोग और विचार-विमर्श के लिए की गई पहल का परिणाम।

साम्राज्यवाद (Imperialism) : ऐसी व्यवस्था जिसमें एक देश का दूसरे देश पर नियंत्रण रहता है। एक बड़ी शक्ति उपनिवेशवाद अथवा विजय के माध्यम से दूसरे देश पर अपना शासन स्थापित करती है।

उदार लोकतंत्र (Liberal Democracy) : लोकतंत्र का ऐसा रूप जो सीमित सरकार के सिद्धांत को जन सहमति के आदर्श के विरूद्ध संतुलित करता है। इसके उदार लक्षण सरकार पर लगे आंतरिक और बाह्य प्रतिबंधों में झलकते हैं जिन्हें राज्य के शोषण से बचा कर स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारंटी देने हेतु लगाया जाता है।

बहुराष्ट्रीय (Multinationals) : विश्व के विभिन्न देशों में सहायक संचालन के आधार पर कार्य करने वाली कंपनियाँ।

राष्ट्र निर्माण (Nation Building) : यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोग अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित व सुदृढ़ करते हैं। यह संस्थाओं, संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं के निर्माण को इंगित करता है जिनके द्वारा राष्ट्र को संप्रभु आकार एवं स्वरूप प्रदान होता है।

नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) : पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा अपने पूर्व-उपनिवेशों पर असमान व्यापार, शासन के हस्तक्षेप, बहुराष्ट्रीय निगमों इत्यादि के माध्यम से निरंतर और अप्रत्यक्ष प्रभाव और

कुछ मामलों में तो नियंत्रण तक को नव-उपनिवेशवाद कहते हैं। इसका प्रयोग साम्राज्यवाद के स्थान पर भी यह जताने को किया जाता है कि औपचारिक उपनिवेशवाद के समाप्त हो जाने के बाद भी यूरोपीय देशों के पास गैर-यूरोपीय देशों पर नियंत्रण बनाए रखने के कई अनौपचारिक माध्यम मौजूद हैं।

उत्तर-दक्षिण वार्ता (North -South Dialogue) : 'उत्तर' का अभिप्राय है : उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप और जापान तथा भूमध्य रेखा के दक्षिण में स्थिति आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के उन्नत औद्योगिक देश। 'दक्षिण' का अभिप्राय है : एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के विकासशील देश जो अभी स्वतंत्र हुए हैं और प्राय: प्रति व्यक्ति निम्न आय, गरीबी, सामाजिक पिछड़ापन और बीमारी के लिए गिने जाते हैं। संक्षेप में उत्तर का अर्थ है : अमीर देश और दक्षिण का अर्थ है गरीब देश। इसलिए उत्तर-दक्षिण वार्ता का अर्थ है : उन्नत औद्योगिक देशों और अद्‌र्धविकसित तथा अविकसित देशों के बीच अधिक साम्यिक, न्यायपूर्ण और संतुलित अर्थव्यवस्था के लिए बातचीत अथवा वार्ता।

नाभिकीय निरस्त्रीकरण (Nuclear Disarmament) : नाभिकीय (परमाणु) निरस्त्रीकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र की महा सभा के निरस्त्रीकरण आयोग में नाभिकीय शक्तियों, विशेषत: अमेरिका और सोवियत संघ के बीच बरसों पहले बातचीत हो चुकी है। 1969 से 1979 के बीच दोनों में सामरिक हथियार सीमित करने संबंधी वार्ता हुई थी। इसके बाद 1981 में सामरिक हथियार कम करने संबंधी वार्ता हुई। 1986 और 1988 के बीच गोर्बाचोव और रीगन के बीच नाभिकीय निरस्त्रीकरण को लेकर पाँच बार शिखर वार्ताएँ हुईं। 1980 में अमेरिका और पूर्व सोवियत संघ ने इंटरमीडिएट न्यूक्लियर फोर्स (आई.एन.एफ.) निरस्त्रीकरण समझौते पर हस्ताक्षर किए जो निरस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम ही नहीं बल्कि एक बड़ा प्रयास था।

पंचशील (Panchsheel) : 1954 में भारत और चीन के प्रधान मंत्रियों, जवाहरलाल नेहरू और चाऊ एन लाई ने तिब्बत संधि पर हस्ताक्षर करते समय शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्‌धांतों का प्रतिपादन किया था। पंचशील के नाम से प्रसिद्‌ध ये पाँच सिद्‌धांत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र बन गए हैं जो निम्नलिखित हैं।

(i) एक दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता और संप्रभुता का परस्पर सम्मान करना;
(ii) परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण न करना;
(iii) एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना;
(iv) समानता और पारस्परिक हित;
(v) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

बहुल समाज (Plural Society) : ऐसा समाज जिसमें कई प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों और सांस्कृतिक समूह होते हैं। अनेकता से परिपूर्ण समाज तथा विभिन्न तत्त्वों का सम्मिलित रूप। यह एक विषमाँगी समाज होता है।

ध्रुवीकरण (Polarisation) : भिन्न विचारधाराओं के आधार पर शक्तियों का जुड़ना।

गरीबी रेखा (Proverty Line) : समाज में अस्तित्व के न्यूनतम स्तर को परिभाषित करने का एक ढंग। इस स्तर से नीचे आने पर जीवित रहने के लिए न्यूनतम आवश्कताएँ पूरी कर पाना असंभव होगा।

व्यवहारवाद (Pragmatism) : ऐसा सिद्धांत जो किसी प्रयास के व्यवहारिक परिणामों का तथा इसके मानव हितों पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन करता है।

प्रजातिवाद (Racism) : प्रजातिवाद एक राजनीतिक अथवा सामाजिक विश्वास है जो भिन्न-भिन्न लोगों के साथ उनके प्रजातीय आधार पर व्यवहार को न्यायोचित मानता है।

चुनावी धांधली (Rigging) : मतदान और मतदान प्रक्रिया के साथ धोखेबाज़ी, अनैतिक अथवा गलत हस्तक्षेप को चुनावी धांधली कहते हैं। इसका उद्देश्य परिणाम को झुठलाना अथवा अपनी विजय को पूर्ण निश्चित करना होता है।

प्राथक्य (Secession) : प्राथक्य का अर्थ है — एक राजनीतिक व्यवस्था में किसी क्षेत्र द्वारा शेष राज्य से स्वतंत्र होकर एक स्वायत राज्य का स्वयं शासन करना।

पंथनिरपेक्षता (Secularism) : एक ऐसी व्यवस्था जिसमें राजनीति और धर्म को एक दूसरे से अलग रखा जाता है अर्थात् जहाँ राजनीति में धर्म की कोई भूमिका नहीं होती।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग (South-South Cooperation) : उत्तर-दक्षिण वार्ता के विरोध में दक्षिण सहयोग को विश्व के 100 से अधिक विकासशील देशों में भाईचारा और एकजुटता बनाने के लिए प्रस्तावित किया गया है। सहयोग का कार्यक्रम बनाने के लिए दक्षिण आयोग बनाया गया। दक्षिण के देशों की कई क्षेत्रीय संस्थाएँ जैसे – दक्षिण पूर्व एशियाई देशों का संघ (ए.एस.ई.ए.एन), दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (एस.ए.ए.आर.सी.) अफ्रीकी एकता संघ (ओ.ए.यू.) अरब राज्यों का संघ लीग (लीग ऑफ अरब स्टेटस) गल्फ सहयोग परिषद् इत्यादि ने पारस्परिक सहयोग और संयुक्त कल्याण को बढ़ाने का कार्य संभाल लिया है।

समग्रवाद (Totalitarianism) : समग्रवाद का निरूपण द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी और इटली के राजनीतिक शासनों, संयुक्त सोवियत संघ गणराज्य तथा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासनों के दौरान विकसित हुआ। इसमें समग्रता की विचारधारा में विश्वास किया जाता है जैसे – एक दलीय राज्य, गोपनीय पुलिस तथा सरकार द्वारा पूर्ण नियंत्रित और एकाधिकार के अंतर्गत समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सूचना संरचना। यहाँ राज्य और समाज में कोई भेद नहीं होता।

मजदूर संघ (Trade Unions) : मज़दूर संघ प्राय: कृषि क्षेत्र के अधिक औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों का संगठित समूह होता है।

m. Does he remove all the skin from the leg and foot?	(2)	——— m.
n. Does he remove all skin in less than 5 minutes?	(1)	——— n.
o. Does he separate gastrocnemius muscle from adjacent muscles?	(2)	——— o.
p. Does he separate tibialis anticus longus muscle from adjacent muscles?	(2)	——— p.
q. Does he use blunt end of scalpel, or probe, or pencil point or fingers to separate the muscles, and not the sharp point of an instrument?	(2)	——— q.
r. Does he avoid cutting or tearing fascia of muscle?	(1)	——— r.
s. Does he avoid cutting muscles free from their points of origin?	(1)	——— s.
t. Does he avoid cutting muscles free from their insertion?	(1)	——— t.
u. Does he avoid removing muscles from the leg?	(1)	——— u.
v. Does he avoid shredding or tearing muscle bundles?	(1)	——— v.
w. Does he finish entire dissection in 15 minutes or less?	(1)	——— w.

Score on Procedure
Sum of items j to w inclusive ——————

It is also possible to use a scale in evaluating each characteristic of the product or each activity in the procedure. When the amount of credit which may be given is one point, the scale is from 0 to 1, in which 0 represents an unsatisfactory performance while 1 represents satisfactory performance. When the amount of credit which may be given is two points, the scale is from 0 to 2. The latter scale permits an intermediate value.

Sources of Materials for Examinations in the Natural Sciences

In the preparation of any adequate examinations designed to obtain evidence of the degree to which the objectives of science

courses are being attained a reservoir of basic materials is needed. This reservoir should include a list of important facts, technical terms, and principles which students might be expected to remember; a list of common misconceptions which the course might help to eliminate; a list of sources, both reliable and unreliable, of scientific information; collections of problems, problem provoking situations, and problems to be analyzed; experimental data or facts encountered in every day life from which students should be able to draw generalizations; a list of hypotheses which could be tested by the students; a list of scientific principles which the students should be able to apply to new situations; and a collection of laboratory techniques which the students are expected to master. The actual content of the examinations for each of the objectives may then be obtained by selecting appropriate samples from these lists.

For convenience and flexibility, each fact, principle, problem, or misconception may be written on a small card. A hypothesis which is to be tested might be written at the top of the card and below it the questions which need to be answered to check the hypothesis. The cards on which scientific generalizations or principles are listed should also include problem situations new to the students which provide opportunity for the application of these principles. Each laboratory technique included in the examination materials will include detailed analysis of the steps involved and of the product resulting. If the cards are filed under the topics of the course, it will permit easy revision, addition, or subtraction, to correspond with changes in the course from year to year.

In preparing these lists, the teacher will usually turn first to his syllabus or course of study. In some cases, curriculum studies have been made which give evidence of the frequency with which some of the facts, principles, or problems are en-

countered in various activities of life, or of other factors which help to indicate their probable significance. Such studies are helpful in selecting items for the list of important information. In building some of the Cooperative science tests, lists of generalizations have been submitted to a large number of science teachers for their judgments of the significance of each generalization to the student. These lists will frequently prove helpful to the teacher in compiling his own. An analysis of appropriate textbooks and reference books will reveal additional items which, on careful consideration may prove to be important. Reports of current research, including the popular summaries prepared by Science Service, also frequently present interesting and significant problems for further investigation.

Perhaps one of the most useful sources for examination materials is the science teacher's notebook. In this the teacher will record his observations of the local environment, and of interesting data which the students meet in everyday life. He may record here problems or misconceptions which are brought out in class discussions, interviews with students, written papers, and previous examinations. Newspapers, magazines, popularized books on science, and adult discussions in the community frequently reveal misconceptions, problem situations, or untested hypotheses. The habit of recording such instances is helpful in building the basic lists of examination materials.

Often it is helpful to have several other competent teachers go through the tentative lists obtained by these methods and indicate their judgments of the value of the items to the students. In actually building the examinations for the different objectives, the lists should be adequately sampled. The problem of getting a satisfactory sample is treated in the chapter on "Construction of Tests."

PROCEDURES FOR DEVELOPING A COMPREHENSIVE PLAN OF MEASUREMENT TO COVER THE ENTIRE FIELD

Planning of Measurement Devices to Cover All Major Objectives

A comprehensive program of measurement includes various devices designed to collect evidence of achievement in all the important objectives of natural science teaching. High achievement in one objective does not necessarily mean high achievement in another; nor does low achievement in one necessarily mean low achievement in another. Students who have acquired a large fund of information, for example, frequently do not have the same degree of success in interpreting new experimental data.

The first problem in developing a comprehensive program of measurement is to formulate the objectives or expected outcomes of the course. The second problem is to clarify the objectives by defining them in terms of changes expected in the behavior of students. These two steps are described in some detail in an earlier chapter. The third problem is to make a collection of situations in which the behavior may be expressed.

A number of questions must be answered in considering methods for collecting evidence of achievement in each of the important objectives of teaching. What are the conditions under which the behavior is expected to take place? Will the examination be "sprung" or will the students be notified ahead of time? Will they be directed to guess or will they be directed to avoid guessing and informed why? Will the problem situations be new to the students or will they be familiar ones? Will they be "paper and pencil" situations or will they include laboratory, library, classroom, and free-time situations? Will the students have time to finish the examination or will there be a time limit? Will they be permitted to consult sources of information during the examination? A guiding principle to

follow is to consider the purpose of the method and the factors to be controlled in the situation. For example, if one wishes to know what information students can recall at a certain time without reviewing the material immediately before the evidence is collected, the students will not be notified ahead of time and the examination will be "sprung."

Distribution of These Different Measurements During the Instructional Period

If all evidence of achievement in a comprehensive program of measurement were collected at one time, a very long time would be required to obtain sufficient evidence on which to base reliable judgments. There may not be sufficient time to devote to many examinations at the end of each month, six weeks, quarter, semester, or year. At present not many of the needed practicable examinations which give a good index of the more direct behavior expressing each objective are available. However, the collection of evidence may be distributed over the instructional period. Paper-and-pencil examinations of information acquired, of the understanding of terminology, of the ability to interpret new data and to apply principles may be given periodically during the course. One or more laboratory periods may be devoted to measuring laboratory skills.

Evidence of interest in solving problems in natural science and interest in natural phenomena may be observed in the laboratory, classroom, interviews, and other situations from time to time. It is important that anecdotal records of the students' behavior be made, i.e., notes of significant pupil reactions, for evaluation at a later time by the teacher and by others. These records constitute evidence of achievement in the objective. It is well to keep the record of behavior free from interpretation of the behavior. The behavior and the conditions under which the reaction took place should be de-

scribed objectively, so that others who read the record will get an accurate picture of the conditions and behavior of the student. The record should be a substitute for actual observation to persons who were not present when the behavior took place and who did not know the events leading up to it. The interpretation of this behavior record may be made on the reverse side of the card. Thus it is possible to obtain from each individual an independent interpretation of the behavior. Written papers on topics giving references to reliable sources of information may be collected from time to time. The student's ability to identify structures of plants and animals and their functions may be noted in the laboratory during class periods and on written examinations.

As practicable examinations are developed it will be possible to collect more economically much of the evidence about the various kinds of changes in students which are important outcomes of the course.

Cooperative Examination Building

The development of a comprehensive program of examinations is a large task for one teacher to assume and to accomplish in a short time. Cooperative attack on the problem by teachers of the same school system or of different school systems is a more promising method of developing examinations. Periodic meetings of natural science teachers may be held for this purpose. Each teacher may formulate and pool his objectives with those of the other teachers. There may be differences of opinion about objectives, but they usually are only disagreements on degrees of importance. Separate examinations for the various objectives will enable each teacher to test for those outcomes which he considers most important and to weight each objective in accordance with his judgment of its value.

After the objectives have been formulated and clarified by indicating the kind of student behavior involved, each teacher may choose one or more for which he will be responsible in devising methods of measurement. His plans may be presented to the group for criticism and suggestion, the other teachers cooperating wherever he needs their assistance. By this plan, all teachers participate in developing test materials for all the important objectives, but each teacher assumes the responsibility for only one or a few of those objectives.

When it is inconvenient for teachers to meet and work together, one teacher working alone may choose one objective for which he will develop examinations during the year. The following year another objective may be chosen, and so on.

The Cooperative Test Service, which is a non-profit agency organized under the auspices of the American Council on Education to produce and distribute tests, is following such a cooperative procedure in developing science tests. Teachers in various schools and colleges are working upon tests for each of the science objectives. With the assistance of test technicians they are experimenting to discover practicable methods of testing certain objectives which are difficult to test directly. Through such cooperative efforts a comprehensive program of examinations becomes possible. It is essential that our examining procedures become more comprehensive. Some of the most significant objectives of science teaching are not commonly tested. If science examinations are to have their greatest value to student and teacher alike, they must give evidence with reference to all of the important outcomes of courses of science.

QUESTIONS FOR DISCUSSION

1. In talking with his general science teacher, a boy said, "This morning you were telling us about being sensitive to general science problems in our environment. What does that mean?

Maybe I would like to be like that." What can the teacher tell him? Would the explanation be useful in constructing a test? Would it be a paper and pencil test?

2. At the science section meeting of the State Education Association, a teacher heard much talk about the appreciation of science as an objective of science teaching. Being interested in the development of the boys and girls in his classes he wanted to find out whether they are learning to appreciate science. How could he do this? Comment briefly on the steps he could follow.

3. A teacher ordered a sample copy of a biology test. When it arrived, he showed it to one of his colleagues and said, "I now have the test, but how can I tell if it is any good? On what basis should I judge this test?"

4. A general science teacher thinks that one of the things his courses should do for the children is to help them to develop the habit of asking for evidence to support important statements presented to them. Can he measure this objective? If so, how?

5. A boy's library card for the month of April shows that he has withdrawn 32 books. On closer examination of the titles, it is found that all of them are about chemistry, physics, and biology. Does this mean anything? Is it a test?

6. One of the objectives of the general science class is to understand one's environment. The teacher wanted to find out whether his children were learning to understand their environment. What evidence could he collect which would show this? How could he collect the evidence?

7. A teacher worked diligently on an examination for evaluating his students' ability to test promising hypotheses in biology. After he had prepared the examination he showed it to a fellow-teacher who remarked that it was only another objective test. He added, "The way to test this outcome of teaching is an essay test. You can't use an objective test." What do you think of this criticism? What evidence would you need before you would accept the objective test for use in your classes?

8. Before bringing to the attention of his biology class the prob-

lem of eugenics, the teacher wanted to find out what attitudes the class had toward the problem. He prepared a list of statements representing various degrees of attitudes. He asked each student to check each statement showing that he agreed, disagreed or was uncertain about the statement. He wanted the attitude of the class toward this problem to be expressed numerically on a continuum. How might he go about doing it?

9. At a meeting of Eastern High School faculty, several of the teachers expressed an interest in improving their examinations. They discussed the possibilities and finally felt that the job was too big. One man characterized the feeling of the group when he said, "I am sure I won't find time to work on examinations for all of the important objectives in my science classes. The job is overwhelming." What practicable plans can you suggest to these teachers?

10. A girl made the highest score in the typical true-false test in physics given at the end of the semester. In fact she usually made high scores on these tests during the semester. Her teacher was perplexed because so often this girl could not explain the simplest phenomena in her environment which were not discussed in class or in the textbook. What problems in evaluation does this situation raise?

11. A boy came home from school the last day of school and at dinner that evening broke the sad news to the family that he failed in chemistry. His father asked, "What does that mean?" The boy replied that he did not pass. He didn't get a high enough grade. He would have to take the course again next year. "Yes, but how can they tell when you fail or not?" asked his father. "By my marks, I guess," said the boy. Further discussion brought out nothing more. What important question or questions about examinations does this situation raise?

CHAPTER VI

EXAMINATIONS IN THE FOREIGN LANGUAGES[1]

I. LATIN

OBJECTIVES

THE *Report of the Classical Investigation*[2] contains the most extensive discussion of the aims of teaching Latin — their validity, the course content and the procedure by which they may be attained — that has appeared since the methods of investigation employed in the natural sciences have been applied to educational problems. As a result of the inquiry, the committee responsible for the report formulated conclusions in respect to objectives substantially as follows:[3]

[1] The committee responsible for the preparation of the chapter dealing with examinations in foreign languages consists of:

Algernon Coleman, University of Chicago, *Chairman*
Harry E. Ford, University of Toronto
V. A. C. Henmon, University of Wisconsin
James B. Tharp, Ohio State University
B. L. Ullman, University of Chicago

The Latin section of this chapter was read in manuscript by W. L. Carr of Teachers College, Columbia University, John Seddon Fleet of Culver Military Academy, and Laura B Woodruff of the Oak Park (Illinois) High School; the section on modern languages by Edna C. Dunlap and Millicent Stebbins of the Parker High School, Chicago, Helen M Eddy of the State University of Iowa, and Peter Hagboldt of the University of Chicago. J M. Stalnaker of the Board of Examinations of the University of Chicago read both sections in manuscript, as did the chairmen of the various committees responsible for this volume The Committee is grateful for much valuable advice and criticism from these sources, but assumes entire responsibility for all defects in the form and in the content of the chapter as it stands.

[2] Part I. Princeton University Press, 1924.

[3] *Ibid.*, p. 78.

A. Primary

The indispensable primary immediate objective is progressive development of ability to read and understand Latin.

B. Ultimate

1. Increased understanding of the elements in English related to Latin; increased ability to read, speak, and write English; development of literary appreciation.
2. Increased ability to learn other foreign languages.
3. Development of a historical and cultural background.
4. Elementary knowledge of the simpler principles of language structure.
5. Development of correct mental habits and of right attitudes toward social situations.

Later in the report,[4] we note the addition of the words "as Latin" to the formulation of the immediate or primary aim. As early as 1899 the Committee of Twelve of the American Philological Association had declared, "The student should be carefully trained to take in the meaning of the sentence in the order in which it stands, before translating it."[5] Reaffirmed, as we have seen, in the Report of the Classical Investigation, the principle involved is accepted in a subsequent report of a committee on Latin of the North Central Association of Colleges and Secondary Schools.[6] In another similar document of great importance,[7] however, this view of how Latin should be "read" is ignored. Indeed, in this report

[4] *Ibid.*, p. 188.

[5] *Proceedings.* vol. xxx, 1899. See also the *Report of the Committee of Ten of the National Education Association*, 1894, pp 70–71

[6] *High School Curriculum Reorganization.* Ann Arbor, Michigan · North Central Association, 1933, pp 148–174

[7] *Report of a Study of the Secondary Curriculum.* Milton, Massachusetts: The Secondary Education Board, 1932, pp. 84–99. See especially pp. 84–85.

the implications are very clear that the normal and desirable procedure by which an American pupil understands a Latin sentence and demonstrates his understanding is to translate it. Whatever may be the merits of the two doctrines in respect to the way pupils should learn to read Latin, it is highly improbable that the doctrine enunciated by the Committee of Twelve of the American Philological Association in 1899, and reiterated vigorously in the Report of the Classical Investigation in 1924, has been widely accepted in the classroom, for there are only scanty traces of its effect on examinations in Latin.

The College Entrance Examination Board took cognizance fairly promptly of the recommendations of the Report of the Classical Investigation and made certain changes, both in its statement of requirements and in the examinations that have been set, beginning with June, 1929. The change affected especially the examination for the third and fourth years, and consisted chiefly in inserting a Latin passage followed by content questions to be answered in English, and in introducing a few questions of a "cultural" nature. Specimens of the latter may be taken from the June, 1933, examination, based on a passage from Cicero's *Philippics* and a passage from Ovid's *Metamorphoses*, both of which were set for translation. The questions are:

1. Explain the derivation, stating the meaning of all the Latin elements of which each word is composed: temporal, averse, invincible.

2. Against whom were Cicero's *Philippics* delivered? At what time in Cicero's life? With what consequences to Cicero?

3. What were the characteristic functions of Apollo?

4. Describe some other significant apparition of a god in the Latin poetry you have read.

The two-year examination, however, consists of: a passage to be translated into English; seven grammatical questions containing 31 items, which involve declension of nouns and pronouns, conjugation of verbs, comparison of adjectives and adverbs, an explanation of uses of cases, tenses, and moods; three English sentences to be translated into Latin. The examination for 1934 follows the same pattern. One "three-year" combination (1933) calls for: a translation into English of a passage from Cicero; the "explanation" of four grammatical phenomena; the first and second "cultural" questions given above; content questions on a passage from Cicero, *In Verrem*, the replies to be written in English; and an English passage of about one hundred words to be translated into Latin. There are other combinations for "three-year" and several of the same sort for "four-year" Latin, but all these vary in the source of the reading passages rather than in the type of examination. The 1934 examinations conform to the same pattern. Evidently, then, College Board examiners expect two-year Latin students to know the forms of the various parts of speech, to "explain" their uses, to translate into English passages from such writings as *De Bello Gallico*, and to turn complex English sentences into Latin. Since only about 17 per cent of those who begin Latin in public secondary schools continue the subject for more than two years in school, and since only a portion of those who leave school after two years of Latin continue the subject in college,[8] the majority of those who begin Latin must derive in two years whatever educational benefits their classroom study of the subject may be expected to produce. Consequently,

[8] Algernon Coleman, *Teaching of Modern Foreign Languages in the United States*, Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages. New York: The Macmillan Co., 1929, pp. 21 (Table I, Latin), 26. *Report of the Classical Investigation*, p 31.

although the pupils who do well on such examinations as those set by the College Board may have derived these benefits, the answers of the two-year group can prove at best only that they are capable of translating a given Latin passage into English, of giving certain forms, of recognizing others and grouping them under the proper categories, and of making a Latin version of some English sentences.[9]

In view of the insistence, throughout this volume, on the unescapable relationship between the aims of a course of study and the examinations set to measure progress toward those aims, it is appropriate at this point to consider which of the immediate and ultimate aims listed in the *Report of the Classical Investigation* and incorporated, as we have seen, in other important statements, we may reasonably expect to be reflected specifically in the examinations set by teachers of Latin.

[9] The January, 1934, "New-Type" examination of the New York Regents for two years of Latin consists of two passages to be translated into English (40 points), seven questions on syntax (10 points), a passage of 73 running words on which seven questions are based to be answered in English (10 points), four sentences to be translated into Latin (16 points), eight items to be conjugated, declined, etc. (10 points) six English cognates to be "defined" and associated with their Latin etymons (6 points), four questions of a historical nature bearing on Caesar's life and campaigns (8 points). The corresponding "Old-Type" examination seems to differ from the above in procedure only in presenting three Latin passages for translation (48 points). The "New-Type" examination for three years follows the same procedure and contains similar items; the fourth-year "New-Type" consists of two Latin passages for translation (70 points), four questions of syntax and on versification (3 points), four questions on the content of the *Aeneid* (8 points), five quotations to be translated into English (5 points), and a quotation to be given from memory (4 points).

The study by Crawford and Burnham (*School and Society*, vol. XXXVI, 1932, pp. 344–352, 378–384) reveals a very low correlation between scores on the C E.E.B. examinations in Latin and first-semester grades at Yale. The correlations based on the scores of 286 students are 22 for the class of 1933 and .34 for the class of 1934. As the reliability coefficient of the Yale examination was .74 these entrance tests in Latin had little predictive value. Such a piece of evidence constrains us to reflect seriously on the content and the form of examinations which affect so notably teaching and examining in Latin the country over.

Properly constructed examinations should provide an adequate measure of the progress made by pupils in ability to read Latin; knowledge of English derivatives from Latin and of their meanings; and growth in historical-cultural background as a result of the study of Latin. It should even be possible for the teacher to determine, in the case of each individual pupil, whether he reads Latin in the order in which it is written, although a written examination can throw little light on this point.

In respect to the other objectives entered on the list given above, we already have some evidence of the validity of the claim that students who succeed in Latin make better progress in a second foreign language than equally able students who lack this experience.[10] An objective of this type, however, can have no specific effect on the construction of examinations in Latin. It is also unlikely that the Latin examination can, at the secondary school stage, provide the opportunity to test improvement specifically in reading, speaking, and writing English, and in literary appreciation. Furthermore, we can hardly venture to believe that examinations in Latin will throw much light on the pupils' growth in "mental discipline" and in right social attitudes. But in addition to testing reading ability, with its concomitant knowledge of vocabulary, forms, and syntax, the Latin examination, as has been asserted, can measure progress toward the other aims, as they have been enumerated. Whether a list of objectives should include types of attainment that do not lend themselves to any direct evaluation in degree, is a question that lies beyond the limits of the present discussion.

The College Board examination under consideration casts

[10] T J Kirby, "Latin as a Preparation for French," *School and Society*, XVIII (November 10, 1923), pp. 563–569; L. E Cole, "Latin as a Preparation for French and for Spanish," *ibid.*, XIX (May 24, 1924), pp. 618–622.

no light on the pupils' progress toward the goal of reading Latin "as Latin." Nor does it, at the two-year level, test progress in knowledge of the Latin elements in English or reveal any development of a general historical-cultural background, modest as progress in these directions must inevitably be at this stage. Only the examinations at the more advanced stages take these aims into account. The examinations of the Secondary Education Board follow the general pattern of the two-year examination of the College Board, which, in all likelihood, is representative of Latin examinations in most secondary schools. If, therefore, examinations and aims are, in actuality, closely allied, we may conclude that in the minds of most teachers the immediate aims of the two-year course, as reflected in current examinations, are: the possession of a very limited English-Latin vocabulary and of a somewhat larger Latin-English vocabulary; a knowledge of the commonest forms of the various parts of speech and of their uses; the ability to use this vocabulary and knowledge in translating sentences and passages into and from Latin.

The following paragraphs provide a discussion of ways of improving and of enlarging the scope of Latin examinations in general.

EXAMINATIONS

1. Vocabulary

As a test of progress in the powers enumerated in the preceding paragraphs, the second-year examination referred to would be much more effective if it contained specifically an objective test of growth in vocabulary. Investigators in the field of modern language teaching have noted that scores in vocabulary correlate better with reading scores than do scores

in grammar. The study by Haage [11] shows a definitely higher correlation for all four years between vocabulary and comprehension than between forms and comprehension. Thus the scores on vocabulary provide indirectly a useful index of progress in reading ability. Such a test has all the more validity in Latin, as compared with modern languages, since the College Board word list has, for nearly a decade, provided a definite and widely accepted basis for vocabulary study. In modern languages, similar uniformity is being approached only by degrees and with some opposition on the part of a good many members of the profession.

A useful technique in constructing a vocabulary test is the multiple-choice technique. A Latin word is accompanied by, for instance, four or five English words, one of which is an adequate equivalent. Some of the English words should be of such a nature as to confuse the poorly prepared student. Examples are:

gladius	(1) glad	(2) flower	(3) wound	(4) sword	(5) spear
hora	(1) hoary	(2) hour	(3) horse	(4) night	(5) hair

There is room for considerable ingenuity in assembling good "confusion" words or "distractors." An excellent source for wrong responses is the actual pupil errors in written work, or in "recall" types of vocabulary tests. It should be noted also that students who do not *know* the correct response tend to look for and to select a word whose spelling suggests that of the Latin word, or a synonym of such a word. In the first illustration above, for example, the word "glad" is likely to prove a good foil for this reason, as might also the word "happy." "Flower" is also likely to attract students because

[11] Catherine M. Haage, *Tests of Functional Latin for Secondary School Use.* Doctoral thesis of the University of Pennsylvania Philadelphia, 1932. Pp. 192. See p. 162, Table XXIX.

"gladius" suggests "gladiolus." By careful and ingenious selection of the "distractors," the student who guesses can be almost invariably misled, as he should be, and the number of correct guesses can be reduced far below that which would result by pure chance.

In such a multiple-choice technique, the English equivalent is to be underscored, or (preferably) its number may be written in a blank provided at the right or at the left of the page.

The vocabulary test recently developed by Miss Haage[12] requires the pupil to supply a word missing in a Latin sentence by choosing from five that are suggested. An example is:

> Gladio et sagittis patriam meam —
> (1) prohibeo (2) clamo (3) defendo (4) doceo (5) capio

It is clear that this is a test of comprehension as well as of vocabulary. It is to be noted, however, that in composing the sentences the author was reasonably careful, at any given level, to remain within the appropriate limits of the College Board word list. Similarly, in adopting either of the two techniques mentioned, a teacher should remain within the limits of the class experience, unless he may wish to combine with a vocabulary test proper, a test of the pupils' ability to make inferences about English derivatives from Latin words which are unfamiliar to them. But such a test would preferably have its own identity.

A third type of vocabulary test familiar to all teachers is the "recall" type, in which the pupil gives an English equivalent for a Latin word, or vice versa. About the same number of items can be given in the same length of time if this technique is followed, but the scoring cannot be so rapidly and accurately done. Pupils should be able in 15 minutes to complete a

[12] *Ibid*, pp. 100–31.

fifty-item vocabulary test, whether constructed according to the first or the second procedure suggested above. However, the teacher will find it easier to follow the first, for the second procedure involves either finding or inventing suitable sentences within the vocabulary limits, and also choosing possible Latin equivalents which fall within these limits and which, at the same time, offer to the student something like a real problem in making his selection.

No matter what procedure is followed in making the examination, whether the model set by the examining agencies mentioned above, or certain of the other patterns of the so-called new-type tests, it is clear that a specific test of knowledge of vocabulary and of idiom is highly useful. Brief examinations of this sort, administered fortnightly or monthly, have a diagnostic value and aid the pupil in recognizing his deficiencies. A longer vocabulary test at the end of a semester reveals progress in a fundamental element of the course and also, as has been pointed out, helps indirectly to measure progress in reading ability.

2. Grammar

Knowledge and understanding of grammatical phenomena have traditionally been tested by:

1. Requiring a translation from Latin into English, which involves application of grammatical knowledge, as well as of vocabulary and idiom, and that elusive power, both in Latin and in English, which we call "speech-feeling." The pupil who possesses this speech-feeling in the two languages is guided more surely by "a succession . . . of anticipations and fulfillments," as the Report of the Classical Investigation puts it, to a comprehension of what the Latin writer has said, and then, in turn, to selecting a means of expressing this in English.

2. Asking questions about words found in the passage to be

translated; their forms ("decline," "conjugate"), or their uses, or both.

3. Requiring a translation from English into Latin, which involves recall of vocabulary and idiom, recognition of the need for specific forms and recall of those forms, and some feeling for Latin word order.

4. Calling for the inflections of given words — "decline," "conjugate," "compare," etc.

The measurement of grammatical knowledge and understanding by the first of these devices is open to the double objection that the grammatical element is inextricably bound up with the other elements, and that uniform scoring is well-nigh impossible. The third device, translation into Latin, presents in differing degrees the same difficulties. The other two procedures, if the items involved are significant in the course, are liable to few criticisms from the standpoint of validity, but are less easily scored than other techniques.

Examiners probably do not make sufficient allowance, particularly during the "elementary" or two-year stage, for the fact that pupils are none too sure in handling grammatical terminology. For example, when asked to conjugate *transibant* in the present subjunctive active, or *summovebant* in the future indicative passive, or to name and give the reason for the mood of *vinceret*, or to decline the plural of the comparative of *multi* in all genders, many pupils may be unable to link the correct forms with the names of these forms. Emphasizing the functional rather than the formal, Miss Haage, in the study referred to, avoided all terminology in her "forms" test. She framed sentences in which the function of an underlined word (noun, pronoun, adjective, adverb) or phrase is to be indicated by answering such a question as "Whom or what does someone see, say, take, etc.?" A specimen sentence:

Procul *villam* pulchram videtis.

She lists ten questions involving case relations — "from whom? what? for whose benefit or to whom? by whom? etc." — and a last item with the rubric "no question." Each question is designated by a letter or number, and each underlined item in the 25 sentences is to be catalogued A, B, C, (or 1, 2, 3) if it illustrates an answer to one of the ten questions, or by K (or the number 11) if this construction fits none of the ten questions. The scoring is completely objective and the teacher may increase or diminish both the number of the questions, thus involving more or fewer usages, and the number of sentences containing phenomena to be analyzed.

A considerable number of techniques for testing on forms and syntax are illustrated in Ullman and Smalley's *New Progress Tests in Latin*,[13] as follows: supplying the ending for an indicated form of a noun, pronoun, verb, etc.; choosing, out of four or five English versions, the correct one to fit a Latin verb form; giving the proper Latin form of an italicized English word in an English sentence ("Where is my *brother's* book?") without translating the sentence; choosing from four or five Latin forms the one that suits a given situation ("Where is the *large* island? 1 magna, 2 magnam, 3 magnas, 4 magnae"),[14] and the like. Such exercises include some testing of usage as well as of forms, but it is hardly essential to divorce the two rigidly.

A syntax matching test may be constructed on the pattern of the Godsey Latin Composition Test.[15] A number of "rules" are stated, as "The direct object of a verb is in the accusative case," and a group of Latin sentences is given in each of which an underscored word or phrase is to be referred by a

[13] New York: The Macmillan Co., 1934. Pp. 122.

[14] This technique is exemplified in the 100-item grammar test in the *Cooperative Latin Test*, Form 1933, prepared by the Cooperative Test Service.

[15] Edith R. Godsey. Yonkers, New York: World Book Co., 1926. See also Ullman and Smalley, *op. cit.*, pp. 87–88.

number or a letter to the appropriate rule. The technique of the Haage "forms" test already mentioned is a variant of this one.

Examinations on forms and syntax constructed according to one or more of such techniques are more interesting to students than the ordinary type, and at the same time may be scored uniformly and accurately. Moreover, since the forms and the syntactic phenomena appropriate for each semester of the course have been generally agreed upon,[16] the teacher can be sure of the ground to be covered in a given semester examination.

3. Reading

The pronouncement of the Committee of Twelve of the American Philological Association, that the student should be carefully trained to take in the meaning of the sentence in the order in which it stands, before translating it, has already been referred to. The *Report of the Classical Investigation*,[17] as has been noted, endorses this principle and sets forth at length the procedures by which pupils may be trained to approach a Latin sentence in the right way. We have also observed that despite these utterances, and despite the general approval of the principle by Latin teachers, it is usually ignored in classrooms and in the preparation of examinations, whether by individual teachers or by such agencies as the College Entrance Examination Board and the Secondary Education Board. This is not the place to discuss the principle involved, but surely a translation test, involving as it does so many other elements, cannot be considered a measure of the ability to read Latin directly. Investigators who have attempted to

[16] See *Report of the Classical Investigation*, pp 157–62; *Study of the Secondary Curriculum*, the Secondary Education Board, pp. 87–90; *High School Curriculum Reorganization* (North Central Association), pp 152–53, 159–61, 165, 169–70.

[17] Pages 188–97.

construct tests of reading ability which at least do not directly contravene the principle of teaching pupils to read Latin as Latin, have utilized particularly the paragraph-question type [18] and the multiple-choice technique. There is, of course, no guarantee that pupils do not first translate the passages, particularly if they have been expected in their daily work to show by translation the extent of their preparation. It is true, however, that the expectation of a translation test of their reading ability will encourage them, and very naturally, to consider that the only proper way to read a Latin passage is by translating it into English. Consequently, if the aim of reading Latin as Latin is desirable and attainable, progress in doing so should be measured by other than a translation procedure. The "deciphering" behavior, in reading Latin, of the pupils whose eye-movements and comprehension were studied by Messrs. Judd and Buswell [19] was due in large part, no doubt, to the fact that the pupils had received no training in any other than a "peek and poke" manner of preparing lessons, that they had always been required to give evidence of their preparation by translation in class, and knew that a similar type of reading examination awaited them at the end of each semester.

A second serious objection to testing reading ability through translation is the impossibility of scoring a number of translations in a uniform way. From a pupil's English version of a sentence or passage, it is frequently impossible to tell whether the original has not been understood or whether the trouble lies in the pupil's inability to express himself in English. Practice in translation for the sake of improvement in English has its values as a part of the pupil's experience, but

[18] B. L. Ullman and T J. Kirby. *Latin Comprehension Test.* Iowa City, Ia.: Bureau of Educational Research, State University of Iowa, 1922.

Catherine M. Haage, *op cit.*, pp. 101–14

[19] C H. Judd and G. T Buswell. *Silent Reading: A Study of the Various Types.* Chicago. University of Chicago Press, 1922.

it is the rôle of an examination to measure achievement in the subject matter, to reveal as precisely as possible the student's growth in knowledge or in skills, or in both. Making a suitable translation of a passage entails a good deal more than just understanding what the passage says. If skill in *translation* as such is one of the aims, it is proper to exact a translation test, despite the difficulty of scoring it. If, however, our purpose is to test the pupils' ability to *read*, in the commonly accepted sense of the word, then a translation test alone is not enough.

One obvious reason for the vigorous survival of translation as a test of reading ability is, of course, the comparative ease with which such a test is prepared. Furthermore, teachers are so accustomed to giving grades which are mere approximations that they are not unduly shocked by their inability to differentiate with some precision between the performance of their pupils on examinations.

In addition to the paragraph-question technique, several other types of devices for testing comprehension may be enumerated:[20]

1. A series of statements in Latin, each of which is to be checked in an indicated way according to whether it is true or false.

2. A Latin sentence in which a missing word or phrase is to be supplied from several that are suggested. By this device, emphasis may be thrown on comprehension or on vocabulary or on grammatical points, by the selection of the sentences and the suggested words or phrases employed.

3. A passage in Latin, followed by groups of statements, in English or in Latin, about its content. The pupil is to select in each group the statement or statements which agree most

[20] Cf. Ullman and Smalley, *op. cit*, pp. 107 *et seq.*

closely with the passage. This is a variant of the true-false technique.

4. A Latin sentence, and a translation of it which contains an error. The student is to correct the error. Or several versions may be proposed, the student to select the best. The latter procedure enables a student to express his judgment on a larger number of sentences in a given time, and enables the teacher to score the results more objectively.

4. Derivatives and Word Study

The belief that the study of Latin contributes, or may be made to contribute directly to a better knowledge of the English language is widespread and is duly emphasized in the *Report of the Classical Investigation*,[21] which calls to the attention of teachers the value of specific efforts in this direction. The report recommends strongly "that tests and examinations should regularly include questions on the more important aims of the subject," and points out that fewer than half of the examination papers assembled in connection with the investigation contained questions bearing on the objective under discussion. Such questions appear in the examinations set by the College Board only for the more advanced years, and there are none in available question papers of the Secondary Education Board and of the New York Regents.[22] Again it must be insisted either that progress in this direction must be measured as a part of the whole picture of student attainment, or that statements about its importance should no longer figure prominently in formulations of objectives.

[21] Pages 42–44, 210–17 Interesting and useful material is contained in the Latin section of *High School Curriculum Reorganization*, *passim*. See also G. M. Ruch and G. A. Rice, *Specimen Objective Examinations* Chicago Scott, Foresman & Co., 1930, pp. 248–59 (derivatives, spelling, vocabulary, grammar, comprehension)

[22] But see above, note 9. This element is present in the Regents' examination for 1934.

While taking this position, we must not go to the other extreme and make class exercises in Latin too largely a study of derivatives, word-formation, and the like. Excessive zeal for the cause may prove as fatal as virtual neglect. But the recommendation of the College Board that about 450 Latin words should be acquired by the pupils during each year of the school course [23] serves as a useful check on any tendency towards overemphasis.

The procedures advocated by most teachers for learning vocabulary are closely related to the topic under discussion. These are: [24]

> Associating a new Latin word with English derivatives or with related Latin words before the word is met in a sentence.
>
> Determining the meaning of a new Latin word from context, association with English derivatives, or association with related Latin words as the new word is met in a sentence.

As a corollary of the above, the Report lists more specifically certain ways in which class exercises may contribute to the end in view:

> Encouraging pupils to discover independently new derivatives from Latin words already learned.
>
> Encouraging pupils to discover in their English reading derivatives discussed in class.
>
> Encouraging pupils to discover independently new derivatives from Latin words specially assigned.
>
> Encouraging pupils to use in sentences derivatives discussed in class.
>
> Definite assignment of English derivatives for explanation on the basis of their etymology.

Each teacher should keep a record of the specific cases in which one or more of these procedures has been applied, so

[23] See also *Report of the Classical Investigation*, p. 209.

[24] *Report of the Classical Investigation*, pp. 207, 209, 210–13.

that when examination time comes he can draw on a list of items for this portion of the test. He may utilize in the examination either a specific item that has been treated in class, or an item new in form but closely analogous to one that is familiar. Useful testing devices are:[25]

1. An English sentence containing a derivative, the meaning of which is to be indicated by a multiple-choice technique.

Sample: Your memory is more *tenacious* than mine.
1 stubborn, 2 retentive, 3 firm, 4 receptive, 5 yielding

2. A list of English words opposite each of which the pupil is to write a closely related Latin word.

Sample: regal *rex*

3. A proportion the missing member of which is to be supplied.

Sample: victory: victoria : : *perfidy*: perfidia

4. A number of Latin words which are to be changed so as to make them into English words.

Samples: fām~~a~~ (e) dīligen~~tia~~ (ce)

5. A list of Latin words, and a list of the corresponding English derivatives but in a different order. The pupil is to rearrange one list so as to bring together each Latin word and its derivative.

6. A list of Latin words such as *accēdō* and such English words as *announce* for which the original form of the prefix is to be supplied.

7. A list of English words, the meaning of each of which is to be given so as to show its derivation.

Sample: *impervious*, not allowing a way through.

[25] See Ullman and Smalley, *op cit*, pp. 89–106.

8. A list of compound Latin words and English words, for each of which the pupil must give a simple Latin verb:

Sample: īnscriptus — scribō   concession — cēdō

9. The formation of Latin compound verbs from parts given.

Sample: ad — cēdō   accēdō

5. The Historical-Cultural Element

Whether we designate the material included under this heading as Roman civilization or culture or *Realien* is of small importance. We mean by it such material bearing on various aspects of ancient Rome — geography, history, religion, social organization, ways of living, public and private life — as it is appropriate to present to pupils of secondary school age. The medium of presentation may be the class textbook, especially the reading material, with suitable illustrations, notes and commentary, and readings in English.[26]

Here again each teacher should keep a record of the material of this kind, whether informational or interpretative, that is presented to a given class during a given period, and should draw from these records the items to be included in an examination. And here again, as in the preceding section, a warning against undue zeal is pertinent. One cannot expect this aim of the course to be achieved unless some specific provision is made to that end, but it should receive a suitable share of the teacher's attention, and no more. The enumeration furnished by the *Report of the Classical Investigation* (pp. 152–56) may profitably be utilized by teachers, each one allocating the items to that part of a given course of study to which they belong, as determined by the textbook, the reading matter, the teacher's commentary, and the like.

In constructing examinations on this aspect of the course,

[26] *Report of the Classical Investigation*, pp 151–56, 204–06 See also for useful material the Report of the Secondary Education Board and *High School Curriculum Reorganization.*

the teacher may make use of devices similar to those already suggested in other connections:[27]

1. Statements to be checked as true or false:

Juno was the daughter of Jupiter.

2. Statements to be completed:

The chief Roman god was ——.

3. Groups of statements about government, the city of Rome, amusements, etc., to be checked according as they are false or true. A variant of number 1, the items being grouped about different topics.

4. A list of proper names, accompanied by a list of attributes or explanations or judgments arranged in a different order from the list of names. The pupil is to match those that belong together, whether by actually writing the lists or by entering a number in an indicated place. For example:

1. Mercury	(3) God of war
2. Diana	( ) Goddess of love
3. Mars	( ) King of the lower world

5. A variant of number 4, consisting of a series of statements followed by a list of names, each of which is to be matched with the proper statement.

CONCLUSION

It will be apparent to every reader that much emphasis throughout this presentation has been placed on two points. The first and more important of these is that examinations should reflect as completely as possible the aims of the course. If there is no way of testing progress toward a stated goal, it would appear to be wiser to revise the statement of aims.

[27] See Ullman and Smalley, *op. cit.*, pp. 113–22.

Either the objective in question should disappear from the list, or it should be placed among the imponderable values, such as the development of desirable attitudes, habits, and the like, which may be legitimately hoped for but may not be measured by any device at the command of most members of the profession. And surely the amount of progress made toward the objectives enumerated above can be measured on a comparative basis. The second emphasized point is the great advantage of so constructing examinations that they can be scored in a uniform way, thus making it possible really to compare the score of one pupil with that of another. A third point should be added to these two: namely, that once or twice during the school year an examination so constructed should be administered to *all* pupils, from the first-semester level up. The distribution of the resulting scores would prove rather surprising in many cases, and would illustrate so vividly the overlapping between classes that the teacher and the school authorities might feel almost obliged to take some action, whether to promote or to put back certain pupils, or perhaps even whole classes; to give remedial instruction on particular topics; or to grant special privileges to high ranking pupils while the less well-advanced are being trained specifically to remedy their weaknesses.

The use of standardized tests[28] from time to time is also commendable, for it enables the teacher to draw very precise comparisons between the scores of his pupils and those of a rather large number of others. The lack of a sufficient number of "forms" or equivalent versions of available tests would alone prevent the frequent administration of tests of this kind to the same pupils. But even if many forms of the existing

[28] A list of Latin achievement tests, prepared by Professor V A. C. Henmon, is given on pages 490–91, as a convenience to teachers who seek to inform themselves further about testing techniques.

tests were available, teachers would still wish to test their pupils on a particular section or unit of their own course, and for this the standardized tests are naturally not suitable.

All being considered, most of the testing, the country over, will for a long time be done by means of "home-made" examinations. Those who follow the recommendations of the Classical Committee in regard to course content in respect to grammar, reading, and cultural-historical material, and the College Board list in respect to vocabulary, are in an excellent position to profit by the foregoing proposals for constructing examinations. The minimum basic subject matter is determined from semester to semester, and teachers have only to devise the specific items which will elicit from their pupils the appropriate response. Furthermore, such examinations, if filed away with an adequate record of the results of administrations, may be compared with other examinations constructed so as to be closely equivalent, and the school will thus be in possession of roughly standardized tests and test results, which will do more to minimize fluctuations in class standards from semester to semester, from year to year, and from teacher to teacher than almost any other readily available means. This alone would be a genuine accomplishment, for all inquiries into the subject, both in Latin and in modern languages, have shown the great disparities in attainment, in the same school and in different schools, by pupils and by classes ostensibly on the same level of advancement. It is clear, furthermore, that these disparities cannot even be detected unless more refined measuring instruments are used than the conventional type of examination. It is true that the readers of the College Board examinations do, to a considerable extent, triumph over the inadequacies of the examinations and do achieve a reasonable degree of uniformity in their scoring, but they succeed in doing this despite the techniques followed

in the examinations rather than because of them, and few teachers are in a position to emulate this group of readers.

QUESTIONS FOR DISCUSSION

1. Examine critically the recent C.E.E.B. examinations in Latin. Compare your analysis with that given in the text (pp. 266–67) and point out the resemblances and the differences.
2. Study in the same way the recent Latin examinations set by the New York Regents.
3. What specific aims for instruction in Latin do you judge that the makers of these examinations had in mind?
4. Compare with the College Board word list (cf. S. M. Hurlbut and B. M. Allen, *A Latin Vocabulary for First and Second Years, A Latin Vocabulary for Third and Fourth Years.* New York: American Book Co.) the vocabulary (Latin-English and English-Latin) needed by the pupil in writing these examinations. (Questions 2 and 3). To what conclusion do you come?
5. With a familiar first-year or second-year textbook as a basis, make two 20-item vocabulary tests, using the two techniques exemplified on pp. 271–72.
6. Secure from a neighboring school a written translation made by a class of one or more representative passages in Latin. Arrange with several of your classmates that each of you will score the translation independently. Compare the scores thus assigned and try to account for the divergences. It is better to have copies typed for distribution to the participants.
7. Follow the same procedure with a group of sentences which pupils have translated from English into Latin.
8. Make out two or more examinations in grammar in which you utilize the four techniques exemplified in Ullman and Smalley's *Progress Tests* (p. 275).
9. Similarly, make a ten-item test following the Godsey Composition test technique (p. 275).
10. Using a brief Latin passage, prepare a test in which you use the "best statement" technique for testing understanding of the passage (p. 278).

11. Taking four or five Latin sentences, exemplify the "missing word" technique (p. 278).
12. Make a list of all the Latin words in a given number of lessons (5 to 10) of a first or a second year textbook, and list the English derivative or derivatives of each, where possible. Select from these two lists the items that you think it desirable and practicable to teach.
13. With these lists as a basis, make nine 5-item tests, each of which illustrates one of the techniques exemplified on p. 281.[29]
14. Take a first or a second-year textbook and compile a list of all items of an historical or cultural nature contained in any segment of fifty pages of the book.
15. On the basis of this list, make a fifteen-item test in which each of the five techniques on p. 283 is illustrated.
16. Secure a number of specimens of semester Latin examinations from neighboring schools. In the light of the preceding discussion, evaluate the content and the techniques used.
17. Using the same subject matter, attempt to rebuild two or three of these examinations, according to the techniques suggested above.
18. Secure copies of a number of the tests listed on pp. 490–91, preferably those on which at least tentative norms are available. Administer them if possible in one or more high-school classes and study the results.
19. Look up in the *Classical Journal* and other likely places the articles on testing that have appeared since 1925, and summarize them.
20. Why are tests that are scored objectively so rarely used in classroom examinations?

II. MODERN LANGUAGES

From the preceding chapters it is evident that an examiner must have clearly in mind the aims which pupils are expected

[29] For a 35-item test illustrating the first type, see Ruch and Rice, *Specimen Objective Examinations*. Chicago, Scott, Foresman and Co., 1930. Pp 249–51.

to attain in his subject, or at least in that portion of the subject on which a test is being set at a particular time It is also clear, or should be before this chapter is concluded, that measurement of progress in that extremely complex process which we call learning a foreign language involves more factors than modern language teachers have usually assumed, that it demands more planning and more ingenuity and, consequently, more time and effort on the part of the examiner.

It has been pointed out by advocates of changes in teaching, especially in countries where examinations play a larger rôle than in American schools, that to bring about reforms in teaching a subject, one must begin by reforming the examination procedures. That, in a sense, is the thesis of this volume, but in the discussion of foreign language examinations which follows, the committee has endeavored to avoid controversial issues, except in so far as these issues are inherent in any invitation to teachers to consider critically their aims and to measure with some accuracy the degree to which these aims are attained. When, for example, one urges teachers to measure the attainment of their pupils in ability to *read* rather than in ability to *translate*, one raises by implication the whole question of what reading is and of the procedures which are most favorable to its development. However, having once taken cognizance of this fact, this section will be limited to its immediate purpose.

OBJECTIVES

The aims, or desired results, of modern language teaching have been formulated by innumerable individuals and committees, from the *Report of the Committee of Twelve* in 1898 to the present day. A tabulation made in 1926 from modern language bulletins issued by twenty-two states yielded the

following list of the most frequently occurring items, in the order given:

1. Ability to read.
2. Ability to write.
3. Ability to speak.
4. Acquaintance with the history, the literature, the people of the foreign country.
5. Ability to understand the foreign language when spoken.
6. Mastery of the grammar of the foreign language.
7. Ability to translate from English into the foreign language.
8. Better understanding and appreciation of the English language.
9. Mental discipline.[1]

In 1928 the Committee on Investigation of the Modern Foreign Language Study formulated immediate and ultimate objectives for the first two years of study, corresponding to the "elementary" course of the Committee of Twelve and the College Entrance Examination Board, and also for courses of longer duration.[2] For a two-year course, the statement of immediate aims is as follows:

Progressive development:

1. Of the ability to read books, newspapers, and magazines in the modern language within the scope of the student's interest and intellectual powers.

2. Of such knowledge of the grammar of the language as is demonstrated to be necessary for reading with comprehension.

[1] From an investigation by Sturgis Leavitt and C A. Stoudemire, utilized in Algernon Coleman, *Teaching of Modern Foreign Languages in the United States* Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages New York · The Macmillan Co., 1929, p. 8.

[2] See Coleman, *op. cit.*, pp 107–08

3. Of the ability to pronounce correctly, to understand (aurally), and to use the language orally within the limits of class materials.

4. Of a knowledge of the foreign country, past and present, and of a special interest in the life and characteristics of its people.

5. Of increased knowledge of the derivation and meanings of English words, of the principles and leading facts of English grammar, and of the relationships between the foreign language and English.

For the more advanced group, the immediate aims as listed in the Committee's statement assume further progress in all the abilities named above, and, in addition, such progress in ability to write the language as to make of this an additional and specific objective. It is evident that the Committee envisaged gradual progress on the part of pupils throughout the period of study in ability to read the foreign language, to understand it when spoken, and to make themselves understood by others when speaking and when writing it — progress which would bring their attainment in the foreign language nearer to their attainment in the mother tongue, although at no time would attainment in the foreign language equal attainment in the vernacular, except, possibly, in ability to read.

Since 1929, there have been at least four significant attempts at a restatement of objectives.[3] The resulting statements, while they differ from one another in important respects, have

[3] Alice Corell and others *Tentative Syllabus in Modern Foreign Languages.* Albany, New York: University of the State of New York, 1931, p. 138.

Lawrence A. Wilkins and others *Syllabus of Minima in Modern Foreign Languages.* New York: Board of Education, 1931, p. 146. Howard T. Smith and others *Report of a Study of the Secondary Curriculum,* Milton, Massachusetts The Secondary Education Board, 1932, pp. 100–63.

L. A. Webb and others. *High School Curriculum Reorganization.* Ann Arbor, Michigan: The North Central Association of Secondary Schools and Colleges 1933, pp. 175–214.

much in common with each other and with those contained in the reports referred to above. Two of them, those issued by New York State and by the Secondary Education Board, retain the disciplinary principle enunciated by the Committee of Twelve. They also consider the first two years as providing primarily a foundation period for additional study of the subject in school or in college. The syllabus for New York City places reading ability frankly in the foreground, does not propose ability to write the language as an aim in itself, but does propose as aims the attainment of "a reasonably fluent and accurate pronunciation," "an introductory knowledge of the foreign country," and "ability to grasp readily thought expressed in the foreign language . . . in speech."

It is evident that, in varying degrees and by varying procedures, most modern language teachers propose to have their pupils learn to read texts in the foreign language; to make themselves intelligible when pronouncing the language; to understand the language when spoken; to use it orally and in writing — within narrow limits, to be sure, but in accordance with current usage; to learn more about the foreign people and the foreign country than if they were not students of the language, and, at the same time, to make more progress in their control over the mother tongue than non-foreign-language students would do.

This is not the place to debate the soundness of the individual items of this list of aims, or to point out the qualifications which a wholly realistic view of the problem might suggest at various points. Our task is merely to enumerate the objectives which most members of the profession accept, and, on the basis of this enumeration, to offer a program for testing the degree to which these objectives are attained.

The attainment of the aims listed above implies, in varying degrees, the following: learning the sounds of the language —

to make them and to recognize them when heard; learning the requisite words and idiomatic expressions; acquiring familiarity with the way in which foreign writers and speakers put their words together, in respect both to the forms and the arrangement; relating the foreign vocabulary to the mother tongue and, if appropriate, to another foreign language, both in form and in meaning; reading and hearing about the foreign people and their country, past and present, and reading books that are representative of the foreign people in some significant, although not necessarily profound way.

EXAMINATIONS

Current Practices

If the foregoing statement of aims, and of what students must do in order to attain them, is representative, it follows that we have taken the first step in determining the nature of a testing program, for, as the preceding chapters have made clear, examinations should aid teachers in ascertaining the progress that is being made toward the attainment of objectives. Or, to express the same truth in a different way, they should measure progress in the knowledge of subject matter and in the attainment of the skills which it is the aim of the teacher progressively to develop. It is generally admitted that prevalent types of examinations in modern languages fail to accomplish this, partly because of difficulties inherent in the situation, and partly because teachers have not, in general, analyzed with sufficient care the purposes and the shortcomings of their examinations and have not given sufficient thought to ways of remedying these shortcomings.

Two recent studies,[4] based on wide administration of care-

[4] Ben D. Wood, *The New York Experiments with New-Type Modern Language Tests*, and V. A. C. Henmon, *Achievement Tests in the Modern Foreign Languages.*

fully standardized tests, have shown in great detail that pupils of widely differing attainment in the subject are enrolled in the same classes, and that corresponding classes in the same school and in different schools vary greatly in their knowledge of the subject matter. "Finally," says one writer after surveying the evidence, "we may reiterate that at present nothing less than chaos prevails in the classification of our modern language students. The fact that a course is of a given length may have and usually does have little relation to the knowledge of the subject attained by a given class. Many two-year classes are superior in actual attainment to many three-year classes." [5] The variations among individuals are, of course, even more numerous and striking, with the result that the fact that an individual has "had" two years or three years of a modern language in school or in college provides little or no evidence in regard to attainment in the subject. Consequently, the widespread assumption on the part of many colleges which admit on certificate that a two-year high-school course fulfills the foreign language requirement for admission, or for graduation, is, in many cases, based on fiction.

One well-known college formulates thus its foreign language requirement for exit from the junior college stratum: an examination which demands "the mastery of a foreign language at the level of attainment expected of a student who offers two acceptable entrance units in a foreign language, unless the student has offered two acceptable entrance units in a foreign language." The adjective "acceptable" in this statement may or may not be significant. Its value depends on the means

Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages. New York· The Macmillan Co., vol. I, 1927, and vol. V, 1929. See also Coleman, *op. cit.*, chapter III.

[5] Coleman, *op cit*, p. 231. For corroborating data see Wood, *op. cit.*, pp 155–67, 173, 178, 183–97; Henmon, *op cit.*, pp. 131–32, 145–46, 176–207.

used by the institution to give it significance. Another institution recently announced that a placement test will be administered as a substitute for, or to give meaning to, the conventional two-year requirement. The University of Wisconsin recently adopted a policy whereby tests for measuring attainment in modern languages may be substituted for the time requirement.[6] Two levels are proposed: "proficiency" or advanced knowledge, and "reading knowledge." The latter is understood to mean "the ability to pronounce the modern language and to interpret adequately modern prose of average difficulty." The former level is attained when the student can give evidence of "(a) adequate comprehension of representative passages from classic and modern authors, which may include matter taken from the student's major field, (b) the ability to understand and pronounce simple phrases in the spoken language, (c) some knowledge of the history of the literature and culture of the foreign people." Apparently, these two attempts to be more explicit in the statement of achievement are rather isolated instances, but they suggest growing dissatisfaction with the practice of measuring attainment in the subject by the time spent in class.

What are the chief defects in prevalent testing procedures? Perhaps the reply to this question may be expressed in five statements:

1. Few or no examinations or groups of examinations test progress in all the types of knowledge and of skills which are embraced by the aims enumerated above.

2. In few cases are comprehensive examinations, based on an adequate sampling of the subject matter, given to different

[6] C. D Zdanowicz, *Modern Language Journal*, xv, 5 (February, 1931), 354–59, F. D Cheydleur, *French Review*, vol. vi, no. 3 (February, 1933), pp. 190–214, and no. 4 (March, 1933), pp. 282–300. The quotations are taken from Cheydleur's article

semester- or year-groups at the same time so as to measure the achievement of all with a common instrument.

3. Rarely are tests so constructed as to measure with relative accuracy attainment at the different semester- or year-stages.

4. Because of a natural tendency to follow beaten paths, and because of the considerable difficulties encountered in breaking new ground, teachers do not often set examinations which can be so scored as to reflect the relative importance of the different aims which they profess.

5. Tests rarely are so devised as to be scored with a high degree of uniformity and accuracy.

Let us consider these statements in reverse order. We have no reason to believe that the last statement can be disputed. The evidence given by Wood and by Henmon, to mention only two studies of the subject, suffices to convince the most obdurate. With respect to the fourth statement, it is clear that the normal examination gives little weight to reading and to oral attainment, even in classes where these two aims are professedly the most important. As regards the third statement, our inability to posit with some definiteness the kinds and the degree of knowledge and of skill which represent fourth-semester or fifth- or sixth-semester attainment is too well known to need further comment.

The truth of the second statement, that uniform and comprehensive examinations are rarely given, is so much a matter of common knowledge as to call for no proof. Indeed, most teachers protest against the administration of such examinations. They are wedded to the assumption that differences in the length of the period of study correspond closely to differences in attainment, and are opposed to allowing their students to try their mettle on any question which involves material that they have not specifically "had." A complete

examination program would naturally include both progress or diagnostic tests, of which the items are selected from the materials which the pupils have "had"; and achievement tests, made up of material ranging from simple to difficult and covering the whole span of the high-school program or of the first two years in college.

The truth of the first of the five foregoing statements is almost equally a matter of common knowledge. To be sure, the absence in most testing programs of specific measures of oral and aural skills is explicable in large part by the difficulty of constructing tests for this purpose. But even in the case of students whom we meet every day, whose oral and aural skills we test constantly, we rarely give any systematic weight to this element when assigning a grade. Professor Ford[7] found that in the Montreal schools, where oral proficiency is considered important and is, theoretically, graded separately, "grammatical knowledge is clearly the most important factor in determining the oral mark."

Furthermore, few examinations contain a representative test of vocabulary as such. Almost every item of conventional examinations makes some contribution in this direction, but these provide usually only casual samplings of narrow scope. Most teachers of modern languages will agree that poverty of vocabulary is probably *the* major handicap of our students, whether for reading or for oral and written expression, and that the principle of "usefulness" as a guide to the choice of vocabulary, which first came to public attention through investigations by educators of ways of accelerating progress in learning to read and to write English, is of capital importance. A number of the new textbooks in the modern

[7] *Modern Language Instruction in Canada*, Part II, Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, vol. VI. Toronto University of Toronto Press, 1928, pp 837–46.

language field offer evidence in support of this statement and provide means for a more systematic application of the principle,[8] which, however, is rarely reflected in examination papers.

It is also true, paradoxical as the statement may seem, that few modern language examinations test reading ability, except in an extremely narrow sense of the word. A passage, chosen somewhat casually, to be translated into English is a familiar device. If this passage happens really to represent in vocabulary and idiom, in form and in content, the work of the class, it has testing value; but how often is the passage chosen subjected to an analysis on the basis of such criteria? In some cases, teachers propound questions on the content of a passage instead of requiring a translation. Such a procedure has the advantage of putting the student more nearly in the normal attitude of a reader, and permits also of setting eight or ten passages, each with appropriate questions to be answered in the mother tongue. This alone is of value, providing, as it does, a more nearly adequate sampling of the student's reading power with different types of texts which may present a fairly wide range of vocabulary, idiom, and grammatical phenomena. Such a technique is not often used, partly because teachers doubt its efficacy to measure reading ability, partly because suitable passages are not readily found, and partly, no doubt, because it implies equipment for mimeographing the examination.

It must be noted, however, that even by such a group of passages — understanding of which is tested by questions, as in the Thorndike-McCall paragraph-question reading test in English, or by a multiple-choice device, or by a "best-

[8] See Algernon Coleman, *Experiments and Studies in Modern Language Teaching.* Chicago: University of Chicago Press, 1934, pp 50–88 Current announcements by publishers of textbooks testify to the rapid spread of this idea.

answer" device — the learner's ability to read a story or a book continuously is not tested, nor does the procedure test the rate at which he reads. And surely these two factors are highly important. Even those who maintain that slow, intensive study of brief assignments is the only suitable type of reading practice at the early stages will admit that the desired goal is the ability to read appropriate texts consecutively and at a rate which approaches reading performance in the vernacular. It follows, then, that some attempt at measuring progress in this direction should enter into the testing program.

Proceeding further in our analysis, we observe that the conventional examination tests progress neither in knowledge of the foreign country and its life nor in general growth in linguistic knowledge and understanding as evidenced especially by relatively greater progress in English. The studies of Werner and of Woody[9] tend strongly to discredit the optimistic claims made by modern language teachers with respect to progress toward these objectives. Indeed, we are accustomed to exercise faith rather than knowledge in estimating the progress made by our pupils, both on the cultural and on the linguistic side.

If, then, the conventional examination does not measure on a comparative basis oral skill, or aural attainment, or progress in the acquisition of vocabulary, or in reading ability in any broad sense of the term, what does it test? All teachers know the answer to this question. It tests chiefly knowledge of grammatical forms and usages. And as our class exercises are chiefly concerned with grammatical forms and usages, on the hypothesis that knowledge of these represents power to write and to speak the language, we have developed a consider-

[9] In *Studies in Modern Language Teaching* Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, vol. XVII. New York · The Macmillan Co , 1930, pp. 99–184. See also Coleman, *The Teaching of Modern Languages in the United States*, pp. 95–98.

able variety of useful devices, both for giving our students practice in grammatical forms and usages and for testing their success in learning them.

The papers set by the College Entrance Examination Board are representative. The June, 1931, examination in French, Cp. 2 (Two-year), is made up as follows:

1. A French passage of about 200 running words followed by nine questions in French, to be answered in French. (Three of these are linguistic.)
2. A French passage of about 200 running words to be translated into English.
3. An English passage of about 150 running words to be translated into French.
4. Ten cases in which the proper tense form of a given verb is to be inferred and used.
5. Five cases of missing pronouns to be supplied.
6. Ten cases of giving the opposite or the equivalent of words or of expressions.
7. Three questions involving the treatment of final consonants.

The corresponding German examination contains:

1. Two German passages to be translated into English.
2. One English passage to be translated into German.
3. One German passage followed by content questions to be answered in English.
4. Five sentences in which the proper auxiliary is to be placed, chosen from four suggested forms.
5. Six German words to be used in sentences invented by the candidate.
6. A question asking the student to tell, in German, the names of five interesting places in Germany and why they are interesting.

The corresponding test in Italian consists of:

1. An Italian passage to be translated into English.
2. Ten English sentences to be translated into Italian.

3. Four tense forms of each of five verbs.
4. Nine Italian sentences to be revised, by supplying the proper finite verb form in four and the polite form of the pronouns in five
5. Five substantives related to as many other words.
6. Five cases of syllable division.

The corresponding Spanish examination consists of:

1. A Spanish passage to be put into English.
2. A vocabulary test of 20 words.
3. Ten idioms to be translated into English.
4. Five English sentences to be translated into Spanish.
5. Twenty-five incomplete Spanish sentences to be completed by the proper version of given English words.
6. Ten incomplete Spanish sentences to be completed by suitable forms of given verbs.
7. Five cases of syllable division.

The June, 1933, examinations in the same subjects are of the same general type. It is evident that much ingenuity has been expended in constructing these examinations. There has been an effort to render certain portions more nearly objective in scoring, to broaden the nature of the reading test, and to reduce the rôle of grammatical forms and usages as such. In the German examination, one notes a slight recognition of the cultural aim, and the Spanish test contains a brief vocabulary section. Several of the examinations betray also an interest in pronunciation, perhaps as much as can well be conveyed in a written test. Nevertheless, this group of examinations has, on the whole, the defects noticed above, and even the praiseworthy attempt to provide a valid test of reading power in French is partly nullified by the provision that pupils must write their answers in the foreign language. Furthermore, much depends on the values given by the readers

to the different sections, and the printed copies give no hint of the weightings.[10]

A Suggested Program

The next step in treating the subject is an effort to propose a positive program,[11] with some illustrations. But it may be well, before doing this, to say a word about the rôle of the standardized test, of which a considerable number are now available to modern language teachers.[12] Useful as many of these are, they can hardly be expected to serve the teacher in all testing situations. Their diagnostic value in individual cases is probably not considerable, and teachers will continue for a long time

[10] The C.E.E.B. examinations for 1934 contain, for French, German, and Italian, passages in the language followed by questions to be answered in English. In French, candidates at all levels were required to do this portion, a sort of embryonic uniform test. The Spanish examination, which adheres largely to translation, also contains a section required of all candidates: verb forms and phrases to be translated into Spanish (60 items), comprehension of definitions in Spanish (25 items), a type of vocabulary test (75 items). The Board's modern language examinations are, one would surmise, slowly evolving, although the form that they will eventually take is not clear.

The New York Regents' examinations for January, 1934, are distinctive in containing a "dictation and aural comprehension" section, which occupies one hour of the three and counts for 20 points. Questions on the passage for aural comprehension are to be answered in the foreign language, and credit is equally divided between comprehension of the passage and linguistic correctness. Each error in dictation counts one-half point, the word being the unit. As there are, for example, 82 words in the two-year German test, the scoring must present some difficulties. The rest of this examination consists of translation into English (20 points), forms (24 points), sentence completion (16 points). The examinations for three and for four years follow much the same pattern, except for requiring a 100-word composition in the foreign language on one of two or three topics.

The study by Crawford and Burnham referred to above (p. 268, note 9) raises the question of the predictive value of such examinations in modern languages.

[11] Useful suggestions and illustrations will be found in Florence M. Baker, *The Teaching of French*, chapter VIII. Boston: Houghton Mifflin Co., 1931.

[12] See the article by V. A. C. Henmon in Coleman, *Experiments and Studies in Modern Language Teaching*, pp. 191–218, and the catalogue prepared by the same author, for *idem*, "Analytical Bibliography of Modern Language Teaching," Chicago: University of Chicago Press, 1933, pp. 244–56.

to attempt to measure the success of their pupils in acquiring the specific skills or the knowledge appropriate to a given point in the course. Standardized tests are of particular value at the end of a semester or of a school year. Being provided with norms, they enable the teacher to institute comparisons between the scores of his pupils and those of a large number of others. If administered at the same time to all the pupils in a school or a system, they provide also a basis for ascertaining the amount of overlapping at the various levels and for reclassifying. Furthermore — and this is an important point — they can be of great assistance to the teacher in providing models of various testing techniques which he may apply in the construction of "home-made" tests, and, if only for this purpose, every teacher will find it profitable to make a collection of specimens of the standardized tests now on the market. Professor Henmon's articles, which have been referred to above (note 12), should be consulted in this connection, since they present the most complete account of accessible standardized tests.

1. Oral and Aural Attainment

There are on the market three standardized tests of aural comprehension in French: American Council French Aural Comprehension Test, Forms A, B, C, D, E, by Agnes L. Rogers and Frances M. Clarke;[13] French Test for Colleges: Aural Understanding, by Louise C. Seibert and Ben D. Wood;[14] Lundeberg-Tharp Audition Test in French, Forms A and B, by Olav K. Lundeberg and James B. Tharp.[15] But there are none in German and in Spanish.[16] Consequently

[13] New York: Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1932.

[14] Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Company, 1928.

[15] Columbus, O.: James B. Tharp, Ohio State University.

[16] Messrs Lundeberg and Tharp have standardized similar tests in German and in Spanish, but at this writing these have not been printed.

teachers are virtually forced to adopt some means, however crude, of providing their own tests. The following suggestions may be helpful:

(a) Ask questions in the foreign language on well-known objects, places, persons, taking care to remain within the students' vocabulary limits. The replies are to be written in English.

> Examples: Qu'est-ce qu'un cheval? Est-ce que Paris est en France ou en Allemagne? Qui a découvert l'Amérique?

(b) Display a large chart or picture before the class and make brief statements about it in the foreign language, which the pupils are to mark on their papers as being true or false.

(c) Define or describe familiar concepts in familiar language. The pupils are to show understanding by writing in English the name of the concept.

> Examples: La capitale (*or*, la plus grande ville) de la France. Celui qui a découvert l'Amérique. Ce qu'on porte sur la tête quand on va dans la rue.

These three procedures for testing aural comprehension lend themselves readily to objective scoring.

Another available technique for testing aural comprehension is to select a passage in the language of from 100 to 200 running words in length. Make sure that the vocabulary is within the limits of the pupils' experience. The passage should be narrative in character — a suitable anecdote would be best. Read this aloud to the class. Then have the class write their version of the story in English, or answer in English (written) two or more questions put orally in the foreign language and so framed that the answers will show whether the passage has been understood. Such a procedure should provide a rough score of aural comprehension. This test should be adminis-

tered on one or two days preceding the time allotted to the written examination.

To obtain an approximate score on attainment in pronunciation, have each member of the class, during a period of a week or so prior to the usual examination period, read aloud without interruption one or more passages similar to the above which call for some skill and some knowledge of the chief phonetic phenomena of the language. In French, for example, this would include elision, linking, phrasing, and such cases as are illustrated by: *plein, pleine; grand jardin, grand homme; deux, j'eus; ils sont, ils ont.*

In the two latter cases a score should be assigned to each pupil, and if the same passages are used at intervals of several months, some rough measure of progress should result. It may be objected that these scores would be, often, the merest approximation. The objection has point, but the probable error would be no greater than at present obtains in scoring the translation and free composition units of the normal examination, for the variations in scoring here are too well known to call for detailed proof. Two equally well qualified instructors, as has been repeatedly demonstrated, may vary as much as 20 to 40 points in grading a translation or a free composition unit; yet the value of such items in the examination scheme is usually taken for granted.

A procedure of this general sort, corrected by the instructor's daily contact with his students, may well be refined as the months go on, provided the instructor takes care to select or to compose suitable passages, to administer this portion of his test in exactly the same way to all his pupils, and to record his judgment of pupil performance with as much care as he devotes to the other aspects of his teaching task. In the case of the oral reading test, especially, the teacher should previously have assigned a value to each sound, or better, to each group

of sounds, and should endeavor to score each pupil as he reads aloud each scoring group or unit. It goes without saying that in classes in which progress in pronouncing and in understanding the spoken word is among the aims of the course, these scores should figure in the total estimate of pupil attainment; and it may be confidently predicted that teachers who endeavor, by trial and error, to develop a technique for testing oral and aural attainment will grow in skill and in ingenuity, and will, by the very fact of making these efforts, definitely stimulate their pupils to desirable growth in this direction.

2. Vocabulary

For many years the problem of acquiring a suitable vocabulary in the foreign language has been prominent in teachers' minds. It is probable that when Comenius published his topical vocabulary of Latin in 1631 under the title, *Janua linguarum reserata*, his choice of a title was symbolic of what most teachers of a foreign language have regarded as the core of their task. The advent of the Reform movement, with its condemnation of lists of words to be memorized — its partisans condemned with equal vigor the memorizing of declensions and conjugations — served in a way to cast discredit on the acquisition of vocabulary except in direct connection with some oral activity. But without discussion of this point, all must admit that progress in acquisition of vocabulary is an essential condition of progress in control of a language. Therefore, any picture of attainment in a language is incomplete without a wider sampling of vocabulary knowledge than we are accustomed to make.

Surely every teacher knows, on the basis of the textbooks used, what vocabulary items and idioms have been presented to his pupils, and, with the aid of recently accessible frequency

counts, which of these words and idioms rank high in usefulness. A vocabulary test and an idiom test of 75 or 100 items, or even more, prepared according to the multiple-choice technique exemplified in the American Council Alpha tests or the Cooperative Test Service tests, are not difficult to make and are very easy to score. The primary sources for data regarding the relative usefulness of words and idioms are, of course, the word and idiom counts developed by the Modern Foreign Language Study. These counts have now been supplemented by the Keniston Spanish list, the Purin German list (both issued by the University of Chicago Press), the French list of the Association of Modern Language Teachers of the Central West and South ("A Basic French Vocabulary," *Modern Language Journal*, January, 1934), and the lists in French, German, Italian, and Spanish printed in *A Tentative Syllabus in Modern Foreign Languages* (see above, note 3). Teachers may also wish to utilize from their particular courses items which play a sufficiently prominent rôle, although items that do not appear in these lists are rarely of sufficient importance to be included in a test.

Teachers who reject on principle such a test involving isolated words may prefer one consisting of sentences in the foreign language, each of which includes a word or idiom. The pupils must indicate the meaning of the word or idiom by choosing, from four or five possible items in English or in the foreign language, the one that comes nearest in meaning.

Example: Nous partirons *demain*.

today	aujourd'hui
at once	immédiatement
tomorrow	hier
hurriedly	le jour qui suivra celui-ci
yesterday	le jour qui a précédé celui-ci

It is naturally more difficult to provide suitable foreign words or equivalents, while at the same time remaining within the assigned vocabulary limits.

Other techniques are also available for idiom and vocabulary tests. The familiar "recall" type, in which the foreign equivalent for an English word or expression is to be given, or the English equivalent for a foreign item, has the double disadvantage of not being objectively scorable in many cases, and of requiring more time for the same number of items. A useful variation of the recall technique is to give in the foreign language, or in English, a sentence from which a word or expression has been omitted. The pupil is to supply the proper word, either by inference alone or by selecting the nearest equivalent from a group of items. Examples are:

A. Pour voyager autour du monde on a .... d'argent.

1) Pupil by inference supplies *besoin*, or,

2) Pupil selects from beaucoup
besoin
trop
lieu

B. To make a tour of the globe one *needs* money.
manque
a besoin de
désire
veut

C. Les parents de la jeune fille sont mes ....
couleurs pères amis

It is possible for students to complete in not more than twenty minutes a hundred-item test of the kinds suggested, in which but little writing is to be done. And if the items are chosen on a difficulty scale, such as is represented by the arrangement of the items in Part II of the French and the Spanish Word Books, taking every fifth or eighth or tenth

item, but avoiding obvious cognates, the range of the pupil's vocabulary will be tested far more searchingly and fairly than in the conventional examination.

It may not be out of place to add that the kinds of test proposed, except the English-foreign language form of the "recall" type, measure above all the "recognition" or "passive" or "receptive" vocabulary, that is, the vocabulary for reading, the exact relationship of which to the vocabulary readily available in speech and in writing is unknown.[17] But there is a relationship, quite certainly a positive one, and it would seem rather short-sighted not to take advantage of this relationship even though we may be unable to propose a variety of procedures for testing "active" or "productive" vocabulary directly.

3. The Cultural Element

We have canvassed some of the possibilities of testing with reference to at least three of the various aims which our conventional testing program does not take into account. A fourth is the so-called cultural aim. In the first place we hope that our modern language pupils will have a sufficiently increased interest to enlarge their stock of information by noting in the newspapers, magazines, and books they read, in the conversation of their associates, and in their other studies, informing or enlightening items bearing on the foreign country. They may also be led to read illustrative books in English. But all this must be reinforced by some purposeful and systematic utilization of what is contained in the course itself. Unfortunately, few attempts have been made to formu-

[17] A tabulation of the vocabularies of seven "conversation manuals," prepared by Frenchmen for Americans, yielded a list of only 161 items common to the seven books. Of these, all but one had previously been included in the list entitled "A Basic French Vocabulary" (see above, p. 306) by the committee designated to draw up that list, and that one word is — *oie*!

late a canon for this aspect of the course at the different stages. What minimum of knowledge of France, Germany, or Spain — the country, the people — should we expect after two years of the language? What should a third year add to this? For thirty years, most beginners' books have contained views of Paris or of Berlin or of Madrid, pictures of cathedrals and short reading exercises that convey some information about geographic or other aspects of the country. The market is full of "daily life" books and elementary historical reading matter, but the subject matter of such books varies from one to the other, the material is used sporadically, and there is danger of its producing a "baby Baedeker," or a sort of course in history and geography to be studied as such.

The studies by Gilman and Kurz in French and by Van Horne in Spanish [18] have shown conclusively that the literary texts read in French and in Spanish classes cannot be relied on to present any definite information or judgments in the "cultural" field, and there is no reason to believe that the situation is different in German. Consequently, teachers should first draw up a *modest* outline — and the adjective must be emphasized — of what they consider the minimum essentials for the course in hand, basing the outline on the textbooks in actual use, on the material in English, if any, which they expect their pupils to read, and on the information and the comments which they themselves intend to provide. The danger is, of course, that they will be over-zealous, and the results of this may be almost worse than the present casual attitude, or even than substantial neglect.

An outline of this sort will be useful to the teacher as a point of departure, but few of us can foresee precisely what we shall do in class. Consequently, the outline must be revised and

[18] In *Studies in Modern Language Teaching*, Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, pp. 225–63.

filled in as the days and weeks pass, until, at the end of the year, it has become the kind of bird's-eye view of the foreign country which is appropriate to the class in hand. In such a bird's-eye view for beginners, some very elementary historical and geographical data will appear; there will be glimpses of a few striking human figures and their deeds, of a few notable works of art, such as buildings, monuments, paintings; and the pupils will have had glimpses of the foreign people as they emerged into the light of recorded history and became what they are today. For the more advanced classes, this minimum will be added to in suitable proportions, until the teacher has developed a modest conspectus, or a little pamphlet, which records truthfully the specific information and judgments that have formed an integral part of the modern language course.

Needless to say, these topics would not be presented formally, in a series of lectures, but as the occasion arises; and the occasion *must* arise. The teacher should take notes so as to have an inventory of the points covered in a year or a semester. Otherwise he will not know on what topics he may ask questions when the time comes to set an examination.

Since most of what the pupils acquire in this field will be informational in character, the examination questions may readily take the objective form, calling for a check or a choice between items. Furthermore, as most information must be conveyed orally through the medium of English, the questions should preferably be in English, although the inevitably greater ease with which students read a foreign language as compared with their ability to understand it and to speak it will admit of some freedom in this respect, provided they are allowed to write their answers in English, when writing is required by the technique adopted.

4. Reading

The problem of how to test the reading ability of pupils at any stage is, in many respects, one of the most difficult, and this fact explains in part the deficiencies in the conventional examination which have been noted above. Experience has shown that correlations between reading ability and vocabulary scores are higher on the whole than between reading ability and any other language ability as measured by tests that have been administered on a large scale.[19] But the tendencies, as evidenced by the data now available, are not pronounced enough to absolve teachers from the obligation of measuring reading ability more accurately than is commonly done. On the other hand, Henmon's study of the correlations between teachers' marks and attainment in the various abilities, as measured by the American Council Alpha tests,[20] shows clearly that reading ability usually plays a definitely smaller rôle in determining class standing than knowledge of grammar, thus indicating that the grades given by teachers in the United States have a relatively small value as indices of reading ability. Data from Canada cited by Professor Henmon indicate that Canadian teachers take more account of reading ability in grading their students, although in the same volume (pp. 262–66) other data demonstrate that Canadian pupils read French relatively less well than do high-school students south of the border. A satisfactory measure of reading ability should reveal, among other things, both the rate of reading and the degree of comprehension. In other words,

[19] V. A C. Henmon, *Achievement Tests in Modern Languages* Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, vol. v. New York. The Macmillan Co., 1929, pp. 92–97

Frederic D Cheydleur, "Attainment by the Reading Method" In *Experiments and Studies in Modern Language Teaching.* Chicago: University of Chicago Press, 1934, pp. 100–44

[20] Henmon, *op. cit*, pp. 97–103.

it should, if the word "reading" is thought of in its customary meaning, reveal how closely an individual's reading performance in the foreign language approaches the way he reads in the mother tongue. To be sure, one may read a passage in the vernacular in various ways according to the purpose in hand.[21] It is almost certain that, in the great majority of cases, pupil reading in a foreign language is of the "study" type and only rarely approaches the desired norm represented by behavior in reading similar material in the vernacular. But it must also be observed that the pupils' reading experience in the foreign language tends to promote this type of result.

It is evident that the usual reading passage in an examination, whether pupils are required to translate it or answer questions based on its content, throws no light on rate of reading. The efficacy of "speed drills" or practice exercises for increasing the reading rate has been pointed out often in recent years by authorities on the development of improved reading ability in the vernacular,[22] and exercises of this type were used with profit by Michael West in teaching Indian children to read English.[23] These consist of a suitable passage or a group of connected paragraphs on which questions are based. Professor Gates, in the volume already cited, gives an interesting discussion of ways in which reading in the vernacular may be improved (pp. 205–17), and offers specific examples of devices by which comprehension may be tested.

Teachers will find it useful to select for each fortnightly or monthly classroom quiz five to ten short passages, which they

[21] C. H Judd and G. T. Buswell, *Silent Reading: A Study of the Various Types.* University of Chicago Press, 1922.

A. I. Gates, *The Improvement of Reading* New York: The Macmillan Co., 1927, pp. 180–81.

[22] See, for example, Gates, *op cit.*, pp. 206, 227–30.

[23] Michael West, *Bilingualism* Calcutta: Government of India, Central Publication Branch, 1926, pp. 202–15.

think differ in difficulty, and to set as many questions on each passage as seems appropriate. The performance of pupils on each reading test so made up will provide a basis for deciding which of these passages and questions are best suited to the purpose. A record should be kept of the scores on each passage making up the quiz. As a result, the teacher will be able, at the end of the semester or year, to select from the passages and the questions those which have best served the purpose in hand, and thus to construct out of them a final reading examination, the component parts of which have been subjected to a trial administration.

Such a procedure has two distinct advantages. It enables the teacher to eliminate questions which, in the light of experience, have turned out to be ambiguous or which have failed to test understanding of the passage. Most standardized reading tests of the paragraph-question type have been constructed as the result of following this general procedure, only, of course, on a larger scale. Furthermore, administrations of this kind will enable teachers to judge better the relationship of the time allotment to the number of running words in the whole test and to the number of questions. It was found in the case of the American Council Alpha French reading test, which was administered to pupils at all semester levels (1 to 8), that an allowance of about 32 minutes was adequate for a test of seven passages, containing a total of approximately 1000 running words, on which 28 questions were based. Not all pupils were able to complete the test in the time allowed, partly because the passages increased in difficulty and partly because of a slow reading rate. But since the element of speed is an essential factor in reading, it is entirely appropriate that a reading examination should display some power of discrimination in this respect. At the same time, it is clear that an examination which, as in the case mentioned, demands a reading

rate of fewer than 50 words per minute, can hardly be charged with undue "speeding-up."

If a teacher has become sufficiently interested in developing reading ability to devote a specific portion of the class hour to practice in reading and to testing progress — which, unfortunately, few teachers do — the stage is set for a test at the time of the semester examination, which, by utilizing the same sort of technique, will more nearly reflect the ability of pupils to read and understand in the usual sense of the word, in contrast to an exercise in matching equivalents or to a display of grammatical knowledge, such as characterizes a translation exercise. Indeed, while a discussion of the question is not pertinent here, we must take cognizance in passing of a growing conviction among investigators in the field, not only that one cannot measure reading ability through translation, but that regular classroom practice in translation, in order to prepare pupils for a translation test, has a positively deleterious influence on progress in reading, if we are to interpret the word "reading" in its proper sense.

The vocabulary, idiom, and grammar sections of the testing program should throw ample light on attainment in these particulars. If we assume that these are adequately cared for, the only important rôle left to the translation passage is to test (a) whether the pupil is familiar with the similarities and differences between sentence patterns in English and in the foreign language, and (b) whether he is competent to express in his mother tongue what the author has adequately said in his. To anyone familiar with school compositions in English and with school versions of a foreign original, it is clear that the unsatisfactory quality of a translation may easily be due to other causes than inability to read the foreign language. And when, in addition, we take into account the fact that it is virtually impossible to score the translations made by a class

in such a way as to reflect accurately the relative performance of each individual, we are forced to conclude that this method of measuring ability to read a foreign language has but little in its favor.

In order to test the reading ability of grade school pupils in English, Professor Gates devised tests [24] to measure:

1. Comprehension of the general significance of a paragraph.
2. Ability to predict the outcome of events as stated in a paragraph.
3. Ability to understand precise directions.
4. Ability to note details.

Now it is unlikely that the modern language teacher needs specific tests for each of these special purposes. At the same time, he would find it useful, when constructing a reading test, to keep some such analysis in mind so that the questions he puts may measure the pupils' progress.

Since limitations of space forbid a complete illustration, let us take as an example one paragraph from the American Council Alpha French test and suggest questions in conformity with Gates's proposals. The questions may be put in English or in the foreign language, but in the latter case, the vocabulary and syntax must lie within the range of the pupils' experience.

> Un pauvre aveugle n'avait que son chien. Un jour on lui vola ce compagnon fidèle et il resta seul. Il l'appelle: il se sent aveugle deux fois. Un passant s'approche de lui et demande: "Mon ami, qu'y a-t-il pour votre service?" L'aveugle lui raconte son malheur. Le monsieur se met en colère. Il dit: "Je suis juge. Si je peux trouver le voleur, je jure de le faire punir." L'aveugle dit: "Monsieur, la vengeance ne me donnera rien. Je ne veux punir personne. Je vous prie seulement de me faire rendre mon chien."

[24] *Ibid.*, pp. 184–91.

1. Which of these words tells best how the passerby felt?
blind deserted angry joyful

2. Which of these sentences tells what you think happened next?

The dog came back to his master.
The man had the guilty person put in prison.
The gentleman had the police look for the dog.
The man insisted that he must have revenge.

3. Lesquelles des phrases suivantes disent ce qui est vrai?

Le passant est aveugle et sans son chien il se sent aveugle deux fois.
L'aveugle s'approche du passant.
L'aveugle demande au juge de faire punir son chien.
Le monsieur veut faire punir celui qui a volé le chien.
L'aveugle dit qu'il ne désire pas se venger.

L'aveugle veut { punir le voleur. / retrouver son chien. / aller chercher le juge. }

4. Qui se met en colère? Le chien L'aveugle Le passant
Qui parle le premier? Le voleur Le passant L'aveugle

In actual practice the teacher would choose paragraphs of differing types, each of which would lend itself to one of the kinds of testing that he had in mind. He would take care that the actual subject matter be new, but that the paragraph be in harmony with the reading program of the class and contain no words that were new to the pupils; or, if new ones did occur, that they should not be key words to the meaning of the paragraph or should be so used in the text as to be understood by inference. In this respect the teacher who is testing a particular class or classes has an advantage over those who construct reading tests for wide administration in many schools in which course content may differ greatly. It may be added that there is distinct value in a reading test so constructed as

to ascertain whether pupils can understand new words by inference, whether these are or are not cognates.

Before the semester- or the year-end examination has been reached, teachers should have ascertained roughly the reading rates of their pupils in terms of running words per minute. One would expect the rate to be higher in classes reading texts which have a graded "vocabulary burden," that is, a limited number of new words to each 100 running words, than in classes using ungraded texts. If, for example, students have been trained to read in graded texts involving only, let us say, the first 2000 items in *French Word Book*, Part II, and then are tested as to reading power by two such passages as are found in the Cp. 2 French Examination for June, 1933, they will find in the first passage of about 285 running words one word (*au-dedans*) that does not occur in *French Word Book*; five (*fabuleux, ampleur, natal, clientèle, écolier*) which belong in the fifth thousand; one (*héritage*) in the fourth thousand; four (*plaisanter, sud, botte, douzaine*) which fall in the third thousand. It is likely that *douzaine, fabuleux, clientèle,* and *héritage* would be understood by many because of their resemblance to English in form and meaning — the last two have a low merit index in Thorndike — but this is not likely to happen in the case of *botte, au-dedans, sud, ampleur, natal, plaisanter, écolier.* In the second passage, of about 210 running words, to be translated, three words (*geler, boue, os*) belong to the fourth thousand of *French Word Book*; one (*charrette*) to the fifth thousand; and one (*espionnage*) is not found in that list. It is, in a certain sense, a common word, or has been so especially since 1914, but it did not appear in as many as five of the 88 texts which provided the material for *French Word Book.* Consequently, the rate and accuracy of reading as measured by questions on two such passages would vary according to whether the questions asked involve knowledge of

the precise meaning of these words. In this particular case, it is highly probable that the five words in the second passage which we have assumed to be unfamiliar will lower the pupils' scores more than the eleven unfamiliar ones of passage one, because, of course, of the particular demands made by a translation test.

5. Grammar

The devotion of members of the profession to grammar has produced at least one desirable result. Our techniques for testing grammar knowledge are varied and ingenious. The exercises of almost every recent textbook reflect this result.[25] Certain of the types of grammar question proposed by the Committee of Twelve are rarely met with nowadays. Examples from the Committee's "elementary" examinations are:

> Write a synopsis of the conjugation (1st person singular of each tense) of *se réjouir* and *savoir*.
> Write the forms of the demonstrative pronouns.
> Decline throughout the German phrases meaning *the new house, my dear friend.*
> Give the third person singular of each tense in the indicative mood of *bittend, blieb, schlug auf.*

On the other hand, certain kinds of traditional tests of grammar knowledge are still in favor, sentences for translation into the foreign language which bristle with difficulties for the tyro, as, for example, those involving such puzzles in French as "Ce à quoi je pense" or "Ce dont je parle" or "Le monsieur avec le fils de qui j'ai voyagé," and connected passages introducing similar puzzles which are to be translated into the foreign language.

[25] For useful specimens of techniques in constructing examinations in grammar, vocabulary, and "comprehension," see G. M Ruch and G. A. Rice, *Specimen Objective Examinations.* Chicago: Scott, Foresman and Co , 1930, pp 224–48.

Now, even if due precautions are taken about relating the demands on vocabulary and idiom to the pupils' experience, one can still object seriously, on one score at least, to such an examination device as the last. It is virtually impossible to grade the test uniformly unless the teacher takes elaborate precautions, as is done by the readers of the College Entrance Board.

Some examples copied from pupils' papers in a recent second-year examination in German illustrate the point:

1. I cannot wear these shoes; they (demonst.) are not large enough.
   Ich kann nicht diesen Schue tragen; der sind nicht ganz genug. (−1)
2. The street on which he lives is the most beautiful in the city.
   Die Strasse worin er liebt, ist das schönste in den Stadt. (−1)
3. What is the name of the people with whom he lived?
   Was ist die Name von der Laude, womit er liebt? (−1)
4. Some things (manches) she says are true.
   Manches sie sagt, sind rein. (−1)
5. What pieces of music does she prefer?
   Was fur stucke music wunscht sie Lieber? (−⅓)
6. Whoever studies industriously will not fail.
   Wer einzeln studiert, wird nicht — (−⅔)
7. You (Du) who told me that know still more.
   Du, der du das mir erzählen hast, weisst jetzt mehr. (−1)

The numbers in parentheses preceded by the minus sign indicate the deduction made by the teacher on each sentence. The section, valued at 25, was composed of twelve such sentences, and the examiner evidently attempted to give each error a suitable weighting. One has only to compare the deductions on numbers 4 and 6, and to consider that each sentence offers different possibilities of error for each pupil, to realize how vain such efforts are. A variorum edition of the

pupils' translations of sentence number 3, with the teacher's deductions, illustrates the point:

> Was ist die Name der Leute, bei denen er gelebt ist? (−⅓)
> Was ist die Name des Leutes mitwem er lebte? (−1)
> Wie heissen der Leute womit er wohnt? (−⅓)
> Was ist die Name dieses Man bei — er wohnte? (−1)
> Was ist der Name, bei den Einwohnern, womit er legte? (−1⅓)

As every teacher can add dozens of examples each time that he reads a set of test papers which contains a section of this sort, it is unnecessary to insist further on this point. Practice in translating such sentences into the foreign language (although one might object that a sentence like number 7 is too foreign to the pupils' way of thinking, speaking, and writing) has its values in the second year and thereafter, but as a device for examining, little can be said in its favor.

Similar difficulties in scoring arise, of course, when a longer English passage is given to translate, or when "free" composition is called for.

The implication from the preceding paragraphs is that a grammar test should conform rather closely to the type exemplified in the standardized tests mentioned above. Each phenomenon to be tested should be isolated in such a way as to simplify the scoring. The devices for achieving this are numerous and familiar, and specimens are to be found in most school grammars of recent date. Some of them are:

1. Require the pupil to complete a sentence by selecting the correct word from three or more which are proposed:

> Le frère et la soeur sont (parti, partis, parties) hier soir.

2. Require the pupil to select from several proposed forms the form which renders correctly a given English sentence or phrase. Example:

Directions: Draw a circle around the number of the correct translation of the English sentence: He has been here for a week.

1. Il a été ici depuis une semaine.
2. Il est ici depuis sept jours.
3. Il est ici depuis huit jours.
4. Il a été ici pendant une semaine.

3. Require the pupil to supply what is missing or eliminate what is superfluous in order to make a sentence formulate accurately a statement of grammatical form or usage:

1. The possessive adjective does not agree in gender and number with the thing possessed.
2. Reflexive verbs are conjugated with the auxiliary . . . . .

4. Formulate several grammatical "rules," number or letter them, and then ask the students to indicate by the proper number or letter the one of these "rules" that is illustrated by each of a list of sentences or phrases. Example:

1. The future tense form must be used in subordinate clauses when futurity is implied, especially after quand, lorsque, aussitôt que, dès que.
2. The possessive adjective has the gender and number of the thing possessed.
3. A personal pronoun agrees in person and number with the noun for which it stands.

Mon père a perdu sa plume.
A qui cette montre? Elle n'est pas à moi.
Venez me voir dès que vous serez guéri.

5. Require the pupil to shift the words of a given sentence, e.g. the tense or mood of the verbs, the number of the nouns and adjectives, the degree of the adjectives, etc. Example:

1. Put the verbs in the future tense:
Llegamos a una casa de la calle de L. Don José no está en su domicilio.
2. Change to the plural where appropriate:
Soy malagueño. Cuando chiquitín quería ser marino.

3. Replace the infinitive by the proper form of the subjunctive:

Quiero que todos junto (hacer) este viaje.

6. Require the pupil to substitute object pronouns for nouns, to test knowledge of forms and of word order. Example:

Substitute *y* or *en* or personal pronouns for the italicized words: Il demande *la plume à sa sœur.*

7. Give a numbered list of tense names, in English or in the foreign language, and require that the items in an accompanying list of verb forms be identified by the proper number. Example:

1. Present subjunctive	Nous donnâmes
2. Pluperfect indicative	Ils eussent
3. Past absolute indicative	Qu'il boive
4. Past subjunctive	Nous nous étions endormis.

8. Ask for a translation of an English word or expression so as to complete a sentence in the foreign language:

Alonso lee (less than) Vd. se imagina.

9. Require the pupil to select what is necessary to complete a statement in regard to grammatical usage. Example:

Directions: Check in the proper column.

	ser	estar		
1.	—	—	is used to express	an accidental state
2.	—	—		nationality
3.	—	—		ownership
4.	—	—		location
5.	—	—	is used to	form the passive voice
6.	—	—		express a permanent condition

Other devices could be enumerated, but these are sufficient to illustrate the point under consideration. The techniques suggested under items 1, 2, 7, and 9 in the preceding list may

be regarded as testing primarily a "recognition" or "receptive" knowledge of grammar, and are therefore especially suitable to the testing program of the first two years. It is an established fact that examinations which utilize techniques of this sort yield somewhat higher scores than tests in which the pupil must manipulate the language. In other words, such techniques make it possible for the pupils' knowledge to "register" over a wider range of phenomena. Furthermore, such techniques are undoubtedly more in harmony with the kind and the degree of grammatical knowledge possessed by pupils at this stage of language study.

The objection may be made that such situations are artificial, and that requiring a translation of English sentences, so arranged as to put the student entirely on his own resources in using the proper form of expression, is a much more searching test. This objection has weight, but it has been largely forestalled in what has been said above. In the first place, it is well-nigh impossible to score a test of this kind with accuracy, and in the second place, sentences of this sort usually become grammatical puzzles to be solved, and so do not represent anything that the student would normally say or write in the language if allowed to express himself in his own way.

6. Composition

Reference has already been made to the difficulties encountered in scoring "free" compositions and translations of English passages into the foreign language. Differences of 10 to 40 points between scores on the same passage given by different instructors are not uncommon. It is clear also that the same instructor scoring different passages is in danger of varying almost as widely in grading the individual members of his class.

The use of composition scales developed as a part of the test-

ing program of the Modern Foreign Language Study serves to render scoring on "free" compositions more nearly uniform.[26] Professor Ford ascertained that, if students in advanced classes are required to select two subjects for ten-minute compositions out of four proposed, and if these are scored with the aid of a composition scale, the resulting scores are much more reliable than if teachers read the compositions, noting all the errors, and then attempt to assign a value to each error or to estimate a suitable deduction of a given number of points for the total number of errors. He found, also, that extremely reliable individual measurements may be arrived at by requiring such compositions on four out of eight possible subjects. The two experimental groups in this case were made up of students who had taken French for five and for six years respectively. The two groups of subjects were:

A

1. A friend has asked you to go to the theater. Explain why you cannot go
2. The French book that you enjoyed most during your first year.
3. The first week at the university.
4. An exciting adventure.

B

1. The advantage of a knowledge of French.
2. A scene or happening in domestic life.
3. A scene or happening on a journey.
4. The city of Toronto.

[26] *Modern Language Instruction in Canada*, I. Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, vol. VI. University of Toronto Press, 1928, pp. 506–31.
V. A. C Henmon, *op. cit.*, pp 34–62.
Frederick S. Breed, *Studies in Modern Language Teaching*, pp 187–98.
H. E Ford, *ibid*, pp. 201–10.

As readers who are familiar with the use of a composition scale know, the scorer, instead of marking each error in the composition, attempts to judge its *general merit* by comparing it as a whole with the different specimen compositions of the scale, which have been ranked in order of merit as the result of an elaborate procedure based on the judgment of experts; and by giving it the rank order of the scale passage to which it is nearest in general quality, under which term should be included length, extent and appropriateness of vocabulary, spelling, conformity to grammatical usage, and the like.[27]

It appears to have been the custom of such agencies as the Secondary Education Board to assign three or four composition subjects in French from which the candidate is to choose one on which to write 50 words or more, according to the stage of advancement. In the 1933 booklet,[28] one subject is indicated for French I, and three each for French II and III, from which one is to be selected. These are:

French II: Une visite chez un ami.
Mon père.
Une leçon de français.
French III: Un portrait de vous-même: apparence, goût, caractère.
La journée d'un maître d'école.
Une promenade avec mon père ou quelqu'un avec qui j'aime à me promener.

It is evident that to adopt the plan which Professor Ford's investigations found to be most satisfactory, the time allowance for the composition section must be a minimum of 20 or

[27] The composition scales in French, German, and Spanish which were developed by the Modern Foreign Language Study form a part of the American Council Alpha tests, which are published by the World Book Co., Yonkers-on-Hudson, New York.

[28] *Definition of the Requirements for 1934, with the Examinations for 1933.* Office of the Board of Secondary Education, Milton, Massachusetts.

of 40 minutes, according to whether the pupils are required to write on two out of four subjects, or on four out of eight.

While the illustrations given here are based on tests of writing ability in French, it goes without saying that the same principles are applicable to German and to Spanish.

In the opinion of the Committee responsible for this chapter, tests of ability to compose consecutively in the foreign language are more appropriate at the third- and fourth-year levels than earlier, and, if an adequate sampling is desired, may well occupy a class hour prior to the period allotted for semester- or year-examinations.

7. General Linguistic Knowledge

Nothing has been said so far about testing the students' increased knowledge of language in general, and especially of the English language. The content of such a test will, naturally, depend on the treatment of this topic in class. In French and in Spanish, the use of prefixes and suffixes promptly suggests itself: *-ment* and *-mente* to form adverbs; *im-* with the same value as in English; *-eux* and *-oso* in adjectives with the value of English *-ous*, *-esque* and *-esco* equal to English *-esque*; *re-* with the value of English *re-*.

The numerous cognates in the two Romance languages and in English loom very large. Of these, the less obvious ones are frequently the most instructive. A few such French-English cognates are:

> cheval and cavalier, vendre and vendor, meilleur and meliorate, main and manual, parler and parley, vanter and vaunt, matin and matins, enfance and infancy, deviner and divine (verb), rêve and revery, maison and mansion, pauvre and pauper, colère and choler, atteindre and attain, corps and corpse, courant and current, divers and diverse, doigt and digit, école and school, environ and environs, étage and stage, façon and fashion (way), faute and fault, fou (folle) and folly, gros

> and gross, larme and lachrymal, manteau and mantle, mode and modish, morceau and morsel, nouveau (nouvel) and novel, parole and parole, propre and proper, régler and regulate, sauter and somersault, tailler and tailor, terre and terrestrial, vide and void, caisse and cash, prévenir and prevent.

Since these French words are found in the "Elementary" word list of the New York State syllabus referred to above, and all but one (*vanter*) in "A Basic French Vocabulary" (*Modern Language Journal*, January, 1934), it is evident that the teacher of French does not have to ransack the dictionary in order to find material for the purpose in hand.

Examples of the relationship of English to German, both in word formation and in cognates, are so numerous as to be almost embarrassing.[29] Indeed, the danger here is no less than the danger already pointed out as confronting the teacher and the examiner with respect to the "cultural" element. The content of the foreign language course must not be converted largely into an assemblage of facts drawn from history, geography, literature, and the like, nor should it become to a considerable degree an elementary course in comparative linguistics. But if development of a knowledge of linguistic relationships is a valid and desirable objective, as virtually all pronouncements on the subject agree, specific material must be utilized to promote progress toward it, and it is only reasonable that the progress made should be measured as a part of the general accomplishment.

One obvious procedure in doing this would be either to give a list of suitable foreign words chosen from the class list and to

[29] German grammars often provide material See, for example, the vocabulary of E Prokosch, *Deutsche Sprachlehre*, Holt, 1930, Peter Hagboldt and F. W. Kaufman, *Lesebuch für Anfänger*. Chicago University of Chicago Press, 1930.

See also Peter Hagboldt, *Building the German Vocabulary* Chicago: University of Chicago Press, 1930, pp. 71.

ask for the English cognate, or to do the reverse. Or one might follow the example of Woody and Hootkins in the study on growth in vocabulary by students of French, which has been referred to above, and give a series of English sentences each containing a cognate, the meaning of which is to be indicated by the pupil. Two examples:

Manually, he is quite capable. { usually / as an athlete / mentally / naturally / with his hands

Everyone agreed upon a *parley*. { auction / conference / execution / game / trial

Or one might ask pupils to identify all the cognates to be found in one of the passages assigned in the reading test. Or one might call for a differentiation between pairs of cognate forms and their current meanings. Illustrations of this are:

mansion — maison; harvest — Herbst; alumnus — alumno

Tests of knowledge of the uses of prefixes and suffixes in the different languages are readily constructed.

Finally on this topic, a word of warning to those teachers who overrate the familiarity of pupils with their mother tongue and who lean heavily on cognates as a key to the foreign language, only to discover, to their dismay, that the vernacular word is often almost as strange to their pupils as the foreign word. The investigations of Limper and of Dale [30] make it clear that it is easy to assume too much in respect to the know-

[30] Louis H. Limper, "Student Knowledge of some French-English Cognates," *French Review*, VI (November, 1932), pp. 37–49; Edgar Dale, *Familiarity of 8000 Common Words to Pupils in the Fourth, Sixth, and Eighth Grades.* Bureau of Educational Research, Ohio State University. Unpublished.

ledge of slightly uncommon English words possessed by very many pupils. Teachers can protect themselves from this danger, at least in part, by making sure that the vernacular words have a fairly high merit index in a standard English word list. As an illustration, we may note that the English cognates of the two French words *clientèle* and *héritage* which were referred to above (page 317) rank low in Thorndike's *Teachers' Word Book.*

If we now attempt to suggest the component parts of an actual semester- or year-end examination, we must assume that few schools allow more than two hours for this purpose. A two-hour period would allow some such program as the following:

1. A 100-item vocabulary and idiom test by a multiple-choice or some other quick-answer technique, 15 to 20 minutes.
2. A 50- to 75-item grammar test, similarly devised for quick answers, 30 to 35 minutes.
3. A test of information and judgments about the foreign country and people, constructed for short answers, 10 minutes.
4. A reading test of eight to ten passages, with four to eight questions or problems under each passage, 50 to 60 minutes.

Such an exhibit reinforces what has been indicated above; namely, that provision must be made prior to the examination period proper for measuring pupil progress in oral and in aural abilities, in speed of reading, and in composition. In schools in which even less than two hours is allotted to regular examinations, such an examination as is proposed above may be administered in suitable sections on two or even on three successive days. The important consideration is, of course, that pupils should be adequately tested as near as possible to the end of a scholastic time unit rather than that the test should come on a given day.

The distribution of the examination time as suggested above is probably more appropriate for first- and second-year classes than for more advanced groups. In the latter case, when attainment of the reading attitude has once been ascertained, teachers may well prefer to give a larger relative share of the time to items 2 and 3, and to tests of ability to write in the foreign language. But because of the importance of measuring progress toward reading ability, and in view of the virtual futility for that purpose of the conventional examination, the time allotted to that test unit in the preceding proposals is most certainly not out of proportion.

It has already been suggested that the practice exercises for improving the reading rate, if timed with fair accuracy and checked by content questions, provide the best means both of developing and of measuring speed. Not all the members of a given class will need to be included in all the practice exercises, because some will have become efficient before the others; but all should be included in the exercises specifically designed to test speed as the end of a scholastic period draws near.

Perhaps the chief emphasis in what precedes has been placed on examinations to be administered at the end of a semester or a year, and perhaps these are the most difficult to construct in accordance with the principles laid down in this volume. Ideally, all such examinations should be constructed in harmony with the course of study by, or with the aid and advice of, the research bureau of a school system, or by a committee of teachers who have carefully studied testing procedures. Individuals who see fruitful possibilities in these pages are urged to try out repeatedly in brief daily, weekly, and fortnightly quizzes the principles and techniques suggested. The practice thus gained in choosing materials and techniques will stand them in good stead when devising longer and more important examinations.

CONCLUSION

In closing this enumeration of the various ingredients of a testing program designed to present a more accurate picture of the progress of students toward their objectives than is provided by the conventional examination, it is well to emphasize what has already been suggested. The chief effort at the stages of modern language study with which we are chiefly concerned must be to acquire knowledge of and skills in the language itself. Consequently, the portions of the examination devoted to testing progress in the "cultural" aspect and in comparative linguistics, including growth in knowledge of English, should occupy a subordinate rank as compared with the other portions, in harmony with the relative amount of time devoted to the various topics in the classroom.

An uncritical reader might hastily and erroneously infer from what precedes that testing in modern languages is more defective than in other subjects, and that the poor classification of students referred to above is peculiar to this field. The data given by Professor Gates [31] with respect to (a) the percentages of failures in grades 3 to 8 caused by deficiencies in reading English, and (b) the wide variations in reading ability in English in six New York schools, provide evidence of equally great disparity in the attainment of such a fundamental aim as the ability to read with comprehension at a fair rate of speed in the vernacular. It has been shown also that many college students are handicapped by poor attainment in reading ability.

Modern language teachers have not, on the whole, been more unsuccessful in measuring the results of their teaching

[31] *Op cit*, pp. 4–6, 199–200. Cf. for mal-classification in physics, Ben D. Wood, "The New York Experiments with Modern Language Tests," *Publications of the American and Canadian Committees*, vol. I. New York: The Macmillan Co., 1927, p. 185.

than their colleagues in other subjects. But when confronted by the state of affairs prevailing in their own field, they cannot afford to console themselves by contemplating equally inadequate efforts to measure attainment in other departments. It should be evident that more thought ought to be given to an analysis of the testing program and its relationship to the aims and the content of the course, that more effort should be expended on the construction of the tests themselves, and, finally, that good testing is an integral part of good teaching.

QUESTIONS FOR DISCUSSION

1. What is the relationship between the aims of a modern language course and the examinations set at the close of a semester or a school year?
2. What relationship exists between the conventional testing program and the state of affairs set forth in the works referred to on p. 293, note 5?
3. Reword the five statements on pp. 294–95 so as to make them affirmative instead of negative (e.g. "all examinations . . . test progress in . . .")
4. Assume that the statements in this new form should become true. What changes would *ipso facto* result in the modern language field?
5. Secure copies of recent examinations set by the C.E.E. Board and the New York Regents. Analyze them, and compare the results with the analyses given on pp. 299–300.
6. To what extent are these examinations free from the deficiencies enumerated on pp. 294–95?
7. What difficulties does one face in making tests of ability: (a) to understand the foreign language aurally; (b) to pronounce the language satisfactorily; (c) to use the language in speech?
8. Why is it possible for a teacher to judge more effectively of the aural and oral progress of a class than for someone who must rely entirely on the results of a test?

9. Endeavor to draw up lists of the phonetic phenomena in your principal language on which it would be appropriate to test pupils at the end of the first, the second, the third years of study.
10. Using the techniques suggested in paragraphs a and b (p. 303), make two specimen ten-item tests of aural recognition.
11. Examine as many vocabulary tests as you can assemble (standardized tests, classroom tests) and report (a) on the character of the words chosen, (b) on the techniques used by the authors of the tests.
12. Using a first-year or a second-year textbook, make five ten-item vocabulary tests, exemplifying the five techniques described on pp. 306–07.
13. On the basis of the content of a given course of study (grammar text and readers) for a given semester or year, make a list of the "cultural" items which appear.
14. Consult the article by J. B. Tharp, *French Review*, VIII, 4 (March, 1935), 283–87, and chapter VIII of Florence M. Baker, *The Teaching of French* (Houghton Mifflin, 1931) as a point of departure in making an examination with the materials so gathered (no. 13 above).
15. What disadvantages are inherent in measuring ability to read on the basis of an English translation of one or two passages in the foreign language?
16. Study the discussion by Professor Gates of testing reading ability in the mother tongue (see the reference on p. 315) and point out the ways in which his procedures apply to a foreign language.
17. Select four appropriate passages from the reading texts of a given course, and utilize for each passage one of the testing techniques illustrated on pp. 315–16.
18. With these same passages, make a reading examination using the paragraph-question technique as in the American Council Alpha tests.
19. Construct a variant of this test by the use of the "best answer" technique. See Baker, *op. cit.*, p. 221.
20. If you have access to classes in the foreign language for ex-

perimental purposes, make an attempt to ascertain the pupils' reading rate. Select an unfamiliar passage of about 250 running words in length, ask each pupil to read this silently and to raise his hand and close his book when he has read the passage so that the time elapsed may be noted. At the end of five minutes direct that all books be closed and ask the pupils to write the answers to questions previously written on the board but hidden by a map or a newspaper. A passage of this length would be suitable for a five-minute test during the second semester. A more advanced group should have a longer passage or a shorter time allowance, say 3 or 4 minutes. The passage, while unfamiliar, must be written in a familiar vocabulary. Administer such a test fortnightly during a semester, utilizing for the last test, the one first administered. Plot the curve of progress in terms of running words per minute, and of the percentage of correct answers to the questions.

21. On pp. 320–22 are illustrated nine techniques for constructing objectively scorable grammar examinations. Make a group of five-item grammar examinations which exemplify these various techniques.

22. What are the weaknesses of *testing* knowledge of grammar by having pupils translate English sentences or passages into the foreign language? What are the virtues of such exercises for *teaching* purposes?

23. Secure a half-dozen or more "free" compositions written by pupils. Have copies made, and, in collaboration with several members of your class, have each collaborator grade these papers in the usual way. Then, after an interval of several days, have each collaborator, or a different group of collaborators, score them with the aid of the appropriate composition scale belonging to the American Council Alpha tests, and compare the scores so arrived at. This should be done in the case of several sets of composition. No marks should be made on the papers, and collaborators should work independently after making sure that all understand the problem and will proceed in the same way. It would be well to read the articles by Ford and Breed (see p. 324, note 26). Which grading procedure yields the more nearly uniform results?

24. Assemble from a given text a list of the less obvious cognates as illustrated on p. 326, and construct a group of tests of five items each in which you exemplify the techniques presented on p. 328, and any other techniques which you devise yourself.

25. Make a list from a given textbook of the prefixes and suffixes so commonly used in the vocabulary of that text that pupils should learn their values and be tested upon them.

26. Of what units would a complete battery of tests of progress in a modern language be composed?

27. Study the Spanish test given in Ruch and Rice, *Specimen Objective Examinations*, pp. 229–34. Utilizing the same techniques, make, on a reduced scale, a similar examination, covering three or four lessons of a first- or a second-year book. Not all portions of the examination can be adapted for French and for German.

28. In constructing a reading test of the "paragraph-question" or "best answer" type, there is always a possibility that ingenious pupils may be able to give the right answers without having read the passages. They can do this by inference from the general character of the questions or statements, or from the phraseology of the erroneous responses, or because the questions or statements are so detailed and follow so logically that one item gives a clue to a preceding item, etc. For example, in the Spanish Reading test in Ruch and Rice, pp. 238–41, there are 40 items based on a brief passage, pp. 236–37, which entails a very close analysis; and without looking at the Spanish text, one could hardly miss numbers 4, 5, 6, 8, 11, 12, 13. Try out all items in the test in the same way, mark your score, and compare it with the key on p. 247.

29. Similarly, one can answer correctly the first question on p. 244 of Ruch and Rice with the aid of question 2, and with the aid of question 6 one can answer correctly questions 4 and 5, and probably question 7. Examine all the items of this test in the same way, and check your score by the key (p. 248).

30. Select a passage of 100 to 150 running words and construct a test according to the technique exemplified on pp. 244–47, of Ruch and Rice, but much briefer. Then have a classmate sub-

ject your examination to the same kind of scrutiny as above. Compare the reading tests constructed according to nos. 18 and 19 above.

31. If the examination program outlined on pp. 329-30 is in your judgment and experience impracticable for the school situations with which you are familiar, make up a program that will be more appropriate. Defend your position.

32. Read in *Modern Language Journal*, *French Review*, *German Quarterly*, *Hispania*, *Bulletin of High Points* (New York City) the articles that have appeared since 1932 on making examinations and summarize what you learn from them.

33. Secure from several schools in your vicinity specimens of their semester examinations. Report on the techniques employed and on the aims which the makers of these examinations appear to have had in mind.

CHAPTER VII

EXAMINATIONS IN MATHEMATICS

THIS chapter must not be considered an isolated and self-contained unit. It is intimately related to its wider context, and takes much of its meaning from that context. More particularly, it has to do largely with specific applications, in the province of mathematics, of those broader rules and principles laid down in Chapters II and III, and the reader can hope to see the present discussion in its proper perspective only if he has first made himself familiar with that more general treatment of test construction. Throughout this chapter a background of such familiarity will be assumed.

TESTING IN RELATION TO OBJECTIVES

Any discussion of testing procedures must lack pertinence unless it is related to the objectives of instruction. It is essential, therefore, that before proceeding with our subject we turn our attention to the generally accepted aims of teaching in this particular field.

The most authoritative and widely accepted statement of the aims of mathematical instruction is that contained in *The Reorganization of Mathematics in Secondary Education*, the 1923 Report of the National Committee on Mathematical Requirements.[1] The reader is referred to that report for the complete statement and discussion of these aims. We outline them here in the following highly condensed summary:

A. Utilitarian Aims

1. Skill in the fundamental processes of arithmetic.
2. Command of the language of algebra.

[1] *The Reorganization of Mathematics in Secondary Education*, published by the Mathematical Association of America, Inc., 1923.

3. Such knowledge of the fundamental laws of algebra as will equip one to understand and use elementary algebraic methods.
4. Skill in interpreting graphical representation.
5. Familiarity with the geometric forms common in nature, industry, and life. This involves acquaintance with the more fundamental properties and relationships of these forms.

B. Disciplinary Aims
1. The acquisition, in precise form, of those ideas and concepts in terms of which the quantitative thinking of the world is done, and the development of ability to think clearly in terms of such ideas and concepts.
2. The acquisition of mental habits and attitudes which will make the above training effective in the life of the individual: a seeking for relations, an attitude of inquiry, a love of precision, a desire for orderly and logical organization, etc.
3. Training in thinking in terms of the idea of relationship or dependence.

C. Cultural Aims
1. Appreciation of beauty in the geometric forms of nature, art, and industry.
2. Ideals of perfection as to logical structure, precision of statement and of thought, logical reasoning, etc.
3. Appreciation of the power of mathematics.

All these aims are to be interpreted so as to contribute to the general point of view that "the primary purpose of the teaching of mathematics should be to develop those powers of understanding and of analyzing relations of quantity and of space which are necessary to an insight into and control over our environment and to an appreciation of the progress of civilization in its various aspects, and to develop those habits of thought and of action which will make these powers effective in the life of the individual." More specifically, it is urged that "continued emphasis throughout the course must be

placed on the development of ability to grasp and to utilize ideas, processes, and principles in the solution of concrete problems rather than on the acquisition of mere facility or skill in manipulation."

In dealing with the objectives in any field of study, it is frequently helpful to classify them under the general headings "immediate" and "ultimate." Immediate objectives are very directly associated with the actual subject-matter content of courses of study. In fact, to say that a pupil has mastered the subject matter as taught is to say that he has realized the immediate objectives of that teaching. "Understanding of the various methods of proving triangles congruent" will obviously be one of the immediate objectives of instruction in geometry. Ultimate objectives are farther removed from specific subject-matter content. They are superimposed on the immediate objectives and are realized only when the pupil has acquired the power to generalize the knowledge and skills which very largely constitute these immediate objectives. They are, for the most part, in the nature of fundamental beliefs, attitudes, appreciations, ideals, and methods of thinking and reacting in general. For example, an ultimate objective of instruction in geometry is the development of an appreciation of logical organization. Almost any skillful teacher, if working under favorable conditions, will achieve satisfactorily the immediate aims of instruction; only those with the broader vision will aim for and satisfactorily achieve the ultimate objectives.

If we study the aims of mathematical instruction as enumerated above, we shall see, as we should indeed expect, that those in the utilitarian group are largely immediate aims, while those in the disciplinary and cultural groups must properly be considered ultimate aims. Important as these ultimate aims may be, it is obvious that they are highly idealistic and intangible in character. They can be realized only by way of the more

readily attainable immediate aims, and the roads leading from one to the other are seldom clearly defined. The instructional materials now available and in general use are devoted almost exclusively to the development of specific skills and abilities, and current methodology is quite silent with reference to techniques for achieving disciplinary and cultural outcomes through the agencies of such materials. Courses of study may urge on the teacher the importance of ultimate objectives, but they offer him little direction in the manner of their attainment. The teacher has no authoritative guide to point out a workable approach to such problems as those of developing an appreciation of beauty, inculcating ideals of perfection, or establishing a desire for orderly and logical organization: so he contents himself with working toward more tangible immediate goals. He tries to develop in his pupils an understanding of and ability in the application of those mathematical principles and processes which are presented in the text or outlined in the course of study. He trusts that in the very nature of things many disciplinary and cultural values will accrue, but for the most part he is ignorant of techniques which can be counted on to insure their realization. He is disposed to judge the effectiveness of his teaching by the degree to which immediate objectives are attained, and the tests he devises to measure his success are designed accordingly.

The preceding discussion makes it clear that development in teaching and testing has been largely related to the immediate objectives. It is nevertheless very important that success in the attainment of all recognized objectives be evaluated if that can be done successfully. Various experiments are making progress in the direction of evaluating less immediate objectives, such as those related to fundamental processes of reasoning, and those expressed in terms of attitudes and habits. It must be recognized, however, that important as are the ap-

preciations, habits, attitudes, and generalized thinking processes, it is not yet possible to suggest to teachers any generally satisfactory methods of testing progress in establishing them. It is nevertheless important that teachers shall follow the work being done in this field, and shall themselves experiment with methods of evaluating the attainment of what they consider important ultimate aims. So if, throughout this chapter, we seem to pay inadequate heed to the disciplinary and cultural aims of instruction, it must not be assumed that we fail to appreciate their importance or that we condone the lack of emphasis upon them.

TRADITIONAL AND NEW-TYPE TESTS IN MATHEMATICS

In any treatment of testing techniques, one of the main points for discussion will be the relative merits of traditional and new-type examinations. Although this matter has been dealt with in a general fashion in other sections of this manual, it is probably advisable to review the ground briefly with particular reference to measurement in mathematics.

One of the advantages which new-type tests claim to enjoy over traditional examinations is their objectivity. They are scored by use of a key, and if directions are accurately followed the scores are unaffected by subjective factors. This consideration is often of paramount importance. In the case, for instance, of standardized tests designed for use in a wide variety of situations with the results to be interpreted against established norms, objectivity is absolutely essential; and quite as necessary in mathematics as anywhere else. It is often assumed that because of the very nature of the material, the scoring of mathematics papers of any sort must inevitably be more objective than the scoring of papers in most other school

subjects. There is probably some ground for such an assumption if one has in mind the ability of a teacher to estimate the relative merits of a number of test papers, but there seems to be little basis for it if he has reference to the likelihood that a number of different teachers will arrive at close agreement on the marks to be awarded to any particular paper. While the teacher of mathematics may be able to apply, fairly objectively, his own private standards of scoring, these standards probably differ from the standards of other mathematics teachers as widely as they would differ among teachers in any other subject. This was clearly demonstrated in an experiment reported in 1913 by Starch and Elliott. The same geometry paper was scored by 114 geometry teachers. The marks assigned ranged from 28 to 92, with a quarter of the group awarding scores of 62 or under and another quarter granting scores of 78 or over. Such results represent the situation with regard to uniformity of standards fairly accurately, and we are left to conclude that if norms in standardized tests in mathematics are to mean anything they must be interpreted against scores derived objectively.

In informal testing the importance of objectivity depends to a considerable extent on the purposes which the tests are meant to serve. If they are to be used for surveys, whether over wide areas or within single schools, with the scoring to be done by a variety of persons, objectivity is just as imperative as it is in regularly standardized examinations. But when, as is usually the case, the informal test is designed for use by a single teacher, objectivity loses a good deal of its importance if the teacher is guided, in his scoring, by a reasonably reliable system from which he is not easily swayed by irrelevant considerations. Such systems are probably devised more readily in mathematics than in most other subjects. The science of mathematics is itself perfectly objective. Answers tend to be

definitely right or wrong, with little room for any middle ground. Processes are carried forward, as a rule, along conventional lines, and such extraneous factors as literary style and conformity to grammatical usages are not likely to becloud the issue. But while, for these and other reasons, the teacher of mathematics has fewer obstacles to overcome than have many others in his efforts to effect reliable scoring, we must not assume that he can therefore afford to scorn the virtues of techniques which by their very nature are completely objective.

A second major advantage of the new-type tests is the convenience with which they may be used to break up the testing material into small units. There is a three-fold virtue in this. In the first place, it makes possible a wider sampling of content, since many more problems can be worked in a given unit of time. In the second place, it affords an opportunity of ascertaining the pupil's understanding of the crux of a problem situation without burdening him with needless computation and manipulation. Finally, it offers better diagnostic possibilities. When a pupil fails in the solution of a long and involved problem, it is often difficult to locate his trouble; but when the examination is presented in small units, the matter of diagnosis is usually facilitated.

New-type tests enjoy a number of additional virtues. They are unsurpassed for certain forms of drill. For the most part, students prefer them to the traditional types of examination. They exist in so many forms that they are unusually adaptable to a wide variety of situations. They hold the student to the particular issue and focus his thinking in the desired directions. They tend to make the teachers who handle them increasingly conscious of the importance of scientific examination techniques. with a resulting elevation of standards of test construction, administration, and interpretation. A final feature,

and one which has done much to popularize new-type tests, is the time-saving they effect in scoring. In subjects such as history or English this may be of considerable importance, especially where classes are large and examinations frequent. It does not, however, constitute a very compelling argument for their use in mathematics, for here the scoring of papers has always been a comparatively light burden. In fact, if the proper care is bestowed on the preparation of new-type tests, the time thus spent by the teacher of mathematics will often be greater than the time saved in evaluating the papers.

It must not be assumed from the foregoing statements that new-type tests are adequate for all purposes. They have their weaknesses and, as far as their everyday use is concerned, they should supplement rather than supplant traditional examinations. Their general use is somewhat limited in several fundamental areas of achievement in mathematics, and there are certain types of objective techniques which have quite serious limitations in the measurement of achievement over specific content or of ability in specific skills.

There are certain purposes for which questions of the essay type are definitely superior to any that have yet been devised in the new objectively scored forms. Among these purposes are those of testing for the organization of information in terms of the student's own generalizations; testing for the student's abilities to make use of the knowledge he has acquired in relatively complex, sustained reasoning situations; and testing for his ability to rationalize the procedures he has employed. It is not feasible to attempt to present and discuss here all of the types of essay questions which may thus be used to advantage. The following examples, however, are indicative of what the teacher can do in testing for outcomes that are not adaptable to objective test forms now in use.

1. Make as general a statement as you can concerning the conditions necessary to prove two triangles congruent.
2. Under what conditions is a quadrilateral known to be a parallelogram?
3. What ways do you now know by which two angles can be proved equal? unequal?
4. Which proposition studied this (week, month, quarter, as preferred) seems to you most difficult to prove? Explain why you find it difficult.
5. Show the relation between congruence of triangles and similarity of triangles in terms of the conditions required.
6. How much of a circle is needed to find its center? Why?
7. Give the derivation of "geometry," and explain some need that forced an early civilization to discover the rudiments of this science.
8. Write a short account of the contribution of Euclid to geometry.
9. What limitations keep Euclidian geometry from more completely covering a wider range of plane figures in its constructions?
10. What other statements are closely related to "If A is true, B is true"? Which of them follow from this given one?
11. If you have proved the theorem "The base angles of an isosceles triangle are equal," can you conclude that if the base angles of a triangle are equal, the triangle is isosceles? Explain your answer completely.

SUGGESTIONS FOR TEST CONSTRUCTION

The general and specific uses of new-type tests will be discussed in the following pages. The examples used are drawn only from algebra and plane geometry but should apply with equal force to any subject in the curriculum of secondary mathematics.

Suggestion A

As far as possible, test items should require the application of generalized ideas, processes, and principles rather than the

mere ability to recall verbal statements of relationships, formal rules, or definitions. For the most part, the problem should be presented in a form that differs from the conventional textbook presentation which students often master in a more or less mechanical fashion.

There is little difficulty in satisfying this principle in algebra as far as verbal problem material is concerned. Almost any verbal problem makes reasonably satisfactory demands on generalized ability to handle the processes involved. It is in the simpler, more routine procedures that we must be on our guard. The following examples illustrate various ways in which test items may call for the same very simple operation:

12. Divide $x^2 - 7x + 12$ by $x - 3$
13. $x - 3$ is one of the two factors of $x^2 - 7x + 12$. What is the other factor?
14. By what must $x - 3$ be multiplied in order to obtain $x^2 - 7x + 12$ as a product?
15. What is the quotient obtained by using $x - 3$ as a divisor and $x^2 - 7x + 12$ as a dividend?
16. If the area of a rectangle is represented by $x^2 - 7x + 12$, and the length by $x - 3$, what expression will represent the width?

The first of these items tests *directly* and formally the pupil's ability in simple algebraic division. The other items, while likewise testing this ability, further demand that the pupil be able to recognize that division rather than some other process is called for, and also that he have acquired certain other mathematical information of a general nature. Items of this latter type place a distinct premium upon generalized ability to apply the skills and processes presumably mastered by the pupil.

The available instructional materials in algebra are seriously deficient in the emphasis given to development of the type of generalized ability necessary for success in the last four of the

above items. For this reason the following pairs of test items are presented to illustrate further the important distinction between "formal" and "functional" testing of achievement in this area of mathematics. The first item (a) of each pair is stated in the conventional textbook form, while the second (b), though usually involving the same mathematical process, is rephrased so as to require some generalization or transfer in the application of that process.

17. (a) Solve for x: $\frac{5(x+3)}{2} = 0$

    (b) For what value of x will the expression $\frac{5(x+3)}{2}$ be equal to zero?

18. (a) Solve for n: $n^2 - 1 = 0$

    (b) For what two values of n will $\frac{1}{n}$ be equal to n itself?

19. (a) Graph the equation $3x - 2y = 6$

    (b) If the graph of the equation $3x - 2y = k$ passes through the point (4, 3), what is the value of k?

20. (a) Solve $3n^2 + 5n - 2 = 0$

    (b) For what fractional value of n will the expression $3n^2 + 5n - 2$ be equal to zero?

21. (a) Solve $3x - 7 = 8$

    (b) In the equation $3x - k = 8$, what must be the value of the constant k if 5 is the root of the equation?

22. (a) Simplify $\frac{4a}{2x - y} + \frac{3a}{2y - 4x}$

    (b) The fractions $\frac{4a}{2x - y}$ and $\frac{3a}{2y - 4x}$ may be added together and the result simplified to form a single fraction with $2(2x - y)$ as denominator. What is the numerator of this fraction?

23. (a) Solve for x. $\frac{a+x}{b}=\frac{c+x}{d}$

(b) What quantity must be added to the numerators of the fractions $\frac{a}{b}$ and $\frac{c}{d}$, respectively, in order to make their values equal?

In geometry there seems to be little justification for isolated testing of ability to recall formal statements of propositions, axioms, rules, principles, or definitions. Knowledge of such matters is useful only as the student appreciates and understands them in their applications, and tests should be formed accordingly. Fortunately, this type of functional testing is not difficult to achieve in the field of geometry. Almost any "original" geometric exercise of the traditional sort is functional in nature. The following items illustrate how the same characteristics can be achieved for material in an objective form.

24. The angles of a triangle are in the ratio 2 to 3 to 4. What is the size, in degrees, of the largest angle?
25. What is the number of degrees in an angle that is one-fifth as large as its complement?
26. A circle can be circumscribed about any (1) rhombus, (2) equilateral hexagon, (3) parallelogram, (4) equiangular pentagon, (5) isosceles trapezoid. . . . . ( )
27. Which is the shortest side of the triangle ABC if $\angle A > \angle B > \angle C$?

In agreement with the principle set forth in this discussion, the algebraic notation used in the problem situations should in many instances differ from the usual x, y, z and a, b, c notations of the textbooks. The difficulties experienced by students in high-school physics demonstrate clearly the necessity for more highly generalized ability in the use of mathematical symbols. Many students are so accustomed to thinking of equations in

terms of x, y, and z that they become confused when they meet them in any other dress. Items 28 to 31 are identical in method of solution, yet almost any class will find them varying quite widely in difficulty. The obvious cure for such a situation is plenty of practice with a variety of notations.

28. If $3 = \frac{2}{x}$ then x equals . . . . ( )

29. If $a = \frac{b}{x}$ then x equals. . . . . ( )

30. If $D = \frac{W}{F}$ then F equals . . . . ( )

31. If $e = \frac{5}{K}$ then K equals . . . . ( )

Similarly with geometry. Probably it is even more necessary here than in algebra that we depart from the exact figures and notations used in the textbooks. A pupil will hardly be guilty of following so closely the text in algebra as to memorize, verbatim, the solutions for specific problems, but in geometry this practice is quite prevalent. Pupils whose grasp of geometric processes is very feeble will commit to memory, in complete detail, the proofs of the assigned propositions.

Tests should be designed to discriminate against those who rely on such practices. The illustrative figures and diagrams used should not be exact reproductions of textbook figures but should require generalized ability to recognize basic relationships regardless of the external characteristics of the figures employed. Practically all teachers of mathematics have had experience with pupils who do not recognize two parallel lines as such unless the lines are drawn horizontally or vertically on the blackboard or page. Other pupils may have failed to realize that a right triangle does not necessarily need to be drawn with the right angle at the lower left-hand corner of the figure.

Pupils with such an inadequate understanding may quite readily respond correctly to a test item involving a figure in textbook form, but fail when some variation is introduced. In fact, if the ability to demonstrate a theorem is wholly a product of memorization the mere matter of altering the lettering of a diagram may be sufficient to cause failure. If, in addition to altering the lettering, changes are introduced in the positions and proportions of the diagrams, the difficulty of the problem is still further increased. Many pupils who are able to demonstrate correctly that "the base angles of an isosceles triangle are equal," or that "two triangles are congruent if the three sides of one are respectively equal to the three sides of the other," will fail completely when the problems are presented in the following manners:
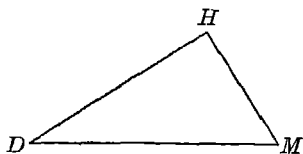
32. In $\triangle HDM$, $HD = MD$.
Prove $\angle H = \angle M$.
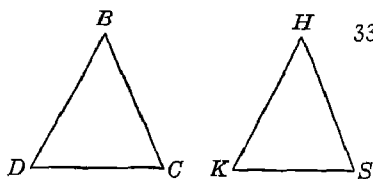
33. In $\triangle$s BDC and HKS, $BD = HK$, $BC = HS$, $DC = KS$.

By placing $\triangle HKS$ so that HK coincides with BD, prove $\triangle HKS \cong \triangle BDC$.

Suggestion B

Some of the more fundamental processes in mathematics do not lend themselves well to measurement by new-type techniques.

This observation applies with particular force in the field of geometry. One of the most important immediate aims in geometric instruction is the development of ability to work one's way by logical sequences of arguments to the proofs of geometric propositions. This ability is fostered by practice in

demonstrating the theorems prescribed in courses of study and in applying these theorems in solving originals.

The measurement of achievement in logical demonstration presents two major considerations to test makers. On one hand the traditional exercise, in which the pupil is asked to present a complete logical proof of a proposition, involves subjective scoring, the unreliability of which has repeatedly been demonstrated. Adequate scoring of such exercises, even by the individual teacher for his own group of pupils, is a task of great difficulty and a practical impossibility for testing programs of school- or state-wide extent. On the other hand, the new-type tests thus far devised, particularly those based on recognition rather than recall, do not measure adequately the ability under consideration. In presenting various new-type devices which test makers have employed, we do so with no intention of setting up these techniques as models of good practice. It is rather our wish to present this situation in its entirety to teachers and test makers alike in the hope that serious attention to the problem involved will lead to further progress in the field of achievement testing.

In the first of these devices the steps of the proof are presented in disarranged order. It is the task of the testee to indicate their proper sequence.
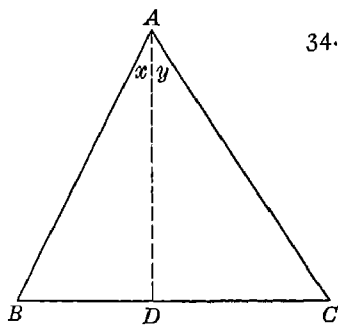
34. Given $\angle ABC$, with $AB = AC$.
To prove $\angle B = \angle C$.

Statements (without reasons) in jumbled order	Correct order of statements
1. $AD = AD$	( ) comes first
2. $\angle B = \angle C$	( ) comes second
3. $\angle x = \angle y$	( ) comes third
4. Bisect $\angle A$ by AD	( ) comes fourth
5. $\triangle ABC \cong \triangle ACD$	( ) comes fifth
6. $AB = AC$	( ) comes sixth

A very obvious fault of such a set-up is the fact that it is almost impossible to find a theorem in which the steps in the proof follow one another in unique sequence. Even in the very simple example above there are half a dozen or more different arrangements which are equally valid, and in longer problems the confusion would likely be so great as to render scoring keys hopelessly complex. A more serious fault is the fact that such a method measures very superficially the ability it should be trying to test. Indicating the correct sequence of presented steps in a proof is quite a different matter from the really fundamental task of developing and reproducing the proof unaided by any cues.

Another device sometimes employed in published tests consists of presenting the demonstration of the theorem with certain steps omitted. The student's ability is estimated on the basis of his skill in filling in the blanks correctly.
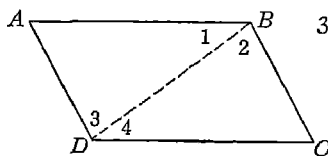
35. Given parallelogram $ABCD$
To prove $AB = DC$

Proof (reasons omitted)

1. Draw DB
2. ______________________
3. $\therefore \angle 1 = \angle 4$
4. $AD \parallel BC$
5. $\therefore$ ______________________
6. ______________________
7. $\therefore \triangle ABD \cong \triangle CDB$
8. $\therefore$ ______________________

This device is an improvement over the one previously presented in that the responses are definitely located. The problem can always be so arranged that the statement to be entered in each blank is rigidly prescribed by the nature of the immediate context. However, this type of item can hardly escape the major criticism that as a means of measuring ability to demonstrate theorems it is a poor substitute for the real thing.

A third device is that of presenting the proof with one unnecessary or wrong step. The student must locate the error.
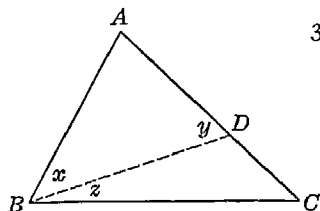
36. Given $\triangle ABC$, with $AC > AB$.
To prove $\angle B > \angle C$.

Which step in the following proof is wrong or unnecessary? (reasons omitted) . . . . ( )

Proof

1. On AC lay off $AD = AB$
2. Draw BD
3. $\angle ABC > \angle x$
4. $\angle x = \angle y$
5. $\angle y > \angle C$
6. $\angle x > \angle z$
7. $\angle ABC > \angle x > \angle C$
8. $\therefore \angle ABC > \angle C$

This device has the virtue of perfect objectivity, but, like the others considered, it yields no very valid measure of the ability it is attempting to evaluate. Ability to discover discrepancies in a presented proof is surely a very superficial indication of ability actually to develop the proof. Moreover, the method is somewhat ponderous, in view of the fact that it

yields but a single response. And if one were to try to remedy this defect by increasing the number of errors, the matter would easily become so complicated as to be quite useless.

A fourth arrangement, and the last we shall consider, is one in which the proof is presented with omissions in both statements and reasons. The student completes the set of statements by filling in the blanks. An appended list of reasons allows him to indicate the correct missing reasons by number.
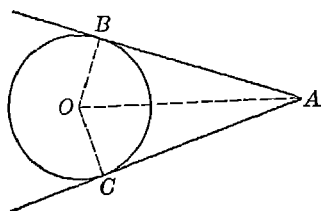
37. Given circle O with tangents AB and AC.

To prove $AB = AC$

Statements	*Reasons*
1. Draw OB, OC, and OA	1. (3)
2. $\angle OBA$ and $\angle OCA$ are rt $\angle$'s	2. ( )
3. ____________	3. (8)
4. ____________	4. (1)
5. $\therefore \triangle OBA \cong \triangle OCA$	5. ( )
6. ____________	6. ( )

Reasons

1. Identity.
2. Two sides and included angle = two sides and included angle.
3. A straight line can be drawn between two points.
4. Corresponding parts of congruent triangles are equal.
5. An angle inscribed in a semicircle is a right angle.
6. The tangent to a circle is perpendicular to the radius drawn to the point of contact.
7. Hypotenuse and leg = hypotenuse and leg.
8. Radii of the same circle are equal.
9. An angle formed by a tangent to a circle and a chord to the point of contact is measured by half the intercepted arc.

This seems to be a more valid measuring device than any of the three preceding ones, although its advantage in this respect is diminished by the fact that it is gained at the cost of considerable complication in the machinery of the problem. The matching process involved is also open to criticism in that the statements given as "Reasons" do not have the homogeneity that is desirable.

It is evident that none of these devices is completely satisfactory as a measuring instrument for ability in logical demonstration. Ideally, this ability should entail a grasp of geometric truths and processes that will enable one to carry through the required work of analysis and organization independently of aid. This is particularly true in the case of originals, where, by the very nature of things, originality and initiative are all-important. The very essence of ability to deal with originals is ability to "see through" the situation, ability to initiate and carry through, unaided, the necessary sequence of arguments. Devices such as those indicated here can hardly be deemed to measure this ability with any real effectiveness. When used in standardized tests they may be regarded as concessions to the necessity for complete objectivity, and they will hardly appeal to the teacher for use in his informal classroom examinations. As far as ability in demonstrating geometric propositions is concerned, he will be well advised to do his measuring through the medium of traditional examinations scored as objectively as possible.

It is important, however, to remember that all geometric problems involving a necessity for logical reasoning, originality, and initiative need not necessarily fall into the conventional classification of "proofs of geometric propositions." Test items of the short-answer type may readily be constructed which cannot be solved by the pupil unless his reasoning is

logical and sustained, even though he is not asked to present an organized demonstration of proof. Such items may also necessitate a quite comprehensive understanding of basic geometric principles and processes. The following examples illustrate the truth of these assertions:

38. Given an isosceles triangle one of whose equal sides is 6. What is the perimeter of the parallelogram formed by drawing parallels to the equal sides from any point P on the base? ( )
39. In the acute triangle ABC, $\angle A > \angle B > \angle C$. E, F and G are the midpoints of sides AC, AB, and BC respectively. What is the shortest side of triangle EFG? ( )
40. From an external point P a tangent PA is drawn to a circle with center at O. PO cuts the circle at B, and AC is a perpendicular from A to PO. How many degrees are there in angle PAC if angle PAB is 25 degrees? ( )
41. A triangle ABC is inscribed in a circle. The bisector of angle BAC intersects BC at P and cuts the circle at D. What is the length of BD if AP is 8 and PD is 2? ( )

Items such as these are admittedly time-consuming but not nearly so much as the traditional exercise used in proving geometric propositions. They have also the virtue of complete objectivity and furnish a fairly satisfactory approach to the measurement of ability in geometric reasoning.

The situation in another very important area in geometry is somewhat similar. There has been developed no wholly satisfactory method of measuring ability to make accurate geometric constructions. It is not that objectivity is altogether impossible, but rather that it is achieved at too great a cost. The student, for instance, might be given some such problem

as the following, with credit awarded on the basis of the accuracy of the measurement recorded:

> 42. Construct an equilateral triangle with sides 6 centimeters long. Construct an altitude. What is its length in millimeters? ( )

This type of problem is frequently employed, and we cannot deny that it is perfectly objective. However, in regarding only the accuracy of the end-result, it ignores one fundamental element in the situation, that is, the process by which this end-result is achieved. It may be argued that an accurate answer is sufficient guarantee of accuracy in the contributory steps. Such a position, however, is hardly tenable. In many construction problems the student can derive acceptably accurate answers by rule-of-thumb methods which completely ignore geometric considerations. In Item 42, for example, with the triangle properly constructed, it is not necessary that the altitude be drawn by the usual processes at all. Almost any line drawn from a vertex to the opposite side in such a manner that it "appears to be perpendicular" will be accurate enough in length to pass muster. The extent to which pupils resort to such rule-of-thumb methods is, of course, problematical but must be considered in constructing items designed to measure directly the pupil's ability to make *accurate* geometrical constructions.

It seems clear, however, that an extensive use of construction problems in general achievement examinations may be readily justified. The inclusion of objective construction exercises in an achievement test in plane geometry has as its function far more than the testing of ability in the unique mechanical skills involved in the actual process of constructing an accurate figure. The original construction of geometric figures requires more of the pupil than mere ability to recognize re-

lationships or to recall facts and principles which may have been learned by rote. It calls for the *application* of these facts and principles in new and original situations, situations which are particularly effective because of their non-verbal character. It therefore places a distinct premium upon a reasoned understanding of geometrical facts and processes and tends to negate the effects of verbalism in learning. In general, test exercises requiring constructions should not be considered as only measures of skill with compasses and straightedge, but rather as comprehensive measures of nearly all aspects of geometry, since they may call into play many of the skills, abilities, or information that may have been acquired throughout the course of instruction.

The following type of construction exercise has been found to be useful in measuring achievement in plane geometry.

> Directions: In each exercise follow the directions carefully, performing each step in the order given. In every case your answer will consist simply of one letter to be written in the blank provided.
>
> Use this scale as directed in each exercise.

P —— | a | b | c | d | e | f | g | h | i | j | k | —— *X*
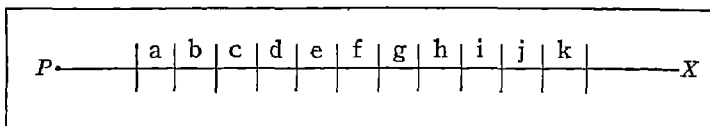
43. (a) Construct a triangle ABC with angle A equal to $45°$ and angle C equal to $75°$. The base AB of the triangle is given below.

    A ______________________ B

    (b) Measure the side AC with your compasses and then lay it off on the scale PX. To do this, use point P on the scale as a center, take the length of AC as a radius, and draw an arc cutting the scale PX somewhere between P and X.

    (c) Which of the segments a, b, c, ... k, of the scale PX, is cut by the arc? Answer ________

44. (a) Inscribe the given angle A in a circle whose diameter is the segment DM.
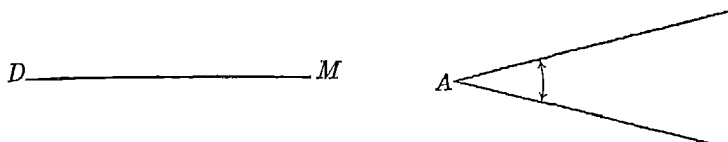
(b) Measure with your compasses the chord of the arc intercepted by angle A and then lay it off on the scale PX.

(c) Which of the segments $a, b, c, \ldots k$, of the scale PX, is cut by the arc?

Answer

45. (a) Locate two points, Q and R, equidistant from the sides of angle BAC and also at a distance d from a given point K.
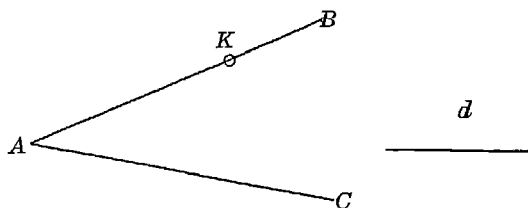
(b) Measure the distance QR with your compasses and then lay it off on the scale PX.

(c) Which of the segments $a, b, c, \ldots k$, of the scale PX, is cut by the arc?

Answer ____________

Pupils taking such a test should be instructed to provide themselves with only a pair of compasses and a straightedge, the latter preferably unruled. The test exercises may be so spaced that the actual constructions can be performed on the test page itself. Each exercise should be so devised that, if the pupil's work is completely accurate and the required line-

segment is laid off along the scale PX, the arc drawn will fall at the exact midpoint of one of the scale intervals. If the measured line-segment is not completely accurate but is within one-half of an interval of the correct length, the arc will fall within the proper interval, and the pupil will be credited with a correct response. Allowance is thus made for the slight inaccuracies which may enter into construction when compasses and straightedge of inferior quality are used. The margin allowed for errors may, of course, be adjusted by varying the lengths of the segments a, b, c, ... k on the scale PX.

The problem of evaluating ability in solving verbal problems in algebra is also perplexing Of course the traditional method is itself highly objective, and the more simple problems, or those involving very few steps in their solutions, are probably best dealt with in this manner as illustrated by the following examples.

46. A dealer sold a suit for $60, making a profit of 25 per cent of its cost. How many dollars profit did he make? ( )
47. The area of a triangle is 36 square inches, and the altitude is 9 inches. What is the length of the base? ( )

For the more difficult verbal problems, however, this type of item tends to be too time-consuming and involves a unit which is often too large to suit the general character of the new-type tests. The task for the examiner, therefore, resolves itself into finding techniques which test *some one crucial aspect* of a problem situation without forcing the pupil to perform a number of time-consuming or otherwise routine steps in its solution. The following example illustrates an attempt to isolate one crucial aspect of a problem situation, that of forming the necessary equation, and to reduce the size of the unit by assisting the student over a number of routine steps.

48. The length of a rectangle is three times its width. A second rectangle is 2 inches wider and 3 inches shorter than the first and has an area 6 square inches greater. What equation would you use to find the width of the first rectangle?

 Let x = the width of the first rectangle
 then $3x$ = the length of the first rectangle
 $x + 2$ = the width of the second rectangle
 $3x - 3$ = the length of the second rectangle
 $3x^2$ = the area of the first rectangle
 $3x^2 + 3x - 6$ = the area of the second rectangle
 I would use the following equation (________________)

Such a device has a number of faults. In the first place, the machinery employed is rather cumbersome in view of the fact that only a single response is involved. A more serious consideration lies in the fact that the particular unit of work left for the student to carry out may not be a very valid measure of the ability it is attempting to evaluate. It should be noted that the steps which may be considered as routine will vary in character from problem to problem and from one group of pupils to another. Setting up the final equation may sometimes be quite as routine a matter as that of giving correct algebraic expression to the contributory steps. Ability in problem-solving consists very largely of the initiative and insight required in setting up the sequence of steps leading to the desired equation; in freeing the student from the necessity of setting up these steps for himself, one of the significant parts of the problem is eliminated. The use of this device also leads to scoring difficulties, as the equations required may often be capable of a great variety of forms.

The following example illustrates an alternate form of the above technique.

49. The length of a rectangle is three times its width. A second rectangle is 2 inches wider and 3 inches shorter than the first

and has an area 6 square inches greater. What is the width, in inches, of the first rectangle?

Let x = the width, in inches, of the first rectangle. Then:

(a) The length, in inches, of the first rectangle is, in terms of x. . . . . ( )

(b) The area, in square inches, of the first rectangle is, in terms of x . . . . ( )

(c) The width, in inches, of the second rectangle is, in terms of x . . . . ( )

(d) The length, in inches, of the second rectangle is, in terms of x . . . . ( )

(e) The area, in square inches, of the second rectangle is, in terms of x . . . . ( )

(f) I would use the following equation to find x (solution not required) . . . ( )

This device also is open to criticism on the ground that it suggests to the student the proper sequence of steps to be followed. Moreover, it leaves to the pupil the routine matter of supplying a number of simple algebraic representations, thereby making the item needlessly cumbersome in view of its avowed purpose. Ability in making correct algebraic representations may be tested in other single items, as may also the ability to solve equations. The really significant ability demanded by verbal problems, aside from the initiative and insight required to formulate methods of approach, is that of setting up the necessary equations.

In trigonometry we find a similar situation. Here the whole course of study converges on the solution of triangles, and no new-type techniques have as yet been devised as substitutes for traditional methods of measuring ability in this area. From the very nature of things, we could hardly expect the situation to be otherwise. As is the case with demonstrating theorems in geometry and solving the more difficult verbal problems in

algebra, the matter of solving triangles in trigonometry is a rather complex process. It involves a long and logical sequence of steps and constitutes a larger unit than new-type techniques are well designed to handle.

Suggestion C

Among objective types of items the short-answer is, in general, the most suitable for use in mathematics.

As compared with the multiple-choice and other recognition forms of objective items, the short-answer form enjoys a number of points of superiority.

1. It almost completely eliminates unreliability due to guessing and thus avoids one of the most common criticisms leveled at objective tests.

2. It gives reasonable assurance that the student will arrive at the answers to the questions by the route intended. Often, in recognition forms, if the items have not been constructed with care, the correct responses can be identified by merely checking the alternatives against the data presented. Flagrant instances of this fault are seen in the following examples.

50. The square root of 544644 is (1) 748 (2) 742 (3) 738 (4) 732 (5) 728 . . . . ( )
51. Factor: $6x^2 - 7x - 5$ (1) $(6x + 5)$ $(x - 1)$ (2) $(2x - 5)$ $(3x + 1)$ (3) $(x - 5)$ $(6x + 1)$ (4) $(3x - 5)$ $(2x + 1)$ (5) $(2x + 5)$ $(3x - 1)$ ( )
52. The positive root of the equation $x^2 - 7x - 18 = 0$ is (1) 1 (2) 2 (3) 3 (4) 6 (5) 9 . . . . ( )

Item 50 obviously is intended to measure the student's ability to carry through the process of extracting the square root of an arithmetical quantity. Yet the examinee who knows no more about square root than the mere definition of the term will, if he possesses even a modicum of intelligence, change the problem into one of simple multiplication. He will square each

of the responses in turn until he arrives at the one that yields 544644 as a product. And similarly with the other two. In No. 51, the student can again replace the intended process by one of multiplication and arrive at the solution quite as surely, even though not as directly. All he needs to know in order to identify the right response in Item 52 is the technique of substituting in an equation to check for the correctness of a root.

The improvement resulting from the use of the short-answer form for items such as these is obvious.

53. What is the square root of 544644? . . . . ( )
54. Write $6x^2 - 7x - 5$ as the product of two factors. . . . . ( )
55. What is the positive root of the equation $x^2 - 7x - 18 = 0$? . . . . ( )

3. The simple recall form is economical of space on the test paper. A superficial examination of the items used as illustrative material throughout this discussion will show that short-answer items are less than half as space-consuming as are multiple choice. This may be an important consideration when facilities for reproducing individual test papers are limited.

4. For situations in which it is appropriate, it is the easiest of all objective forms in which to frame test material. Probably less skill and less training are required for the construction of short-answer items than for any other new-type form. It is the sort of thing with which all are acquainted. We go through life asking and answering such questions as: "What time is it?" "How much did it cost?" "Were you at the dance?" When one constructs short-answer items, he is simply doing, with somewhat greater attention and care, the sort of thing he is doing continually as part of the daily routine of living.

5. Whether framed as a question or as an incomplete state-

ment, the short-answer form presents the problem to the student in a setting with which he is wholly familiar. While this is a distinct advantage in tests for use with very young children or those unfamiliar with new-type techniques, it decreases in importance as they grow older and become test-wise.

If we turn now to the reverse side of the picture we shall see that the short-answer form suffers at least three minor disadvantages.

1. Ordinarily, short-answer items are less readily scored than are the various recognition types. Many of the answers will be somewhat more complex and will require closer scrutiny than will the single digit type of answer characteristic of matching and multiple-choice items. Moreover, it is not always possible to cast test material in the short-answer mould with assurance that each item admits of one and only one form of answer. Consider the following:

56. What is the quotient when $-10a^5b^{10}$ is divided by $-2a^5b^5$? . . . . ( )
57. What is the square root of $9a^2 - 12ab^2 + 4b^4$? . . . . ( )
58. If $a - cx = n$, what does x equal? . . . . ( )

If we study Items 56 and 57, we see that there is little likelihood that the correct answer to either will be expressed in more than one form. For Item 58, however, we might expect the answer in any of three variations: $\frac{a-n}{c}$, $\frac{n-a}{-c}$, $-\frac{n-a}{c}$. Such a circumstance makes it necessary either to complicate the scoring key by the inclusion of alternative answers, or to have the tests scored only by people so well grounded in mathematics that they will recognize the answer in its various forms.

This fault in the short-answer type of item is of little or no importance except in the case of standardized tests which may sometimes be scored in large numbers by clerical workers

whose limited knowledge of the field makes them wholly dependent on the scoring key. It need hardly be considered a fault at all if we think of it with reference to informal tests administered and scored by a classroom teacher.

2. Unless the responses are quite brief, the task of writing them down may require a considerable portion of the student's time. This, again, is hardly a serious criticism. Responses to short-answer items must, by definition, never be long, and the time spent in recording them will likely be no more than the time saved in reading and grasping items in this simpler form. If a student covers multiple-choice items more rapidly than he does short-answer items of comparable difficulty, there is a strong probability that no genuine saving is involved. His greater speed with multiple-choice material is more likely attributable to the fact that he is either guessing or responding to superficial clues in many instances instead of arriving at the answers by the intended processes.

3. In the construction of an achievement test consisting of short-answer items, care must be exercised to prevent overemphasis on items that are purely factual in nature or measure only elementary skills and items of information.

It should be recognized, however, that a number of such items must be included in any achievement test if the test is to discriminate between pupils at the lower levels of achievement. In fact, although the tests prepared for widespread use are often criticized as being too factual in nature, analysis of test results provides evidence that test makers even now tend to over-rate considerably the achievement level of pupils in secondary mathematics. It is essential, however, to include some items, in short-answer form, which necessitate an appreciative grasp of fundamental mathematical principles and processes. As illustrations of such items the following examples are presented.

59. The area of a certain square is represented by the expression $9x^2 + 6xy + y^2$. What is the perimeter P of this square, expressed in terms of x and y? $P =$ ________

60. Given two equations $x + y = 6$ and $x - y = 2$. What will be the x-value of the point in which the graphs of these two equations intersect? ________

61. The diameter AB of a given circle is 14 inches. What is the greatest possible area of a triangle whose base is the diameter AB and whose vertex angle C is on the circumference of the given circle? ________

62. The bases of a trapezoid are 3 inches and 6 inches, respectively, and each leg is 3 inches. How many degrees are there in the angle formed by a diagonal and either base? ________

Analysis will reveal that each of these items requires of the pupil a genuine understanding of some general principle or principles, in addition to a knowledge of associated mathematical skills and informations. The short-answer item, then, need not necessarily be confined to the measurement of mere skills or knowledge of isolated facts, but may serve a much broader purpose in achievement testing.

If we review this discussion, we see that the advantages of the short-answer form in contrast with the multiple-choice form of item far outweigh its disadvantages. Some of the advantages are quite fundamental; the disadvantages are somewhat superficial. In stating the case as we have, we may have made it appear stronger than circumstances warrant. It must not be assumed that there is no place for multiple-choice items in mathematics tests. Quite the reverse, as we shall now attempt to show.

Suggestion D

Multiple-choice items may be used advantageously when the correct response to a given problem is somewhat involved or can be written in several correct forms.

Examples 71 and 72 illustrate this use when the responses are fractional or irrational in nature.

Multiple-choice items also offer a technique for measurement of specific skills or specific content which otherwise are difficult to approach. The following examples present illustrations of such usage.

For locus problems in geometry.

63. The locus of the midpoint of a chord of fixed length in a given circle is
    (1) two diameters intersecting at right angles
    (2) four points equidistant from the center of the given circle
    (3) the diameter perpendicular to the chord at its midpoint
    (4) a circle having the same center as the given circle
    (5) two intersecting arcs within the given circle

    Answer ________

64. What is the locus of the centers of all circles passing through two fixed points A and B?
    (1) The line AB, joining the two points
    (2) A circle with line AB as its diameter
    (3) Two points on the perpendicular bisector of line AB
    (4) Two lines through points A and B, perpendicular to the line AB
    (5) A line perpendicular to line AB at its midpoint

    Answer ________

For problems in dependence and relationships in algebra.

65. In the expression $A = \frac{BC}{D-E}$, the letters $A, B, C, D,$ and E

represent quantities that are always positive. Which one of the following operations will be *sure* to decrease the value of A?

(1) Let B and C be constant, and decrease D and E
(2) Let C and E be constant, and decrease B and D
(3) Let B and E be constant, and increase C and D
(4) Let B and D be constant, and increase C and E
(5) Let D and E be constant, and decrease B and C

Answer ________

66. Which one of the following relations must exist between x and y if the value of the fraction $\frac{x+n}{y+n}$ is to remain constant for any given value of n? (1) $x > y$ (2) $x = n \cdot y$ (3) $x = y$ (4) $x = \frac{1}{n} \cdot y$ (5) $x < y$

Answer ________

For problems involving generalizations.

67. If, from a point P, a tangent is drawn to each of two concentric circles, which of the following is true?
(1) The tangent to the larger circle will be the longer
(2) The tangent to the smaller circle will be the longer
(3) The tangents will be equal in length
(4) It is impossible to say which tangent will be the longer

Answer ________

For new approaches to conventional ideas.

68. Let C and D be the measured circumference and diameter, respectively, of a given circle. Which one of the following expressions indicates mathematically what should be done with C and D in finding an approximate value of π?

(1) $\frac{2D}{C}$ (2) $\frac{D}{C}$ (3) CD (4) $\frac{C}{D}$ (5) $\frac{2C}{D}$

Answer ________

69. The graph of the equation $2x - 3y = 0$ may be described as
    (1) a line parallel to the x-axis
    (2) a line parallel to the y-axis
    (3) a single point — the origin itself
    (4) a line passing through the origin and lying in the first and third quadrants
    (5) a line passing through the origin and lying in the second and fourth quadrants

Answer ________

The above examples do not present an exhaustive list of applications for the multiple-choice technique. Additional applications will certainly occur to the ingenious teacher or test constructor. A caution should be expressed, however, against forcing mathematical content into the multiple-choice form when achievement over such content can readily be measured by items in the short-answer form.

Suggestion E

When multiple-choice items are employed, a deliberate effort should be made to introduce incorrect responses which are as plausible as possible to pupils deficient in the ability which the items are designed to measure. The purpose should be so to present incorrect responses that they will tend to be selected in preference to the correct response by pupils who respond on a superficial basis.

In multiple-choice items, there is a tendency for pupils to select the answer on the basis of only a superficial recognition of its external characteristics. They often can see that a certain response "looks better" than the others, even though they do not understand thoroughly the principles involved. It is impossible to prevent pupils from answering multiple-choice items on this basis, but it is possible to make the wrong responses "look better" than the correct response, and so penal-

ize the student who depends upon superficial clues. The following items illustrate this argument.

70. The radii of two given circles are R and r, respectively. The area of the first circle is four times that of the second. Which one of the following equations expresses the relationship between the two radii?

    (1) $R = 16\,r$ (2) $R = 4\,r$

    (3) $R = \frac{r}{2}$ (4) $R = 2\,r$ (5) $R = \frac{r}{4}$ .... ( )

71. If $\frac{1}{R} = \frac{2}{b} + \frac{5}{c}$, then R equals (1) $\frac{b+c}{7}$ (2) $\frac{b}{2} + \frac{c}{5} - 1$

    (3) $\frac{bc}{2c+5b}$ (4) $\frac{b}{2} + \frac{c}{5}$ (5) $\frac{bc}{2b+5c}$.... . ... ( )

72. The product of $\sqrt[2]{a}$ and $\sqrt[3]{a}$ is (1) $\sqrt[6]{a}$ (2) $\sqrt[5]{a^2}$

    (3) $\sqrt[6]{a^5}$ (4) $\sqrt[5]{a}$ (5) $\sqrt[6]{a^2}$.......... ..... ( )

In Item 70, the fact that he is told that the area of one circle is *four* times the other will predispose the unthinking student to select one of the responses containing the number 4. To a student unfamiliar with the behavior of fractions, the third response in Item 71 will appear to be much less plausible than the fourth. In the next example (72), probably every one of the wrong responses is more enticing to the uninformed than is the correct one.

What we have been saying here can be summed up briefly in the advice: Make the incorrect responses of multiple-choice items as plausible as possible, with the deliberate aim of misleading students of superficial understanding. Such advice might be dangerous in some subjects where test makers, in striving for plausibility in the alternatives, might introduce real ambiguity into the test items. But there is little chance for ambiguity in mathematics. The results of mathematical

operations are either right or wrong. There is little room for differences of opinion, and if the test maker exercises even a minimum of intelligent care, he will run little risk of building ambiguous items.

Suggestion F

Several new-type techniques are not particularly amenable to the measurement of achievement in mathematics but may be used advantageously for instructional purposes.

True-False Tests

The true-false technique has been the object of much criticism in recent years despite its early favor among test makers. Although its general use in achievement testing in mathematics has been somewhat discredited, it is nevertheless a most useful teaching instrument. Much value can accrue from the use of true-false tests if their administration is followed by a general class discussion. This is particularly true in the fields of plane and solid geometry. The following examples are illustrative of items which may be used in this manner.

73. Two right isosceles triangles are congruent if a leg of one equals a leg of the other.... .... ( )
74. Two isosceles triangles are similar if any angle of one equals the corresponding angle of the other....... ( )
75. In any right triangle with unequal legs, the longer leg is shorter than the median to the shorter leg....... ( )
76. If a segment of a circle contains an inscribed angle of 130°, the center of the circle lies within that segment.. . ... ( )

The true-false test exists in several variations. The danger in the form illustrated above is that a question chosen may be neither always true nor always false. Because so many statements are neither wholly true nor wholly false, techniques have been devised to provide for a third possibility. In one of these,

each item is preceded by the formula T F S, and the student is instructed to encircle the T if the item is wholly true; the F if it is wholly false; the S if it is sometimes true and sometimes false. In a statement such as "an equilateral quadrilateral is a square," the S should be encircled.

Such a device increases the scope of the test by allowing the use of questions that require closer discrimination, but it is a more difficult test than the plain true-false type.

It should be noted that the rating of a true-false test is usually not best accomplished by counting the correct responses only. The element of chance should be considered since in such a test it may be a large factor. To score the test more accurately, the number of wrong responses should be subtracted from the number of correct responses, the difference being the score obtained by the pupil.

Similarly, in a test providing three possibilities, one-half the number of wrong responses should be subtracted from the number of correct responses in order to obtain the pupil's score.

In an attempt to increase the value of a true-false test, pupils are sometimes asked to rewrite the false statements correctly. This would seem to have the advantage of counteracting possible impressions made by the wrong statements, as well as of testing the pupil's completeness of understanding of the facts concerned. Unfortunately, however, many false statements that are desirable material for a true-false test might be answered in various ways or would be too difficult for a pupil to correct at the stage of the work when the statements might be most valuable for such use. For example, the false statement, "The sum of the angles of a triangle is four right angles," could readily be corrected to "two right angles," though the pupil might feel that the conclusion should remain the same, and so might choose to change "triangle" to "quad-

rilateral." He might even insert "exterior" before "angles," or make still other changes. Also, the pupil who realized that the statement, "The diagonals of an isosceles trapezoid are perpendicular to each other," was false might not realize that the replacement of "isosceles trapezoid" by "rhombus" would be admissible, or might hesitate to change the conclusion to equality instead of perpendicularity. A teacher can guard against this possibility, to some extent at least, by such a preliminary statement as, "Some of the conclusions drawn from the conditions in the following statements are false. If you find such a statement, mark it 'false,' and rewrite the statement, keeping the same conditions and correcting the conclusion."

Completion Tests

Completion tests also meet with little general use as measures of achievement in mathematics. Some of the more critical considerations involved in their use are as follows:

1. Many of the items usually couched in this form can be more conveniently expressed as short-answer items.

2. The completion form may be used advantageously when statement of a problem in short-answer form is not convenient. Examples:

> 77. To double the area of a figure, keeping it similar to its original form, the sides must be made ____________ times as long.
> 78. It is impossible, in general, to find the locus of points equidistant from more than ____________ given points.

3. The completion form is a useful technique for originating informal class discussion. A short test of this form may be administered at the beginning of the period and each pupil given time to write his reactions. The ensuing discussion will then be more purposeful and effective. The following examples

are illustrative of test items which may be used in this manner.

79. A quadrilateral is a parallelogram if its diagonals ________.
80. The shortest line-segment from a point to a circle is along a line ____________.

Numerous items for such class discussion may also be expressed in the form of direct questions. Examples:

81. What are the two most common ways of proving line-segments equal?
82. What are the principal ways of proving triangles congruent?

4. Completion items may also be used to test pupil information in regard to fundamental definitions. Examples:

83. A(n) ____________ is a portion of a circle bounded by two ____________ and an arc.
84. A square is a quadrilateral with all its sides ____________ and all its angles ____________.

5. Too often the answer to a completion item requires nothing more of the pupil than a verbal impression of a textbook definition. Unless he can recall that exact phrasing, the item may be wholly meaningless to him. At other times the item may resolve itself into a test of pupil ingenuity in the use of language alone. Example:

85. ____________ may be ____________ for ____________ in any mathematical expression.

Matching Tests

Matching tests have only infrequently been used in mathematics. The following item illustrates the matching process and also indicates the difficulty which arises in finding mathematical content sufficiently homogeneous to meet the requirements imposed upon this type of technique.

In this exercise the pupil is required to match the items in the

two columns by fitting the correct numbers in the spaces provided.

1. parallelogram	A quadrilateral with two, and only two, sides parallel	(12)
2. corollary	A line drawn from a vertex of a triangle to the midpoint of the opposite side	( )
3. bisector	A theorem derived easily from another theorem	( )
4. isosceles	A portion of a circle bounded by an arc and its chord	( )
5. median	A quadrilateral with all its sides equal	( )
6. postulate	A triangle with two equal sides	( )
7. rectangle		
8. rhombus		
9. scalene		
10. sector		
11. segment		
12. trapezoid		

Matching tests may be used advantageously as teaching tests where the administration of the tests is followed by class discussion, but their general use for the measurement of achievement in mathematics is somewhat limited.

Miscellaneous Principles of Test Construction

1. Test items designed to measure a pupil's understanding of a *principle* or his ability to *apply* that principle should involve, in general, a minimum of arithmetical computation. Excessive arithmetic computation or manipulation serves only to defeat the purpose of such items. If arithmetical or manipulatory skills are to be tested, these should be tested separately.

2. Some items in the test should involve a necessity for the elimination of irrelevant facts and the combining of relevant facts with the principles essential to the solution of the given problem situation. Actual problems in life situations do not present the essential facts in an orderly fashion, nor are irrelevant elements excluded from the total situation confronting the individual.

3. In general, avoid the use of numerical exercises in which the correct response may be obtained by an incorrect process. This principle may be illustrated by the following test item.

> 86. Two concentric circles have radii of 3 inches and 5 inches. What is the length of a chord of the larger circle that is tangent to the smaller circle?

The correct response to this item may be obtained simply by adding the numbers 3 and 5. Analysis of test results has shown that pupils often resort to some use of one of the four fundamental operations in obtaining a response to a problem which they have not been able to work correctly. The exercise, "Simplify $x^4 \div x^2$" provides a similar illustration. The correct response may be obtained by either division or subtraction of the exponents.

4. The difficulty of the items should be specifically adapted to the actual achievement of the pupils to be tested. If the entire group to be tested is considered as classified into a number of levels of achievement, the tests used must contain a due proportion of items to which pupils at each of these levels are just able to respond correctly. Items which will be answered correctly, or incorrectly, by only a negligible proportion of pupils will contribute little to the basic purpose of the examination in discriminating between students at different levels of achievement.

5. Some premium should be placed upon speed as well as upon power in reasoning, by including a sufficient number of items so that most pupils will be given an opportunity to do the maximum amount of work of which they are capable in the time given.

In conclusion, attention should be directed toward the fact that the value of objective techniques for the measurement of achievement in mathematics cannot be ascertained by *a priori* reasoning. Any critical evaluation of these techniques must

be made in the light of the extent to which test items in any form *tend to discriminate* between pupils of varying levels of achievement. Much genuine scientific research must be made in regard to this matter of discrimination if further progress in the field of achievement testing in mathematics is to be attained.

QUESTIONS FOR DISCUSSION

1. Evaluate these statements:
   (a) "Standardized tests in mathematics are in general limited to the measurement of information and a low level of understanding." Is it probable that some of these tests hold the student responsible for understanding at too high a level?
   (b) "Standardized tests in mathematics place a distinct premium upon speed of reaction rather than upon power of reasoning."
2. The distinction between "formal" and "functional" testing has been discussed (pp. 346–50). Is it probable that the functional test item measures general intelligence rather than training in a specific mathematical field?
3. Assume that three tests A, B, and C are given to two matched groups of students who have just completed a standard course in elementary algebra. Test A consists of a substantial number of "formal" test items, while test B consists of functional items based on the content of the items in test A. Test C is a comprehensive test of general reading ability. Which of the three correlations between tests A, B, and C would, in your opinion, rank the highest? What educational implication of importance to test makers may be drawn from your answer?
4. How would you propose to obtain the two *matched groups* necessary for the project discussed in exercise 3 above?
5. Evaluate these statements:
   (a) "Formal" rather than "functional" testing has no place in the instructional program.
   (b) Objective test items which require only recognition of a correct response have no place in an achievement test in plane geometry.

6. One of the important immediate aims of instruction in geometry is the development of ability to work one's way by logical sequence of arguments to the proofs of geometric propositions. To what extent may the traditional, formal proofs of originals be replaced by the numerical short-answer test item in the measurement of achievement in logical demonstration?
7. Two major topics in geometry are "congruence" and "similarity." Examine several standardized tests with a view toward ascertaining their validity in reference to these two major topics.
8. Which of the various testing techniques is most satisfactory for the measurement of the skills, abilities, or understandings included under the general heading of "congruence" and "similarity"?
9. The construction technique illustrated on pages 357–60 is considered useful, not only as a device for testing skill with compasses and straightedge, but as a means for measuring comprehensively all the various aspects of geometry. Under this assumption it might be possible to prepare an achievement test in plane geometry consisting entirely of construction items. Students taking such a test might obtain low scores, not because they do not understand the geometric facts and principles involved in the items, but because of inability to perform the necessary constructions. Such a situation would very likely be found in a course where constructions have not been given due consideration. To what extent would such a situation condition the reliability of the test? the validity of the test? the discriminating power of the individual items?
10. Should each of the six responses in Item 49 (p. 362) be given equal scoring value or should the final response be weighted? Would it be advantageous to give a score-value to only the final response? What correlations would you expect between two sets of scores obtained as follows from a test consisting of a number of items similar to item 49?

    Score A. Let each response carry a score-value of 1 point.

    Score B. Let the final response carry a score-value of 6 points, all other responses in each item having no score-value.

11. Criticize the use of the multiple-response technique for measurement of the specific skills or specific content included in the general topic of "locus" as in Items 63 and 64 (p. 368). Does your criticism apply with equal force to the use of this technique in Item 69 (p. 370)?

12. The general use of the true-false technique has been frequently challenged on the grounds that psychologically it is poor pedagogy to implant misinformation in the mind of the student. Does this consideration necessarily limit the use of true-false questions in mathematics? Does it apply as directly to mathematics as to history, English, or other subjects? Carrying the question beyond the scope of testing: is it pedagogically sound practice while teaching specific operations or content in mathematics to discuss with the pupils the errors that are frequently made, with the intent of teaching them how to avoid such errors?

13. In regard to multiple-response items the authors advise making "the incorrect responses... as plausible as possible, with the deliberate aim of misleading students of superficial understanding." In your opinion, to what extent are students actually taught false information by the administration of a test involving such plausible, incorrect responses?

14. Why is homogeneity of content an important consideration in matching exercises? In what respect does the illustrative item on page 376 fail to satisfy this requirement of homogeneity?

15. Discuss: Homogeneity of responses is an absolute requirement in multiple-response items in mathematics.

16. "A test item should be determined essentially by its content and not by its amenability to a prescribed form." This statement is frequently given as an important principle in test construction. Why is it not more generally observed in the construction of standardized tests in mathematics?

17. Would an elementary algebra test consisting of items each involving irrelevant information be essentially a valid test?

18. Examine available standardized tests in Solid Geometry and Trigonometry with particular reference to curricular validity.

CHAPTER VIII

EXAMINATIONS IN ENGLISH

PREVIOUS chapters have emphasized the necessity for a clear definition of objectives before the measurement of progress toward those objectives can profitably be considered, have described the principles and methods which are basic to sound test construction in all fields, and have given specific suggestions for the improvement of examinations of various types. The ways in which most of these suggestions will be helpful to the English teacher should be sufficiently clear without further discussion or specific application. There are a number of problems and techniques of testing, however, which are practically unique to this field of instruction and which have therefore received little or no consideration in the earlier discussions. This chapter will be primarily concerned with these peculiar problems and techniques and is to be considered as distinctly supplementary to the more generalized discussions that have preceded it.

OBJECTIVES IN THE TEACHING OF ENGLISH

The conclusions reached by any one teacher in regard to the ultimate outcomes of instruction in English will depend upon his previous valuations of the aim of education as a whole. For example, the teacher who considers that education is a process of conformity with pressures from without, the absorption of prescribed ideas and methods, will describe the major objectives of the teaching of English in one way; the teacher who maintains that education is a release of the *élan vital*, the burgeoning of an inner nature tending in and of

itself to full development, will describe them in another; the teacher who is convinced that education consists essentially of the reconstruction and reorganization of experience, individual and collective, in a rapidly changing social order, will differ with both.

How directly such differing beliefs and convictions, whether latent or manifest, reflect themselves in the curriculum and in teaching practice may be illustrated by the different types of reading lists which result from the different views of education just described. In the first instance, there is usually a prescribed list of books, arbitrarily selected from the literature of the past; in the second instance, the individual is permitted to select his own reading materials in accordance with the interest or the felt need of the moment; in the third instance, the criterion in the selection is the needs of the individual and the group in the environment of today.

It cannot be too strongly emphasized that any discussion of ultimate objectives, or of examinations in relation to them, is futile until those objectives have been clarified and granted general acceptance. Testing instruments cannot be designed to measure goals of learning that are too nebulous for concise statement or that will be accepted by different teachers only when modified to accord with individual viewpoints.

Fortunately there are certain more immediate outcomes of instruction in English which are fairly common to all these divergent views of ultimate objectives, and which in many instances are susceptible to measurement. This discussion of examinations in English will necessarily be limited to such generally accepted outcomes, as described in the next few paragraphs. While it is not expected that all teachers of English will agree fully with this statement of objectives, any differences between the description here given and that of an individual teacher are likely to be mainly differences in empha-

sis and will be of small consequence as far as the consideration of testing techniques is concerned.[1]

The course of instruction in English in schools and colleges has two major divisions: literature and language. A corresponding dichotomy may be made in the objectives of instruction. Those for literature may be termed the assimilative or literal, since they concern the exploration of the written expression of other men and women. Those for language may be termed the reproductive or creative, since they are the goals of the learner for the expression of his own thoughts and emotions.

The first category includes: attainment of ability to read literary materials with facility and understanding; development of critical judgment and appreciation of literature; enlarged acquaintance with literature and with literary history; broadening of experience vicariously through reading; formation of desirable attitudes toward reading, namely, increased appetite and taste for what is good in literature; and attainment of some competency in the use of the resources of libraries.

The second category includes: attainment of the ability to speak and write intelligibly, agreeably, and effectively, and development of desirable attitudes toward the translation of experience into spoken and written words, namely, the desire to speak and write for the satisfaction of creator or of audience, or of both. The first of these objectives involves, among other things, familiarity with the conventional tools of speech and writing as studied under the usual classifications of grammar, punctuation, spelling, etc.; the formation of correct habits in the use of these tools; and, at a higher level, the development of ability to organize the results of thought and experience into

[1] See p. 385.

larger units of effective expression. This latter aspect differs from the preceding two in the same manner that speaking and writing characterized by power differ from speaking and writing characterized by mere correctness, and involves the coherent presentation of one's own ideas.

These objectives, however they may be emphasized, are main goals for the learning of English in schools because they are, except in so far as the term "English" is used to include the scientific researches of scholars, the goals of learning English throughout life. But it is clear that some of the objectives stated are dependent and conditional upon the attainment of others. For example, desirable attitudes toward literature can, in general, be attained only through skill in silent reading, and most genuine and abiding knowledge of literature springs from the establishment of an appetite and taste for it. While no sharp lines can be drawn between the learning processes involved in their attainment, the objectives described may be conveniently tabulated thus:

A

Assimilative or Literal

1. Reading abilities
2. Critical abilities
3. Acquaintance with literature and literary history
4. Vicarious experience
5. Reading attitudes
6. Ability to use the library

B

Reproductive or Creative

1. Speaking and writing abilities
   a. Skill in correct language usage
   b. Power of expression
2. Speaking and writing attitudes

HOW TO EVALUATE ACHIEVEMENT

In the remaining discussion an attempt will be made to determine what means of evaluation will give teacher or learner, or both, the fullest information about the progress of the

students, individually and collectively, toward these several goals.

The Assimilative or Literal Objectives

The problem of measuring the results of instruction is perhaps farther from satisfactory solution in literature than in any other field, particularly at the high-school level. This fact results from certain peculiarities of this field of instruction which place definite restrictions upon the examiner. The subjectivity of the content is one impediment to the development of adequate testing techniques. The wide variability in materials and methods of instruction is another. The lack of agreement upon objectives, already pointed out, is a third and very serious obstacle. Furthermore, measurement of the extent to which any objective has been realized depends upon the examiner's ability to identify the specific elements of behavior in the student which are indicative of the attainment of that objective. Unfortunately, neither test authorities nor teachers of English are yet prepared to describe all of the desirable objectives in terms of specific and readily observable student behavior. As a result, relatively little progress has been made in the development of techniques for their measurement.

For these reasons, the following discussion must be devoted principally to the testing of those outcomes which are fairly concrete and for which practicable and reliable measuring devices have been developed. Only a few suggestions can be offered concerning the less tangible objectives in the preceding tabulation, and those suggestions will necessarily be comparatively vague and arbitrary. However, the impracticability of attempting to measure *all* the results of instruction should not interfere with attempts at better evaluation of the outcomes that are measurable.

1. Reading abilities

2. Critical abilities

Because of the overlap in these two types of abilities, their measurement can best be considered simultaneously in order to avoid repetition.

The measurement of the pupil's general reading ability, particularly with reference to informational materials in the content subjects, is not the special concern of the English teacher, nor need he attempt to prepare his own examinations for that purpose. Many standardized tests are available for the measurement of this general ability,[2] as well as much published information in regard to what it involves.[3] Some of these tests are specially designed to yield, not only measures of comprehension in silent reading, but also evidence of achievement in several different phases of reading ability of the work-study type.[4] Since the attainment of all objectives of the assimilative or literal type is dependent upon the establishment of the abilities measured by these tests, the teacher of English is advised to become thoroughly familiar with them and to use them in discovering the pupil's level of habitual skill in reading. For the measurement of those reading objectives that are unique to the study of literature, however, the teacher will often have to prepare his own examinations. The subsequent discussion will be concerned only with the construction of tests for that purpose.

[2] P V. Sangren, "Improvement of Reading through the Use of Tests." Bulletin of Western State Teachers College, 27, No 1, Kalamazoo, Michigan: Western State Teachers College, 1931.

[3] See the selective bibliography of material which has appeared in the last four years prepared by the Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City, Jan. 15, 1935.

[4] Thus, the Iowa Silent Reading Test gives separate scores for paragraph meaning, word meaning, selection of central idea, sentence meaning, location of information, rate, and total comprehension. Such tests are more useful to teacher and pupil for analysis of difficulties, and more helpful for remedial instruction, than the tests which yield only a score on speed and comprehension.

Special Problems in the Reading and Appreciation of Literature

As has just been implied, the reading of literature requires of the pupil certain insights and abilities that are not involved in reading informational materials of the content subjects. For example, requisite to the comprehension of certain literary materials, particularly those of past periods, is familiarity with conventional modes of literary expression. To far greater extent than in ordinary reading, the pupil must be able to comprehend such devices as figures of speech, symbolism, personification, puns, comparison and contrast, historical, classical, and mythological allusions and analogies, allegory, etc. In poetry, where inversions and irregular grammatical structures frequently occur, knowledge of verse patterns, types of meter, etc., may assist the pupil in following the thought of the stanzas. These, and many other literary methods and devices which will suggest themselves to the teacher, should be given special attention in tests of reading comprehension of literature. They should not, of course, be overemphasized to the exclusion of subtler considerations. The pupil's perception of the mood of a selection, for instance, deeply affects both his understanding of and his emotional reaction to the passage. Although his emotional response cannot be measured, it is possible to test the pupil's recognition of the mood or feeling expressed in a selection and of the means by which the writer gained that effect. The pupil should be able to discern whether the tone of a passage is, say, facetious or serious, animated or matter-of-fact; he should be able to distinguish satire, humor, and burlesque; in cases where the writer's own attitude is particularly evident, the pupil should be able to detect its tenor. All of these factors should be considered in the construction of test questions.

At a higher level, if the pupil is to gain the greatest profit and enjoyment from his reading, he should be able to consider a literary composition in its totality. He should be aware, not only of sentence meanings, but of the general import, direction, or purpose of the poem, play, essay, or novel read — to sense, in so far as he is able, the author's intention. A very high degree of understanding of this type cannot be expected of the average high-school pupil, but its furtherance should be an aim of instruction. Although the testing of this phase of literary comprehension is complicated by the fact that the passages included in the examinations either must be very brief or else must be excerpts from a longer work, some questions of this type may be asked where the nature of the passage permits. Shorter poems lend themselves particularly well to testing on this point.

In developing his critical judgment of literature the pupil should learn to recognize through analysis, comparison, and appraisal in what particular a given passage is superior or inferior, and should become critically aware of specific merits and demerits of form and style. Those elements of form and expression which the high-school pupil may be expected to appraise most adequately are, fortunately, also those which can be tested most reliably. Examples of such points are: individuality or commonness of diction, clarity or confusion of imagery, simplicity or complexity of style, coarseness or subtlety of humor, strength or weakness of character portrayal, smoothness or irregularity of rhythm, etc. The high-school pupil may also be expected to detect such deeper qualities as sentimentality or insincerity on the part of the author, and to a certain extent to judge the fairness or unfairness of the writer's own attitude toward the characters or ideas presented.

The Essay Type of Test as Applied in the Measurement of Comprehension and Appreciation of Literature

One method of measuring the outcomes which have just been identified is to present to the pupil a number of literary selections which are likely to be unfamiliar to him, and then, in relation to these selections, to ask him questions of the kinds which have been suggested in the preceding paragraphs The pupil might be presented, for example, with the following selection.

(*1*) 'Twas on a May-day of the far old year
(*2*) Seventeen hundred eighty, that there fell
(*3*) Over the bloom and sweet life of the Spring,
(*4*) Over the fresh earth and the heaven of noon,
(*5*) A horror of great darkness, like the night
(*6*) In day of which the Norland sagas tell, —
(*7*) The Twilight of the Gods. The low-hung sky
(*8*) Was black with ominous clouds, save where its rim
(*9*) Was fringed with a dull glow, like that which climbs
(*10*) The crater's sides from the red hell below.

Some essay-type questions which might be asked to discover whether or not the pupil fully comprehends this selection are:

1. Of what kind of event is the poet speaking?
2. What is the meaning of "ominous" as used in line 8?
3. What are the "Norland sagas" (line 6)?
4. What was the source of the "dull glow" (line 9) upon the sky?
5. To what do the last two lines refer?

The following selection and questions further illustrate this kind of testing.

(*1*) She glanced through the fly-specked windows of the
(*2*) most pretentious building in sight, the one place which
(*3*) welcomed strangers and determined their opinion of the
(*4*) charm and luxury of Gopher Prairie — the Minniemashie

(*5*) House. It was a tall lean shabby structure, three stories
(*6*) of yellow-streaked wood, the corners covered with
(*7*) sanded pine slabs purporting to symbolize stone. In the
(*8*) hotel office she could see a stretch of bare unclean floor,
(*9*) a line of rickety chairs with brass cuspidors between,
(*10*) a writing-desk with advertisements in mother-of-pearl
(*11*) letters upon the glass-covered back. The dining-room be-
(*12*) yond was a jungle of stained table-cloths and catsup
(*13*) bottles.
(*14*) She looked no more at the Minniemashie House.

6. What would you say is the writer's own opinion of the Minniemashie House?
7. What method does the writer employ predominantly in attempting to achieve the desired effect?
8. Is that effect successful, and upon what do you base your judgment?
9. What does the writer imply in his reference to "the charm and luxury of Gopher Prairie"? What literary technique is exemplified in this particular part of the passage; that is, what name do we give to this method of conveying one's meaning?
10. What is the meaning of the word "rickety" in line 9?
11. What is the meaning of the word "symbolize" in line 7?
12. The last line is an example of what formal means of achieving emphasis?

This method is superior to the "discuss this passage" procedure in that it identifies for all pupils the points on which they are expected to respond. Such identification assures that no pupil will neglect, through sheer oversight, some element about which the teacher wishes to measure his understanding; it also reduces the difficulty of scoring by permitting the teacher to assign definite values to specific elements, and by insuring that the pupil's responses to those elements will be found sufficiently isolated to permit ready and adequate grading of each one. Regardless of the procedure used, however, the scoring of most essay questions in literature is certain to be highly sub-

jective. The suggestions for scoring essay tests presented in Chapter V on the natural sciences should prove helpful to the teacher of literature also. These suggested procedures include the preparation of a set of specifications in which the nature of the desired response is definitely determined for each question and in which a scale of possible scores that will permit evaluating all responses, from very good to very poor, is established for each item. The purpose of the test as a whole and of each item individually must be kept well in mind during the scoring. If the examination is intended to measure the pupil's ability in reading and understanding literature, he should not be penalized for faults of composition, such as misspellings, errors in grammar, etc. Although such errors may be checked or corrected on his paper, they should detract as little as possible from his score in reading comprehension.

In framing such essay questions, care must be taken to indicate clearly the point under consideration in each item. For example, if one wished to test for the pupils' realization of the general untidiness of the Minniemashie House, he should not ask such a question as, "What kind of place was the Minniemashie House?" Some pupils would probably answer that it was a hotel; others, that it was a "tall lean shabby structure"; still others, that it was poorly furnished. The expected answer would not be likely to appear unless a pupil repeated the entire description given in the passage. Likewise, in testing on formal devices one should be sure to indicate clearly the element under consideration and also the manner in which it is to be identified. For instance, in a passage of poetry one should not ask merely, "What literary device does the poet employ?" if the reference is to, say, the poet's use of feminine rhyme; the pupil will simply be confused in trying to decide to what element of poetic structure the question refers. Or in the illustrative passage quoted above, it would be insufficient to ask, "Of

what is the last sentence an example?" if the expected answer were "Understatement."

Further cautions in the choice of selections and of points to be tested are given in the following discussion of the objective variant of this form of test exercise. These cautions apply with equal force to the subjective or essay variety, and should be closely observed.

An Objective Type of Test for Measuring Comprehension and Appreciation

A number of forms of tests have been devised for the objective measurement of those aspects of silent reading comprehension that are unique to the study of literature. One of the most promising of these techniques, which is an adaptation of the type of exercise just discussed in reference to essay examinations, may be illustrated by the following examples taken from materials prepared for the Cooperative Literary Comprehension Test.

> (*1*) Dear Harp of my Country! in darkness I found thee,
> (*2*) The cold chain of silence had hung o'er thee long,
> (*3*) When proudly, my own Island Harp! I unbound thee,
> (*4*) And gave all thy chords to light, freedom, and song!
> (*5*) The warm lay of love and the light note of gladness
> (*6*) Have wakened thy fondest, thy liveliest thrill;
> (*7*) But, so oft hast thou echoed the deep sigh of sadness,
> (*8*) That even in thy mirth it will steal from thee still.

13. This passage seems to refer to 1 England, 2 France, 3 Germany, 4 Ireland, 5 Wales .... ( )
14. The writer is discussing 1 his falling in love, 2 the liberation of his country, 3 the liberation of the press, 4 a religious revival, 5 a revival of poetry . .... . ( )
15. In this passage the writer employs 1 a unique meter, 2 climax, 3 feminine rhymes, 4 internal rhymes, 5 repetition.. . ... ( )

16. The last two lines indicate that mirth 1 conquers all, 2 has returned, 3 is pointless, 4 must be accompanied by sorrow, 5 steals away our hearts............ .. ( )
17. "Cold chain of silence," in line 2, refers to 1 imprisonment, 2 lack of poetry, 3 loss of liberty, 4 loss of religious freedom, 5 unconfessed sins. .... ( )

(*1*) Old Behrman was a painter who lived on the ground
(*2*) floor beneath them. He was past sixty and had a Mi-
(*3*) chelangelo's Moses beard curling down from the head
(*4*) of a satyr along the body of an imp. Behrman was a
(*5*) failure in art. Forty years he had wielded the brush
(*6*) without getting near enough to touch the hem of his
(*7*) mistress's robe. He had been always about to paint a
(*8*) masterpiece but had never yet begun it. For several
(*9*) years he had painted nothing except now and then a daub
(*10*) in the line of commerce or advertizing. He earned a little
(*11*) by serving as a model to those young artists in the colony
(*12*) who could not pay the price of a professional. He drank
(*13*) gin to excess, and still talked about his coming master-
(*14*) piece.

18. Behrman seems to have been 1 boastful, 2 brutally frank, 3 taciturn, 4 downcast, 5 reserved... ..... ( )
19. In appearance he was 1 handsome, 2 strikingly robust, 3 queer, 4 spiritual, 5 commonplace........ ( )
20. His work was 1 excellent, 2 generally good, 3 occasionally good, 4 marked by genius, 5 poor.......... ( )
21. "To touch the hem of his mistress's robe," line 6, means to 1 become an artist, 2 gain wealth, 3 make friends with women, 4 marry the woman he loved, 5 win fame......... .... ( )
22. The reference to a satyr conveys an idea of 1 friendliness, 2 sullenness, 3 grossness, 4 beauty, 5 spirituality.................................... ( )
23. The writer's own attitude toward Behrman is 1 approving, 2 pitying, 3 highly disapproving, 4 bitterly contemptuous, 5 matter-of-fact............. ... ( )

(*1*) I admitted of course that Virgil in spite of his genius had
(*2*) a hardness and an old glitter which resembled rather the

(*3*) brilliance of a cut diamond than the soft grace of a flower.
(*4*) Certainly I admitted this; the mere admission of it would
(*5*) knock the breath out of anyone who was arguing.
(*6*) From such talks my friends went away sad. The con-
(*7*) clusion was too cruel. It had all the cold logic of a
(*8*) syllogism (like that almost brutal form of argument so
(*9*) much admired in the Paraphernalia of Socrates). For if:—
(*10*) Virgil and Homer and Pindar had all this grace, and
(*11*) pith and these sallies, —
(*12*) And if I read Virgil and Homer and Pindar,
(*13*) And if they only read Mrs. Wharton and Mrs. Humphry
(*14*) Ward,
(*15*) Then where were they?
(*16*) So continued lying brought its own reward in sense of
(*17*) superiority and I lied more.

24. The writer's admiration for Virgil is 1 fanatical, 2 genuine, 3 half-hearted, 4 misunderstood, 5 pretended . . . . ( )
25. The use of the word "Paraphernalia" in line 9 gives a touch of 1 burlesque, 2 poetry, 3 sentimentality, 4 stupidity, 5 vulgarity . . . . ( )
26. A "syllogism" (line 8) is 1 an accurate description, 2 a clear definition, 3 a form of literature, 4 a form of reasoning, 5 a type of mind . . . . ( )
27. "Sallies" as used in line 11 means passages of 1 complimentary language, 2 figurative language, 3 humor, 4 personal feeling, 5 sound thoughts . . . . ( )
28. The writer is trying to be 1 earnest, 2 impartial, 3 poetic, 4 scholarly, 5 witty . . . . ( )
29. He admitted the hardness of Virgil 1 bitterly, 2 for the sake of argument, 3 voluntarily, 4 grudgingly, 5 without special interest . . . . ( )

(*1*) The Lord my pasture shall prepare,
(*2*) And feed me with a shepherd's care;
(*3*) His presence shall my wants supply,
(*4*) And guard me with a watchful eye;
(*5*) My noonday walks he shall attend,
(*6*) And all my midnight hours defend.

(*7*) When in the sultry glebe I faint,
(*8*) Or on the thirsty mountain pant;
(*9*) To fertile vales and dewy meads
(*10*) My weary wandering steps he leads:
(*11*) Where peaceful rivers, soft and slow,
(*12*) Amid the verdant landscape flow.

30. The passage suggests the 1 doxology, 2 *Gloria in Excelsis*, 3 parable, 4 nineteenth psalm, 5 twenty-third psalm... .... ( )
31. "Glebe" in line 7 means 1 a desert, 2 a field, 3 a forest, 4 an oasis, 5 a road... .... ( )
32. "Verdant" in line 12 means 1 ample, 2 green, 3 luxurious, 4 wealthy, 5 wide . ... ( )
33. This passage expresses 1 brotherhood, 2 faith, 3 patience, 4 penitence, 5 a wish to serve.... ..... ( )
34. The imagery is 1 commonplace, 2 grotesque, 3 startling, 4 unique, 5 vulgar. .. .. ( )

In constructing such items, the teacher must guard particularly against ambiguity. As in the essay questions previously discussed, the purpose of each item, i.e., the element for which it is testing, should be perfectly clear to the pupil. The items should be stated so concisely and completely that the pupil will not become confused by having to ponder upon what the test constructor had in mind. A very simple illustration of grammatical ambiguity would be an item in which the unidentified pronoun "he" was used with reference to a passage that concerned more than one male character. As another example, an ambiguously phrased item on "attitude" might be answered by one pupil with reference to the author of the selection and by another pupil with reference to a character in the selection. Also, names not mentioned in the passage should not be used in the items, and any words or phrases from the passage that are quoted in the item should be quoted exactly to avoid misinterpretation. Such "slips" can readily be avoided, but are easily overlooked by the test constructor himself, who has the

intended meaning so clearly in mind. Much more complex instances of ambiguity could be cited. Consider the following passage and items.

> Schiller! that hour I would have wished to die,
> If through the shuddering midnight I had sent
> From the dark dungeon of the tower time-rent
> That fearful voice, a famished father's cry —
> Lest in some after moment aught more mean
> Might stamp me mortal! A triumphant shout
> Black Horror screamed, and all her goblin rout
> Diminished shrunk from the more withering scene!

35. The poet would wish to die because the effect was 1 false to truth, 2 insane, 3 successful, 4 weakening, 5 wicked. . . . . ( )
36. The withering effect was on the person's 1 character, 2 feelings, 3 hopes, 4 religious beliefs, 5 wicked lusts. . . . . ( )

The pupil could not respond to Item 35 without first inquiring, "What effect?" or "Effect upon whom?" In Item 36 likewise, the meaning and reference of the words "withering effect" and "the person's" are so doubtful that the item is unanswerable without further clarification. Similar indeterminate or inaccurate references to the content of a passage may render an item entirely non-functioning. Precise wording is equally important in the *responses* of a multiple-choice item. Careless phraseology may make an intended wrong response appear to coincide with the passage, or may alter the meaning of the correct response enough so that the more astute pupils, particularly, will not be satisfied to accept it as a valid interpretation of the passage. All of the wrong responses should be carefully checked to insure that neither they nor the passage itself could be interpreted in a manner that would make any one of them an acceptable answer.

The latter admonition is especially important where the

selection quoted is an excerpt from a longer composition. Often the interpretation of an excerpt will differ from the interpretation of the same passage in its original context. The test constructor must take cognizance of this fact. He should ask no questions which cannot be answered on the basis of the material actually before the pupil, and he should phrase the items in such a way that the pupil will not be misled into making interpretations which could be justified by the excerpt but which would be considered definitely incorrect on the basis of the original context.

In vocabulary items, there is danger, unless particular care is taken in their construction, that the "incorrect" responses may be justifiably construed by the pupil as correct according to his own subjective interpretation of the passage. It is relevant to mention also that, because of this subjective factor, the responses to vocabulary items should not demand too fine a discrimination in word meanings; furthermore, the words constituting the responses should be simple enough so that they themselves will not present vocabulary difficulties to the pupil.

The matter of interpretation of the selection is, of course, of fundamental importance. Since the objective method of scoring does not allow for the variations in personal opinion that frequently arise among different readers of a literary passage, the test items themselves must present interpretations that are likely to be considered valid by most readers. The surest safeguard against the inclusion of controversial or indeterminate items is to have one or more other persons review the test critically, comparing their own interpretations with those expressed in the items, and to discard or revise all items on which disagreements cannot be readily resolved. One should avoid testing on highly abstruse literature in which interpretations are sure to be influenced by subjective factors. Items suffi-

ciently difficult for measuring the abilities of the superior pupils can be constructed without recourse to such materials.

One should be careful, also, not to ask for implications beyond the discernment that may be expected of pupils at the level tested. However, the other extreme of stressing obvious and purely literal meanings is equally undesirable. Some easy items of the latter type will have to be included, of course, in order to measure the achievement of the inferior pupils, but even in such items the test constructor need not and should not test for mere trivialities or for very minor details that have little bearing upon the central point of the passage. For example, in the first passage quoted on page 393, it would be extremely easy but futile to construct an item on the fact that Behrman had done some commercial art work, as it would to test for the fact that some young artists in the colony apparently were very poor. One should try to recognize the reading problems of the pupils and frame items with those difficulties in mind. An attempt should be made to measure as many as possible of the behavior-evidences related to the objectives concerned, i.e., ability to recognize and to evaluate specific points of the passage which exemplify the various elements enumerated on pages 387–88.

Preliminary tryout of tests of this kind is very desirable, because it is often difficult to anticipate correctly the thought-processes of the pupils in reading a specific passage and to avoid all ambiguities in the items. An item which seems quite obvious to the teacher, in the light of his superior knowledge, may appear extremely difficult or even unanswerable to the pupil who knows nothing of the origin and history of the selection. Extensive tryout is, of course, impracticable for the typical classroom teacher, but if carefully constructed test exercises are used repeatedly with different groups, they can be revised and improved on the basis of previous administrations.

Selection of Test Materials

The choice of the selections employed in the test is quite as consequential as the construction of the items. It is highly important that the passages used be unfamiliar to the pupil, particularly that they should not have previously been discussed in class; otherwise the pupil may answer simply upon the basis of his recall of what the teacher or commentators have said and not upon his own understanding of the selection. The construction of a test of this kind requires, of course, a very thorough familiarity on the part of the teacher with a very large number of literary selections, since it is difficult to find short passages that are sufficiently rich in reading problems to adapt themselves well to this type of testing. The use of long passages that contain only a few salient points for testing will merely waste the pupil's time in superfluous reading. An excerpt from a long composition should present a fairly complete unit of content that is meaningful without reference to the original context and that does not have a too "decapitated" appearance. Ambiguous fragments at the beginning or the end of an excerpt may lead the pupil astray in his interpretation of it.

If the examination is intended to measure general achievement in comprehension or judgment, or both, the selections included should represent as wide a variety of types of literary materials as the pupil is likely to encounter in general reading. Poetry and prose should be well balanced; the broad categories of composition — narration, description, exposition — should be represented, and the selections should offer a range of style, mood and treatment. If the test is intended to measure only certain phases of the abilities involved in these major objectives, the type of selections used may be varied according to the emphasis desired.

Instructional Values of Test Materials

This type of examination has distinct teaching values. It is possible, by careful item construction, to bring to the pupil's attention important points that he might otherwise have overlooked in the passage, and to force him to consider their meaning and implications. By thus helping him to realize the significances underlying a piece of literature, this testing device may increase his appreciation and enjoyment of that particular passage, may sharpen his awareness of similar possibilities in other compositions, and may help to stimulate his interest in further exploration of the field of literature. In this regard, it is relevant to caution the teacher once more against ambiguity, triviality, and doubtful interpretations in item construction. Such structural defects in the items employed will merely exasperate the pupil and dull his interest.

3. Acquaintance with Literature and Literary History

Testing for Acquaintance with Literature

In the type of objective examination just discussed, questions can be included which will test familiarity with particular authors through allusion to the characteristics of their writings. For example:

37. This passage suggests the writings of 1 Browning, 2 Milton, 3 Pope. . . . . ( )
38. The attitude toward the common people expressed in this passage is that of 1 Johnson, 2 Pope, 3 Wordsworth . . . . ( )

In order to answer this type of item the pupil must have a first-hand familiarity with the writings of the authors cited, a familiarity that can be gained only through alert and thoughtful reading. For that reason, this type of item is superior to

the following, in which a general question is asked without reference to any particular passage.

39. His obscure style has frequently aroused comment:
1 Addison, 2 Browning, 3 Dickens, 4 Dryden,
5 Swift . . . . ( )

The weakness of this latter type of item is that, because the range of information adaptable to it is limited, it tends to test for the mere *clichés* of literary scholarship. In item 39, for example, the adjective "obscure" has been glibly applied to the poetry of Browning for so long and in such innumerable classroom discussions and textbooks in literature, that the pupil is likely to link it automatically with the name "Browning" even though he has never read a page from that poet. This form of item may be useful in testing for opinions that the pupil may reasonably be expected to have formed for himself without teacher or textbook repetition, but if information upon which the pupils have previously been drilled is introduced into the test, it should be disguised by new phraseology so that the rote-learner will not be able merely to parrot the correct answer.

In extensive testing for *range* of acquaintance with literature, items of the type of examples 37 and 38 are not very practicable, since they require the inclusion of literary selections in the test. A better test for general usage is the straight multiple-choice type of examination. It should be emphasized that the real objective in this phase of instruction is to encourage the pupil to become *directly* acquainted with authors and their works rather than merely to be able to associate the name of a literary work with the name of its author or to be able to repeat statements about the work that have been made by other people. In testing for range of literary acquaintance, therefore, "who wrote what" types of questions, which test for little more than verbal learning, should be used sparingly if at all.

Rather, the questions should be of such a character that the pupil is likely to respond correctly only if he has actually read and understood the piece of literature involved. This desirable characteristic can be secured by basing the questions upon quotations; reference to setting, plot, characters, etc.; reference to general significance in literary history, to some historical or social aspect of the author's writings; and so on. Examples of various approaches are shown in the following items, taken from the Cooperative Literary Acquaintance Test, Form 1935.

40. The most significant characteristic of Lady Macbeth is 1 fear of moral torment, 2 patriotism, 3 ambition for her husband, 4 gentleness of nature, 5 generosity toward her enemies . . . . ( )
41. "With a long grey beard and glittering eye," describes 1 Salome, 2 Cyrano de Bergerac, 3 Tristram Shandy, 4 the Ancient Mariner, 5 Ichabod Crane . . . ( )
42. "But whosoever shall smite thee on thy right cheek, turn to him the other also," is quoted from 1 Abraham, 2 David, 3 Paul, 4 Jesus, 5 Isaiah. . . . . ( )
43. The play that discusses with convincing fairness the eternal clash between capital and labor is 1 *Cyrano de Bergerac*, 2 Galsworthy's *Strife*, 3 *Riders to the Sea*, 4 *The Blue Bird*, 5 *Arms and the Man* . . . . ( )
44. Synonymous with loutish, prankish youth is the name 1 Tony Lumpkin, 2 Malvolio, 3 Fabian, 4 Mrs. Malaprop, 5 Sir Toby Belch . . . . ( )
45. Howells' *Literary Friends and Acquaintances* is a classic account of the silver age of 1 Philadelphia, 2 San Francisco, 3 New Orleans, 4 New York, 5 Boston and Cambridge . . . . ( )
46. Of the following writers, the most radical American experimenter in poetic form and substance was 1 Aldington, 2 Pirandello, 3 Vachel Lindsay, 4 Rupert Brooke, 5 Susan Glaspell . . . . ( )
47. The poet who may best be compared with Poe is 1 Arnold, 2 Santayana, 3 Masefield, 4 Jeffers, 5 Coleridge . . . . ( )

48. In *The Divine Comedy*, Beatrice represents 1 retribution, 2 comedy, 3 Purgatory, 4 the seven deadly sins, 5 heavenly love.................................... ( )
49. Don Quixote mistook for mighty armies 1 a grove of trees, 2 a group of merchants, 3 windmills, 4 two flocks of sheep, 5 a rocky field............................ ( )
50. The psychology of love and marriage is the chief concern of 1 Barrie, 2 Rostand, 3 Schnitzler, 4 Shaw, 5 Galsworthy... ( )

If, as in the case of the Cooperative test, the examination is intended to measure general acquaintance with the whole field of literature and to be administered to varied groups, many of the items included necessarily will not be very searching. Some must be very simple and require little discrimination between writers and works, in order to measure the achievement of pupils who have had little or no instruction in literature and have done a very limited amount of "free" reading. For example:

51. Which Shakespearean play is among the greatest tragedies on the theme of romantic love? 1 *Hamlet*, 2 *Troilus and Cressida*, 3 *Romeo and Juliet*, 4 *The Merchant of Venice*, 5 *Twelfth Night*............... ( )
52. Hawthorne's novel which deals with the expiation of a sin is 1 *Twice-Told Tales*, 2 *The Scarlet Letter*, 3 *The Alhambra*, 4 *Omoo*, 5 *The Merchant of Venice*....... ( )

These two items test only for very superficial information. The items intended to measure the achievement of the superior pupils, however, should attempt to test for first-hand and more thorough knowledge rather than for mere verbalism and hearsay. Examples 40–50 above represent various degrees of difficulty of this type of item.

Some pupils will arrive at the correct response to many items by a process of elimination. This is not necessarily a defect of the test. The elimination method of arriving at the correct

response is quite justifiable in a general test of this nature, since the ability to detect the wrong responses indicates acquaintance with the portions or elements of literature which they represent. However, the wrong responses should be alternatives that will appear plausible to the uninformed pupil, and no irrelevant clues to the correct response should be included. (See discussion on pp. 67–72.) Consider the following item.

53. "He cut a rope from a broken spar,
And bound her to the mast," is quoted from 1 *Serenade*, 2 *The Wreck of the Hesperus*, 3 *The Raven*, 4 *Evangeline*, 5 *Kubla Khan* . . . . ( )

The testee can respond to this item simply on the basis of the titles given. The word "Wreck" in the correct response will naturally be linked with the words "broken spar" in the quotation, particularly since the name "the Hesperus" sounds appropriate to a ship and since "mast" is also mentioned in the quotation. This clue is further strengthened by the fact that there is nothing in any one of the other four titles that even remotely suggests ships or shipwreck. Thus the pupil can readily select the right answer to this item without ever having seen or heard of any of these five literary selections. In the next example, the pupil needs merely to sense that "Nibelungenlied" has the general characteristics of a German word.

54. The *Nibelungenlied* is the national epic of 1 Persia, 2 Spain, 3 Greece, 4 India, 5 Germany. . . . . ( )

The defect of non-functioning content (see pp. 73–81) is another common weakness of this type of item, and frequently results in confusion concerning what particular bit of information is actually being measured. For example:

55. The triumph of a woman who found in grinding toil a romantic adventure is delineated in Edna Ferber's 1 *Seventeen*, 2 *The Little French Girl*, 3 *So Big*, 4 *Twilight Sleep*, 5 *Cimarron* . . . . ( )

This item apparently purports to measure the pupil's knowledge of the content of *So Big*, and if he actually has read the book, the item will probably function as intended. On the other hand, even though he has never read any of these books, if he merely happens to know that of the five listed only *So Big* and *Cimarron* were written by Edna Ferber and if he has seen the moving picture version of the latter, he will certainly select response 3 as the correct answer. When answered by this thought-process, the item tests merely the knowledge that Edna Ferber wrote *So Big*. It would be better, therefore, to clarify the wording of this item so that it will really test for a predetermined phase of information, either the superficial knowledge of "who wrote what" or the deeper acquaintance with the content of the book, in order to know the significance of the measure obtained from it. The following suggests a possible phraseology for each of the two approaches:

56. Edna Ferber wrote 1 *Seventeen*, 2 *The Little French Girl*, 3 *So Big*, 4 *Twilight Sleep*, 5 *Miss Lulu Bett* .... ( )
57. The triumph of a woman who found in grinding toil a romantic adventure is delineated in Edna Ferber's 1 *Cimarron*, 2 *So Big*, 3 *Buttered Side Down*, 4 *The Girls*, 5 *Cheerful — by Request* .... ( )

Item 52 above exhibits a similar weakness.

Testing for Knowledge of Literary History

The multiple-choice type of item can be used in testing for knowledge of literary history as distinct from literature itself, such as the biographies of writers, the dates and characteristics of important periods of literary production, chronological relationships between writers and between the works of one or of several writers, and so on. In this phase of measurement, again, trivialities should not be given undeserved attention; for instance, in testing on biography, one should attempt to

select circumstances which seem to have had some bearing upon the author's work or which are otherwise of particular importance and interest. The following illustrations from various Iowa Every-Pupil Tests will merely suggest the variety of questions that may be asked. In a teacher-made examination covering an assigned list of writers recently studied by the group to be tested, more specific biographical details may be included, but these should be expressed in a manner different from the phraseology of the textbook and of class discussion. (See pages 81–96.) Each question should be checked carefully for ambiguities that would make its application uncertain.

58. His interest in Italian freedom appears in his writings: 1 Browning, 2 Chaucer, 3 Milton, 4 Shakespeare, 5 Thackeray . . . . ( )
59. His ill health and partial deformity affected his whole outlook on life: 1 Shakespeare, 2 Dryden, 3 Pope, 4 Dickens, 5 Spencer . . . . ( )
60. He was a rebel against established society: 1 Addison, 2 Chaucer, 3 Johnson, 4 Shelley, 5 Shakespeare . . . ( )
61. His poems were attacked by critics in a way bitterly resented by his friends: 1 Addison, 2 Scott, 3 Keats, 4 Chaucer, 5 Milton . . . . ( )
62. He wrote an important long poem describing his travels: 1 Burns, 2 Byron, 3 Tennyson, 4 Milton, 5 Dryden . . . . ( )
63. He came of a poor farming family: 1 Cooper, 2 Howells, 3 Poe, 4 Whitman, 5 Whittier . . . . ( )
64. He was a good deal of a vagabond: 1 Emerson, 2 Holmes, 3 Longfellow, 4 Lowell, 5 Whitman . . . . ( )

In order to discourage mere rote learning of dates, chronology may be tested by requiring the pupil to relate one author to another, or to "date" writers and compositions by reference to important historical events or periods. This method has the merit of bringing more forcibly to the pupil's attention the social significance of literature, the influence of contemporary

conditions upon a writer's production, and the differences or similarities in the work of writers of the same period. Illustrative items from the Iowa Every-Pupil Tests are cited below.

65. He began writing after the Civil War: 1 Harte, 2 Bryant, 3 Hawthorne, 4 Irving, 5 Whitman...... ( )
66. Of the following, he was the first to write: 1 Cooper, 2 Hawthorne, 3 Holmes, 4 Poe, 5 Lowell .... ( )
67. He wrote at the same time as Shelley: 1 Swift, 2 Addison, 3 Keats, 4 Dryden, 5 Tennyson.......... . ( )
68. He wrote during the reign of Queen Anne: 1 Browning, 2 Burns, 3 Shelley, 4 Swift, 5 Thackeray. . ... ( )
69. Of the following writers, the most recent was: 1 Burns, 2 Byron, 3 Eliot, 4 Spenser, 5 Scott..... . ( )

Again, if the test covers a limited list of writers studied in the course of instruction, the questions may deal with more detailed and specific points.

In the construction of tests of acquaintance with literature and literary history, particularly, there are a few possible variations in mechanical form which will suggest themselves to the teacher. Of these the most satisfactory is the matching exercise; it can sometimes be used with greater economy than the multiple-choice type of item. Since, however, the two forms have fundamentally the same structure, the rules and precautions described above will apply equally well to either one.[5]

4. Broadening of Experience by Vicarious Contacts

5. Establishment of Desirable Reading Attitudes

The first of these aims has to do with the result of reading; the second, with the individual motivation of reading.

The teacher must seek an answer to the question: What kind of behavior is to be expected of this student as he broadens his experience by means of books; what kind of behavior is to be

[5] See pp. 125–58 for general discussion of various test forms.

expected of a student who has established desirable reading attitudes? Answers to these questions will vary widely in accordance with the varying conditions of different schools.

Evidence that the student has progressed toward the first goal is to be found in the nature and diversity of his reading; toward the second goal, in the quality and amount of his reading. The criterion is what books, newspapers, and magazines, and how many of them, he reads habitually of his own volition.

These objectives of the English studies, then, are to be evaluated through the record of unrequired "free" reading done by the student at his leisure. They cannot be evaluated without the record, nor can the teacher guide the student to higher levels of reading without it. Records may take the form of individual booklets or diaries. Evaluation may be in terms of amount, range, and quality. Amount is measurable, and varies from school to school within very wide limits. Range is measurable when the teacher has decided what he means by range. He can make his own classifications of reading, or he may adapt the classes and subclasses used by the Committee on Home Reading in the excellent booklets prepared by the National Council of Teachers of English.[6] Quality must be evaluated subjectively, and the teacher must be on his guard lest he be measuring himself rather than the student.

The teacher can thus devise his own rating scale for the evaluation of these objectives.[7]

6. Ability to use the Resources of Libraries

Paper and pencil tests have been designed to measure a pupil's knowledge of how information is arranged and dis-

[6] See for other suggestions C. L Persing and H. R Sattley, "Discovering the Reading Interests of Maladjusted Students" *Bulletin* of the American Library Association, January, 1935, pp 13–23

[7] See suggestions for similar rating scales in Chapter V.

played in books; knowledge of the contents of a dictionary; knowledge of card catalogues, catalogues of periodical literature, and of various kinds of reference books. There is evidence, however, to indicate that a good deal of such knowledge is not closely related to the ability to use it.

The teacher of English must first decide for any grade or group what skills in terms of behavior in specific situations are possible of attainment under the conditions prevailing in his own school. The supply of books in classroom libraries, the equipment of the school library, the degree of enlightenment which characterizes its administration, and the freedom allowed students in its use, all must be considered. With these in mind, the teacher can best evaluate the ability here considered through observation of how an individual pupil actually proceeds in solving a series of problems set up in terms of the material available. Successful solution of these problems will depend upon the student's knowledge of probable sources to which to refer and his ability to locate specific data in these sources.

In some schools teachers have devised cards at different high-school levels, each card containing clear directions in regard to the information desired, with a space in one corner in which is recorded the time consumed by the student in finding that information. From these records a time norm for each item is obtained for the grade level at which it is used. The student is required to return the card, together with a separate paper on which he has written the information desired and the source from which it has been obtained.

At the lower level these cards may call for ability to find information in single books, for example:

When was Samuel Pepys living?
What was the population of Marion, O., in 1930?
What is the origin of the word *Metropolis*?

At the upper level they may demand knowledge of sources and ability to use them, of any desired degree or nature; for example:

What were the general economic and political conditions in England during the reign of Elizabeth?

Graph the student population of the public high schools of the United States from 1890–1930.

The ability to use the resources of libraries must be evaluated individually. Systematically assembled information of individual progress is the material for evaluation. The system described can be evolved by every informed teacher in terms of the local conditions. It will provide the teacher with a measure of the capacities and needs of students in this field. It further will quickly identify those students who cannot use libraries because of ignorance of what libraries contain, and, when refined by the intelligent teacher, will reveal individual difficulties either in finding the desired source or in using it.

The Reproductive or Creative Objectives

1. Speaking and Writing Abilities

a. Acquisition of skill in correct language usage

As defined earlier, this phase of the major objective comprises knowledge of and habitually correct usage of the conventional tools of expression. The methods of measuring attainment of this objective are of three general types: testing on formal elements, rules, and definitions; subjective evaluation of the pupil's oral and written work; objective testing on correct usage. Each of these methods will be discussed in turn.

Testing on Formal Elements, Rules, and Definitions

Genuine mastery of formal rules and definitions will certainly facilitate correct speaking and writing; thorough understand-

ing of the meaning and uses of the various elements of the English language will assist one in employing them correctly. To belittle the importance of such knowledge is to hinder attainment of the objectives sought. Because of that importance, testing on formal elements and principles, in so far as it goes, is justified. The cause of its frequent derogation, however, is fairly obvious. To be able to state a rule or definition without knowing the meaning and import of the terms employed is useless. The pupil can derive little benefit from knowing, for example, that a period should follow a declarative sentence if he does not know what a declarative sentence is. He cannot apply the rule that a participle must have an antecedent if he is unable to recognize a participle. Understanding and application of any one rule or definition demand understanding and application of others also. Consequently, the mere ability to state rules and repeat principles is no assurance that these will function in the pupil's oral and written work. This fact does not imply that testing on definitions and rules should be neglected entirely; such testing does have a place in the program of measurement, but it should be very adequately supplemented by evaluation of the pupil's skill in usage.

One inherent weakness of most paper and pencil tests on the formal elements of English is that generally rules and definitions can be expressed clearly and succinctly in only a few ways, which quickly become stereotyped in the language of instruction. A test item expressed in hackneyed phraseology is likely to be answered on a purely mechanical memory basis. It would be better to couch the questions in original or unfamiliar terms, but fresh restatements of rules and definitions are extremely difficult to make because of the danger of ambiguities and inaccuracies. The following completion items, for example, are purely formal in nature and would undoubtedly sound familiar to all pupils.

1. The subject of a sentence is in the __________ case.
2. A pronoun must agree with its antecedent in __________, __________, and __________.
3. A word used to modify a noun or pronoun is called an __________.

To restate these items without using the words "subject," "antecedent," "modify," etc., is almost impossible. Hence such items almost invariably place a high premium on rote learning.

A more satisfactory method of testing for rules and definitions is to present the pupil with an example and require him to state or to identify the rule or definition applying to it. Objective variations of this technique have been devised which combine knowledge of principles with skill in their application. The following items are illustrative.

Directions: Each of the following sentences contains an error. In the blank after each sentence, write the word which should be substituted for the one that is incorrect. Then, in the parentheses following the blank, write the *number* of the rule (from the list at the right) which you applied in making the correction.

	Correction	*Rule*	
1. Her and I are going.	__________	(__)	1. Double negatives should be avoided.
2. The tree shed their leaves.	__________	(__)	2. An adjective should not be used to modify a verb.
3. We haven't no money.	__________	(__)	3. A pronoun must agree with its antecedent in number.
4. She walks slow.	__________	(__)	4. The subject of a sentence is in the nominative case.
etc.			

Such double testing yields truer evidence of mastery of principles, since the pupil's score on that aspect of instruction can be checked against his score on usage. Double scoring of each paper is required, however, and the two measures ordinarily should not be combined into a single score.

Understanding of the formal language elements can be satisfactorily tested by various indirect methods. The following are a few of the possible devices.

> Directions: In the blank after each sentence write the case of the italicized word.

1. She gave *me* the ball. ______________
2. What did *you* say? ______________

This may be adapted to testing on gender, number, parts of speech, etc.

A more economical form:

> Directions: Above each word in each of the following sentences write the name of the part of speech which the word represents in that sentence.

	Adj.	Noun	Verb	Adv.
Example:	The	boy	fell	down.

On sentence structure:

> Directions: On the line at the left of each exercise that is a complete sentence write the letter S, and opposite each exercise that is not a complete sentence write the letter N.

_____ 1. It is warm
_____ 2. The concert which we attended
_____ 3. I thought that if she wanted to go

> Directions: For each sentence below indicate whether the sentence is declarative, interrogative, or imperative, by writing a *D*, *Int.*, or *Imp.* in the blank at the left.

_____ 1. Give me the basket
_____ 2. She asked if we would stay

Similarly for simple, complex, and compound sentences.

These few illustrations will undoubtedly suggest to the teacher other possible variations and applications.

Subjective Evaluation of Pupil Expression

It would seem that the truest behavior-evidence of the pupil's mastery over English mechanics is the degree of correctness of his actual speech and writing. From the measurement point of view, however, that evidence is not by itself a wholly satisfactory or adequate basis for appraisal. In the first place, it may not provide a fair sampling of all the skills involved in correct expression. As far as oral evidence is concerned, the teacher's opportunities for judgment are very restricted; they would be limited mainly to the pupil's classroom recitations, in which his speech may be less self-expression than mimicry of teacher and textbook. Written compositions by the pupil offer more substantial evidence, but even it may be incomplete. The pupil can readily avoid those elements and situations about which he is uncertain. If he does not know how to spell a word, he can substitute another for it. If he is not sure of a punctuation mark, he can avoid the situation by an alteration in sentence structure. It may not even occur to him to attempt those very constructions and elements which would reveal his most serious difficulties, unless he has been particularly instructed to use them.

A second difficulty in the evaluation of written work is the scoring. Unless the teacher makes an actual error count of each paper — a procedure that is extremely time-consuming — he cannot arrive at anything approximating an exact score; even then, the value given to each paper will be quite subjective, because of the differences in content, and therefore in number and variety of mechanical skills represented, from paper to paper. Strictly, the pupil's score should depend upon the *ratio* between the number of errors made and the number

of opportunities for error which his composition presented. It is obviously very difficult, however, to determine how many such opportunities there are. Uniformity in evaluating the papers for a given assignment may be furthered by the preparation of a rating scale in which a range of possible scores, from very good to very poor, is established for each of the major divisions of English mechanics. This necessitates considering each paper with reference to each of those major divisions and then adding the separate scores to determine the total evaluation of the paper, but the advantages of the method may compensate for the greater length of time consumed in its use.

These difficulties and inadequacies do not disqualify subjective evaluation of pupil expression as a means of measuring achievement, but they should be borne in mind when this type of appraisal is employed. Theme-writing, of course, should have a very important place in instruction, because it gives the pupil an opportunity to use what he has learned in a natural writing situation and it gives the teacher an opportunity to indicate the proper correction of errors that might otherwise become habitual. As a teaching device, it fulfills a unique purpose; as a measuring device, it should be supplemented by more objective methods of determining skill in correct usage.

Objective Testing on Usage

Objective tests of English usage, while a few degrees removed from the natural writing situation, compensate for that disadvantage by eliminating many of the difficulties inherent in the subjective method of evaluation just discussed. In objective examinations, a wide and representative sampling of important error situations can be included; the content is uniform for the entire group to be measured, permitting a uniform standard of rating; and the scoring is simpler, more rapid, and free from subjective factors.

Innumerable types of objective exercises have been devised for separate testing on the various elements and aspects of correct usage. Only a few can be reproduced here for illustrative purposes, but these will suggest other forms and adaptations.

Spelling

The most commonly employed type of spelling test is the list-dictation test, in which the teacher reads each word separately and the pupils write down its correct spelling. For general classroom use this has proved to be one of the most satisfactory methods of measuring spelling ability. Being a pure recall test, it more nearly approximates the natural writing situation than do the self-administering types of tests. It is simple to construct and easy to administer. The word-in-sentence list-dictation type of test, a variant form in which the teacher pronounces the word, uses it in a sentence, and then pronounces it again, reduces the possibility of errors due to misunderstanding on the part of the pupils and is essential in testing on homonyms, but is more time-consuming, both in construction and administration.

There are many kinds of self-administering spelling tests in current use in standardized examinations. Examples of six varieties (cited and evaluated by Cook [8]) are presented below, with brief comments concerning their advantages and disadvantages.

Right-Wrong Test

Directions: If the spelling of a word is RIGHT put a circle around the R in front of it; if it is WRONG encircle the W.

R W 1. aranged
R W 2. article
R W 3. asuring

[8] W W Cook, "The Measurement of General Spelling Ability Involving Controlled Comparisons Between Techniques." University of Iowa *Studies in Education*, vol VI, no. 6, pp. 60–84. 1932.

Advantages: Purely objective, easily constructed, administered, and scored; pupil must be able to choose between the given form and all other possible forms of spelling of each word, rather than between only two or a few given forms. Disadvantages: Measures only ability to recognize incorrect spellings rather than ability to spell correctly; subject to guessing.

Recognition Two-Response Test

Directions: In the following spelling list, each word is spelled in two ways. You are to select the correct spelling of each word and put its NUMBER (not the word itself) in the parentheses at the right.

1.	(1)	forty	(2)	fourty	( )
2.	(1)	allways	(2)	always	( )
3.	(1)	fought	(2)	faught	( )

Advantages: Purely objective, easily scored, economical of administration time. Disadvantages: Measures recognition rather than recall; difficult to construct unless a list of frequent misspellings is available; offers only two choices in each item; subject to guessing.

Recognition Four-Response Test

Directions: Each of the following words is spelled in four ways. You are to select the correct spelling of each word and put its NUMBER (not the word itself) in the parentheses at the right.

1.	(1) fourty	(2) forty	(3) fortey	(4) fourtey	( )
2.	(1) always	(2) alway	(3) allways	(4) alaway	( )
3.	(1) fot	(2) fought	(3) foght	(4) faut	( )

Advantages: Purely objective, easily scored, reasonably economical of administration time; offers sufficient choices to reduce factor of guessing. Disadvantages: Measures recognition rather than recall; construction requires recourse

to a list of common misspellings; subject to guessing to a certain extent.

Column Proof-Reading Recall Test

Directions: Some of the words in the following list are spelled incorrectly. If a word is spelled correctly, place a C on the line opposite it. If it is spelled incorrectly, write the correct spelling of the word on the line opposite it.

1. aranged __________
2. article __________
3. asuring __________

Advantages: Easy to construct; administration and scoring time reasonably economical; tests both recognition and recall of correct spellings. Disadvantages: Not strictly objective; open to guessing to some degree; list of frequent misspellings needed for its construction.

Word-in-Sentence Recall Test

Directions: Write the correct spelling of the underlined word in each of the following sentences.

1. It was an eskwizit piece of lace. __________
2. I am greatfull for your assistance. __________
3. The accident was unfortunitate. __________

The underlined words are deliberately mutilated as much as possible without destroying their phonic individuality, in order to avoid suggesting any part of the correct spelling to the pupil. The pupil is expected to recognize the intended word by the context and the phonetic quality of the misspelled word, and to write its correct spelling in the blank.

Advantages: Strictly a recall form of test; reduces guessing to a minimum. Disadvantages: Not strictly objective; requires considerable time for construction, administration, and scoring; the gross misspellings suggested may influence the

pupil's spelling of the word; because of mutilation, the words may measure intelligence and comprehension rather than spelling ability.

Sentence Proof-Reading Recall Test

Directions: Many of the following sentences, but not all of them, contain misspelled words. You are to find these misspelled words, underline them, and write the correct spelling in the space to the right of each sentence. If all of the words in a sentence are spelled correctly, place a C in the space.

1. Place the picture on the bulliten board. ____________
2. Ordinarly I work ten hours per day. ____________
3. I have no appology to make. ____________

Advantages: Principally a recall test; factor of guessing almost eliminated. Disadvantages: Not strictly objective; requires considerable time to construct, administer, and score; irrelevant factor of proof-reading ability may influence score.

On the basis of his experiment, Cook concluded that the proof-reading recall test was, in general, superior to the other five types illustrated above.

Objective devices such as these need be resorted to only in special cases where the list-dictation method is less feasible. They are useful in the separate testing of several different groups when strict comparability of results from group to group is desired, in any situation where variations in dictation and irrelevant difficulties due to enunciation are to be avoided, and in the testing of pupils whose hearing is defective. In most general classroom testing, the list-dictation method is satisfactory and preferable.

Punctuation

Perhaps the best type of punctuation test, because most closely analogous to the "free" writing situation, is the dicta-

tion exercise. The teacher dictates sentences or paragraphs which the pupil copies and punctuates properly. The administrator must avoid giving hints to the pupil by the way in which the material is dictated; for example, suggesting commas by pauses, periods by falling inflection, interrogation points by rising inflection. Because the material must be read slowly and because the pupil may have to recopy it in order to submit a legible paper, the time required for dictation tests is considerably greater than for other types of examinations. The scoring also is time-consuming, and may present difficulties due to illegibility of writing, to the fact that the pupils often introduce errors not previously anticipated by the teacher, and so on. When properly administered, however, the dictation test has the value of permitting the pupil to demonstrate his knowledge without external suggestion, and of making somewhat the same demands upon the pupil as would the writing of a theme, while maintaining for the teacher a fair uniformity in the range and distribution of error situations. It also facilitates the detection and correction of the punctuation difficulties of individual pupils. As a teaching device, it has similar advantages, which need not be elucidated at length here.

A fairly good substitute for the dictation test is that in which the pupil is presented with an unpunctuated paragraph or list of sentences and told to provide the correct punctuation. One danger in this form is that the complete lack of punctuation may confuse the meaning of the material and thus lead to unintentional errors on the part of the pupil. If punctuation containing many errors is already included in the test material and the pupil is told to make the necessary corrections, the exercise will measure both recognition and recall of correct usage.

The scoring of such usage tests is likely to be very difficult

and partially subjective unless special provision for objective control is made. If each line of the material contains only one "planted" error, the pupil can be instructed to make the correction by writing in a blank at the right of the line the word or words adjoining the error and indicating the punctuation which properly should precede or follow them. This method, which has been used in the Iowa Every-Pupil and the Cooperative English correctness tests, permits rapid and efficient scoring by means of a scoring key. The key, of course, must include, not only the most common form of correction of each error, but also any acceptable alternate forms; for this reason, the error situations included in the test material must be clear-cut and not open to argument on the grounds of deviation of modern usage from the traditional forms taught in the older textbooks and courses of study.

A scoring device which enables the pupil to make his corrections directly in the text of the test material and which permits objective scoring was developed in the construction of the 1935 Iowa Every-Pupil Test of Basic Language Skills for Grades 6, 7, and 8. A part of the first page of this test and the corresponding part of the scoring key are reproduced on pages 422–423. The scoring key itself is a duplicate of the corresponding sections of the test, with the proper punctuation marks indicated in large size and heavy inking so as to be readily discernible by the scorer. The blank portion of the key to the right of the dotted line is cut away, so that, when ready for use, the key has a jagged right-hand margin which parallels the position of the errors in the test itself. When the key is laid upon the test page, both the error situation and the proper correction, side by side, are plainly visible to the scorer, and each line can readily be marked as right or wrong in the margin of the test page. Here again, only one error situation can be included in each line.

PART III – PUNCTUATION

DIRECTIONS: Every one of the sentences below contains *one* error in punctuation You are to correct each error, making your correction right in the sentence itself The samples below will show you how the sentences should look after you have made the corrections.

If a punctuation mark is missing, put it in where it belongs. (In some of the sentences you may need to put in quotation marks at *two* places in the sentence. All other sentences contain an error at only *one* place) For example, in the first sample the quotation marks were originally left out around "Home Sweet Home "

If the wrong punctuation mark has been used, draw a vertical line through it and then put the correct punctuation mark beside it For example, in the second sample the question mark at the end of the sentence is incorrect. It has therefore been crossed out and a period placed beside it

If a punctuation mark is found where none belongs, simply draw a line through it For example, in the third sample a comma does not belong after "town." It has therefore been crossed out

In the fourth sample, the apostrophe was originally left out of "doesn't" It has therefore been written in. In the fifth sample, the period after "me" is incorrect, so it has been crossed out, and a comma has been written beside it. Notice that the comma is written *inside* the quotation marks

Correct the rest of the sentences in the same way Make your corrections very plainly, and draw your vertical lines exactly *through* any wrong punctuation marks

---

Sample 1. He played "Home Sweet Home."

Sample 2: I wonder who he is?.

Sample 3: I went to town, yesterday.

Sample 4: It doesn't look like rain.

Sample 5: "Give me.," he said, "some cake."

1. Who can work this problem (1)
2. We drove through Mt Vernon this summer. (2)
3. The rain and sun made the gardens grow (3)
4. When the time came to go nobody was ready. (4)
5. "Fire" screamed the boy, as he ran from the house. (5)
6. Would you like to come too? (6)
7. We left at ten oclock. (7)
8. Nevertheless they wished to go. (8)
9. Her address is 822 W Ash Street. (9)
10. At one time he lived in St Paul. (10)

SCORING KEY FOR TEST C, PART III

DIRECTIONS: This page constitutes the scoring key for page 6 (the first page of the Punctuation Test) Corrections of all errors in punctuation are clearly indicated, since they have been written in by hand in heavy inking and extra large size.

With a pair of scissors or a sharp pen knife, cut very carefully along the irregular dotted lines indicated by the arrows. The key will then be ready for use To score column 1 (items 1 to 10) of the pupil's paper, proceed as follows Lay the key on the pupil's paper so that each sentence on the key is directly over the corresponding sentence of the pupil's paper Then move the key horizontally about an inch to the left. Each of the proper corrections made by the pupil will then appear about an inch to the right of the corresponding correction on the key. With a colored pencil, draw a straight horizontal line through the small number in parentheses after each sentence that has been properly corrected. If the correction on the pupil's paper does not correspond with that on the answer key, draw a cross through the number in parentheses at the end of the sentence. Disregard completely any corrections that the pupil may have made at other places in the sentence than that indicated by the heavy corrections on the key

After having scored column 1, turn the key around and place the other irregular margin over column 2, adjusting the key as before so that the corrections on the key are just opposite and about an inch to the left of the corresponding places on the pupil's paper Score each item as before by drawing a horizontal line or a cross through the number in parentheses to the right of the item.

Prepare the key for page 7 in the same fashion, and score the items in the same way.

The total score on Part III is simply the number of sentences that have been properly corrected, and can be determined by counting the number of horizontal lines that have been drawn through the numbers to the right of each column

In an effort to achieve strictly objective scoring, the constructors of standardized tests have sometimes employed the form of exercise in which the pupil indicates merely whether a given sentence is punctuated correctly or incorrectly. The evidence yielded by such an exercise is very inadequate. The pupil may properly mark a sentence as right or wrong because he "feels" it is so, without knowing why or in what specific instance it is right or wrong. Even in those variations which require him to indicate the type of error by encircling a letter (as the letter *c* for comma errors) in the margin, there is no means of knowing whether he detected the true error or whether he had reference to an imaginary mistake. At best, the exercise measures only the pupil's ability to recognize the correctness of the given punctuation, and may neglect entirely his ability to supply the proper punctuation where needed. In any case, it is open to guessing.

Capitalization

Here again, the dictation exercise has the same general merits and demerits as in testing on punctuation, and can be used to advantage in the ordinary classroom situation.

Most of the strictly objective devices for measuring skill in capitalization have the same fundamental structure: the presentation of sentence material in which the pupil is to capitalize the proper words. The variations of this technique are principally differences in the manner in which the pupil indicates the correct responses. Underlining of the words to be capitalized is sometimes employed, but this method is clumsy to score and does not permit the inclusion of improperly capitalized words in the test material. Both of these disadvantages can be overcome by requiring the pupil to write correctly, in a marginal blank, the word that contains a capitalization error, or, as in the Iowa Every-Pupil Test of Basic Language Skills,

by numbering each word in the line and requiring the pupil to indicate the number of the incorrect word or to indicate a zero if the line contains no errors. In the latter two techniques, of course, only one real error can be included in a line; to the poorly equipped pupil, however, every important word in the line will present a possible error-situation, and the amount of discrimination required in selecting the correct response is therefore much greater than may at first be apparent. This fact should be borne in mind in constructing the test material.

Grammatical Usage

The more commonly employed techniques of testing for grammar or language usage are illustrated in the following examples.

He (doesn't don't) want to go home.

The pupil may be directed either to underline the correct word or to cross out the incorrect word. Both methods are difficult to score. The scoring may be simplified by the following device.

> Directions: In each of the following exercises, only one of the two words or phrases printed in bold-face type is correct. You are to select the correct word or phrase and write its *number* in the parentheses at the right.
>
> He (1) **doesn't** (2) **don't** want to go home. ( )

These are straight two-choice recognition tests. A much better form — probably the most satisfactory method of testing for grammatical usage — is illustrated by the following items, which test both for recognition of errors and for recall of correct usage.

> Directions: Some of the following sentences contain errors in grammar; others are entirely correct. Read each sentence carefully. If it contains a word that is used incorrectly, write

the correct form of that word in the blank at the right. If you think the sentence is correct as it stands, write a *C* in the blank.

He don't want to go home. . . . .
They brought gifts for John and me. . . . .

Attempts have been made to test for pure recall by omitting the test word and requiring the pupil to supply the proper form.

Each of the boys took . . . . own books home.

In this instance the pupil is expected to supply the word "his." Exercises of this type are extremely difficult to build because of the danger of ambiguity. The intended word must be made obvious by the context, and there must be no possibility of satisfactory alternatives. The number of error-situations to which the exercise is adaptable is limited by these requirements. Also, it measures the irrelevant factor of comprehension ability to a large extent.

Tests in which the pupil merely marks a sentence as right or wrong have virtually no usefulness for the classroom teacher, since they measure only skill in detection and ignore the much more important correction ability. Furthermore, they too readily permit guessing.

In considering achievement tests which purport to test grammatical correctness and correct usage of idiom and phrase, the teacher should have in mind that weaknesses in achievement tests sometimes are incident to weaknesses in the curriculum. Though teachers and published descriptions of courses agree that what is to be taught is functional grammar, there is no exact knowledge and certainly no agreement as to what functional grammar is.[9] Achievement tests in English usage

[9] For promising explorations of the field see H. N. Rivlin, *Functional Grammar* New York: Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1930. Also Verna L Newsome, "Making English Grammar Function," *English Journal*, January, 1934, pp. 48–57.

will be still more effective when there is greater knowledge of the relative importance of different items, and of the relative difficulty of items, and when teachers themselves come to some agreement as to what grammar is functional. A detailed analysis of the grammar content in 22 junior and 22 senior high-school courses shows that the amount of grammar which is considered functional varies from 45 topics to 149. The report of the nation-wide study for the rebuilding of the English usage curriculum shows wide differences between the estimates of relative difficulty of types and items of English usage, and the actual relative difficulties found as the result of investigation.[10] More effective tests will naturally result from more certain knowledge of what a rational curriculum of English usage is, and of the degree of difficulty of the items which it includes. Racial, geographical, and economic factors unite to make the needs of students extremely varied in regard to the English usage curriculum. The needs of two different schools in the same town may be widely diverse. Hence the teacher of English may very profitably collect material, test its different items for difficulty, and arrange them in test form for the needs of the local situation. In this task he will apply the principles of test-making, and study the form of available tests, for some of these have proved to be extremely effective agents in the establishment and maintenance of skills, a fact which is evidenced by the scores made in the state of Iowa when compared with the norms of other public school systems as measured by the same instruments. Strong evidence is also adduced in the progressive improvement in test scores from grades 3 through 12 which has resulted from the emphasis which schools co-operating in the O'Rourke study have placed upon the elimination of certain errors.

[10] L. J. O'Rourke, *Rebuilding the English-Usage Curriculum to Insure Greater Mastery of Essentials.* Washington, D.C.: The Psychological Institute, 1934.

Amid the wide divergence of theory and practice in various parts of the country in regard to what grammar is to be taught, how may the teacher of English evaluate the results he is accomplishing? In Appendix A at the end of O'Rourke's report already referred to, is a list of 79 items of usage arranged in order of importance and in the order in which they should be presented. The teacher has in this list a basis for what is to be tested from the point of view of a nation-wide survey. But it should be pointed out again that local conditions vary widely. In some school populations, habitually correct usage of a considerable number of these items has been established in the home. The teacher of English will select the test indicated after the status of his group in habitual English usage is known to him, and he will use tests of grammatical correctness as much to discover what is already known as to determine attainments in terms of national norms.

Sentence Structure

Because of the mechanical difficulties involved in their preparation, administration, and scoring, the construction of objective examinations is less practicable in testing on sentence structure than in testing on other phases of English mechanics. The simplest type of exercise, which is the right-wrong technique, is inadequate for reasons stated in preceding paragraphs. The type in which the pupil selects from a group of sentences the one which contains no structural defects yields a more satisfactory measure of detection ability and is relatively easy to construct. For classroom usage, it is perhaps the best of the objective techniques.

More complex forms, which attempt to measure correction ability, have been developed for use in some standardized tests. For example:

(1) of maple sugar, (2) enjoyed most, (3) is the making, (4) of farming, (5) the part, (6) by a boy 5 4 2 6 3 1

Here the pupil reorganizes the sentence and indicates the result by writing the numbers of the words and phrases in proper sequence. Besides being difficult to construct, such forms consume an inordinate amount of administration time. They are likely to be very confusing to the pupil, and ambiguities may operate to the detriment of his score. The exercise may measure general intelligence and comprehension to as great a degree as it does ability in handling sentence structure.

Vocabulary

The most common form of vocabulary test is that in which the pupil is given a list of words, opposite each of which is given a number of words (usually four or five). In each item the pupil is required to select from these words the one which most nearly approximates the meaning of the test word and to write its number in a blank or in parentheses. For example:

Nauseate: (1) sadden (2) worry (3) anger (4) excite (5) sicken. . . . . (5)

In such an item, the response words should not themselves be more difficult than the test word. The wrong responses should be such as will appear plausible to the uninformed pupil. Words that are similar to the test word in either sound or appearance, but not in meaning, will make good wrong responses, since they will attract the pupil whose knowledge is uncertain and who may have a tendency to guess. All the responses should be as nearly homogeneous as possible; i.e., one should not construct an item in which one response is a noun, another a verb, another a prepositional phrase, etc.

The variant form of item in which the test word is presented

in a sentence may be useful in measuring the pupil's understanding of words that have more than one important meaning, and for which the context is necessary to indicate which of the meanings is involved. This type of item requires even greater care in its construction than does the type exemplified above, since the wrong responses must appear plausible with reference to the context but, at the same time, must not be defensible as the correct response.

It should be noted that vocabulary tests of the types just considered are strictly valid only for the measurement of the pupil's passive or reading vocabulary and do not indicate reliably the extent of his active vocabulary, i.e., the vocabulary which he uses habitually in his own speech and writing. It should be noted also that there is a real distinction between speaking and writing vocabularies, and that both may not be effectively measured by the same instrument. Valid measures of the latter types of vocabularies can be obtained only through an analysis of the pupil's own speech and writing Such analyses, obviously, are extremely difficult to make. About the best that the limited time of the teacher will allow is a subjective evaluation of the pupil's spoken and written language from this point of view.

Combined Objective Tests of Usage

There are two principal methods of testing simultaneously the pupil's skill in all the phases of English usage: the dictation exercise and the proof-reading test.

In the dictation exercise, the pupil copies verbatim the material dictated to him and then recopies it, making all necessary corrections in grammar, supplying the correct punctuation, capitalization, spelling, etc. The method requires a considerable amount of time in both administration and scoring, and, as has already been pointed out, the scoring difficulties are ap-

preciable. Where the teacher can devote to it the time and effort demanded, however, this type of testing is desirable because of its resemblance to the "free" writing situation. In order to simplify the scoring, the pupil should be instructed to make as few changes as possible in the actual text of the material. Grammar errors should be mainly one- or two-word situations; if changes in entire sentence structure or in organization are required, the task of appraisal will be little different from subjective evaluation of an original theme.

The general merits and limitations of proof-reading tests have already been described or implied in the preceding sections. The mixed-error type of proof-reading test has the particular advantage that, as in his own writing, the pupil must be alert to all phases of English mechanics simultaneously. The Iowa Every-Pupil Test in English Correctness is an example of this type of test. The examination consists of six short themes containing errors of spelling, punctuation, grammar, etc. No line includes more than one error, and some lines are entirely correct. The pupil is instructed to provide the correction for the error in a blank to the right of the line, or to write an "R" in the blank if the line is correct.

Certain weaknesses of this kind of test must be recognized. The irrelevant factor of sheer proof-reading ability may, of course, operate to some extent. The sampling of errors represented in the test must exclude some which may be important but which cannot be economically corrected in the manner directed or cannot be objectively scored. There is some danger that, knowing each line contains only one error, the pupil may "correct" an imaginary error and carelessly overlook the real or "planted" error in another part of the line. For this reason, and also because the segregation of types of errors cannot be handled very conveniently in scoring, the mixed-error proof-reading test has little diagnostic value. For the measurement

of general achievement in the use of English mechanics, however, it is one of the most practicable methods at present available.

A comparatively new test form in this field is that called the "construction shift," which was used in the Wisconsin Language Test — Gamma, and is now used in the Cooperative English Test, Series 1. In a recent article,[11] this testing technique has been described as follows: "The form of the test is simple. It is not a purely objective test; it allows some variation in correct response. It requires actual writing by the student. The student is instructed to make a certain specified change in a given sentence (which may be correct, incorrect, or merely poor), together with additional changes made necessary by the specified change. For example, the student is told to 'substitute *a few* for *one*' in the sentence, 'There was one of the men waiting for me.' The student is to make the smallest number of changes possible, and to make no changes in meaning, tense, word order, etc., except those necessitated by the specific directions. In the example given above, the student must write, 'There *were* a few . . .' (not 'There *would have been*' or 'There *are*'). The student need not rewrite the entire sentence, but may make the necessary changes by crossing out and adding words. In the example given the student should cross out 'was one' and write in 'were a few.'"

The following are a few of the examples cited in the article to illustrate the use of this technique in measuring knowledge of various points of usage.

Punctuation:

Change *but* to *nevertheless*: You cannot go to the concert, but you can read about it in the newspaper.

. . . . . . concert; nevertheless, you (OR) . . . . . concert. Nevertheless . . . . .

[11] John M and Ruth C. Stalnaker, "A 'Construction Shift' English Test." *English Journal* (College Edition), vol. XXIV, no 8, October, 1935.

Grammar:

Subordinate the first clause: I did not approve of what he said, and I told him how I felt.

Because I did not approve of what he said, I told him how I felt.

Start the sentence *Upon graduating from school*: My father took me to Europe.

Upon graduating from school, I was taken to Europe by my father.

Change *suspect* to *suspicion*: I suspect that she is guilty.

My suspicion is that she is guilty. (Not I *suspicion* that . . . .)

Capitalization:

Omit the word Amherst: Three of my friends went to Amherst College.

. . . . went to college.

General emphasis and clarity:

Change the sentence so as to emphasize the fact that Homer was the maker of a nation: Homer was the maker not only of a nation but also of a language.

Homer was the maker not only of a language but also of a nation.

The test is not purely objective, since some of the sentences can be changed in more than one correct manner, but this difficulty can be met by anticipating such variations or by observing and rating them consistently in the scoring. Care must be taken in the construction of the items to reduce to a minimum the possibility of variations in response. Users of this testing technique have recommended it highly on the grounds of reliability of scoring, adaptability to varying levels of difficulty, and apparent relationship to general writing ability. It appears, however, to require considerable ingenuity on the part of the test constructor, particularly if one is to avoid the danger of placing an undue premium upon general intelligence or upon the ability to comprehend directions.

b. Power of Expression

The ability to organize and express effectively the results of the individual's own thought and expression has been included in the tabulation of objectives because it is a generally recognized goal of courses in composition. It is, however, an example of those desirable outcomes for which no adequate measuring instruments have yet been devised. The subjective factors involved in evaluating an individual's composition cannot readily be controlled. While there may be loose agreement upon what elements, in general, tend to produce quality in writing, there is likely to be far less agreement in the evaluation of any specific composition. For this reason, few concrete suggestions can be given for the measurement of the ability here considered.

Composition scales have been developed which purport to provide the teacher with a standard for rating the themes of his pupils. These scales generally consist of a set of short sample themes, ranging from very poor to very good, with a numerical value assigned to each. The teacher compares a particular theme of one of his own pupils to this set, decides which sample is most nearly comparable in quality, and gives to the theme the numerical value stated for the sample in the scale. Such scales have their principal value in the lower grades, where the theme topics assigned to the pupils are simple and the general composition work quite elementary. They do not constitute a truly objective standard, since the scorer exercises subjective judgment in comparing any one theme to the scale. Furthermore, the greater the divergence between the nature of the pupil's compositions and the nature of the samples in the scale, the greater will be the influence of this subjective factor and the less the value of the scale used. The teacher may find standardized composition scales of some usefulness as an external check upon his own individual scale of

rating, but at the upper levels they will have little other utility. At these levels, the teacher must depend mainly upon his own judgment, basing his appraisal upon consideration of such elements as soundness of ideas presented in the theme; clarity and coherence of organization; selection, arrangement, and emphasis of details; and vividness and convincingness of expression.

If a somewhat impersonal topic is assigned to the entire class, the teacher can, to a certain extent, determine beforehand what may be expected in a good theme on that topic and may evaluate the themes in relation to that subjective norm. The predetermined standard, however, must be sufficiently flexible to allow for worthy methods of presentation and treatment that have not been anticipated. Also, the topic assigned must not be concerned with a subject that has already been thought through or discussed in the classroom or in the study materials used in the course; it must demand from the pupil originality of thought.

If the topic is a more personal one, it may be helpful to delay the actual grading until all papers have been read and arranged in order of general merit. With the range of talent thus defined, the general grade limits may be more readily determined and each paper may be more equitably graded with reference to the others.

2. Development of Desirable Attitudes

No specific definition of the desirable attitudes to be developed through courses in English has ever been agreed upon. Roughly, perhaps, they may be described as, on the one hand, the desire to speak and write correctly, and, on the other, interest in utilizing acquired knowledge and ability in self-expression wherever opportunity occurs. The former will, of course, be evidenced indirectly through the pupil's general

test performance and classwork. For evidence of the latter, the teacher must depend upon personal observation of the behavior of each individual pupil in those situations which afford opportunity for expression.

With reference to speaking attitudes, the teacher might consider such questions as: Does the student participate of his own volition in class discussions and in meetings of school organization; does he take his share in club programs; does he volunteer for programs for assemblies, and for a speaking part in dramatics; does he participate in debates formal or informal; does he share in conversation at social gatherings?

In so far as writing is concerned, the points to be considered might include the following: Does the student do more than the minimum when writing opportunities occur in the classroom; does he prepare of his own accord written contributions to class discussions; is he a member of the writers' club; does he contribute to school publications; is he interested in writing items of school or other news for the local papers; does he produce stories, poems, etc., for his own satisfaction?

Evidence of the development of these attitudes cannot be evaluated if it is not recorded. Either in the teacher's own record or preferably in the cumulative record of the individual student, brief statements should be made of acts of behavior which for any particular school are deemed most indicative; the significance and nature of such acts will depend on the opportunities provided for the exercise of them. As these records are kept and evaluations attempted from them, the growth of desirable attitudes in speaking and writing may be found to be associated with typical patterns of behavior in particular schools; and these typical patterns may suggest short-cut methods to a more rapid but still valid evaluation.

The nebulosity of any objective that concerns "attitudes," the difficulties of culling evidence of their development, and

the very dubious significance of whatever evidence is collected throw serious doubt upon the wisdom of expending upon the measurement of that objective extensive time and effort which might be employed more profitably in other directions. Perhaps, after all, the pupil's general achievement in the field of English, when he is effectively guided therein, both proceeds from and leads to desirable "attitudes," and is therefore the best indication of their possession.

QUESTIONS FOR DISCUSSION

1. Discuss the relationship between the problems of instructional objectives and testing in the field of literature. Analyze independently what you consider to be the desired objectives of instruction and indicate which of these you believe can be measured adequately. Where possible, cite actual instances — culled either from your own experience in test construction or from standardized tests — to support your contentions.
2. What special problems must be considered in testing reading comprehension with reference to literature? Supplement as extensively as you can the points suggested in the chapter. Indicate any points which you consider important but which you believe are not amenable to measurement, stating reasons for your opinions.
3. Discuss the advantages and disadvantages of the "essay" type of question in measuring comprehension and appreciation of literature. Suggest specific methods which may be employed in this type of measurement. Present, with a critical evaluation, examples of such variations in approach as have already come to your attention.
4. Present examples of various types of objective exercises employed in testing comprehension of literature. Analyze their merits and shortcomings. Which types do you regard as superior, and why?
5. Select three literary passages and construct objective multiple-choice questions for each passage. Evaluate the extent to

which your exercises cover the various reading problems peculiar to comprehension of literature.

6. What are some of the structural defects to be particularly avoided in the construction of objective exercises of the question-on-passage type? Find, in published or teacher-made tests, examples of items defective in these respects.
7. What factors should be considered in the selection of material for this type of exercise?
8. How can superficial or rote learning be penalized in testing for acquaintance with literature? Construct 10 multiple-choice items representing different methods of approach.
9. For each of three literary selections, construct three multiple-choice items each of which tests for progressively greater depth of familiarity with the selection.
10. Find six examples of items, purporting to test for acquaintance with literature, which contain serious clues or cues to the correct response.
11. Construct 10 multiple-choice items representing a variety of approaches in testing for knowledge of literary history.
12. Construct at least three different *types* of objective test exercises for each of the major objectives of instruction in literature. In each case, compare the three types and state the relative merits of each type.
13. Construct a comprehensive objective achievement test for a particular course in literature, in whatever form you prefer. Submit also a critical analysis of this test, from the points of view of content and form.
14. Construct an "essay" examination over the same material, and compare the two tests, noting in what respects each is superior and inferior.
15. Suggest and discuss methods of obtaining an approximate measure of achievement with reference to the less tangible and less immediate objectives of instruction in literature.
16. Why does testing on rules and definitions yield an inadequate measure of achievement in English mechanics? What structural weaknesses are common to this type of test?

17. Select, from available tests, four examples of different methods of testing for *application* of grammatical rules and definitions. Evaluate each.

18. What objections may be raised to basing an evaluation of achievement upon the pupil's own written work? What defenses are tenable?

19. Does the dictation method meet the objections referred to in the preceding question? How? What are its limitations?

20. What are the major advantages of objective tests of achievement in English mechanics?

21. What type of spelling test is most practicable for general classroom use? Why?

22. Find examples of four self-administering types of spelling tests, and evaluate each. What factors should be considered in determining the type of test to be used?

23. Construct a proof-reading exercise on punctuation in which special provision for the pupil's corrections is made apart from the textual matter. One in which the pupil's corrections are made in the text itself. What advantages does either method have over the other?

24. Find and evaluate examples of several different techniques for measuring capitalization ability.

25. Which is preferable, the recognition or the recall test, as a measure of grammatical usage? Why? Construct an exercise which you believe embodies the desirable characteristics of a good test of grammatical usage.

26. What difficulties hinder the construction of objective tests on sentence structure? Find and evaluate three illustrations of various methods of testing this phase of English correctness.

27. Construct 10 multiple-choice items on vocabulary. What factors should be considered in building such a test?

28. How do differences in speaking and writing vocabularies affect the validity of a vocabulary test?

29. What is the principal advantage of tests which measure simultaneously all phases of English usage?

30. What are the major limitations of proof-reading tests of English usage? Construct a one-page test of this type.

31. In what ways is the "construction shift" test superior or inferior to the proof-reading test?

32. Discuss the obstacles to measurement of ability in composition. Suggest any methods of measurement with which you may be familiar.

33. Discuss the relationship between test construction and the measurement of objectives concerned with "attitudes."

PART III

THE FUNCTIONS AND LIMITATIONS OF EXAMINATIONS

CHAPTER IX

THE USES AND ABUSES OF EXAMINATIONS

1. The Need of a Philosophy of Examinations

PREVIOUS chapters of this book have described the modern testing movement, analyzed the principles and procedures of test construction, discussed detailed objectives, and examined the special testing problems of the five major subject-matter fields. It may be worthwhile to conclude with a more general, non-technical discussion of a fundamental question which must have occurred to many readers, namely, the always persistent (and perilous) question, What's the use? What do we accomplish by all this testing and examining anyway? Is it worth all the effort and money it costs? Do we perchance do harm instead of good, or harm as well as good, with our examinations, and especially through the uses we make of their results?

In short, it may seem that we need, not only techniques, but also some philosophy of tests and examinations, dealing especially with the right uses of such instruments and their wrong uses or abuses.

It is the purpose of this chapter to attempt such a philosophy; to formulate, tentatively at least, some general doctrine as to the right use of examinations of all kinds, old-type and new-type alike.

To this end I shall review the various uses which we educators do actually make of examinations and tests, with such appraisal of these uses as might naturally occur to any experienced teacher or administrator who gave critical thought to the matter. Perhaps when we have finished such a survey

we shall see more clearly both what we have been doing in the past and what we ought to do.

2. Kinds of Examinations

It may be well to begin by summarizing the kinds of examinations we now have to confront. Classifying by what it is sought to measure in each case, we find at least five kinds:

1. *Achievement tests.* These include: (a) the old *essay-type examinations*; (b) *problem-type examinations*, used from of old in courses in mathematics and some other subjects; (c) *oral examinations*, which have long been in vogue in connection with doctoral dissertations and have recently come to play a part in the Comprehensive Examinations for Honors at Swarthmore and similar comprehensive examinations now required for honors or for graduation at many other colleges; and (d) *objective achievement tests* (new-type), of which the tests prepared by the Cooperative Test Service and those used in the Iowa Every-Pupil Testing Program may serve as examples.

2. *General intelligence tests,* such as the Binet-Stanford and Otis tests.

3. *Aptitude tests*: the Scholastic Aptitude Test given by the College Entrance Examination Board, the American Council on Education Scholastic Aptitude Test, the Seashore Measures of Musical Talent, etc.

4. *Interest tests*, of which the Strong Vocational Interest Test is probably the best known.

5. *Personality inventories and ratings*, of many kinds, as different as the Bernreuter Personality Inventory and the Trait Study recently devised by Dr. Eugene Randolph Smith's committee, working under the Progressive Education Association's Commission on the Relation of School and College.

It will be seen at once that of these five kinds of examina-

tions the last four are new, having made their way into schools and colleges within the last twenty years. For these four kinds it can hardly be said that we have as yet found any general, commonly accepted, institutionalized use or uses. So far, most of us have handled these tests and their results very informally; the scores or rankings have served as clues or cues for personnel officers in conferences with advisees, but have been entered on official records only as *obiter dicta*, if at all. This situation is probably due in part to the fact that we have hardly had time as yet to assimilate these new measures into our old routines, but partly also to the nature of these tests and their results, which, happily, do not lend themselves readily to the kind of uses we have been accustomed to make of examinations.[1]

It follows that my proposed survey of the uses of examinations will be concerned almost wholly with the first kind, namely, achievement tests. And under achievement tests we shall really be dealing chiefly with the essay-type, since we may safely guess that ninety per cent of our actual examining still employs that type; with some help from problem-type and oral examinations (which are only auxiliary variants of the essay-type), and with still limited but rapidly growing use of the new-type objective achievement tests.

3. Actual Uses of Examinations

When one begins to meditate upon the achievement tests, old and new, which are actually given in schools and colleges, one can hardly fail to be astonished by their multiplicity; by

[1] The beginnings of a general, institutional use of aptitude test results may be found in the regular figuring of such results into a general predictive index — "Bogie" at Princeton, "General Prediction" at Yale, "College Aptitude Rating" at Minnesota See A. B. Crawford, "Aptitude Testing in Personnel Procedure," *Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, July, 1934; and J. B Johnston, "Advising College Students," *Journal of Higher Education*, June, 1930.

the sheer quantity of examining in which we are engaged. The following list makes no attempt to be exhaustive: daily quizzes, weekly quizzes, and monthly quizzes, at all levels; semester examinations and year examinations, at all levels; college entrance examinations; comprehensive examinations for promotion to the senior college and for graduation or honors; master's and doctoral examinations; and professional licensing examinations (for lawyers, teachers, physicians, dentists, pharmacists, nurses, opticians, veterinarians, mid-wives, barbers, stationary engineers, etc.). Again we are impelled to ask, why do we give such countless tests?

Probably many persons will answer immediately that the obvious and legitimate purpose of practically all this achievement testing is the *maintenance of standards*; which seems to mean either one or both of two things: the imposition and enforcement of a prescribed curriculum; or the enforcement of some minimum degree of attainment.

Upon reflection it is likely to be added that a second, closely related purpose is *selection*, involving also rejection; the segregation of the fit from the unfit, the sheep from the goats, for some particular purpose.

And in the literature on the subject we find still other purposes cited as supplementary or in some cases primary. It is said that examinations:

> Provide a powerful *incentive to study*;
> Constitute a *method of instruction*;
> Stimulate or even enforce *improvement of teaching*;
> Afford a basis for the *appraisal of teachers and departments*;
> May be of assistance in the *accrediting of schools and colleges*;
> Furnish data for *educational guidance*;
> And accumulate *materials for research*.

This is certainly a notable miscellany of objectives; many of them possessing obviously very great social importance. We

are fortunate indeed if all or any of them can be adequately served by series of measurements the great majority of which are of unknown and highly dubious reliability. But let us consider these several purposes or uses one by one with such comments as may seem appropriate.

4. Standards-Enforcement

First, the *maintenance of standards*, including, as already noted, the enforcement both of prescribed subject matter and of some more or less definitely envisaged degree of attainment.

If one is to raise any objections here, he must tread softly, because he is approaching what is to many educators in service, especially many of the older ones, the Ark of the Covenant. When those of us who are now in our forties and fifties were learning our trade, "Standards" was the great word, the new gospel, in American education. To set Standards, and enforce Standards, and raise Standards, and raise them ever more, was nearly the whole duty of teachers and principals and presidents. Let me confess that I learned that gospel in my first job, from men who were leaders in their generation, and that for twenty years I never doubted that it contained practically everything needful for educational salvation.

And please note that it was a real and salutary gospel in its day. For American education in the Nineties was a variegated hodgepodge of uncoordinated practices, which had never undergone any scrutiny from anyone, and many of which were shoddy, futile, and absurd beyond anything we now conceive of; and the Age of Standards, as the period from 1890 to 1915 may come to be called, brought some order out of that chaos, eliminated many dishonest schools and incompetent teachers, and vastly improved equipment, curricula, and methods. This should not be forgotten.

But it is easy to see now that the gospel of standardization

was based in part on a tacit, uncriticized, and unwarranted assumption: the assumption, namely, that all men and particularly all children are equal and alike, or nearly equal and nearly alike, not only in their right to Life, Liberty, and the Pursuit of Happiness, as the democratic doctrine declares, but also in kind and degree of intelligence and capacity. In short, we quite overlooked the little matter of Individual Differences, of which, in fact, little or nothing was heard thirty and forty years ago. And we who were making the Standards were, of course, educators, automatically selected in the main on the basis of considerable scholastic or bookish aptitude. Quite naturally, and quite unconsciously, we created our Standards in our own image. We provided for such equipment and curricula and methods as would have been fine for us when we were in school, and prescribed such degrees of attainment as we should triumphantly and joyfully have met if they had been set for us. And all this was excellent and greatly beneficial for that part of the oncoming generation which was like us. But we entirely missed the fact that the great majority of the children in schools, and even a substantial minority of the undergraduates in colleges, were not at all like us, but were endowed with quite other kinds of capacity and often with lesser degrees of capacity of any kind.

For those others — the majority — our generalized uniform Standards were all wrong, in that they gave exclusive sanction and exclusive prestige to tasks which were unsuited to their kinds of capacity or impossible for their degrees of capacity or both. As a consequence, the Standards have caused, and are now causing, untold damage and untellable misery to vast numbers of children in the elementary schools and high schools and even in colleges, thwarting and warping and beating down young lives.

We vaguely imagined that in providing and enforcing sub-

stantially the same kind of instruction for all children we were serving the democratic principle already cited: Life, Liberty, and the Pursuit of Happiness for everybody. But in fact our uniform and exclusively intellectual Standards have deprived a majority of our pupils of the last two of those rights!

In extreme cases children are provoked — by our Standards indirectly — to unsocial rebellion. Senator Copeland has recently emphasized the hideous fact that the present average age of criminals in this country is 23, with the largest age group at 19 and the next largest at 18, and has very gently but plainly brought home a partial responsibility for this situation to the schools and their Uniform Standards.

"The reports of all school systems that have come to my notice," he writes, "reveal an appallingly large number of academic 'failures' in every grade year after year. Authentic testimony indicates that many if not most pre-delinquents are found in these 'failing' groups. Are these failures inevitable, or are they due largely to the fact that our curriculum is still so rigid that many of our pupils are confronted with academic tasks which are beyond their abilities, irrelevant to their interests and needs, and which foredoom them to what our inflexible academic standards call 'failure'?" [2]

We did not foresee when we made up our beautiful Standards and proceeded to enforce them so firmly that we were about to

[2] "Education and the Prevention of Crime," address delivered at the meeting of the Department of Superintendence, National Education Association, Cleveland, Ohio, February 28, 1934, published in *Educational Record*, April, 1934. This address was based in part on the investigation of crime and racketeering conducted by a Senate committee of which Dr Copeland is chairman. Out of the same investigation has come the Washington Experiment in Character Education, described by Superintendent Frank W. Ballou at the Third Educational Conference, New York City, November 1, 1934; Dr. Ballou's address has been published in the *Report of the Third Educational Conference*, American Council on Education, 1935.

contribute to a wave of juvenile crime! But even worse, because much more widespread, is the less lurid effect on the vast masses of children who are not driven to crime but only to partial frustration, discouragement, futility, boredom, and various kinds of "escape," into daydreams or into frivolous and unsatisfying distractions outside of school hours.

In sum: the principle of Standards was a thesis which overlooked an equally valid antithesis, the principle of Individual Differences. In the dialectic of educational history that antithetical principle has now come to the fore, and we are forced to construct a synthesis that shall embody the valid aspects of both principles. And since examining has played a major part in the enforcement of Standards, some wiser use of examinations may be vital to the working out of our new synthesis.

Can we indicate briefly what the new synthesis is likely to be, and what kind of examining we shall need in connection with it?

As has already been emphasized, Standards — meaning bookish standards and high bookish standards — are fine for those for whom they are fine; for boys and girls and young men and women possessing a superior degree of scholastic or bookish ability. Our grievous error in this matter of Standards was merely that we conceived of a single standard uniformly applicable to the whole school population.

Plainly, then, what we need is *more* standards; many highly differentiated and carefully graded standards, adapted to as many kinds of capacity and to as many levels of attainment as we can identify. Each of the new differentiated standards would naturally like our present Standards carry its appropriate prescription or indication of subject matter or kind and method of instruction and its own norms of excellence. All should be given equal sanction, and to each should be accorded

its appropriate prestige. Thus, and thus only, shall we succeed in bringing to all children those benefits — first-rate facilities and feasible goals and successful and happy attainment — which our old Uniform Standards sought to bring to all but have actually brought only to one limited group, namely, those who are in some degree bookishly superior.

For the stimulation of achievement and the demonstration of success within each of our new differentiated standards, we shall undoubtedly use appropriately differentiated achievement examinations, both old-type and new-type; though for this delicate business our tests will certainly have to be more carefully constructed for greater reliability than most of our essay-type examinations have had in the past.

But it becomes clear upon very brief reflection that the major rôle of examining in any such set-up will be a new one: not that of determining, at the end of an educational process, whether a common goal has been attained, but rather of discovering, at the beginning of the process and at various points throughout, what different goals should be aimed at.

In short, under a differentiated educational system, adapted to all classifiable kinds and degrees of individual differences, the old major rôle of examinations, the maintenance of standards, will remain, but will become minor. The emergent major rôle of examining is clearly *guidance*; in which process we shall employ both achievement tests and all those other, new kinds of tests — of general intelligence, special aptitude, interest, and personality — for which, as noted above, we have been unable so far to find any very clear use in schools. We can see now that the reason we have been unable to make much use of these other tests is that even when we have their results and recognize those results as valid in the individual case we can seldom, under our present rigid system, do anything about them, so far at least as school programs are concerned.

5. Justifiable and Non-Justifiable Standards-Enforcement

But where does this analysis of the standardizing use of achievement examinations lead us with respect to the appropriateness and rightness of those parts of our present vast examining process in which the maintenance of standards is clearly the major purpose?

It leads us, I think, to justification of some of these items, with some qualifications, and to equally plain condemnation of others.

The clearest case for justification is probably the professional licensing examination, for lawyers, teachers, physicians, and all the way down to midwives and barbers. In such examining we are not concerned primarily with education and the welfare of the individual, but with the protection of society against incompetence and malpractice. Accordingly, such examinations may properly prescribe appropriate subject matter and skills and enforce high standards of attainment; and the standards may well be raised ever higher, as fast as the development of the professions requires and the resources of society permit.

But even here there are two qualifications to be noted:

First, that a high rate of failure in bar, medical, or other professional examinations, such as often prevails, is not a cause for satisfaction but a symptom of gross maladjustment in the system as a whole. This is not to suggest that the candidates who fail should be accepted, it is more likely that an appreciable number who "pass" should be rejected. But it is to suggest that the incompetence of nearly all the failures should have been discovered long before they reached the professional examination and the candidates steered into other fields; not encouraged or permitted to waste their time and money in prolonged preparation for such final defeat. The unsuccessful candidate in a bar examination, for example, has com-

monly had 19 years of general and special schooling. What blank ignorance of our student or bland unconcern with his purposes and welfare is revealed by the fact that through nearly two decades nobody noticed that he lacked the capabilities to make a lawyer, or, having noted this circumstance, concerned himself with it! Such an example may serve to drive home the need for the new emergent function of examining, namely, guidance.

Secondly, I am told by experts in testing that no single examination or brief series of examinations which they have ever devised or expect to succeed in devising attains anything like full reliability for individual cases. If this be so, it would appear that the weight put upon many professional examinations is more than they ought to bear, scientifically or equitably. It does not follow that such examinations ought not to be given, but it does seem to follow that their results should be used, to a larger extent than at present, in connection with other accumulated evidence of the candidates' qualifications and competence. We shall have occasion to return to this point.

What has been said above in justification of the selective, standards-maintaining function of professional licensing examinations may be predicated also, *with the same qualifications*, of examinations for admission, promotion and graduation in professional schools, whether graduate or undergraduate. In these cases also the public interest must be paramount.

On a somewhat different basis a similar justification must be conceded to the endowed colleges and to private secondary and elementary schools. Any such school or college has a clear legal and moral right to choose the clientele it wishes to serve and to offer its facilities to that group only; only, for example, to the bookishly superior. And, having so chosen, any such school or college may properly make use of selective,

standards-maintaining examinations in connection with admission, promotion, and graduation. The process of selective admission especially, in such cases, is in fact a process of educational guidance: guiding into the institution those who may be expected to profit by its facilities, and guiding away, if this be not too sardonic a euphemism for rejection, those who cannot be expected to be successful in the kind of work that is offered.

There is, however, a heavy responsibility upon any such institution to see to it that its selective, standards-maintaining procedures shall have the highest possible reliability for the individual case; because every time those procedures slip serious damage is done to the student victim of the unreliability. Everyone knows that at present the reliability of those procedures is grievously low. The fact that of the students admitted to colleges in any September only about one-half will be graduated four years later is evidence on this point. (Of course, a number drop out for unforeseeable, non-academic reasons — ill health, financial difficulties, and the like; but the residue who are ejected or leave voluntarily because they are misfits is very large.) This situation is clearly due to the fact that admissions, whether by College Board examinations, or Regents' examinations, or entrance examinations given by the individual college, or certificate, are based on too little evidence, *and* that retention or ejection after admission is also based on too little evidence; in both cases on a very few measurements of low reliability. As a result, even the sacred business of maintaining standards is botched, because of taking too little trouble, because we rely on evidence that no testing expert would accept as valid. And both the guidance function of the admissions procedure, which should be its primary aspect, and educational guidance after admission are almost ignored; are in fact nearly impossible because of inadequate data. A

suggestion for a more adequate method of admissions, *a better maintenance of standards*, serving also as a basis for educational guidance within the college, will be developed in a later section of this paper.

When we come to the schools, of every level, which are supported by public taxation, the legal and moral situation becomes entirely different, and *uniform* standards-enforcing examinations must plainly be condemned. These schools are maintained, as so many orators have boasted, to provide education "for all the children of all the people." And we do not do that by setting up Uniform Standards and standards-enforcing examinations, based upon tasks which are useful and goals which are feasible for only one limited kind and degree of capacity; and, through the agency of such examinations, "flunking," demoting, or retarding all other kinds and degrees. It seems clear that we cannot make further progress in our public schools, elementary and secondary, towards a really democratic education or a really effective education for citizenship until we are prepared to set up a multiplicity of differentiated standards, as suggested above. For really democratic public education must be the exact opposite of the fallaciously democratic *uniform* education we have heretofore sought to impose.

The category of public education includes, of course, the tax-supported state universities and state colleges. These institutions commonly feel themselves to be in a cruel dilemma in the matter of Standards. They are practically all required by law, or by public opinion which would quickly crystallize into law if flouted, to admit all or substantially all graduates of the public high schools of the state, a group which obviously includes varying kinds and degrees of capacity. On the other hand, their administrations and faculties usually hold, with almost religious fervor, that they must uphold Standards —

meaning uniform, high, bookish standards — comparable to those of the great endowed universities.

The practical solution of this *impasse* which some of them have adopted is to receive nearly all comers, as required by law or public opinion, but to effect, shortly after admission, a wholesale elimination, by maintaining in the college courses, through the agency, largely, of examinations and quizzes, Standards which the "non-college material" cannot meet. This is one of the most brutal and indefensible procedures that any type of education has ever sponsored.

And the dilemma which has led to it exists only in the minds of faculties and administrations. By what commandment, other than that of blind imitativeness and conformity, are they required to maintain *for all their students* the kind of Standards that the endowed universities, with their entirely different obligations and responsibilities, have set up?

Certainly a state university should give courses and curricula designed for young people of superior bookish ability, of whom they receive a considerable number, and in those courses and curricula they should maintain Standards second to none; and they must maintain in their professional schools, both graduate and undergraduate, the standards which the respective professions demand; but clearly they should receive into such curricula and schools only those students who have the requisite kind and degree of capacity; and there is no reason why in their huge organizations they should not provide other courses and curricula definitely adapted to other kinds and lower degrees of capacity, in which appropriately differentiated and lowered standards of attainment should be set. They will not be doing a humane or honest job until they either effect such differentiation or else obtain legislative approval for genuinely selective admission and enforce such admission.

So far as I know there is just one state institution which has

looked this problem in the face and made progress towards its solution, namely, the University of Minnesota, in the establishment of its General College, embodying this principle of differentiation of offerings and standards.[3]

6. Examinations as an Incentive to Study

Our survey of the first uses ordinarily assigned to achievement examinations, namely, the maintenance of standards and selection, has taken us over considerable ground; but this may be proper enough since these related functions are undoubtedly the dominant ones in most current examining. The other alleged uses may be much more briefly reviewed, with one exception.

The third utility of examinations listed earlier in this article was, it may be remembered, that of providing an *incentive to study*.

This point has been conclusively disposed by Mrs. Eleanor Perry Wood as follows:

"There is little doubt that students are frequently, if not always, stimulated to greater efforts by examinations, but it is a question whether very many receive any genuinely educational motivation from the examination experiences which they have under the present system. On the contrary, we are all aware of the fact that many students are stimulated and provoked to types of conduct and of habits which are not only uneducational, but in some instances morally as well as intellectually negative. Genuine educational motivation is a compound of the individual pupil's abilities and effective interests, and no motivation can long persist which is not fed by consciousness on the part of the student that what he is

[3] See J. B. Johnston *Education for Democracy*. University of Minnesota Press, 1934, especially chapter VI, "New Demands for Differential Treatment of Students in the College of Liberal Arts," and chapter VII, "The Development of Differential College Curricula."

doing is significant, and that he is doing it with visible success and with satisfaction to himself." [4]

Putting the matter another way: an examination may constitute a minor, temporary incentive of real educational quality in cases where the student's task is congenial to his interests and capacities, it provides an occasion for review and summation and a pleasing opportunity for the demonstration of success to himself and his teachers. But what I have elsewhere called the "policial quiz," designed to enforce at least periodical industry upon unwilling students, can result only in "cribs" — very few of them technically dishonest, in the form of notes brought in; nearly all of them in the students' heads, where they have been "crammed" the night before. Morally there is supposed to be a vital distinction between these external and internal "cribs," but so far as effective learning goes there is no substantial difference; in either case the student knows practically nothing about the course a few hours after he leaves the examination room.

7. Examinations as a Method of Instruction

A fourth utility attributed to examinations is that they constitute *a method of instruction.*

An impressive phrase; but in many cases where it is used one finds it difficult to give it specific content. In some instances it seems to refer to the incentive-to-study idea already discussed, particularly to the idea that an impending examination may stimulate students to summarize and organize considerable bodies of material covered over a period of weeks or months. It has been granted above that this may be an incidental value of examinations for students who are well placed in the work they are doing.

[4] Eleanor Perry Wood. "Examining the Uses of Examinations." *Harvard Teachers Record*, April, 1933.

In other cases the idea seems to be that through examination papers, corrected and returned, students may be apprised of gaps in their knowledge or errors in their thinking; which is certainly true. But unfortunately the great bulk of essay-type achievement tests are so meager in their sampling that the assistance thus afforded to the student is extremely incomplete and random. A considerable number of other gaps and errors which he might have revealed, if he had had what he would have called the bad luck to be asked other questions, are not brought to his attention. Moreover, when the primary purposes of an examination are those of standards-enforcement and selection, i.e., passing or failing, the psychology of the situation is against much realization of this learning value. The student is likely to regret a mistake not because of the gap revealed in his fabric of knowledge but because of the ten per cent cut from his grade. And since the ten per cent is irremediably gone, why bother much about the gap?

It seems to follow that where it is really desired to use examinations as a method of instruction — where, in other words, this idea is more than a rationalization — the examinations should be given definitely and exclusively for this purpose and should be emphatically dissociated from standards-enforcement; that is to say, they should be corrected but not graded; or, if they are graded, it should be most explicitly understood that the grades are solely for the students' own information as to their measure of attainment and will not be recorded or used in any way in connection with passing, promotion, honors, eligibility, or the like. Any teacher who sets out to use tests in this way is likely to find himself modifying his examination papers considerably with respect to scope and type of sampling, and will encounter also a startling metamorphosis in the attitude of his students towards examinations; he will find that

they actually relish tests of this kind as interesting and helpful occasions.

This has been the experience of scattered teachers in various schools and colleges who have occasionally experimented with this kind of testing, and it has recently been demonstrated on a large scale under the New Plan at the University of Chicago, as reported in Dean Boucher's new book, in which a number of instances are given and are summarized as follows:[5]

"Though the official Board examinations (for promotion to the Senior College and for graduation) are the only required examinations, it was agreed when the New Plan was adopted that reviews, tests, quizzes, and examinations of various types should be given at times and in amounts as needed to attain desired educational results, the need to be determined by faculty and student judgments in the light of experience as each course progressed. Interestingly enough, in not a few courses students have asked that examinations be given more frequently than the instructors thought necessary to acquaint both students and instructors adequately with the rate and degree of progress being made by the students. The tendency is to accede to student requests in such instances. In more than one instance at the end of the Autumn and Winter quarters, after several instructional tests have been given during the quarter upon the conclusion of logical units of work, it has been left to student vote to determine whether a final examination on the entire quarter's work should be given. In every such instance the students have asked for the examination, though they knew that the result would have no officially recorded effect upon their attainment of the junior-college certificate. They did know, however, that the examination papers

[5] Chauncey Samuel Boucher *The Chicago College Plan*, pp 115, 116, (1935). Reprinted by permission of the University of Chicago Press.

would be carefully corrected and returned, and would thus serve as an excellent instructional aid in their endeavor to master as much of the field as possible in preparation for the official Board examinations."

Here we have the real thing in the use of examinations as a method of instruction, with the necessary complete dissociation from the standards-enforcement function, which function is taken care of separately at Chicago by the official Board examinations.

8. Do Examinations Conduce to Improvement of Teaching?

Next we may consider the value of examinations as a means of stimulating or enforcing *improvement of teaching*.

This idea also seems to have diverse meanings in different mouths. Where it is invoked in connection with such procedures as those of the College Entrance Examination Board and the New York Regents it seems to mean that through the agency of centralized examinations teachers have been led to select materials of instruction which are deemed desirable, to cover a desiderated amount of such materials, and to be thorough and meticulous in their work, or at least in such aspects of it as will contribute to a good showing in the examinations. But the improvement of teaching in this sense is obviously synonymous with the enforcement of standards; which objective or use of examinations has already been discussed with some fullness, except for one point, which is highly relevant under this heading.

That point is the contention of a considerable number of teachers, especially those of the Progressive persuasion, that standards-enforcing examinations, far from contributing to the improvement of teaching, lead to its deterioration; that they force teachers into patterns of routine, compel them to ignore individual differences in their students, kill their spon-

taneity and initiative, and above all cause them to concentrate on factual material, mere information (to be used in passing the examinations), to the neglect of the vital goals of education, such as growth and power and understandings and appreciations and socialized attitudes.

In my own view there has been historically considerable basis for this objection. Certainly a great many teachers who have taught under the College Board system or the New York Regents' system are wont to proclaim it loudly. From this point of view the item *Improvement of Teaching* should be stricken from the list of the uses of examinations, and we should set up a new list of *disutilities* of examinations, headed, perhaps, with the item Stultification of Teaching.

Nevertheless it is perfectly clear that we are not going to abandon examinations. They are necessary instruments of too many important educational and social purposes. Accordingly the best we can do is to minimize as far as possible this aspect of disutility. It will be noted that this aspect inheres chiefly in the standards-enforcing and selective uses of examinations. It does not appear at all, for example, in their genuine, separate use as a method of instruction, nor yet in the remaining major use of examinations, already suggested and to be discussed below, namely, guidance. Moreover, it will tend to disappear, even in connection with standards-enforcing examinations:

1. As such examinations become more comprehensive, covering larger areas, with more freedom allowed. (The old charges are seldom if ever brought against the College Board's new "English Comprehensive.")

2. If and when we set up a multiplicity of differentiated standards in place of our present Uniform Standards.

3. As we come to use the results even of standards-enforcing examinations less as isolated measures and more in connection

with accumulated records of the students' capacities and previous achievements.

9. The Appraisal of Teachers and Departments

School and college administrators have long played with the idea that a study of examination results, of the distribution of the grades given by different instructors, might be made to yield some evidence of the comparative teaching effectiveness of the members of their staffs. In the past this idea has usually been abandoned after brief consideration because of the notorious lack of comparability of the old essay-type examinations; but with the advent of the objective and standardized new-type tests it recurs very temptingly.

It is tempting for perfectly legitimate reasons. In the elementary and secondary schools it has been recognized all along that teaching effectiveness should be the principal criterion in the selection, retention, and promotion of teachers; hence, a pressing administrative need for measures of pedagogical success much more definite and objective than any we have ever had. Even college and university presidents have admitted the importance of this criterion, and have avowed that they would make use of it more than they do if it could be as definitely appraised as administrative effectiveness or activity in research. And beyond this all experiments looking to the improvement of teaching processes must be somewhat inconclusive until we can have reliable, comparable measures of results.

It does seem possible that in time methods of realizing this highly desirable theoretical utility of comparable tests may be worked out. But it is clear also that for the present any procedures in this direction should be entered upon with caution and watchful skepticism and should be regarded as experimental. No simple comparison of the percentile rankings of the same students in different courses, for example, or of the

average or median scores of different classes in the same course, will yield safe interpretations, no matter how objective and reliable the test or tests may be. We must await the development of controls and techniques as yet only partially envisaged.

Some of the items which will enter into an eventual technique can, of course, be foreseen. One such item will undoubtedly be the checking of achievement test results against intelligence test scores; this procedure is already generally followed, and obviously increases the reliability of measurement or indication of probable effectiveness of instruction. As we come to have a larger number of special aptitude tests, a check of achievement test results against specific aptitude scores, as well as against general intelligence scores, should further increase the probability of reliable indication. For example, achievement tests in music could now be checked, not only against general intelligence, but against the Seashore Measures of Musical Talent; and achievement tests in physics against the arithmetical and analogies subdivisions of the American Council on Education Scholastic Aptitude Test, since scores in these subtests have been found to correlate well with success in physical science.

But it seems certain that still further controls, including careful definition of necessary limiting conditions, will have to be worked out before administrators will have that dependable yardstick which they so greatly need in this matter.

Even now, however, individual teachers may profitably use examination results, especially on standardized tests, for *self-appraisal*, including the discovery of some of their own shortcomings, such as failure to include or emphasize important topics or to explain terms and principles with clarity. Such individuals can be trusted to give themselves the benefit of the grave technical uncertainties involved, whereas administrators, even department heads, dealing with others than them-

selves, might often be tempted away from the necessary caution and come to treat as definite evidence results which would have at most some uncertain probability.

This seems to me about all that can be safely recommended at present under this head, except, of course, in the case of trained investigators thoroughly familiar with testing procedures and the statistical interpretation of test results. But, as already noted, we may reasonably hope for further help at this point as the science and art of testing progresses.

10. The Accrediting of Schools and Colleges

Now that we are all dissatisfied with the old quantitative standards for accrediting schools and colleges which were set up twenty-five years ago, we have naturally thought of the possibility of using comparable standardized tests to check up on whole institutions, both secondary and higher. To test the product rather than prescribe the process seems a good idea; and this idea has already been invoked in studies conducted at Indiana University and at the State University of Iowa and in the elaborate investigation of accrediting procedures sponsored by the North Central Association of Colleges and Secondary Schools, which has resulted in that Association's quite revolutionary new qualitative criteria. In the course of that study, "an extended testing program was engaged in, and institutions were rated according to each test and according to a composite test score." [6] Some idea of rating institutions on the basis of achievement test results was implicit also, of course, in the procedures of the Pennsylvania Study.

But this use of examinations is clearly subject to caveats similar to those already presented in connection with their use for the appraisal of departments or of individual teachers.

[6] Dr George F. Zook, "Accreditation of Secondary Schools in the Light of the North Central Association Report." *Educational Record*, January, 1935.

This is evidently the conclusion reached by North Central Association's commission, and the whole argument has been so admirably presented by Dr. Zook in a report of that commission's work that I shall take the liberty of quoting him at length:[7]

> At this point may I digress to comment upon a line of discussion which has been interpreted by many people as removing all reason for accrediting colleges and schools? I refer to the development of the testing and personnel movements, which it is said substitute the accrediting of students as individuals for the accrediting of institutions. Such an argument seems very intriguing at first, but I am convinced that conclusions much too far-reaching in character have been drawn from the studies which have been made.
>
> Recent years have seen a tremendous advance in devising scientific measures for testing the native ability and the achievement of individual students. All of us rejoice at the progress which has been made in this field. We believe that the testing movement will gradually enable us to solve many of our most difficult problems in counseling, guidance, and placement. If I err in my attitude toward this new device of education it is the same error which many other ardent friends of the movement commit, namely, that of placing far greater reliance on the results of tests than dispassionate judgment probably justifies. I mention this because I do not wish my position relative to the value of the testing movement to be misunderstood.
>
> The researches of Professor H. H. Remmers in Indiana and the group at the State University of Iowa, for example, are in point. In both of these states through an extensive testing program of students enrolled in the secondary schools it was demonstrated, first, that there are marked differences between the achievement of students in the various schools, and that the present methods of accrediting schools did not by any means separate out the schools whose pupils on the average achieved the most from those

[7] Dr. George F. Zook, address on "Accrediting Schools and Colleges," delivered at the Second Joint Educational Conference, New York City, November 2, 1933, and published in the report of the Conference, *Educational Measurement and Guidance*, American Council on Education, Washington, D.C., 1933.

which had lower averages. Furthermore, even the schools with the lowest averages had considerable percentages of students in the upper brackets, while the best always contain many who do not show up well....

It should be admitted at once, as I have endeavored to do elsewhere in this paper, that the methods used by the accrediting agencies in evaluating the effectiveness of a school or college have been crude and unscientific, but it does not follow, simply because there is a wide difference between two schools as to the levels which their students reach respectively on achievement tests, that one is a better or a more effective school than the other. Any two schools will vary greatly in types of students which they enroll just as any single school will contain students with a rather wide range of ability. Hence to assume that only those schools or colleges whose students make the highest average on tests are the ones which should receive recognition is to ignore altogether both the level of native ability and of preparation which students possess at the time of entrance. A school or a college may enroll students of fairly high ability and good preparation and yet do relatively a poor piece of work. On the other hand, a school or college enrolling students whose level of native ability and preparation may be fairly low and which adapts its resources vigorously to a program suited to the needs of its students may be in its realm as effective if not more effective than the first institution. Until, therefore, we relate the results of tests for native ability to the results of achievement tests from the same students, until we compare the achievement of students at the end of two, three, or four years with what they started out with, and until we take into account the differences in objectives which the respective schools and colleges may be expected to have, we have no right to assume that a high level of achievement test scores is any better gauge of the effectiveness of the school or college than the crude methods now being followed by the accrediting agencies as a means of identifying the effectiveness or the quality of the institution. So far as I know the conclusions which have been reached relative to the substitution of the accrediting of individuals for the accrediting of institutions have not been based on considerations of this kind.

When that stage of development is reached in the testing pro-

gram the results of tests may become a significant means of identifying the quality and the effectiveness of the educational process at a given school or college in comparison with what is found through the same process at another school or college. To whatever extent, therefore, tests can be used in the process of accrediting schools and colleges, I am sure that they will be welcomed as one of the few objective and scientific means of evaluating an institution that we now have at our disposal.

On the other hand, not even the most ardent friend of the testing movement would claim that the results of tests measure all that we expect our youth to get out of school or college. An English schoolmaster recently said that he believed that the education which a school boy receives out of class was more significant than what he secures in the classroom. Whether we agree with him or not we must agree that tests do not measure this aspect of the educational process very well, if at all.

In the same way the results of tests do not measure all that we expect a school or a college to be. Fond fathers and mothers, for example, want to know whether the social life of the school or college is healthful; the people of a community want to know whether their schools have adequate equipment to do the things they attempt to do; the constituency of a school or college wants to know whether the finances are being handled properly; in short, society is interested in the total pattern of an educational institution, including that part of the educational process which can be measured objectively, that part which is imponderable, and even that administrative and physical machinery and equipment commonly regarded as necessary or desirable for an effective school or college.

I trust, therefore, that you will join me in regarding the accrediting of students through the testing and personnel movements not as a substitute for the accrediting of schools and colleges but as a supplement to it. Both are extremely valuable and important social devices operating for essentially different though supplementary purposes. While the accrediting of individuals may modify the methods of accrediting institutions and even be used as an important means to that end, it will never be more than one of those means. Society is anxious for the new ways of identifying the native ability, the special interests, and the

> achievement of individuals, but it is equally interested in ways and means of identifying the total effectiveness and the adequacy of the institutions which it establishes for these and other purposes incidental thereto.

Later in the same address Dr. Zook presents what seems to be the nub of the matter in the following sentences:

> The testing movement may prove very helpful, but I wish now to hazard the guess that the accrediting associations should not themselves engage in a comprehensive testing program in institutions which are applying for accrediting. They may, however, properly expect an institution to show that it has an active testing program and to make the results available.

In other words, self-appraisal by an individual institution, like an individual teacher, on the basis of test results, is probably feasible and worth while; but for some time to come at least testing should play only an incidental and auxiliary part in general accrediting procedures.

11. The Emergent Major Function of Examinations: Guidance

There remain two other utilities which have been claimed for examinations: that they furnish data for educational guidance, and that they accumulate materials for research. But since everyone would admit, I judge, that the latter of these functions must usually be incidental and secondary, we need discuss here only the former: the use of examinations in connection with *educational guidance*, which I have already characterized as their emergent major function.

The reason why guidance is the emergent major function of examining is, of course, that it is the emergent major function of the entire educational process. At long last we are beginning to understand that we must learn our pupils before we can teach them; that unless we know quite a lot about a student's abilities, aptitudes, interests, and personality, and

his previous attainments, and his background and circumstances, we cannot, except by blind chance, select the teaching materials, i.e., "courses," or methods or disciplines or goals which will be really serviceable to him; that in the absence of such knowledge we are very likely to impose upon him materials, methods, disciplines, and goals that will be thwarting and stultifying; that in the light of such knowledge, on the other hand, we can, or under a sufficiently flexible system could, plan for him an educational program into which he would throw himself with zest, and in which he could work on his own power and, almost independently of us, attain self-education, which, as we so often announce, is the only real education.

All of us have now and then the experience of steering some student who has been failing and miserable in a program for which he was not well adapted into some other program which really fits his needs, and seeing him blossom out into happy success. One problem case solved! But we realize now that we ought to be doing this, not now and then, but all the time with all our students at every level. In short we are coming to appreciate the literal correctness of Professor Morrison's startling dictum "to the effect that teachers should spend half their time studying their pupils as growing individuals, and the rest of their time doing what that study indicates is desirable and necessary." [8]

[8] Cited from Dr. Ben D. Wood's "The Major Strategy of Guidance" (*Educational Record*, October, 1934). Readers interested in educational guidance and the relation of examinations to guidance are referred to that article and to two other important articles by Professor Wood: "Basic Considerations in Educational Testing" (read at the National Education Association meeting in Minneapolis, February 28, 1933, and published by the Committee on Educational Testing, May, 1933), and "The Ultimate Basis for Satisfactory College-High School Relations" (*Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, July, 1934) Reprints of these three articles may be obtained from the Cooperative Test Service, 500 West 116th Street, New York City.

We are beginning to see also that this doctrine has two major corollaries:

First, *a very great diversification of our courses and methods and disciplines and goals;* the setting up of many differentiated standards, adapted to all classifiable kinds and degrees of Individual Differences. The theoretical ideal is an individual curriculum built for each individual boy and girl. This ideal we shall never fully attain for practical reasons of administration and expense. But there is no reason why it should not be nearly approached through an adequate increase in the variety of courses and methods of instruction in our existing schools and in new kinds of schools which should be created, *plus* a free and flexible utilization of this variety of courses and methods in the interest of each individual. The increased expense involved could be met from a fraction of the current expenditures of society upon that considerable proportion of crime, unemployment, and destitution which is directly traceable to the malfeasances of our present rigid educational system.

Second, *the general introduction into the schools throughout the Nation of methods now available for the study of individuals and individual guidance.*

In practice this second corollary will have to be developed first, because it is the easier and cheaper to develop, and because only the actual study of many thousands of individual students in many hundreds of schools and unavailing efforts to provide for the ascertained needs of those individuals within our present rigidities will bring home even to educators, not to mention boards of education and the tax-paying public, the desperate need for more diversified facilities.

It has to be conceded, of course, that the methods referred to as being now available for the study of individuals, with a view to educational and vocational guidance, leave much to

be desired, are capable of vast improvement. But the fact is that this aspect of the matter has been unduly stressed, and has been stressed largely as a defense mechanism, so that we might feel satisfied to postpone the effort (and expense) of introducing such methods into our own schools.

The other side of the truth, to which so many of us try to close our eyes, is that the methods already known of learning about boys and girls, ascertaining their abilities and aptitudes and interests and qualities and backgrounds and circumstances, and assembling such information for intelligent and highly useful use, are sufficient to enable us teachers and administrators to avoid at least many of our habitual mistakes and educational crimes, if only we will make use of them! Does a physician wait until he has a specific for a disease or an absolutely perfect method of diagnosis and therapy before he will undertake a case?

Which brings us back to our central topic of examinations and their use in educational guidance. Guidance has use not only for achievement tests, the only kind we use for all other purposes of examinations, but also, as previously noted, for the other, new kinds of tests which the psychologists and testing experts have developed: intelligence tests, special aptitude tests, vocational and avocational interest tests, and personality ratings.

In connection with achievement testing for guidance purposes three points may be made:

1. For the guidance purpose, even more vitally than for other purposes, a high degree of comparability of test results is important. We need to know, not only how well Johnny has done in meeting or excelling the somewhat vague minimum or "passing" standard of some particular teacher or even of some central examining board, but chiefly how he ranks, in his mastery of various materials of learning, in comparison with large groups of other students with similar and dis-

similar backgrounds from similar and dissimilar schools. This is the essential point which achievement tests can yield for purposes of guidance; that is, as a basis of judgment of ability and aptitude and as to the kind of school that should be attended, the materials and methods of instruction that will be profitable, and ultimately the occupation which may wisely be aimed at. It follows that, for guidance, the new-type, standardized, objective achievement test, because of the vastly greater comparability of its results, is much better than the old essay-type examination. Hence, the great importance for educational guidance of such series of comparable tests as are now provided by the Cooperative Test Service,[9] and of such broad testing programs as those sponsored by the Educational Records Bureau and the state-wide testing programs developed in Minnesota, Wisconsin, Ohio, Iowa, Colorado, Alabama, North Carolina, Kentucky, and other states.

2. Achievement testing for guidance serves its purpose most clearly and efficiently when it is dissociated from other purposes, especially from standards-enforcement and invidious selection; just as we have already seen that a real and effective use of examinations as a method of instruction must be dissociated from standards-enforcement. The obvious reason lies in the inescapable difference between a student's willing cooperativeness towards an examination the results of which he is assured will be used *for* him, to help him solve his own problems, and his instinctive effort to "beat" any examination whose results are going to be used *against* him, in matters of admission, promotion, or graduation. We may compare the ready willingness of anyone to have his blood pressure taken by his family physician as against the attitude with which the

[9] See H. E Hawkes, "The Cooperative Test Service," in *Educational Record*, January, 1931, or Max McConn, "The Cooperative Test Service," in *Journal of Higher Education*, May, 1931.

most upright among us would be likely to confront the blood-pressure lie-detector.

3. For the guidance purpose we need a large number of tests of each individual, for the reason already cited, that no single test, and no group of tests to be administered on one crucial occasion, can give us a valid diagnosis of an individual's capabilities or even of his achievements. For such diagnosis, and hence for educational guidance, we need, as I have written elsewhere, "*a series of comparable tests over a period of years*, through which the stresses and accidents of particular occasions may cancel, and by means of which we may follow both persistent levels and significant changes of capacity, interest, and attainment." [10]

The foregoing paragraphs contemplate the collection of a large amount of data for each student, including the results of many tests of many kinds over a period of years. With such data must be collated all the definite biographical material the student's adviser can obtain to illuminate his background and circumstances. Obviously we have need of some instrument to assemble this mass of information in clear and significant fashion; and fortunately such an instrument is at hand in the Cumulative Record Card, whether in the original form published by the American Council on Education, or in the adaptation used by the Educational Records Bureau, or in other variants developed in many schools and colleges throughout the country.

"These blanks or folders," if I may quote an earlier description, "provide an instrument for organizing and presenting, compactly and in part graphically, on a time projection, all the significant facts, both scholastic and personal, in regard to a student's career.... These significant facts include not

[10] "Educational Guidance Is Now Possible" *Educational Record*, October, 1933.

only school marks and the results of objective tests but also such items as health, physical and mental, family background, financial situation, study conditions and programs, extra-curricular activities, summer experiences, vocational experiences, unusual accomplishments, reported interests, educational and vocational plans, and the like, all carried forward from year to year to exhibit both permanent and changing conditions and tendencies." [11]

Every teacher or administrator or personnel officer who has used such cumulative records knows that in many cases they are almost self-interpreting; that the multifarious data they contain, compactly and sequentially organized and in part graphed, often fall at once into a clear picture, each part reinforcing every other part, and the whole affording decisive answers to such questions as to what courses the student should take and avoid, what kind of discipline he needs, what further schooling he should seek, and even what kinds of career he should and should not endeavor to follow — answers decisive and convincing not only to the teacher or school officer but also to the student himself and his parents. In other cases, of course, the picture is not so clear; one part of the data may seem to contradict other parts; but even such discrepancies usually afford clues for further investigation or experiment, with more hope of a final solution than any other procedure holds out.

Many of us hope that the general introduction into our

[11] "The Cooperative Test Service" *Journal of Higher Education*, May, 1931. Full descriptions of these forms, with samples, have been published in the *Supplement to Educational Record* for July, 1928; in the *Program for a Study of the Relations of Secondary and Higher Education* (the "Pennsylvania Study"), issued by the Carnegie Foundation for the Advancement of Teaching, 1928; and in an article on the Pennsylvania Study by the present writer in the *Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, vol. v, no. 2 (1929) See also a valuable discussion in Dr Ben D. Wood's "The Major Strategy of Guidance" *Educational Record*, October, 1934.

schools at every level of examinations given and used specifically for guidance, and a parallel general introduction of cumulative records to assemble the results of such examining with all other relevant data, will eventually solve the problem of admission to college and also the problem of guidance in college and with respect to professions, reducing to a minimum failures in college after admission and failures in professional schools and professional licensing examinations.

And we believe also that the increasing use of examinations for guidance and of cumulative records will at last reveal inescapably to all that pressing need, which only a few now perceive, for what I have called the differentiation of standards; involving the provision of many new courses and of new kinds of schools, and greatly increased flexibility in drawing upon the offerings of every kind of school in the interest of individual needs, in order that we may ultimately provide suitable instruction or training, with feasible goals, for every kind and degree of capacity.

12. Summary

I set out in this article to survey the actual uses of examinations in our current educational practice, with the hope of arriving at some clear doctrine as to the right use of this instrumentality. What conclusions may be drawn from the facts and considerations presented?

It would seem to me it has appeared:

1. That the great bulk of our present huge examining activity is achievement testing, using mainly the old essay-type examination, and devoted to the combined purposes of standards-enforcement and selection.

2. That the standards thus enforced are excellent and beneficial for one particular type of boy and girl and young man and young woman, namely, those of superior bookish ability.

3. That those same standards, however, because of their uniformity and rigidity, are thwarting and damaging to all other kinds and degrees of capacity.

4. That we need, therefore, to serve these other kinds and degrees, many more diversified standards, involving new kinds of courses and schools and methods and disciplines and goals.

5. That for the demonstration and maintenance of these new diversified standards we shall need a parallel diversification of achievement tests, of improved reliability.

6. That with the development of such diversification, however, the major use of examinations will come to be, not the enforcement of standards, but guidance.

7. That some parts of our present standards-enforcement examining are justifiable, including examinations for professional licensure and for admission, promotion, and graduation in professional schools, endowed colleges, and private secondary and elementary schools.

8. That even in these cases our present standards-enforcing examinations need support and correction from cumulative records of many previous tests and other data in regard to the students' careers.

9. That the enforcement of *uniform* standards in public schools at any level must be condemned; which is merely a corollary of (3) and (4).

10. That the alleged utility of examinations as an incentive to study is largely an illusion and rationalization; at best a minor, incidental value realized only in cases where the goal set is thoroughly appropriate to the students' capacities.

11. That the utility claimed for examinations as a method of instruction can be genuinely realized only when examinations are used specifically for that end and divorced from standards-enforcement.

12. That the utility of examinations for the improvement

of teaching is either synonymous with the enforcement of standards or highly dubious, contradicted, in fact, by claims that examinations tend to stultify teaching.

13. That such stultifying effects will, however, tend to disappear as we come to use more comprehensive tests, more diversified standards, and cumulative records.

14. That we have not yet developed the necessary technique for the safe general use of examination results for the appraisal of teachers or departments, but that individual teachers may profitably use such results for self-appraisal and self-diagnosis.

15. That, similarly, testing procedures cannot at present, if ever, be relied upon as a sole basis for the accrediting of schools and colleges, but may constitute a valuable item in accrediting, as contemplated in the new North Central Association criteria.

16. That the emergent major utility of examinations is educational guidance.

17. That the developing doctrine of guidance demands, first, diversification of standards and courses and schools, and, second, the general introduction of the methods now available for the study of individuals.

18. That in examining for guidance we need all known kinds of tests, many of them, preferably comparable tests, and preferably tests used explicitly for this purpose.

19. That cumulative records are essential for the summation and interpretation of personnel data, including test results and other relevant information.

20. That the general use of examinations for guidance and of cumulative records will ultimately go far towards solving the problems of admission to college, professional and other vocational guidance, and the needed diversification of standards.

BIBLIOGRAPHY

Richard D. Allen: Inor Group Guidance Series.
Vol. I: *Common Problems in Group Guidance*, 1933.
Vol. II: *Case-Conference Problems in Group Guidance*, 1933.
Vol. III: *Self-Measurement Projects in Group Guidance*, 1934.
Vol. IV: *Organization and Supervision of Guidance in Public Education*, 1934.
New York: Inor Publishing Company (30 Irving Place).

Richard D. Allen: "The Program of Measurement in the Secondary Schools of Providence." *Junior-Senior High School Clearing House*, 8:326–29; February, 1934.

Florence M. Baker: *The Teaching of French*. Boston: Houghton Mifflin Co., 1931.

Loren Bane: Analysis of Every-Pupil Test in United States History of the 1932 Iowa Academic Contest. Unpublished M. A. thesis, State University of Iowa, August, 1932.

Francis F. Bradshaw: "The Scope and Aim of a Personnel Program." *Educational Record*, 17:120–28; January, 1936.

John M. Brewer: *Education as Guidance*. New York: The Macmillan Co., 1933.

C. S. Boucher: *The Chicago College Plan*. Chicago: University of Chicago Press, 1935.

Oscar K. Buros: "Educational, Psychological, and Personality Tests of 1933 and 1934." Studies in Education, No. 7; Rutgers University Bulletin, Volume XI, No. 11, May, 1935.

Mary C. Champneys: *An English Bibliography of Examinations*. London: Macmillan and Co., Ltd., 1934.

W. W. Charters: "Education and Research at a Mechanics Institute: A Character Development Study." *Personnel Journal*, 12:119–23; August, 1933.

Frederic D. Cheydleur: "Placement and Attainment Examinations in Foreign Languages." *Educational Record*, 15:176–91; April, 1934.

Frederic D. Cheydleur: "Attainment Examinations in Foreign Languages at the University of Wisconsin." *French Review*, 6:190–214; February, 1933, and 6:282–300; March, 1933.

L. E. Cole: "Latin as a Preparation for French and for Spanish." *School and Society*, 19:618–22; May 24, 1924.

Algernon Coleman: *Experiments and Studies in Modern Language Teaching*. Chicago: University of Chicago Press, 1934.

Algernon Coleman: *Teaching of Modern Foreign Languages in the United States*, Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, Volume XII. New York: The Macmillan Co., 1929.

College Admission and Guidance, Report of an Educational Conference, New York City, November 3, 1932. Reprinted from *Educational Record* for January, 1933.

W. W. Cook: "The Measurement of General Spelling Ability Involving Controlled Comparisons Between Techniques." University of Iowa, *Studies in Education*, Vol. VI, No. 6, 1932.

Royal S. Copeland: "Education and the Prevention of Crime." *Educational Record*, 15:123–37; April, 1934.

Alice Corell and others: *Tentative Syllabus in Modern Foreign Languages*. Albany, New York: University of the State of New York, 1931.

A. B. Crawford: "Aptitude Testing in Personnel Procedure." *Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, pp. 293–309, July, 1934.

A. B. Crawford: "Some Criticisms of Current Practice in Educational Measurements." *Harvard Teachers Record*, 3:67–81; April, 1933.

A. B. Crawford: "Forecasting Freshman Achievement." *School and Society*, 31:125–32; January 25, 1930.

A. B. Crawford and Paul S. Burnham: "Entrance Examinations and College Achievement." *School and Society*, 36:344–52, 378–84; September 10 and September 17, 1932.

Edgar Dale: Familiarity of 8000 Common Words to Pupils in the Fourth, Sixth, and Eighth Grades. Bureau of Educational Research, Ohio State University. Unpublished.

S. B. Davis and E. E. Hicks: *Historical Content and Background of Caesar's Gallic War*. Pittsburgh, Pennsylvania: University of Pittsburgh.

Definition of the Requirements for 1934, with the Examinations for 1933. Office of the Board of Secondary Education, Milton, Massachusetts.

Educational Measurement and Guidance, Report of the Second Educational Conference, New York City, November 2–3, 1933. American Council on Education, 744 Jackson Place, Washington, D.C. (Reprinted in part from the *Educational Record*, January, 1934.)

Educational Records Bureau: "Bibliography of Reading Tests." Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City, January 15, 1935.

Educational Records Bulletin, No. 11, *Achievement Testing in Public and Independent Secondary Schools*, 1933. Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City.

Educational Records Bulletin, No. 12, *1933 Fall Testing Program in Independent Schools*, Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City.

Educational Records Bulletin, No. 13, *1934 Achievement Test Program in Independent Schools*, Educational Records Bureau, 437 West 59th Stıeet, New York City.

Educational Records Bulletin, No. 14, *1934 Fall Testing Program in Independent Schools*. Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City.

Educational Records Bulletin, No. 15, *1935 Achievement Test Program in Independent Schools* (Including Statements from Schools on the Uses Made of Comparable Tests and Cumulative Records). Educational Records Bureau, 437 West 59th Street, New York City.

Educational Tests and Their Uses. Review of Educational Research, Vol. III, No. 1, February, 1933. (Prepared by the Committee on Educational Tests and Their Uses: Ben D. Wood, W. J. Osburn, G. M. Ruch, M. R. Trabue, Grace A. Kramer, and John L. Stenquist, Chairman; with the assistance of E. F. Lindquist and H. R. Anderson.)

Hiram J. Eininger: Pupil Information Bearing on Important Topics in American History, 1789–1798. Unpublished M. A. thesis, State University of Iowa, August, 1933.

H. E. Ford: *Modern Language Instruction in Canada*, Part II. Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, Vol. VI. Toronto: University of Toronto Press, 1928.

Fred P. Frutchey: "Measuring the Ability to Apply Chemical

Principles." *Educational Research Bulletin*, Ohio State University, 12:255–60; December 13, 1933.
Arthur I. Gates: *The Improvement of Reading*. New York: The Macmillan Co., 1927.
O. T. Gooden: "Testing in the College." *Journal of Higher Education*, 7:191–95; April, 1936.
Catherine M. Haage: Tests of Functional Latin for Secondary School Use. Doctoral thesis, University of Pennsylvania, Philadelphia, 1932.
Peter Hagboldt: *Building the German Vocabulary*. Chicago: University of Chicago Press, 1930.
Peter Hagboldt and F. W. Kaufman: *Lesebuch für Anfänger*. Chicago: University of Chicago Press, 1930.
H. E. Hawkes: "The Cooperative Test Service." *Educational Record*, 12:30–8; January, 1931.
H. E. Hawkes: "Report on the Cooperative Test Service." *Educational Record*, 14:391–97; July, 1933.
H. E. Hawkes: "Report on the Coöperative Test Service." *Educational Record*, 15:359–67; July, 1934.
B. C. Hendricks, R. W. Tyler, and F. P. Frutchey: "Testing Ability to Apply Chemical Principles." *Journal of Chemical Education*, 11:611–13; November, 1934.
V. A. C. Henmon: "Recent Developments in the Study of Modern Foreign Language Problems." *Modern Language Journal*, 19:187–201; December, 1934.
V. A. C. Henmon: *Achievement Tests in the Modern Foreign Languages*. Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, Vol. V. New York: The Macmillan Co., 1929.
L. J. Henry: "Comparison of the Difficulty and Validity of Achievement Test Items." *Journal of Educational Psychology*, 25:537–41; October, 1934.
Gertrude Hildreth: *A Bibliography of Mental Tests and Rating Scales*. New York: Psychological Corporation (522 Fifth Avenue), 1933.
Karl J. Holzinger and Frances Swineford, compilers: "Selected References on Statistics and the Theory of Test Construction." *School Review*, 41:462–66, June, 1933; 42:459–65, June, 1934; 43:462–67, June, 1935.

J. B Johnston: "Advising College Students." *Journal of Higher Education*, 1:315–20; June, 1930.

J. B. Johnston: *Education for Democracy*. Minneapolis: University of Minnesota Press, 1934.

J. B. Johnston, chairman: "The 1932 College Sophomore Testing Program." *Educational Record*, 13:290–343, October, 1932.

J. B. Johnston, chairman: "The 1933 College Sophomore Testing Program." *Educational Record*, 14:522–71; October, 1933.

J. B. Johnston, chairman: "The 1934 College Sophomore Testing Program." *Educational Record*, 15:471–516; October, 1934.

J. B. Johnston, chairman: "The 1935 College Sophomore Testing Program." *Educational Record*, 16:444–81; October, 1935.

E. S. Jones: *Comprehensive Examinations in American Colleges*. An investigation for the Association of American Colleges. New York: The Macmillan Co., 1933.

C. H. Judd and G. T. Buswell: *Silent Reading, A Study of the Various Types*. Chicago: University of Chicago Press, 1922.

Truman L. Kelley and A. C. Krey: *Tests and Measurements in the Social Sciences*. Report of the Commission on the Social Studies of the American Historical Association, Part IV. New York: Charles Scribner's Sons, 1934.

Mary H. King: Pupil Comprehension of Place Location Data in Junior High School American History. Unpublished M. A. thesis, State University of Iowa, July, 1935.

T. J. Kirby: "Latin as a Preparation for French." *School and Society*, 18:563–69, November 10, 1923.

A. C. Krey: "The Effect of Measurement on Instruction." *Journal of Educational Research*, 28:498–501; March, 1935.

W. S. Learned: "Testing for Values in Education." Bulletin of the Association of American Colleges, Vol. XX, No. 1, March, 1934.

W. S. Learned: (Final Report on the Pennsylvania Study) *Bulletin 28* of the Carnegie Foundation for the Advancement of Teaching, 522 Fifth Avenue, New York City, 1936.

J. Murray Lee and Percival M. Symonds: "New Type or Objective Tests: A Summary of Recent Investigations (October, 1931, to October, 1933)." *Journal of Educational Psychology*, 25:161–84; March, 1934.

W. M. Lewis: "Credit Hunting versus Education." *Educational Record*, 13:38–49; January, 1932.

Louis H. Limper: "Student Knowledge of Some French-English Cognates." *French Review*, 6:37–49; November, 1932.

Edward A. Lincoln and L. L. Workman: *Testing the Uses of Test Results*. New York: The Macmillan Co., 1935.

E. F. Lindquist: "Objective Achievement Test Construction (bibliography)." *Review of Educational Research*, 5:469–83; December, 1935.

E. F. Lindquist: "The Form of the American History Examination of the Cooperative Test Service." *Educational Record*, 12:459–75; October, 1931.

E. F. Lindquist and H. R. Anderson: "Achievement Tests in the Social Studies." *Educational Record*, 14:198–256; April, 1933.

E. F. Lindquist and W. W. Cook: "Experimental Techniques in Test Evaluation." *Journal of Experimental Education*, 1:163–85; March, 1933.

John A. Long: "Improved Overlapping Methods for Determining Validities of Test Items." *Journal of Experimental Education*, 2:264–68; March, 1934.

Max McConn: "Educational Guidance Is Now Possible." *Educational Record*, 14:475–99; October, 1933.

Max McConn: "Educational Guidance: Progress toward Scientific Procedures." *School and Society*, 40:537–42; October 27, 1934.

Max McConn: "How Much Do College Students Learn?" *North American Review*, 232:446–54; November, 1931.

Max McConn: "Measurement in Educational Experimentation." *Educational Record*, 15:106–19; January, 1934.

Max McConn: "The Carnegie Foundation's Study of Secondary and Higher Education in Pennsylvania." *Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, Vol. 5, No. 2, pp. 43–54, 1929.

Max McConn: "The Cooperative Test Service." *Journal of Higher Education*, 2:225–32; May, 1931.

Measurement and Guidance of College Students, American Council on Education, Committee on Personnel Methods. Baltimore: Williams and Wilkins Co., 1933.

Minnesota University, Committee on Educational Research: *Studies in College Examinations*. Minneapolis: University of Minnesota, 1934.

National Society for the Study of Education, Thirty-Second Year-

book: *The Teaching of Geography*. Bloomington, Illinois: Public School Publishing Co., 1933.

Verna L. Newsome: "Making English Grammar Function." *English Journal*, 23:48–57; January, 1934.

C. W. Odell: *Traditional Examinations and New Type Tests*. New York: Century Co., 1928.

L. J. O'Rourke: *Rebuilding the English-Usage Curriculum to Insure Greater Mastery of Essentials*. Washington, D.C.: The Psychological Institute, 1934.

Frederic Palmer: "The College Physics Testing Program and Its Significance for Guidance in Secondary Schools." *Educational Record*, 16:82–96; January, 1935.

C. L. Persing and H. R. Sattley: "Discovering the Reading Interests of Maladjusted Students." *Bulletin* of the American Library Association, January, 1935.

"Personnel Methods." *Educational Record*, Supplement No. 8, July, 1928.

Proceedings of the American Philological Association. Vol. XXX, 1899.

E. Prokosch: *Deutsche Sprachlehre*. New York: Henry Holt and Co., 1930.

Reorganization of Mathematics in Secondary Education. Mathematical Association of America, Inc., 1923.

Report of the Classical Investigation, Part I. Princeton: Princeton University Press, 1924.

Report of the Third Educational Conference, New York City, November 1–2, 1934. American Council on Education, 744 Jackson Place, Washington, D.C. (Reprinted in part from the *Educational Record* for January, 1935.)

Report of the Fourth Educational Conference, New York City, October 31 and November 1, 1935. *Educational Record*, Supplement No. 9, January, 1936.

H. N. Rivlin: *Functional Grammar*. New York: Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1930.

G. M. Ruch and G. A. Rice: *Specimen Objective Examinations*. Chicago: Scott, Foresman and Co., 1930.

Russell C. Ross: An Analysis of the Data Secured from the Iowa Academic Test in World History. Unpublished M. A. thesis, State University of Iowa, August, 1932.

P. V. Sangren: "Improvement of Reading through the Use of Tests." Bulletin of Western State Teachers College, 27, No. 1, Kalamazoo, Michigan: Western State Teachers College, 1931.

David Segel: *National and State Cooperative High-School Testing Programs.* U.S. Department of the Interior, Office of Education, Bulletin, 1933, No. 9, Washington, D.C.: Government Printing Office, 1933.

Howard T. Smith and others: *Report of a Study of the Secondary Curriculum.* Milton, Massachusetts: The Secondary Education Board, 1932.

Max Smith: *The Relationship between Item Validity and Test Validity.* Contributions to Education, No. 621, New York: Teachers College, Columbia University, 1934.

John M. and Ruth C. Stalnaker: "A 'Construction Shift' English Test." *English Journal* (College Edition), Vol. 24, No. 8, October, 1935.

Winston B. Stephens: "Tests and Student Guidance." *Junior-Senior High School Clearing House,* 8: 341–46; February, 1934.

Ruth Strang: *Personal Development and Guidance in College and Secondary School.* New York: Harper and Brothers, 1934.

Ruth Strang: *The Role of the Teacher in Personnel Work.* New York: Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1935.

Studies in Modern Language Teaching. Publications of the American and Canadian Committees on Modern Languages, Vol. XVII. New York: The Macmillan Co., 1930.

J. B. Tharp: "A Test in French Civilization." *French Review,* 8:283–87; March, 1935.

L. L. Thurstone: *The Reliability and Validity of Tests.* Ann Arbor, Michigan: Edwards Brothers, 1931.

E. W. Tiegs: *Tests and Measurements for Teachers.* Boston: Houghton Mifflin Co.

M. E. Townsend: *Student Personnel Services in Teacher Training Institutions.* New York: Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, 1932.

R. W. Tyler: *Constructing Achievement Tests.* Columbus: Ohio State University, 1934. (Reprints from *Educational Research Bulletin.*)

R. W. Tyler and others: *Service Studies in Higher Education.* Bureau of Educational Research Monographs, No. 15, Columbus: Ohio State University, 1932.

Paul F. Voelker and others: "A Program of Demonstration and Research." *Educational Record,* 16:207–16; April, 1935.

L. A. Webb and others: *High School Curriculum Reorganization.* Ann Arbor, Michigan: North Central Association, 1933.

Edgar B. Wesley: "Constructing Tests in the Social Studies." University of Iowa Extension Bulletin, No. 310, *Aids for History Teachers.*

Michael West: *Bilingualism.* Calcutta: Government of India, Central Publication Branch, 1926.

Lawrence A. Wilkins and others: *Syllabus of Minima in Modern Foreign Languages.* New York: Board of Education, 1931.

E. G. Williamson: "Estimation versus Measurement of Improvement in English." *School and Society,* 42:159–62; August 3, 1935.

E. G. Williamson: "Significance for Educational Guidance of Personal Histories." *The School Review,* 44:41–49; January, 1936.

E. G. Williamson: "The Cooperative Guidance Movement." *School Review,* 43:273–80; April, 1935.

E. G. Williamson: "University of Minnesota Testing Bureau." *Personnel Journal,* 12:345–55; April, 1934.

Ben D. Wood: "Basic Considerations in Educational Testing." *Review of Educational Research,* 3:5–20; February, 1933.

Ben D. Wood: "Coordinated Examining and Testing Programs." *Educational Record,* 15:48–55; January, 1934.

Ben D. Wood: "Teacher Selection." Proceedings of the Eleventh Annual Spring Conference of the Eastern-States Association of Professional Schools for Teachers, *Problems in Teacher Training,* Vol. XI (Prentice-Hall), 1936.

Ben D. Wood: "The Criteria of Individualized Education." *Occupations, The Vocational Guidance Magazine,* 14:781–86; May, 1936.

Ben D. Wood: "The Major Strategy of Guidance." *Educational Record,* 15:419–44; October, 1934.

Ben D. Wood: *The New York Experiments with New-Type Modern Language Tests.* Publications of the American and Canadian

Committees on Modern Languages, Vol. I. New York: The Macmillan Co., 1927.

Ben D. Wood: "The Ultimate Basis for Satisfactory College-High School Relations." *Bulletin of the American Association of Collegiate Registrars*, pp. 271–78; July, 1934.

Ben D. Wood and F. S. Beers: "Knowledge versus Thinking." *Teachers College Record*, 37:487–99; March, 1936.

Eleanor Perry Wood: "Examining the Uses of Examinations." *Harvard Teachers Record*, 3:59–66; April, 1933.

Clifford Woody and others: "A Symposium on the Effects of Measurement on Instruction." *Journal of Educational Research*, 28:481–527; March, 1935.

C. D. Zdanowicz: "Restatement of the Language Requirements for the B.A. Degree in Terms of Attainment." *Modern Language Journal*, 15:354–59, February, 1931.

George F. Zook: "Accreditation of Secondary Schools in the Light of the North Central Association Report." *Educational Record*, 16:70–81; January, 1935.

George F. Zook: "Accrediting Schools and Colleges," in *Educational Measurement and Guidance*, American Council on Education, 744 Jackson Place, Washington, D.C., 1933.

State Testing Programs. Information about the following state testing programs may be secured from the indicated persons:

Alabama: W. L. Spencer, Department of Education, Montgomery

Colorado: A. A. Brown, Fort Morgan, Colorado

Georgia: F. S. Beers, University of Georgia, Athens

Indiana: H. H. Remmers, Purdue University, Lafayette

Iowa: E. F. Lindquist, State University of Iowa, Iowa City

Kentucky: J. B. Miner, University of Kentucky, Lexington

Minnesota: E. G. Williamson, University of Minnesota, Minneapolis

New Mexico: J. C. Knode, University of New Mexico, Albuquerque

North Carolina: M. R. Trabue, University of North Carolina, Chapel Hill

Ohio: H. A. Toops, Ohio State University, Columbus

Texas: H. T. Manuel, University of Texas, Austin

South Carolina: W. C. McCall, University of South Carolina, Columbia

Wisconsin: T. L. Torgerson, University of Wisconsin, Madison

Periodicals which frequently include articles on testing and guidance are:

The Educational Record, American Council on Education, Washington, D.C.

Occupations, The Vocational Guidance Magazine, National Occupational Conference, 551 Fifth Avenue, New York City

The Journal of Higher Education, Ohio State University, Columbus

Teachers College Record, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York City

Journal of Educational Psychology, Warwick and York, Baltimore.

Review of Educational Research, American Educational Research Association, 1201 Sixteenth Street Northwest, Washington, D.C.

LATIN ACHIEVEMENT TESTS [1]

Bacon, F. Niles. *Diagnostic Tests in Latin.* Based on Gray and Jenkins, "Latin for Today," first year course. New York: Ginn and Co.

Cooperative Latin Tests: Junior Form 1933, by W. L. Carr and G. R. Humphries. Form 1933, by J. C. Kirtland, Ruth B. McJimsey, and B. M. Allen. 500 W. 116th St., New York: The Cooperative Test Service of the American Council on Education.

Davis, S B., and Hicks, E. E. *Historical Content and Background of Caesar's Gallic War.* Pittsburgh, Pa.· University of Pittsburgh.

Deferrari, Roy J., and Foran, T. G. *Deferarri-Foran Latin Tests.* 1) Vocabulary, 2) Forms, 3) Comprehension. Washington, D. C.: The Catholic Education Press.

Godsey, Edith R. *Diagnostic Latin Composition Forms*, 1 and 2. Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Co.

Henmon, V. A. C. *Henmon Latin Tests.* Forms 1, 2, 3, 4. Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Co.

Hutchinson, Mark E. *Hutchinson Latin Grammar Scale.* Scales A and B. Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Indiana Latin Achievement Tests. Part I, Vocabulary; Part II, Translation; Part III, Derivatives. Bloomington, Ind.; Bureau of Cooperative Research, School of Education, Indiana University.

Inglis, Alexander. *Harvard Latin Test on Morphology.* Form A. New York: Ginn and Co.

Inglis, Alexander. *Harvard Latin Test on Syntax.* Form A. New York: Ginn and Co.

Inglis, Alexander. *Harvard Latin Vocabulary Tests.* Forms A, B, C, D. New York: Ginn and Co.

Lohr, L. L., and Latshaw, Harry F. *Lohr-Latshaw Form Test.* Chapel Hill, N.C.: Bureau of Educational Research, School of Education, University of North Carolina.

Messenger, Wilfrida J. *My Progress Book in Latin.* Columbus, O.: Looseleaf Education, Inc.

Powers, Francis F. *Powers Diagnostic Latin Test.* Forms 1 and 2.

[1] Prepared by Professor V. A. C. Henmon.

1. English-Latin Translation; 2. Nouns and Adjectives; 3. Verbs; 4. Vocabulary; 5. Comprehension and Syntax, Part A; 6. Comprehension and Syntax, Part B; 7. Derivatives. Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Pressey, L. W. *Pressey Test in Latin Syntax.* Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Stevenson, P. R. *Latin Vocabulary Test.* Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Stevenson, P. R., and Coxe, W. W. *Latin Derivative Test*, Forms I, II, and III. Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Thompson, Harold G. *New York Latin Achievement Test.* Test I, for first semester; Test II, for second semester. Forms A and B. Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Co.

Tyler, Caroline, and Pressey, S. L. *Tyler-Pressey Test in Verb Forms.* Forms 1 and 2. Bloomington, Ill.: Public School Publishing Co.

Ullman, B. L. and Smalley, A. W. *New Progress Tests in Latin.* New York: The Macmillan Co.

Ullman, B. L., and Kirby, T. J. *Ullman-Kirby Comprehension Test.* Forms 1 and 2. Iowa City, Ia.: Extension Division, State University of Iowa.

Ullman, B. L., and Clark, T. L. *Test of Classical References and Allusions.* Iowa City, Ia.: Bureau of Educational Research and Service, State University of Iowa.

White, Dorrance S. *White Latin Test.* Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Co.

PROGNOSIS TEST

Orleans, Jacob S., and Solomon, Michael. *Orleans-Solomon Latin Prognosis Test.* Yonkers-on-Hudson, N.Y.: World Book Co.

INDEX

INDEX